हमारा
अतीत

नवीन पाठ्य क्रमानुसार कक्षा ११ व १२ के निमित्त

हमारा अतीत

(आदि काल से १५२६ ई० तक)

प्रथम भाग
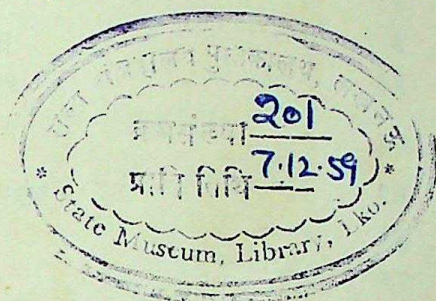
लेखक

रामलखन शर्मा एम. ए. (इति० सं०) एल. टी.

शिक्षा विभाग उत्तर प्रदेश

प्रकाशक

पापूलर बुक हाऊस, गुइन रोड, लखनऊ

प्रथमावृत्ति सन् १९५८ ई० मूल्य ५)

विषय सूची

———

प्राक्कथन

समाज को उन्नति-पथ पर अग्रसर करने के लिए प्रेरक तत्वों में इतिहास की महत्ता सर्वोपरि है, विशेषतः आज के युग में इसकी उपयोगिता और भी वढ़ गयी है। अतः परम अपेक्षित है, कि हम भावी नागरिकों के समक्ष अपने अतीत का सच्चा स्वरूप उपस्थित करें जिसके आधार पर भारत का भविष्य अधिक उज्जवल बन सके, हमारी प्राचीन संस्कृति बड़ी ही उपादेय और प्रेरक रही है। उसकी रक्षा करना हमारा परम कर्त्तव्य है।

इस दृष्टि से श्री रामलखन शर्मा ने एक स्तुत्य प्रयास किया है। उन्होंने "हमारा अतीत" पुस्तक लिखकर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है, वे इतिहास तथा संस्कृत के विद्यार्थी होने के नाते वस्तुतः विषय के अधिकारी हैं। इस पुस्तक में नवीनतम खोजों के आधार पर अपने अतीत पर प्रकाश डाला गया है। इसमें सिन्धु घाटी की सभ्यता, ऋग्वेद तथा कालिदास के समय आदि अनेक विवाद-ग्रस्त विषयों पर लेखक ने तर्कपूर्ण तथ्यों से स्पष्टता प्रदान की है, साथ ही इसकी भाषा अत्यन्त सरल और सजीव है अतः मुझे विश्वास है कि इससे उत्तर माध्यमिक कक्षाओं के विद्यार्थियों का विशेष लाभ होगा।

डा० रामकुमार दीक्षित, एम. ए. पीएच, डी.
अध्यक्ष इतिहास विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

भूमिका

आज हम स्वतन्त्र हैं, तथा स्वदेश निर्माण के प्रति सचेष्ट । इसके लिए परम आवश्यक है कि हम अपने गत अनुभवों को अपनी भावी भित्ति की आधार शिला बनायें । हमारा अतीत कितना गौरवपूर्ण था, उसके गौरव की गरिमा कभी क्षीण भी हुई, अथवा किन परिस्थितियों में हमने अपनी प्रतिष्ठा के प्रकाश को स्थिर न रख पाया, साथ ही विश्व के अन्य राष्ट्र जो हमसे कहीं पीछे थे, कैसे इतने शीघ्र अग्रसर हो गये,, इन सभी का ज्ञान हमें अपने इतिहास के पन्ने उलटने से हो जायगा ।

यह इतिहास वस्तुतः इतिहास (इति+ह+आस, ठीक ऐसा ही हुआ) हो, यह ऐसी रचना हो जिसे कोई विशेष दृष्टिकोण रखकर न किया गया हो, यह भूत की सच्ची झाँकी उपस्थित करता हो, तब तो ठीक है, अन्यथा इतिहास लेखन का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है । इस दृष्टि से लेखक को बड़े संयम की आवश्यकता होती है । स्वदेश का इतिहास लेखक अनुरागवश अपने देश की सराहना के हेतु घटनाओं को अतिरंजित कर सकता है, दूसरी ओर एक विदेशी उन्हीं घटनाओं पर दूसरे वर्ण की कूची चला सकता है । इन दोनों ही परिस्थितियों में हमारी हानि होती है । हमारा भविष्य निर्माण तो हमारे सच्चे अनुभवों के आधार पर ही हो सकता है, असत्य की पृष्ठ भूमि पर नहीं । हमें आज अपना मस्तक समुन्नत रखना है, आज की वैज्ञानिक प्रगति के साथ चलना है, अतः परम अपेक्षित है, कि हम सच्चे चरित्र तथा समुचित परम्पराओं का सृजन करें ।

इतिहास की पुस्तकें इसके पूर्व भी अनेक लिखी जा चुकी हैं, प्रस्तुत लेखक उनके वृत्त को बदलने की चेष्टा न करेगा, पर वे अनेक रूपों में हीन हैं, या तो वे परीक्षोपयोगी हैं, या वे घटना चक्रों

का अतिरंजित चित्रण उपस्थित करती हैं, अथवा उनमें अपनी मौलिकता ही नहीं है। इतिहास को इन दोषों से मुक्त करने के लिए ही यह तुच्छ प्रयास किया गया है। यह पुस्तक उत्तर माध्यमिक कक्षाओं के स्तर को ध्यान में रखकर लिखी गयी है, अपने राष्ट्र की अन्तरात्मा की अनुभूति उत्पन्न करने, उसके प्रति पाठक की अभि-रुचि जगाने, अपने अतीत के उत्थान व पतन के कारणों का विश्लेषण करने, बुद्ध महावीर आदि की उत्तम वाणी को सजीव बनाने तथा आज के विश्व को भलीभाँति समझने के हेतु लेखक ने इसमें चेष्टा की है, कि इतिहास के मूल स्रोतों से अतीत का क्रमबद्ध लेखा समु-पस्थित कर ग्राह्य विषयों पर नवीनतम खोजों द्वारा प्रकाश प्रदान करे, तथा इसके अन्तर्गत आयी कुछ गुत्थियों को सुलझा सके। यही नहीं, प्रयत्न इस बात का भी किया गया है, कि बालकों को सरलतम भाषा में इस प्रकार वृत्त प्रदान करे, जो चित्त में अनायास अंकित हो जाय। इस पुस्तक में यत्र तत्र संस्कृत तथा अँग्रेजी में उद्धरण दिये गये हैं, पर वे इसी दृष्टि से कि पाठकों को मूल का ससुचित ज्ञान हो। कहीं कहीं ऐसे भी स्थल आये हैं, जो आवश्यक हैं, पर बालक उनको पढ़ कर बोझिल हो सकते हैं, ऐसी स्थिति में उन्हें केवल टिप्पणी में ही स्थान दिया जा सका है। सबसे बड़ी बात जो लेखक के ध्यान में सदा रही है, वह यह कि कहीं इसका तिथि क्रम युक्त (Chronological) विवरण शुष्क व नीरस न हो जाय, अतः अतीत की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि पर अधिक बल दिया गया है, साथ ही युद्ध आदि के वर्णन में युद्ध योजना तथा स्थान का मानचित्र उपस्थित कर पाठक को वस्तुस्थिति से अवगत कराने का प्रयत्न किया गया है, इसके अतिरिक्त साम्राज्य के द्योतक मानचित्र, समय की तालिकाएँ तथा कलात्मक चित्रों का समावेश कर इसे अधिक उपयोगी बनाया गया है, पर कभी भी यह विचार नहीं भुलाया गया कि बालकों को परीक्षार्थ उत्तर आवश्यक हैं, अतः प्रश्नों का ध्यान रखकर उत्तर स्वरूप इसके कलेवर में यथास्थान बिठा दिया गया है। पर यह सब होते हुए भी इसमें पुनरुक्ति दोष नहीं आने दिया गया।

इस दिशा में लेखक को उसके पूज्य आचार्य डा० रामकुमार दीक्षित हैड ऑफ हिस्ट्री डिपार्टमेण्ट लखनऊ विश्वविद्यालय से अपूर्व सहायता प्राप्त हुई है, उनको हार्दिक धन्यवाद देते हुए भी वह उनके प्रति सतत आभारी रहेगा। इसके अतिरिक्त कुछ सहयोगियों का प्रोत्साहन रहा है, जिनमें रणवीर विहारी सेठ, सुरेन्द्रप्रसाद सक्सेना, वीरेन्द्रबहादुर राव तथा जिनवरदास विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके प्रति भी लेखक अत्यन्त कृतज्ञ है। इस प्रयास में लेखक कहाँ तक सफल हुआ, यह तो पाठक ही जानें।

—रामलखन शर्मा

हमारा अतीत

भाग--१

परिच्छेद—१

भारतीय इतिहास की पृष्ठभूमि

हमारा इतिहास—हम आदिकाल से स्प्यूटनिक युग तक कैसे आ गये यह एक लम्बी गाथा है, पर संक्षेप में यह जाना जा सकता है कि हमारा अतीत क्या था, हमें आज भी अपने अतीत पर गर्व क्यों है और इस गौरवपूर्ण अतीत के निर्माता कौन थे ? उन्होंने क्या-क्या यत्न किये जिनके फलस्वरूप वे यह उत्तराधिकार हमें दे सके। बीच में कुछ समय के लिए अन्धकार भले ही रहा हो, पर आज हमारी संस्कृति पुनः ज्योतिर्मय है, हम पुनः जागरूक हो चुके हैं और पहिले की ही भाँति आज भी हम विश्व को शान्ति का पाठ पढ़ाने लगे हैं। यही नहीं हमारा अतीत हमें पुनः बाली, चम्पा और सिंहल की स्मृति दिला रहा है, हमारा विश्वविदित वैभव आज हमारे निकट स्वयं आना चाहता है।

इस अतीत में हमने कितने उत्थान-पतन देखे, कितनी बार हर्ष और विषादों ने हमें आ घेरा और उनके बीच हम अपना मार्ग कैसे पुनः प्रशस्त कर सके यह हर व्यक्ति स्वभावतः जानना चाहता है। इसीको हम अपने अतीत का ज्ञान कहेंगे। वैसे तो इस बात पर भी विवाद हो सकता है कि इतिहास[1] क्या वस्तु है। विभिन्न विद्वान् इसे अपने-अपने दृष्टिकोणों से देखते हैं, पर यह ध्रुव है कि यह वह स्वच्छ दर्पण है, जिसमें हम अपने अतीत को देख सकते हैं; यह वह आधारशिला है, जिस पर हम भविष्य की पक्की भित्ति बना सकते हैं; यह वह ध्वनि है,जो शताब्दियों से उचित-अनुचित का निदान करती आ रही है। अधिक क्या, यह वह तरु है, जिसमें किसी देश की सभ्यता फूलती और फलती रही है। हाँ, इससे यह भ्रम न होना चाहिये कि इसमें केवल उत्थान-पतन की ही गाथा है, वस्तुतः यह डा० मुकर्जी के शब्दों में—

"न तो युद्धों का, न आक्रमण-विजय का, और न किसी वंश के उत्थान व पतन का ही लेखामात्र होता है, वरन् यह तो उसके आन्तरिक जीवन के विकास का विवरण है।" —डा० राधा कुमुद मुकर्जी।

१—इति+ह+आस अर्थात् ठीक ऐसा ही हुआ।

परिवर्तनशील विश्व न जाने कितनी करवटें बदल चुका, इतिहास इन्हीं की गाथाओं से भरा पड़ा है। यह हमें अपने अतीत से मौन बात कराता है। ढाई हजार वर्ष का वृद्ध अशोक आज भी इसी की बदौलत युवक है, समुद्रगुप्त की विजयश्री, और हर्ष की धार्मिक भावना इसीलिए आज भी ज्वलंत हैं, बाबर और अकबर के उद्गार आज भी इसी के माध्यम से हमें सुनायी पड़ते हैं, अधिक क्या हमें फ्रांस तथा रूस की क्रान्तियाँ भी इसी में सजीव मिलती हैं।

इस स्थल पर ध्यान रखने की बात यह है कि इसमें इतिहासकार को केवल यह कहना है, **"कि ऐसा हुआ, यह उचित नहीं"** उसे कोई आदर्श नहीं खोजना, वह यह नहीं सोच सकता कि ऐसा होना चाहिये था, अर्थात् इतिहासकार कभी भी कलाकार की कल्पना का सहारा लेकर तथ्य का सृजन नहीं कर सकता, उसे तो जो कुछ हुआ उसी का ज्यों का त्यों चित्र उपस्थित करना है।

इसके पूर्व कि इस प्रकार का चित्रांकन उपस्थित किया जा सके, परम आवश्यक है कि इस देश के भौगोलिक स्वरूप तथा उसकी अन्य परिस्थितियों का भी विचार करें, जो इस ओर अतीत के साथ रही हैं।

हमारा देश—हमारा देश दीर्घ काल से भरत के नाम पर भारतवर्ष कहा जाता है। इसके रमणीय स्थल तथा इसकी विभिन्न जलवायु सदा से मनुष्यों को ही नहीं देवताओं को भी लुभाती रही हैं, जैसा विष्णु पुराण में लिखा है—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे।
स्वर्गापवर्गास्पद हेतु भूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

अर्थात् देवगण भारत की प्रशंसा के गीत गाते हैं, वे कहते हैं, हे भारतभूमि तू धन्य है, तू ही स्वर्ग और मोक्ष देने वाली है, देवता भी अपना देवत्व त्याग कर मनुष्य का स्वरूप धारण कर तुझमें वास करते हैं। विष्णु पुराण में इसकी सीमाएँ भी बतायी गयीं हैं, जो इस प्रकार हैं **"जो समुद्र के उत्तर में है, और हिमालय पर्वत के दक्षिण में है, उसको भारतवर्ष कहते हैं और उसके निवासियों को भारती"**।[1]

इसकी स्थिति—एशिया के दक्षिण में भारत का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह भारतीय महासागर के शिर पर ८° उत्तरी अक्षांस से ३६° उत्तरी अक्षांस तथा ६२° देशान्तर से ९८° देशान्तर के बीच स्थित है। यह पश्चिम की ओर

१—**"उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्।**
वर्षं तत् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः॥

विष्णु पुराण (२, ३, १)

पश्चिमी एशिया, योरुप व अफ्रीका से तथा पूर्व की ओर चीन, जापान और आस्ट्रेलिया से सम्बन्धित रहा है। कर्क रेखा इसे ठीक बीच से दो भागों में बाँटती है।

प्राकृतिक अवस्था---प्राकृतिक अवस्था के विचार से इसे चार भागों में बाँटा जा सकता है।

१. उत्तर का पर्वतीय भाग।

२. गंगा और सिन्धु का मैदान।

३. दक्षिण का पठार।

४. समुद्रतटीय मैदान।

१. उत्तर का पर्वतीय भाग—इस भाग में हिमालय पर्वत पामीर से लेकर दक्षिण-पूर्व को १५०० मील तक चला गया है। यह १५० से २०० मील तक चौड़ा है। इसमें एक दूसरे से मिलीजुली अनेक पर्वतश्रेणियाँ हैं। इसके दक्षिणी ढालों पर घने जंगल हैं, जिनमें हाथी और नागों का वास है। ये पर्वत उत्तरी शीत वायु से हमारी रक्षा करते हैं और इस ओर की जल वाली हवाओं को सदा रोकते हैं। साथ ही इनमें बड़ी बड़ी नदियों के उद्गम हैं, और सुरम्य प्रकृति स्थल हैं। इनके ढालों पर चाय, सिनकोना, मक्का आदि की कृषि होती है। काश्मीर की घाटी में सेव, नासपाती आदि फल भी बहुतायत से होते हैं। इसी में शिमला, मसूरी, नैनीताल, दार्जिलिंग आदि हवा खाने के स्थान हैं। इस प्रदेश में तीन बड़े बड़े राज्य हैं, कश्मीर नैपाल और भूटान। भारतभूमि के सिरमुकुट का कार्य यही पर्वतश्रृंखला करती रही है।

२. **गंगा और सिन्धु का मैदान**—यह मैदान पश्चिम में सुलेमान पर्वत से पूर्व में गारो और लूशाई पहाड़ियों तक है। इसकी चौड़ाई १०० से ५०० मील तक है। इसमें सिंधु, गंगा और उसकी सहायक नदियाँ बहती हैं। ये पर्वतों से उपजाऊ मिट्टी लाकर छोड़ती हैं, जो कलकत्ते के समीप ५००' और कानपुर के समीप १०००' तक गहरी है। इस प्रदेश में अब अनेक नहरें, सड़कें, पुल, मार्ग आदि बन गये हैं। इसके पश्चिमी भाग में सिन्धु नदी मानसरोवर से निकल, उत्तर-पश्चिम की ओर चल कर, और नागा पर्वत का चक्कर काट कर दक्षिण-पश्चिम को बहती है। यह हिमालय को अटक पर छोड़ देती है, पश्चिम से इसमें काबुल नदी अपनी सहायक स्वात और पंचकोश लेकर अटक पर आ मिलती है, और पूर्व से सतलज, व्यास, रावी, चिनाव तथा झेलम आकर पंजाब तथा सिंधु प्रदेश को सींचती हैं। (रावी के पश्चिम का भाग अब पाकिस्तान में है। जैसे-जैसे पश्चिम की ओर चलते जाते हैं इस प्रदेश की भूमि की गहराई कम होती जाती है। इस मैदान के पूर्वी भाग में हिमालय पर्वत से निकल कर गंगा नदी हरिद्वार पर मैदान में उतरती है। यह लगभग १५०० मील बहती है। दक्षिण की ओर से इसमें चम्बल आदि को लेकर जमुना मिलती

है। उत्तर से भी अनेक सहायक नदियाँ लेकर गंगा राजमहल की पहाड़ियों का चक्कर काटकर दक्षिण को मुड़ जाती है, अन्त में कई शाखाओं में बँटकर डेल्टा बनाती है। उत्तर-पूर्व की ओर से ब्रह्मपुत्र हिमालय का चक्कर काट कर गोआलुडों के स्थान पर मिल जाती है। गंगा और सिन्धु का यह विस्तृत मैदान अनेक घटनाचक्रों, झंझावातों और संस्कृतियों का क्रीड़ास्थल रहा है। अधिक काल तक आर्य इसके बाहर गये ही नहीं।

३. **दक्षिणी पठार**—इस प्रदेश के उत्तर में विंध्याचल व सतपुड़ा, पश्चिम में पश्चिमी घाट और पूर्व में पूर्वी घाट हैं। यह १०००′ से ३०००′ तक ऊँचा है। इसका ढाल पूर्व की ओर है। इसमें अधिकांश चट्टानें हैं, और ऊपरी भाग पर कुछ मिट्टी है। इसके पश्चिमी हिस्से में कुछ भूभाग काली मिट्टी का प्रदेश है, जहाँ रुई की उपज खूब होती है। विन्ध्याचल पर्वत इस पठार के उत्तरी भाग में कम्बे की खाड़ी से लेकर इसकी $\frac{1}{3}$ चौड़ाई तक फैले हैं, जब कि सतपुड़ा महादेव और अमरकण्टक में विभक्त होकर छोटे नागपुर की पहाड़ियों में समाप्त हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त पश्चिमी घाट कम्बे की खाड़ी से कुमारी अन्तरीप तक फैले हैं, इनकी औसत ऊँचाई ४०००′ है। इनमें मानसून अच्छा होने के कारण सघन जंगल हैं। साथ ही इनमें दो दर्रे हैं, (१) थाल घाट और (२ भोर घाट। बम्बई से चलकर थाल घाट से होकर दिल्ली की ओर और भोर घाट से होकर मद्रास की ओर रेलवे जाती है। इस पठार के दक्षिणी हिस्से में नीलगिरी की पहाड़ियाँ हैं, जो चन्दन और चाय के लिए प्रसिद्ध रही हैं। पूर्व की ओर पूर्वी घाट पूर्वी किनारे के समानान्तर हैं, पर ये पश्चिमी घाट की भाँति ऊँचे नहीं हैं और न ये उनकी भाँति समुद्र के इतने समीप ही हैं। ये लगभग शुष्क और वनस्पतिहीन हैं। इनमें होकर जानेवाली नदियों के उद्गम अधिकांश पश्चिमी घाट में हैं, यथा गोदावरी, कृष्णा और कावेरी के।

४. **समुद्रतटीय मैदान**—यह पठार के दोनों ओर पतली पट्टी है। पश्चिम में ताप्ती के मुहाने से कुमारी अन्तरीप तक पश्चिमी घाट और समुद्र के बीच बहुत सी छोटी-छोटी नदियों की मिट्टी से बना पतला सा उपजाऊ भाग है। इसके उत्तरी भाग को कोंकन और दक्षिणी को मलाबार कहते हैं। पूर्वी तट पर गंगा के मुहाने से कन्या कुमारी तक का भाग है। यह समुद्र और पूर्वी घाट के बीच में है। इसे कारोमण्डल कहते हैं। यह पश्चिमी तटीय मैदान से अधिक चौड़ा है। इसमें नदियों के डेल्टे भी हैं। इसका दक्षिणी भाग कर्नाटक के नाम से ज्ञात है।

भारतीय समुद्रतट—भारत का आकार देखते हुए भारतीय तट आदर्श तट नहीं हैं। इसमें बहुत कम ऐसे बन्दरगाह हैं जिनमें जलयान सुरक्षित रूप

से खड़े हो सकें। इसकी नदियों के मुहाने बहुधा डेल्टा वाले हैं, उनमें बड़े-बड़े जहाज जा ही नहीं सकते। फिर यह तट बहुत कम कटा-फटा है, अतः यहाँ के निवासी सदा घर के प्रेमी रहे, अधिक प्रसिद्ध नाविक नहीं हुए। यद्यपि हमें इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि उन्होंने अतीत में लम्बी-लम्बी यात्राएँ कीं[1] पर यह सब जनसाधारण को आकृष्ट न कर सका। भारतीयों ने हालैंड और इंगलैंड की भाँति सब कुछ समुद्र में ही खोजना नहीं सीखा। इसके पश्चिमी भाग में नया बन्दर कोंदला है, तथा अन्य अच्छे बन्दरगाह बम्बई, कालीकट और कोचीन हैं। पूर्वी तट कम चट्टानी हे, पर मद्रास का ही एक सुन्दर बन्दरगाह है, वह भी कृत्रिम। इसके अतिरिक्त विजगापट्टम और कलकत्ते हैं।

भारत के उत्तरी मार्ग—भारतीय समुद्र ने जहाँ हमें बाहर जाना नहीं सिखाया, वहाँ किसी को शीघ्र आने भी नहीं दिया। अधिक काल तक हमारा मुख्य यातायात सम्बन्ध उत्तर-पश्चिम के दर्रों से होता रहा। इन स्थल मार्गों से आने वाले भारी सैन्य बल लेकर कम आ सके। सदियों तक हमारी रक्षा पर्वत और समुद्र ने की। इन पर्वतीय दर्रों में मुख्य दर्रे बोलन, गोमल, टोची उत्तर-पश्चिम में, कराकुर्रम, जोजिला, तथा शिपकी उत्तर में, और तुजू तथा तौंगुप के दर्रे पूर्व में हैं।

भारत की जलवायु—हमारे देश में असम जैसा ५००″ वर्षा वाला, कश्मीर सा सूखा, राजपूताना जैसा मरुस्थली और उत्तर प्रदेश की भाँति षटऋतु युक्त, सभी प्रकार की जलवायु का दौरदौरा है। वस्तुतः इसकी जलवायु ने ही इसे सुरदुर्लभ बना दिया है।

अपनी स्थिति के अनुसार इसका बढ़ा भाग उष्ण कटिबन्ध में है। इस रूप से यह एक गर्म देश है। इसके ध्रुव उत्तरी भाग में शीतमय जाड़े होते हैं, पर कुछ समुद्र के समीप के स्थान समशीतोष्ण जलवायु का आनन्द उठा लेते हैं। यहाँ की वर्षा मानसून पर निर्भर है। अरब सागर की मानसून से पश्चिमी घाट में तो १००″ तक वर्षा हो जाती है, पर जैसे-जैसे हम पूर्व की ओर चलते जाते हैं कम होती जाती है, यहाँ तक कि पूर्वी किनारे पर केवल २०″ वर्षा हो पाती है। बंगाल की मानसून असम की ओर सीधी आती है, और यहाँ घोर वृष्टि करती है। इसकी दूसरी शाखा हिमालय से टकरा कर पश्चिम की ओर बढ़ती है। चूँकि हिमालय अधिक ऊँचा है, अतः पार नहीं जाने पाती, और दक्षिणी-पूर्वी ढाल पर उत्तरी-पश्चिमी ढाल से अधिक वर्षा होती है। इसी का फल है कि कलकत्ते में ५०″ वर्षा होती हैं, जब कि लाहौर में १४″

---

1. See Indian Shipping by Dr. R. K. Mookerji.

रह जाती है। साथ ही चूँकि ये हवायें पहाड़ों से टकरा कर लौटती है, अतः पर्वतों की ओर अधिक बर्षा होती है। इस प्रकार मेरठ और अम्बाले में ३०″ और ग्वालियर तवा अलवर में २३″ ही रह जाती है। इसके अतिरिक्त शीत-काल में जब वायु-वेग भूमि की ओर से समुद्र की ओर होता है, तो बंगाल की खाड़ी से होकर निकलने वाली वायु मद्रास और लंका के समीप कुछ वर्षा कर देती है। इसी प्रकार फारस की खाड़ी से उठने वाली हवाएँ हिन्दुकुश से टकराती हैं और कुछ मुड़कर पंजाब तक के प्रदेश को जल प्रदान करती हैं। राजपूताने का भाग इस प्रकार शुष्कप्राय है। उत्तर भारत में ग्रीष्म और शीत के तापमान में अधिक अन्तर रहता है, पर दक्षिण में यह अन्तर केवल ७° रहता है।

भारत की उपज—भारत कृषिप्रधान देश है, और वर्षा, नहर, कुआँ, तालाव आदि के सहयोग से एक से लेकर तीन फसलें तक पैदा करता है। साथ ही यहाँ के कुछ स्थल विशेष फसलों के लिये विशेष उपयुक्त हैं। यथा पंजाब में गेहूँ, बंगाल में जूट व चावल, उत्तर प्रदेश व बिहार में गन्ना, असम व दार्जिलिंग में चाय, नीलगिरि, कोचीन, और मैसूर में कहवा, मालवा व पूर्वी उत्तर प्रदेश में अफ़ीम, बिहार व बंगाल में तम्बाकू, बरार व बम्बई में कपास, कश्मीर में फल, अन्य प्रदेशों में ज्वार, बाजरा, मक्का आदि। इसके अतिरिक्त हमें जंगल की उपज तथा कान सम्बन्धी वस्तुएँ भी प्राप्त हैं। यथा हिमालय व विंध्याचल में लकड़ी व औषधि, कटनी में सीमेण्ट, कोलार में सोना, पंजाब में नमक, मध्यप्रदेश में भोडर, बिहार में अबरक और लोहा, रानीगंज में कोयला आदि।

यही कारण रहा कि भारत अतीत में धन-धान्य से भरा पूरा रहा, क्योंकि उस समय देश की उपज का उपभोग देशवासी ही करते थे। यही धन और समृद्धि हमारे लिए आपत्ति का कारण भी बनी।

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि बंगाल से लेकर काश्मीर और काश्मीर से कुमारी अन्तरीप, एक विशाल देश के हम निवासी हैं। हमें अपनी प्रकृति की देन पर सदा गर्व रहा है और रहेगा।

भौगोलिक अवस्था का प्रभाव—भारतीय भौगोलिक सीमाओं ने इस देश की बहुत काल तक रक्षा की। नदियों के सुकूलों पर विचर कर अपनी सभ्यता-स्रोत को यह दूर देशों तक बहा सका, साथ ही प्रकृति देवी के मनोहर दृश्य उसे ज्ञान का पाठ तो पढ़ा सके, पर कभी उसके धवल यश को सांसारिकता धूमिल न कर सकी। जलवायु से हमारे देशवासियों को यदि महान् लाभ और अनुकूलता नहीं प्राप्त हुई, तो किसी प्रकार ऐसी असुविधा भी नहीं हुई कि काम करने की शक्ति का ह्रास हुआ हो। देश के पर्वतीय भाग के निवासी विशेषकर अधिक परिश्रमी और पराक्रमी रहे हैं पर दूसरी ओर मैदान में

रहने वाले समृद्धिशाली तथा सुख के इच्छुक। यही कारण है कि उत्तर प्रदेश का निवासी प्रान्त से बाहर जाने को सरलता से प्रस्तुत नहीं होता। पर जहाँ वे भ्रमणशील न बनें तो साहित्य के रचयिता अच्छी कोटि के हुए। इसी प्रदेश में इस लोक की ममता छोड़ परलोक की चिन्ता अधिक की गई, यहाँ हिन्दू धर्म के नायकों ने जन्म ग्रहण किया, महात्मा बुद्ध का प्रकाश भी इसी प्रदेश से प्रारम्भ हुआ। इसका सबसे बड़ा फल यह हुआ कि तीन ऐतिहासिक धाराओं का स्रोत बहा। ठीक भी है उस समय उत्तर और दक्षिण के बीच यातायात के साधन सुलभ न थे। फिर उत्तर वालों पर वाह्य आक्रमणों और आगन्तुकों की संस्कृतियों का प्रभाव भी अधिक पड़ा। भारत में पश्चिमी द्वारों से विदेशी आते-जाते रहे, और इन मुख्य द्वारों से भारत को मीठे और कड़वे सभी फल चखने पड़े। दक्षिण इससे सर्वथा सुरक्षित रहा, तथा उसने बहुत काल तक अपनापन नहीं खोया। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि ऐतिहासिक घटनाचक्रों का मूल स्रोत तो कृष्णा और कावेरी के कूल से है। वही प्राचीन भूखण्ड है परन्तु उत्तर की उर्वरा भूमि के सुख और समृद्धि द्वारा जो आमन्त्रण विदेशियों को दिये गये हैं, उनका शतांश भी दक्षिण का सौन्दर्य न दे सका। भारतवासियों की सहायता तो यहाँ की मरुभूमि ने की है। जब यहाँ की स्वतन्त्रता देवी को कहीं स्थान न रह गया था तो यही मरुभूमि उसका शरणस्थल थी। अतः अपने देश की सुन्दर अथवा कुरूप सभी प्रकृति की देन हमारी आराध्य है।

भारत की मौलिक एकता

(१) भारत की भौगोलिक असमानता जातीय विभिन्नता तथा इसके अनेक धर्म और राजनीतिक विभाजन को देखकर सहज ही यह विचार उत्पन्न होता है कि इसमें मौलिक एकता (Fundamental unity) का प्रश्न ही कैसा ? यही नहीं कभी-कभी यह शंका उत्पन्न हो उठती है कि इसका इतिहास भी एक देश के समान लिखा जा सकता है या नहीं। पर ऐसी बात नहीं। भारत की विविधता उसकी विशालता के कारण प्रतीत होती है, उसकी मौलिक एकता का विरोध नहीं करती। वस्तुतः इस विविधतारूपी आवरण में उसकी एकता छिपी है। क्या एक कुटुम्ब के कई प्राणी अलग-अलग स्वभाव के नहीं होते ? क्या एक ही शरीर में अलग-अलग अंग और उनके कार्य नहीं होते ? इस प्रकार की एकता को एकरूपता नहीं कह सकते, वरन् एकसूत्रता कह सकते हैं, अर्थात् बाहर से विषमता दिखाई पड़ती है, पर उसमें मौलिक एकता है। इस एकता को कई रूपों में देखा जा सकता है। यथा (१) भौगोलिक एकता, (२) राजनीतिक एकता, (३) सांस्कृतिक एकता, (४) धार्मिक जीवन, और (५) सामाजिक व्यवस्था।

१. भौगोलिक एकता—देश में वैसे तो अनेक प्रकार के भूखण्ड और उनकी जलवायु है, पर प्रकृति ने इसे सुन्दर और स्वाभाविक सीमाओं में भी बाँध रखा है । हिमालय पर्वत तथा समुद्र के बीच प्रकृति ने एक ही देश का निर्माण किया है, अनेक का नहीं । फिर यह सीमाओं तक की एकता यहाँ के निवासियों के हृदय में भी समाई हुई है । प्रत्येक हिन्दू प्रातः स्नान करते समय निम्नलिखित श्लोक पढ़ता है—

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति ।
नर्मदे सिंधु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधि कुरु ।।

अर्थात् ऐ गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु, कावेरी हमारे इस जल में वास करो । इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक भारतीय के मस्तिष्क में, चाहे वह पंजाब का निवासी हो, चाहे बंगाल अथवा मद्रास का, इन सभी नदियों की समान प्रतिष्ठा है। यही नहीं और भी ऐसे उदाहरण हैं ।

प्रत्येक भारतीय अपने देश के अनेक नगरों को समान दृष्टि से देखता है । उसका विश्वास है कि बिना चारोधाम की यात्रा (पुरी, द्वारका, बद्रीनाथ व रामेश्वरम्) किये उसे मुक्ति ही नहीं मिल सकती है । वह सदा स्मरण करता है—

अयोध्या मथुरा माया, काशी काञ्ची अवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैते मोक्षदायिकाः ।।

अर्थात् अयोध्या, मथुरा व माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका द्वारका तथा पुरी को स्मरण करके प्रत्येक नागरिक अपने को धन्य समझता है । इसी प्रकार पर्वतों के नाम भी लिये जाते हैं—

महेन्द्रो मलयः, सह्यः, शुक्तिमान ऋक्ष पर्वतः ।
विंध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुल पर्वताः ।।

अर्थात् महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विंध्य तथा पारियात्र सात कुल पर्वत हैं । इस प्रकार भौगोलिक विषमताओं के बीच यह कामना मणियों के बीच धागे का कार्य करती है ।

२. राजनीतिक एकता—आज कुछ पहले की स्थिति देखकर कभी-कभी यह आरोप लगाया जाता है कि भारत सदैव एक शासन सूत्र में नहीं रहा, किन्तु यह आक्षेप उचित नहीं, क्योंकि हमारे प्राचीन साहित्य में हमें एकराट्, अधिराट्, सम्राट्, सार्वभौम, राजाधिराज आदि शब्द मिलते हैं, ये शब्द ब्राह्मण ग्रंथों के हैं, इसका अभिप्राय यह है कि इन शब्दों की उत्पत्ति से पहले केन्द्रीय शासन की उत्पत्ति हो चुकी थी । यही नहीं प्रत्येक महत्त्वाकांक्षी शासक अपनी प्रतिष्ठा के लिए अनेक यज्ञ करता था । यथा राजसूय, अश्वमेध,

वाजपेय आदि। चक्रवर्ती सम्राट ही ऐसी कामना कर सकते थे। फिर पुराणों और महाकाव्यों में ययाति, मान्धाता, सगर, दिलीप, रघु, युधिष्ठिर, जनमेजय आदि सम्राटों की दिग्विजयों के वर्णन मिलते हैं। बौद्ध धर्म के उदय के पश्चात् भी साम्राज्यवादी राज्य वंशों की स्थापना हुई। उत्तर भारत में नंद वंश को सर्वछत्रान्तक (सभी राजाओं का अन्त करने वाला) कहा गया है। सम्भव है, इसी से सिकन्दर को उससे भय लगा था। उसके उपरान्त चन्द्रगुप्त मौर्य ने भारत की प्राकृतिक सीमाओं तक अपने राज्य को पहुँचा दिया। तदनन्तर यह परम्परा शुंग, आन्ध्र, गुप्त वंशों तक चलती रही। मध्म युग में कुछ समय के लिए राष्ट्र छिन्न-भिन्न हुआ, जिसमें पहिले गुर्जर, प्रतिहार, चालुक्य, राष्ट्र कूट, चोल, पाल आदि ने वैमनस्य का बीज तो बोया पर कोई इतना शक्तिसम्पन्न न हुआ कि एकछत्र राज्य रहता। उसका फल यह हुआ कि तुर्क, पठान, मुगल आये, मराठे लड़े, और आंग्ल शासन हुआ। पर इनमें से भी अनेक ने एकाधिपत्य का प्रयास किया यहाँ तक कि अकबर ने तो एक नया राष्ट्र ही बनाना चाहा था। अतः भारतीयों की नसों में परस्पर द्वेष रहते भी एक रसता रही।

३. सांस्कृतिक एकता—भारत की मौलिक एकता सबसे अधिक इसके सांस्कृतिक जीवन में रही। यह सांस्कृतिक एकता उनके धार्मिक विश्वास, जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण तथा उनकी सामाजिक रचना आदि में दिखाई पड़ती है। प्रत्येक भारतीय को देश की संस्कृति पर गर्व रहा है, और उसकी रक्षा के लिये वह सदा प्राणपण से तैयार रहा है।

४. धार्मिक निष्ठा—उसकी आजकल की कभी-कभी धर्मान्धता देखकर यह विश्वास नहीं होता कि यहाँ सदा वैदिक मार्ग का अनुसरण हुआ और नैतिक मान्यताएँ अलग-अलग धर्म के स्वरूप को मानने वाली की भी सदा एक ही रहीं। कहना न होगा कि उसका ईश्वर, आत्मा, अवतार, तीर्थंकर, बुद्ध, बोधिसत्व, कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष, निर्वाण, भक्ति आदि सभी उसकी समान सम्पत्तियाँ रहीं। इनमें शरीर और इन्द्रिय-निग्रह (इन्द्रियों को वशीभूत करना) पर सभी ने जोर दिया है। यही नहीं सन्त-महात्माओं और महापुरुषों का सम्मान सर्वत्र होता रहा है। इसके अतिरिक्त धार्मिक संस्कार, पूजा, स्त्री के प्रति सम्मान में सभी का अटूट विश्वास रहा।

५. सामाजिक अवस्था—सहस्रों वर्ष तक समाज में आश्रम और वर्ण-व्यवस्था रही, इनके विभाजन में भी श्रम विभाजन का सिद्धान्त छिपा था। इस नाते सदा परस्पर सहयोग, स्नेह, और सद्भाव रहा, जिसने यदा कदा विदेशियों को भी प्रभावित किया। पाण्डेय जी लिखते हैं—

"मुसलिम और ईसाई भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं रहे, विवाह, खान-पान, शिष्टाचार, आमोद-प्रमोद, मनोरंजन, पर्व, उत्सव, मेले, आदि भी समस्त वेश में बहुत मिलते जुलते हैं"।[1] **—डा० राजबलि पाण्डेय।**

साहित्य व कला - भारतीय साहित्य व कला यहाँ के धर्म और नीति में पले। भारतीय सदा प्रकृति-चित्रण, अनन्त का अणु में दर्शन आदि विषयों में रस का अनुभव करते रहे। अलग-अलग प्रान्तों में इस धारा में कुछ विभेद भी रहा पर मूल स्रोत में कोई अन्तर न था। यहाँ की स्थापत्य कला, मूर्तिकला व चित्रकला में तथा यहाँ के संगीत, रंगमंच सभी में भारतीयता की स्पष्ट झलक दिखायी देती है। इस बात को हम हिन्दू काल में ही नहीं मुगल काल में भी वैसा ही पाते हैं, क्योंकि इसके निर्माताओं में शासकों की छाप भले ही बदल गयी हो, पर प्राचीन संस्कार न मिटे थे। उसकी पद्धति सदा एकता की सूचक रही।

भाषा—प्राचीन काल में प्रायः सभी धार्मिक संप्रदायों की भाषा संस्कृत रही। संस्कृत साहित्य इतना सबल रहा कि उसके अन्य भाषाओं पर अधिकार को आज तक कोई भाषा न छीन सकी। आज भी हम उसी संस्कृत की ओर पुनः उन्मुख हैं। प्रान्तीय भाषाओं के मूल में भी वही है। अतः हम निर्विवाद रूप से यह कह सकते हैं कि भारत के अतीत में मौलिक एकता रही। यहाँ पर एक मूल से उत्पन्न होकर अनेक शाखा-प्रशाखाओं में बँट कर हमारी सभ्यता का स्रोत बहता रहा। उसके आवरण और उसके पल्लवों को देखकर कोई उसे भिन्न कहे, तो असंगत ही होगा।

भारतीय इतिहास के सूत्र

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा में इतिहास हमें कहाँ से प्राप्त होता है, यह जानना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। बहुधा किसी भी देश का इतिहास वहाँ के प्राचीन साहित्य से प्राप्त हो जाता है, और हमारा प्राचीन साहित्य अनेक रूपों में बड़ा धनी है, पर ऐतिहासिक लेखा उपस्थित करने में वह निर्धन है। इसका अर्थ यह नहीं कि हमारे देश में ऐतिहासिक मुख्यता के युद्ध, अथवा वंशों के उत्थान-पतन, अथवा राष्ट्रीय जीवन के विकास के प्रति अनेक चेष्टाएँ नहीं हुई। सच तो यह है कि जब पश्चिमी देशों में सभ्यता का अंकुर भी न उगा था, तब इस देश का वह समय बीत चुका था जिसमें मनुष्य अपने विकास और अधिकार के लिए चेष्टा करता है। फिर इसका क्रमवद्ध लेखा क्यों नहीं मिलता? क्या ऐतिहासिक ज्ञान का हमें चाव न था, अथवा हमारा

१—भारतीय इतिहास की भूमिका पृष्ठ १८।

धर्म जो उस समय के साहित्य का मूल था, इसमें बाधक हुआ। जो हो, हमने नित्य के सामने अनित्य को नहीं चाहा यह निश्चित है। अतः आजकल के इतिहासकार को अनेक कठिनाइयों का अनुभव करना पड़ता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए जो आधार हमें उपलब्ध हैं वह इस प्रकार हैं।

इस सामग्री को हम कई भागों में बाँट सकते हैं। यथा :—

(१) वह सामग्री जो अपने देश में उपलब्ध है।

(२) वह जो विदेशों में उपलब्ध है।

(१) पहिले भाग के पुनः कई भाग हो सकते हैं।

(अ) **साहित्यिक।**

(आ) **पुरातत्व विभाग की खोज।**

(इ) **विदेशियों के यात्रा विवरण।**

(ई) **सामयिक अनुश्रुतियाँ।**

इनमें से भी (आ) भाग की सामग्री तीन खण्डों में विभक्त हो सकती है।

(i) स्थापत्य कला के भग्नावशेष

(ii) शिलालेख

(iii) सिक्के।

१. (अ) **साहित्यिक**—इसके अन्तर्गत हमें संस्कृत, पाली या प्राकृत का साहित्य मिलता है। इसमें संस्कृत साहित्य यद्यपि इसके लिये दोषी है कि हमें क्रमवद्ध ऐतिहासिक वृत्त प्रदान नहीं करता पर फिर भी कुछ ऐसे ग्रंथ हैं जिनसे पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री मिलती हैं। वे हमको उपमा, रूपक के द्वारा अथवा धार्मिक कथावस्तु उपस्थित करते हुए भी कुछ वृत्त प्रदान करते हैं। उदाहरण के लिए विश्व का प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद उस समय की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक व धार्मिक सभी अवस्थाओं पर प्रकाश डालता है। उसमें भरतों के राजा सुदास का युद्ध, सभा, समिति, सेनानी सभी वर्णित हैं। इसी प्रकार यजुर्वेद में कर्मकाण्ड, ज्ञान और उपासना के विषय वर्णित हैं। इन्हीं दोनों ग्रंथों में आर्यों का सिन्धु के मैदान से भारत के मध्य की ओर आना, और वर्णों का विभाजन भी प्राप्त होता है।

सामवेद भी इसी समय की रचना है, और उत्तरवैदिक काल का वर्णन करता है, पर ऐतिहासिक रूप से यह बहुत उपयोगी नहीं है। सबसे बाद की रचना अथर्ववेद की है। इसमें विज्ञान, आयुर्वेद, प्राचीन जातियों का धार्मिक दृष्टिकोण आदि प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रंथ हमें पर्याप्त सामग्री प्रदान करते हैं। ऐतरेय और शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य व कौशीतकी उपनिषद्, बृहद् आरण्यक ग्रंथ हमें उस समय की शासनसत्ता पर

विशेष प्रकाश डालते हैं। इनके अतिरिक्त हमें दो महाकाव्य संस्कृत साहित्य में ऐसे उपलब्ध हैं जिनसे कुछ छूटा ही नहीं। इनमें से रामायण (वाल्मीकि) हमें वैदिक काल से अधिक विशाल भारत का वृत्त प्रदान करती है। साथ ही उसमें समाज सर्वांगीण उन्नत दिखाई देता है। उसकी मर्यादा आज भी हमारी मर्यादा मानी जाती है। महाभारत इससे भी बड़ा ग्रंथ है। इसमें रामायण काल से लगभग ६०० वर्ष बाद का भारत दृष्टिगोचर होता है। इससे स्पष्ट विदित हो जाता है कि हमारे पूर्वज कितने समृद्धिशाली, वीरशिरोमणि, अच्छे शासक तथा ज्ञान के भाण्डार थे। व्यास जी (इसके रचयिता) हमें राजाओं का, उनके नैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक दृष्टिकोणों का पूर्ण विवेचन सहित वृत्त प्रदान करते हैं। इन ग्रंथों के पश्चात् हमें संस्कृत साहित्य में स्मृति ग्रन्थ (मनु, बौधायन, गौतम और याज्ञवल्क्य) पुराण, (१८, व्यास कृत) अमूल्य सामग्री प्रदान करते हैं। पौराणिक तथ्य कहीं-कहीं हमारे अन्य साधनों के वृत्त से मेल नहीं खाते, पर सबसे अधिक मात्रा में इतिहास का सृजन उन्हीं से हुआ है। इनमें से कुछ बहुत ही उपयोगी हैं[१] जैसे भविष्य, ब्रह्माण्ड, मत्स्य, वायु, भागवत और विष्णु। इनमें सृष्टि, पुनः सृष्टि, मन्वन्तर विनाश, वंशों का क्रमानुसार वर्णन प्राप्त होता है। इसी प्रकार कुछ बौद्ध और जैन ग्रन्थ भी यद्यपि धार्मिक दृष्टिकोण से लिखे गये पर प्रचुर मात्रा में ऐतिहासिक तथ्य प्रदान करते हैं। यथा विनय, अभिधर्म, और सूत्र पिटक। ललितविस्तार दिव्या-वदान और जातक। त्रिपिटकों से बौद्धकाल की राजनीतिक घटनाओं पर प्रकाश मिलता है। जातक कथाओं से छठी शताब्दी की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अवस्था का ज्ञान होता है। इसी प्रकार ललितविस्तार और दिव्यावदान में पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है।

कुछ ग्रन्थ पाली में हैं, यथा मिलिंद प्रश्न (मिलिन्दे पञ्हो) दीपवंश, और महावंश। इनमें से मिलिन्द प्रश्न मिनैण्डर के विषय में तथा दीपवंश और महावंश से बौद्ध धर्म के इतिहास के विषय में प्रचुर सामग्री है।

जैन ग्रन्थों में सबसे प्रमुख हेमचन्द्र कृत परिशिष्टपर्वन है, जिसमें जैन साहित्य की बिखरी हुई सामग्री एकत्र कर दी गई है, दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ भद्रबाहु चरित है, इसमें जैनाचार्य भद्रबाहु के जीवन के साथ चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन की घटनाएँ दी हुई हैं। इनके अतिरिक्त कथा कोष, लोक विभाग, त्रिलोक प्रज्ञप्ति आदि अन्य उपादेय जैन ग्रन्थ हैं। संस्कृत साहित्य का सृजन तो १० वीं शताब्दी तक होता रहा है, और उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त बहुत से

१—**सर्गश्च, प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।**
वंशानुचरितञ्चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥

ऐसे ग्रन्थ हैं जो बहुमूल्य ऐतिहासिक वृत्त प्रदान करते हैं। यथा कश्मीर के इतिहास के लिए कल्हणकृत राजतरंगिणी, मौर्य साम्राज्य के लिए कौटिल्य कृत अर्थशास्त्र, और विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस, हर्ष के राज्य के लिए बाणभट्ट रचित हर्षचरित इत्यादि।

१. (आ)—**पुरातत्व विभाग की खोज**—भग्नावशेष— इसके अन्तर्गत तीन प्रकार की चीजें गिनायी गयीं हैं जिनमें सर्वप्रथम स्थापत्य के भग्नावशेष आते हैं। मोहेनजोदड़ो और हरप्पा की सभ्यता तो उनके भग्नावशेष पर ही आधारित है। पर अन्य काल के—इन भग्नावशेषों में हमारी दृष्टि मन्दिर, स्तूप और विहारों की चित्रकारी पर विशेष रूप से पड़ती है। इनसे राजनीतिक दशा का ज्ञान तो नहीं मिलता पर उनके समय की वास्तुकला तथा धार्मिक भावनाओं पर प्रकाश पड़ता है। यथा देवगढ़, भितरगाँव, उदयपुर, भुवनेश्वर के मन्दिर, भरहुत, साँची, सारनाथ के स्तूप, तथा पटना, नालन्दा, तक्षशिला के विहार उल्लेखनीय हैं। चित्रकारी में अजन्ता और एलौरा जगत प्रसिद्ध हैं। इस शीर्षक में दूसरी सामग्री अभिलेखों की है।

अभिलेख—जहाँ हमें साहित्य सहायता नहीं कर पाता वहाँ पर शिलालेख अमूल्य सहायता देते हैं। अनेक इतिवृत्त इन्हीं की बदौलत शुद्ध कर लिये गये। इनमें कई प्रकार के लेख हैं, यथा कुछ शिलाओं व गुफाओं पर (अशोक के) कुछ ताम्रपत्रों पर (गुप्त व हर्ष) कुछ स्तम्भों पर (अशोक तथा समुद्रगुप्त)। ये चिह्न समस्त भारत में फैले हैं, इनमें कई भाषाओं का प्रयोग किया गया है, यथा संस्कृत, पाली, तामिल, तैलगू। कहीं कहीं इनकी लिपि भी भिन्न है यथा पश्चिमोत्तर प्रान्त के अशोक के लेख भी खरोष्ठी लिपि में हैं। इनसे अधिक अधिकारपूर्ण सत्य की खोज अन्य साधनों से सुलभ नहीं। कहीं कहीं इनमें भी आपत्ति आ जाती है जैसे खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में अथवा दिल्ली में चन्द्र के स्तम्भ लेख में आज तक इतिहासकार किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सके। अन्यथा इनसे साम्राज्य की सीमाएँ, तिथिक्रम, और राजनीतिक तथा धार्मिक सभी पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है। इनमें से कुछ तो विजय की घोषणा करते हैं कुछ धर्म की।

मुद्राएँ—इनके अतिरिक्त तीसरा खोज से प्राप्त साधन प्राचीन सिक्कों का है। ये सोने, चाँदी, ताँबा, और मिश्रित धातुओं के हैं। इनसे कभी-कभी राजा की उपाधि, कभी उसका धर्म, कभी उसके सम्बन्ध में अन्य बातों का (विवाहादि) ज्ञान प्राप्त होता है। यहाँ तक कि भारतीय सिथियन, और भारतीय पार्थियन राजाओं के विषय का तो समस्त ज्ञान लगभग सिक्कों से ही प्राप्त है। कभी-कभी इनके पढ़ने की असुविधा से आपत्ति भी आती है,

पर उसे अन्य साधनों से शुद्ध किया जाता है। कहीं-कहीं तो मुद्राओं से देश की आर्थिक अवस्था का ज्ञान हो जाता है यथा गुप्तकालीन।

२. **वैदेशिक सामग्री**—विदेशियों द्वारा प्रस्तुत की गयी सामग्री भी सभी प्रकार की है। इनमें से सर्वोत्तम तो वे विवरण हैं जो विदेशी यात्रियों ने यहाँ आकर और स्वयं आँखों देखा वृत्त लिखा है। यथा मेगस्थनीज की इंडिका जो मूल रूप में नहीं मिलती, पर उसके इधर उधर दिये गये उद्धरणों से मौर्य साम्राज्य का पूरा ज्ञान हमें मिलता है। फाह्यान का यात्राविवरण, यह चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में आया था। उसने उस समय की दशा का सुन्दर वर्णन किया है। तीसरे ह्वेनसांग, जो हर्ष के समय आया था, हमें अपने काल की घटनाओं का सच्चा वृत्त उपस्थित करता है। इसके अतिरिक्त यूनानी लेखक क्विन्टस, हैरोडोटस, एरियन, प्लूटार्क, नियार्कस और एरिस्टोवुलुरु प्राचीन इतिहास के लिए तथा अलबरूनी (महमूद गजनवी के साथ), इब्नबतूता (मुहम्मद तुगलक के समय) तथा सुलेमान, इब्न हौकन, .और इब्न मसूदी मध्यकालीन इतिहास के लिए उपयोगी हैं।

यही नहीं विदेशों में हमें कुछ ऐसे स्मारक भवन आदि भी मिलते हैं जो भारतीय इतिहास पर समुचित प्रकाश डालते हैं। यथा—वोगाजकोई का लेख जो एशिया मायनर में है, सम्राट दारा के पर्सापोलिस और नक्श-ए-रुस्तम के लेख, हिन्दचीन में अंगकोर का मन्दिर, चम्पा में अमरावती शैली की बुद्ध मूर्ति तथा जावा का वोरोवुडुर स्तूप. आदि मूल्यवान स्मारक हमारा नाता पश्चिम तथा पूर्व से बताते हैं। विदेशों में ऐसे अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं (विशेषकर पूर्वी ओर) जो संस्कृत अथवा दक्षिणी भाषाओं के लेखों से मिलते हैं। इससे सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि हमारा प्रभाव आदिकाल से लेकर बहुत समय तक वाह्य संसार पर रहा।

अन्त में कहना न होगा कि कभी-कभी हमें जनश्रुतियाँ और कहावतें भी इस ओर अमूल्य सहायता प्रदान करती हैं। कौन नहीं जानता कि विक्रमादित्य की कथाएँ कितनी उपादेय हैं "**जिसे न दे मौला उसे दे आसफुद्दौला,**" अथवा लाखवख्स ऐबक की प्रशंसा करते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर हम एक सुन्दर और सत्य की खोज कर सकते हैं। भारतीय इतिहास अभी तक कुछ समय से अवहेलना की दृष्टि से देखा जाता रहा परन्तु अब अपना राज्य व अपनी संस्कृति का समय है, अतः यथासाध्य सत्य की ओर चलना है।

———

परिच्छेद—२

प्रागैतिहासिक भारत

मखमल के गुलगुले गद्दे पर लेटे हुए, किसी अट्टालिका में रेडियो से संगीत सुनते हुए मनुष्य को देखकर कौन कल्पना कर सकता है कि एक दिन मानव पर्वत की कन्दरा में अथवा वृक्ष पर सो जाया करता था और बनैले जानवर का बिना पका मांस ही उसका आहार था। उसकी आज की दशा उसके लाखों वर्षों का फल है। सभ्यता की इस सीढ़ी पर पहुँचने के लिए उसे कितना संघर्ष करना पड़ा, इसके साक्षी इतिहास के पन्ने ही होंगे। जैसा कि श्री पाण्डेय जी ने कहा है—

'वर्तमान गौरवमयी सभ्यता का यह सुदर्शन प्रासाद उन लघु कणों का समन्वित रूप है जिन्हें एकत्र करने में मानव ने भीषण यन्त्रणाओं के फूत्कार फणों के कोटि-कोटि दंशन सहस्रों शताब्दियों तक सहन किये हैं।[1]

—श्री विमलचन्द्र पाण्डेय।

पर साथ ही कम गौरव की बात नहीं है कि जब संसार नंगा, भूखा था, तब भारत सभ्यता की कई सीढ़ियाँ चढ़ चुका था[2]। प्रागैतिहासिक काल के जिस चरण में मनुष्य अपनी जीविका आदि के लिए पत्थरों का प्रयोग करता था, उसको हम पाषाण काल कहते हैं। चूँकि इस समय के भी प्रथम और अन्तिम स्वरूपों में अन्तर है अतः सुविधा के लिए प्रथम स्वरूप को पूर्व पाषाण-काल और दूसरे को उत्तर पाषाणकाल कहते हैं।

(१) पूर्व पाषाणकालीन सभ्यता

उस काल का मनुष्य—इस काल की गणना करना न तो सरल है और न उचित, क्योंकि इसका आधार ही सुनिश्चित नहीं है। फिर भी मानव-शास्त्र, जीव-शास्त्र, तथा पुरातत्व की खोजों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह समय १,२५,००० वर्ष से १६,००० वर्ष ई० पू० तक रहा

१—विश्व की सभ्यताएँ—पृष्ठ १

२—देखो प्रिंसेप—भाण्डारकर तथा फ्लीट

होगा। उस समय का मनुष्य बर्बर था, उसका जीवन पशुओं जैसा था और उन्हीं के साथ लड़-भिड़ कर वह अपना जीवन बिताता था। हिंसक पशुओं से वह सदा डरता रहता था परन्तु स्वयं भी हिंसक था। उसने उन्हें मारने में भी कसर न रखी, इसके लिए उसने पत्थरों को औजार बनाया। धीरे-धीरे ये औजार कई तरह के हो गये, जैसे कुल्हाड़ी, भाले, तीर। इनसे वह काटने, छेदने, छीलने और कूटने आदि के सभी काम लेता था, पर ये औजार भद्दे और भोंड़े होते थे और एक विशेष पत्थर के बनते थे, जिसे हम क्वार्टजाइट कहते हैं। इन औजारों का प्रयोग अधिकतर फेंककर होता था। इस काल में भी कुछ समय बाद ऐसे औजार बनने लगे जो परतदार पत्थर के होते थे और जिनकी सुघराई की नकल आज भी सरल नहीं।

"Such flaking as occurs for instance on the beaked scrapers is a joy to behold and impossible to copy today".

—बरकित।

अर्थात् "ऐसे अस्त्र जो नुकीले तथा चिकने किये गये हैं, देखने में अत्यन्त भले मालूम होते हैं, पर उनका बनाना आज भी सम्भव नहीं।"

निवास तथा भोजन—उस समय मनुष्य को घर बनाना न आता था अतः पर्वत, कन्दरा, पेड़, अथवा कगारों में ही उसका वासस्थान था। उसके भोजन के लिए कच्चा मांस, कन्दमूल या फल थे। बहुत सम्भव है कि अग्नि का प्रयोग उस समय वह नहीं जानता था।

समाज—वह छोटे-छोटे समूहों में वास करता था। एक जानवर मैमथ का शिकार करने के लिए उसे सहयोग की भी आवश्यकता होती थी। अतः संगठन जैसी वस्तु को वह समझने लगा था। इसी समय उसे लज्जा का भी ज्ञान हुआ, और उसने अपने गुप्त अंगों को पेड़ की छाल व पत्तों से ढकना आरम्भ कर दिया। वह छाल को कमर में लपेटता था और पत्तों की माला सी बनाकर गर्दन में लटका लेता था। कुछ समय पश्चात् वह चमड़े का उपभोग भी सीख गया। इस समय उसे धार्मिक भावना का कोई ज्ञान न था। अपने मुर्दों को वह ऐसे ही छोड़ देता था अतः वे या तो यों ही सड़ जाते थे अथवा उन्हें बनैले जानवर खा जाते थे।

सभ्यता के केन्द्र—पुरातत्ववेत्ताओं ने इनके रहने के अनेक स्थान खोज निकाले हैं। इनमें विशेष रूप से मदुरा, तंजौर, त्रिचनापली, मैसूर, गुजरात, बुन्देलखण्ड उल्लेखनीय हैं। उत्तर-पूर्व दिशा में यह चिह्न इसलिए कम हैं कि यहाँ की नदियों ने या तो उन्हें बहा दिया, अथवा अपनी ही तह में ढक लिया। कहीं-कहीं कन्दराओं में उनके शस्त्रों के चित्रित होने के नमूने भी मिले हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि उनमें कला की भी कोई भावना रही होगी।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस बर्बरता के समय में ही सभ्यता के अनेक बीज मनुष्य में आ गये थे। यही आगे चल कर अंकुरित हुए, फूले, फले और फैले।

उत्तर पाषाणकाल

यह काल लगभग १२००० ई० पू० का है। इसमें कुछ ऐसे परिवर्तन हुए जिनके आधार पर हम इसे पूर्व पाषाणकाल से अलग करते हैं। यह सभ्यता योरुप, अफ्रीका तथा एशिया में लगभग एक साथ ही उदय हुई। धीरे-धीरे मनुष्य की शक्तियों का विकास हुआ, और उसने प्रकृति में जिस कार्य को एक ही रूप से हजारों बार देखा, उसी से कुछ सीख लिया। वह धीरे धीरे हर कार्य में कुशलता और सुन्दरता लाने लगा।

निवास-स्थान—कन्दराओं व खोहों के स्थान पर उसने मकान बनाना सीखा। यद्यपि वे मकान अभी पत्थर के टुकड़े, मिट्टी के ढेलों, पेड़ की टहनियों तथा घास इत्यादि से ही बने, पर इससे बहुत लोग एक साथ बैठना, रहना, सोना सीख गये।

कृषिकर्म तथा पशुपालन—उत्तर पाषाणकाल में मनुष्य ने कृषि करने की खोज की। इसका प्रमाण दो बैल तथा हल के चित्रण में हमें मिलता है। यद्यपि उस समय उसका हल काठ का ही रहा होगा, पर वह गेहूँ, बाजरा, मक्का, पैदा करने लगा था। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह किस प्रदेश की खोज है पर इस सम्बन्ध में नील की घाटी (पेरी) अफगानिस्तान तथा उत्तरी पश्चिमी चीन (वेविलोव), फिलिस्तीन (अन्य विद्वान) तथा बेवीलोनियाँ के नाम लिये जाते हैं।

अस्त्र-शस्त्र—इस काल में उनके अस्त्र-शस्त्र चमकदार, नुकीले, और चिकने होने लगे। धीरे-धीरे उन्होंने लकड़ी, हाथी दाँत, तथा हड्डी का प्रयोग करना सीखा। अब वह धनुष-वाण, भाले, बरछी के अतिरिक्त हँसिया, पहिया और सीढ़ी तक बनाने लगा। इसी समय उसने कुछ मिट्टी का सामान भी बनाना आरम्भ किया।

बर्तन भाण्डे—पूर्व पाषाणकाल में पत्थर का प्रयोग होता था पर मिट्टी की बनायी चीजों का नहीं, पर जब उनके पास अन्न इतना हुआ कि उसे सुरक्षित रखने की आवश्यकता हुई तो उसने मिट्टी के बर्तन बनाना सीखा। सम्भव है कि पहिले वह बिना चाक के ही बनाने लगा हो। धीरे-धीरे इन बर्तनों को अच्छा बनाने लगा और उन पर चित्र भी बनाने लगा। ये चित्र अच्छी कला के बीज का परिचय देते हैं जैसा कि बिल ड्यूरैण्ट ने लिखा है। **"उसने मिट्टी से सुन्दर तथा उपयोगी वस्तुएँ बनायीं, उन पर साधारण चित्र बनाये और**

कुलाल विज्ञान को प्रारम्भ में केवल कारोबार में ही नहीं बल्कि कला में भी परिणत किया।''[1]

उनका भोजन—इस काल में मनुष्य को वन की आग से पका हुआ मांस अकस्मात् कुछ स्वादिष्ट लगा। अतः उसने उसको अपने उपयोग में लाना सीखा, और धीरे-धीरे पत्थर या काठ की रगड़ से वह अग्नि को भी पैदा करने लगा। इस आविष्कार से उसके जीवन में भारी परिवर्तन आ गया। अब वह पका हुआ अन्न, शाक, माँस, मछली खाने लगा। उसे दूध व ताड़ी का ज्ञान भी इसी समय तक हो गया।

वस्त्र व गहने—इसी काल में ऊन का प्रयोग होने लगा और बुनाई का आविष्कार हुआ। पशुओं के ऊन से कपड़े बनने लगे। धीरे-धीरे उन्हें करघे और तकली का भी ज्ञान हुआ। उस समय की ये वस्तुएँ आज भी उपलब्ध हैं। वस्त्र रंगने का प्रबन्ध उन्होंने पेड़ों के रस से कर लिया। उनका वस्त्र अधिकतर आधा कमर में तथा आधा कंधे पर रहता था जिसे आज तक हम नहीं बदल सके। आभूषण पुरुष व स्त्री दोनों ही पहनते थे। इनमें माला, अँगूठी, बाली विशेष उल्लेखनीय हैं। ये गहने सीप, कौड़ी अथवा हड्डी के बनाये जाते थे।

उद्योग-धन्धे—इस युग के मनुष्य का काम काफी बढ़ चुका था, अब उसे इतनी स्वच्छन्दता न रह गई थी, जो पहिले प्रकृतिजीवी मनुष्य को थी। अब वह कृषि, पशु-पालन, शिकार इत्यादि में लगा रहता। अब उसे एक ही स्थान पर रहने की चिन्ता होने लगी तथा वह इसके लिए प्रयत्न करने लगा। वह इस समय तक गाय, बैल, भैंस व भेड़ भी पालना सीख गया जो आगे चलकर उसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति गिनी जाने लगी। कृषि के साथ व्यवसाय बढ़ जाना स्वाभाविक ही था अतः पत्थर के व काठ के काटने व बनाने आदि के काम होने लगे।

भाषा और कला—उसकी कला का प्रकाशन जैसा पहिले कह चुके हैं, मिट्टी के बर्तनों, और औजारों में दिखाई देने लगा। उसने प्रकृति की नकल करना आरम्भ की और इसी भावना से आगे चलकर स्वयं भी कुछ मौलिक चीजें बनाने की उसकी प्रवृत्ति बढ़ गयी। उस समय की शिलाओं और कन्दराओं में रेखाचित्र भी मिलते हैं।

दूसरी ओर जब इनके व्यापार बढ़ गये तो उनकी बोलियाँ भी निश्चित होने लगीं। उनके अनेक कार्यों के साथ उनके शब्द भाण्डार में भी विस्तार हुआ।

---

1. "He fashioned clay into forms of beauty as well as use, decorated it with simple designs, made pottery almost at the out set not only industry but an art."
—Will Durant.

जाति व वर्ग—इस प्रकार के जीवन में आते ही उसके वर्ग बन गये। उसने समूहों में बैठने, तथा अलग-अलग बैठने में विभेद भलीभाँति समझ लिया। यही नहीं धीरे-धीरे एक वर्ग की दूसरे वर्ग से ईर्ष्या तथा द्वेष की भावना भी पैदा होने लगी। इसी ने आगे चलकर जातीय व विजातीय भावना को पैदा किया।

धार्मिक भावना—इस काल में मनुष्य भौतिक पदार्थों में शक्ति का अनुभव करने लगा, अतः उसमें भूतवाद की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गयी। वह उन्हें दूध, माँस तथा अन्न चढ़ाने लगा। इसका विकास वैदिक यज्ञ तथा बलि में हुआ होगा। इसके अतिरिक्त उसके हड्डियों को रखने के बर्तन और मृतकों की समाधियों से इस बात का भी अनुमान होता है कि वे पुनर्जन्म में विश्वास करने लगे थे। इस प्रकार उस काल के मनुष्य में हमारी सभ्य भावनाओं का विस्तृत रूप अंकुरित होता दिखाई देता है।

ताम्रयुग

पाषाणकालीन सभ्यता के अन्तिम दिनों में धातु का प्रयोग भी मनुष्य को आ गया। उसने सबसे पहिले सोने को प्राप्त कर उसके आभूषण आदि बनाये। पर इस धातु को अधिक मात्रा में न पाकर वह दूसरी चीजों को भी खोजता रहा, विशेष कर इसलिए कि इस धातु से अस्त्र-शस्त्र अच्छे बनने का कार्य भी सम्भव न था। दूसरी धातु इसे ताँबा मिली। इसके पश्चात् कुछ समय ऐसा रहा कि ताँबे का प्रयोग बहुतायत से हुआ। इसी आधार पर इस युग को ताम्रयुग कहा जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि उस युग में इनके अतिरिक्त अन्य किसी धातु को मनुष्य ने जाना ही नहीं, वह चाँदी भी पा चुका था। अन्ततः उसे लोहा मिला होगा।

इस देश में ताँबे और लोहे के बीच काँसे के काल का ज्ञान हमें नहीं है जो अन्य देशों में विशेषकर उल्लेखनीय रहा। इस काल की सभ्यता बहुत आगे बढ़ चुकी थी। इस सभ्यता के नायक द्रविड़ थे जो अनुमान है कि सबसे पुराने इस देश के निवासी रहे। कुछ विद्वानों का मत है कि वे भारत में बहुत बड़ी संख्या में थे और विशेषकर दक्षिण में थे। वे खेती करना, पशुपालन, बर्तन बनाना, ग्रामों में निवास करना और अस्त्र शस्त्र बनाना सभी कार्य भली-भाँति जानते थे। बाँध बाँधने के काम में तो वे संसार में सर्वप्रथम रहे। उनकी कौटुम्बिक प्रणाली मातृक थी और माता को ही प्रधान मानते थे। यही नहीं वे मातृ देवी तथा प्रेतों की पूजा करते थे। बलिदान की पद्धति भी उनमें प्रचलित थी और वे मनुष्य तक की बलि दे देते थे। बहुत सम्भव है कि यही आगे चलकर वैदिक काल के दास अथवा दस्यु बने हों।

———

परिच्छेद—३

सैंधव सभ्यता

सन् १६२१ के पूर्व हमारा अनुमान था कि हमारी प्राचीन से प्राचीन सभ्यता वैदिक काल की ही है। निःसन्देह वैदिक सभ्यता अत्यन्त उन्नत और प्राचीन है पर अब जौन मार्शल, राखलदास बनर्जी तथा दयाराम साहनी प्रशंसा के पात्र हैं, जिनके अथक परिश्रम के फलस्वरूप हमें आज एक नयी तथा उच्च कोटि की सभ्यता का ज्ञान हो गया है। इस सभ्यता का उदय ईसवी से सहस्त्रों वर्ष पूर्व हुआ, और इसके खण्डहर हमें वैदिक काल से भी पीछे ले जाते हैं। इसके अवशेष हमें कई स्थानों पर प्राप्त हुए हैं, यथा (i) हरप्पा (ii) मोहनजोदड़ो, (iii) झूकरदड़ो (iv) कान्हूदड़ो तथा (v) नाल। ये सभी स्थान चूंकि सिन्धु घाटी की तलहटी से सम्बन्धित रहे हैं, अतः इनके द्वारा ज्ञात सभ्यता को सिन्धु घाटी की सभ्यता कहते हैं। यह सभ्यता इतनी उन्नत होते हुए क्यों एकाएक नष्ट हो गयी, इसके लिए जलवायु-परिवर्तन, भयानक आक्रमण, भूकम्प अथवा बाढ़ में से एक अथवा अनेक कारण रहे होंगे। इससे प्राप्त सामग्री को हम नीचे दिये गये क्रम से अध्ययन कर सकते हैं—

इनका मूल स्थान—इस सभ्यता के अवशेष हमें निम्न स्थानों पर मिले हैं।

(१) **हरप्पा**—जो पंजाब प्रान्त के मोंटगोमरी जिले में है, और लाहोर व मुल्तान के बीच है।

(२) **मोहनजोदड़ो**—जो सिन्ध के लरकना जिले में (पाकिस्तान) डोंकरी स्टेशन से आठ मील तथा सिन्धु से ३½ मील है।

(३) **नाल**—बलूचिस्तान के कलात राज्य में स्थित है।

(३) झूकर दड़ो }
(४) कान्हू दड़ो } पंजाब में स्थित हैं।

इनमें से मोहनजोदड़ो शब्द का अर्थ सिन्धी में "मृतकों का ढेर" है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि जब यह सभ्यता नष्ट हो गयी,

उसके कुछ ही काल पश्चात् किसी ने इसे यह नाम दिया होगा। अतः आज तक वह उसी नाम से पुकारा जाता है। इसका मूल स्थान कहाँ था इस विषय में विवाद है। इसके खण्डहर हमें गंगा की घाटी में नहीं मिले, जहाँ हमारी और भी उच्चकोटि की सभ्यता लहराती रही, अतः इसको वैदिक सभ्यता से जोड़ना सरल नहीं। कुछ विद्वान इसे एलम तथा मैसोपोटामियाँ की ओर घसीटते हैं, क्योंकि इसकी अनेक वस्तुएँ उनकी वस्तुओं से मिलती-जुलती हैं। डा॰ त्रिपाठी ने इस विषय में मौन ही सराह्य बताया है। उनका कहना है कि **"ऐतिहासिक ज्ञान की इस सीमा पर खड़ें होकर अभी हमारा इस विषय में मौन ही सराह्य और उचित है।"**[1] पर अभी हाल में बनारस के इण्डो-सुमेरियन अध्ययन के प्रधान प्राध्यापक डा॰ प्राणनाथ जी ने अपने कुछ खोज-पूर्ण लेख निकाले हैं, उनमें आप ने उस समय की लिपि को पढ़ने का प्रयास किया है। आपका कथन है कि, **"सौराष्ट्र के तीन महान राजा सूरसेन, नर और हरि एक बहुत बड़े साम्राज्य के निर्माता थे, जो भारत से लेकर भूमध्य सागरीय देशों तक फैला था।"**[2]

अभी यह कथन सर्वथा प्रमाणस्वरूप तो नहीं है, पर सिकन्दर के समय तक उत्तरी पश्चिमी भारत का फूलाफला होना हमें अपने भारतीय गौरव की ओर घसीटता है।

निवास स्थान—इस समाज के द्वारा बनाये गये सुन्दर तालाब, भवन तथा उनकी सड़के हमें एकाएक चकरा देती हैं, क्योंकि अनुमान से परे की बात है कि इतने प्राचीन समय में भी इस प्रकार की उच्चकोटि की सभ्यता रही हो। उनके घरों की नींव गहरी थी, दीवालें चौड़ी थीं, उनमें दरवाजे तथा खिड़कियों का प्रबन्ध था। इनमें मंजिले भी रहती थीं। इनमें से कुछ स्थान ऐसे हैं जो मन्दिर का काम देते रहे होंगे पर सभी में आराम, स्वच्छता, तथा वायु के प्रवेश का पूरा ध्यान था। कहीं-कहीं तो इनके भवन बहुत बड़े थे। यही नहीं इन्होंने अग्निकुण्ड, कुँआ, स्नानागार तथा पक्की नालियों का भी निर्माण सीख लिया था जो उस युग के लिए अत्यन्त सराहनीय है इनकी सड़कें कच्ची थीं पर नालियाँ ढकी हुई थीं। स्थान-स्थान पर कूड़ा डालने का

---

१. डा॰ रमाशंकर त्रिपाठी "प्राचीन भारत का इतिहास" पृष्ठ २०

2. Dr. Pram Nath, Head of the Deptt. of Indo-Sumerian Studies, Banaras University.

"The three mighty kings of Surastra Surasena Nara and Hari were the builders of a very vast empire extending from India up to the countries of the Mediterranean"

—Article Series II

प्रवन्ध था। इसमें से मोहेनजोदड़ो का स्नानागार सबसे अधिक उल्लेखनीय है, इसमें एक कुंड[1] आँगन में स्थित है। इसके चारों ओर बरामदे, रास्ते, नहाने के चबूतरे तथा पानी में उतरने के लिए सीढ़ियाँ हैं। इसके किनारों की दीवालें इतनी मजबूत बनी हैं कि लगभग ५००० वर्ष का समय भी उन्हें हिला नहीं सका।[2] जैसा डा० मुकर्जी ने अपनी हिन्दू सभ्यता में लिखा है। "सबसे पहले चार फीट चौड़ा ईंटों का डंडा था जिसकी छिली हुई ईंटें आपस में ठुककर मिली हुई थीं, और जिनकी जुड़ाई गच चूने से की गयी थी। इस डंडे के पीछे इंच भर मोटा डामल का पलस्तर था।" बहुत सम्भव है कि यह तैरने के लिए स्नान कुंड (Swimming pool) रहा हो। यह जलाशय जल से भरा और खाली कर दिया जाता था। इसको भरने के लिए समीप में एक कुआँ था, और इसे खाली करने का ढंग भी विचित्र था। यही नहीं इसके साथ एक हम्माम भी था जिससे विदित होता है कि स्नान के लिए वे गर्म जल की व्यवस्था भी कर लेते थे। इस प्रकार इनके सार्वजनिक स्थान, कुंड और मंदिर सिद्ध करते हैं कि इनकी सभ्यता उच्चकोटि की थो।

कृषि व आहार—इनका कृषि विषयक ज्ञान अच्छा था, क्योंकि बिना कृषि के इतना उन्नत समाज सम्हालना सम्भव नहीं था, पर अभी तक यह निश्चित नहीं हो सका, कि उन्हें हल का ज्ञान था कि नहीं। यह निश्चित है कि वे कई प्रकार के अन्न पैदा करते थे जिनमें गेहूँ और जौ मुख्य थे और जिनके जले दाने प्राप्त हुए हैं।

विद्वानों का मत है कि उस समय सिन्ध में वर्षा अच्छी होती थी पर सिंचाई से भी काम होता था, इसमें सन्देह नहीं। अतः इनका आहार क्या था यह बताना न होगा। इनकी रुचि मांस, मछली तथा शाकाहार दोनों में ही थी। इसमें विशेष अंग दूध का था। कुछ अधजली हड्डियों के मिलने से ज्ञात होता है कि ये सुअर, गाय, भेड़, मछली, मुर्ग तथा अंडे का अपने भोजन में प्रयोग करते थे। इसके अतिरिक्त उनके आहार में हरे व सूखे फल तथा तरकारियों का समुचित स्थान था।

---

१. **कुड का आकार, ३९ फीट लम्बा, २३ फीट चौड़ा और ८ फीटगहरा है।**
—Mackey

2. The lining of the tank was made of finely dressed brick laid in gypsum mortar about four feet thick, backing this was an inch thick damp proof course of bitumen."
Hindu Civilization. Dr. R. K. Mookerji

उद्योग धंधे—उनका प्रधान व्यवसाय कृषि था। पशुपालन कृषि का सदा से एक अभिन्न अंग रहा है, अतः वे गाय, बैल, भैंस, भेड़, हाथी, ऊँट, जबरा, सुअर, व मुर्गियाँ पालते थे, जिनकी प्रामाणिकता उनकी मिली हुई हड्डियों से होती है। इसके अतिरिक्त वे कातने, बुनने[1], पत्थर, लकड़ी व धातुओं पर काम करने, और आभूषण बनाने आदि के काम करते थे। यही नहीं वे आखेट करते थे जो जंगली हरिण, बाघ, वनगाय भालू आदि की मुहरों से सिद्ध होता है। वे मिट्टी के बर्तन बनाने में विशेष निपुण थे, साथ ही इन सब व्यवसायों के लिए दूकानदारी और व्यापार के कार्य स्वाभाविक ही थे।

वस्त्र तथा आभूषण—इनके समाज में छोटे बड़े का भी ज्ञान था, क्योंकि दो प्रकार के वस्त्र तथा गहनों का हमें पता चलता है। (१) लगभग नंगे अथवा एक वस्त्र पहिननेवाले (२) दो वस्त्र धारण करनेवाले जिनमें एक ऊपरी डुपट्टा जो दाहिनी बगल से जाकर बायीं ओर कंधे पर रहता था। दूसरा वस्त्र कमर में रहता था। ये पगड़ी का प्रयोग भी करते थे। उनके वस्त्र ऊनी तथा सूती दोनों प्रकार के होते थे और स्त्री व पुरुष दोनों ही आभूषण धारण करते थे। ऊँचे दरजे के लोगों के आभूषण सोने-चाँदी, हाथीदाँत अथवा अन्य कीमती वस्तुओं के बने होते थे पर नीचे की श्रेणी के लोगों के लिए तांबे, हड्डी, व मूँगे के ही होते थे। आभूषणों में कंगन, हार, बाली, करधनी, और बाजूबन्द प्रमुख थे।

अन्य उपयोगी सामग्री—उस समय का समाज सर्वथा शान्त था, पर हमें उनके कटार, भाले, धनुष वाण का ज्ञान है। सम्भवतः वे तलवार, ढाल, या शिरस्त्राण से परिचित न थे। उस समय के बर्तन आदि घरेलू वस्तुओं के नमूने भी बहुत मिले हैं। ये अधिकांश मिट्टी के हैं, यथा कटोरे, कटोरियाँ, कलश, सुराहियाँ। इसका यह अर्थ नहीं कि वे धातु का प्रयोग न जानते थे, उस समय तक पत्थर का स्थान पीतल ले चुकी थी। ये बर्तन चित्रित होते थे और ग्लेज से चमकाये जाते थे। इसके अतिरिक्त कुछ चीजें, जैसे बाँट, खेलने की गोलियाँ, पाँसे आदि पत्थर से बनते थे। इससे सिद्ध होता है कि जुए की तरह का कोई खेल वे भी खेलते रहे होंगे।

कलाकौशल—वैसे तो इस समय की नगर की योजना, चित्रित भाण्ड, रंग का ज्ञान, पत्थर व पीतल की मूर्तियाँ ही बहुत पर्याप्त प्रमाण हैं कि

१—**बुनने में रुई का प्रयोग इस समय केवल भारत में सीमित था। पाश्चात्य देशों में इसका प्रचलन २००० या ३००० वर्ष पश्चात् हुआ।**

—जान मार्शल

इनकी कला ऊँचे स्तर की थी पर सबसे अधिक उल्लेखनीय है उनकी मूर्तियों में शारीरिक गठन का दिखाना।

उनकी एक नर्तक की मूर्ति प्राप्त हुई है। यह नर्तक दाहिने पैर पर खड़ा है और बाँया पैर सामने की ओर उठाये हुए है। इस विषय में डा० त्रिपाठी का कथन है,

"पत्थर और काँसे को समूची कोरी मूर्तियों में तत्कालीनो ने कला में प्राण फूंक दिये हैं, इनकी सजीवता और प्रत्यंगीय चारुता बेजोड़ हैं। इनका फिनिश अनुपम है"[1]

—डा० रमाशंकर त्रिपाठी

यह नृत्य कला का प्रतीक हैं। इसके समान उस समय की कला का अन्य नमूना उपलब्ध नहीं। यही नहीं उस समय उनकी बर्तन बनाने और चित्रण की विधि भी अनुपम थी। जैसा कि मैके महोदय का कथन है। **"इनकी बर्तन बनाने की कला में कोई ओछापन नहीं है, क्योंकि इनके आकार प्रकार अनेक तथा बढ़े-चढ़े हैं। और ये वर्तन निश्चय ही उन लोगों के द्वारा बने हैं जो बहुत समय से सिद्धहस्त रहे होंगे।"[2]** इसके अतिरिक्त उस समय की मुहरों पर का रेखाचित्रण भी दर्शनीय है। इनमें पशुओं का खास तौर पर साँड का चित्र है। इससे यह भी प्रकट होता है कि इन्हें लेखन कला का ज्ञान था।

लेखन कला—इस समय की लेखन कला के विषय में बहुत से अटकल लगाये जाते हैं। ये लेख मिस्र व सुमेर की तरह के हैं। इनकी लिपि दाहिनी ओर से बायीं ओर चलती है, पर कहीं कहीं उल्टा भी हुआ है। कुछ विद्वान इसे ब्राह्मी से पहिले की लिपि मानते हैं। चूंकि अनुमान से इनका एक चिह्न एक वस्तु को प्रकट करता है, अतः ३९६ चिन्हों की एक तालिका बना ली गई है। इसे अभी तक लैंगडन, गैड, और स्मिथ भी नहीं पढ़ सके। अभी हाल में काशी विश्वविद्यालय की इण्डोसुमेरियन अध्ययन के अध्यक्ष डा० प्राननाथ ने अपने लेखों में कुछ आश्चर्यजनक तथ्य प्रकट किये हैं। आपका कथन है, कि **"सिन्धु घाटी की लिपि का मूल दक्षिण भारत के चिह्नों में निहित है। यही नहीं उनके मृतभाण्ड जिनपर चित्रण है, और जिन में अस्थि अवशेष व अन्य**

१—पृष्ठ १९ प्राचीन भारत का इतिहास —डा० रमाशकर त्रिपाठी

2—There is nothing primitive about the pottery of the ancient Indus cities, for the shapes are very varied and the technique advanced. Indeed vessels are almost without exception obviously the work of people trained in a long esta-blihsed craft. Ervest Mackay in "Early Indus Civilization."

पदार्थ रहे होंगे, हैदराबाद राज्य में पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हैं,'' [१] यह अब भी भविष्य के गर्भ में है कि इसका शुद्ध अर्थ क्या था ।

धर्म —इनका धर्म बताने के लिए हमारे पास कोई ठोस साहित्य अथवा अन्य सामग्री नहीं है, पर छोटी-छोटी मूर्तियों, मुहरों तथा तख्तियों पर बने चित्रों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ के निवासी धार्मिक विचार के थे। साथ ही इनका धर्म आज के हिन्दुत्व व जैन से मिलता-जुलता था। ये घरों में अग्निकुंड बनाते थे, जो हवन के काम आता रहा होगा। वे मातृ देवी के उपासक थे, और वे किसी ऐसे देवता के पुजारी थे, जो पशुओं से घिरा रहता था। यथा शिव (पशुपति)। यही नहीं उन्हें योगी शिव की उपासना का भी ज्ञान था क्योंकि पशुओं से घिरे त्रिमुखी देवता का चित्र योगी की अवस्था तथा मुद्रा में एक मुहर पर अंकित है। इससे शैवधर्म की प्राचीनता लक्षित होती है। उस समय लिंग तथा योनि की पूजा भी थी, जैसा कि उनकी मूर्तियों से प्रकट है। वे वृक्ष, पशु, पृथ्वी, सर्प, अग्नि की भी पूजा करते थे। पशुओं में वृषभ (बैल) का सम्मान अधिक था। यह शक्ति का स्वरूप माना जाता था। जैन तथा बौद्धों ने भी पश्चात् इसे अपने-अपने धर्म में सम्मानित किया है। इसके अतिरिक्त अन्तिम संस्कार के विषय में इनकी धारणा तीन प्रकार की थी।

(१) या तो पूर्ण समाधि, अर्थात् मृत्यु के पश्चात् गाड़ देना,

(२) अथवा पशुपक्षियों के खाने के पश्चात् गाड़ देना।

(३) अथवा जलाने के पश्चात् भस्म तथा हड्डी वर्तन में इकट्ठा करना। यही पद्धति थोड़े से परिवर्तन के साथ अब तक चली आती हैं।

काल —इस सभ्यता के काल निर्णय का प्रश्न जटिल सा है, क्योंकि इस विषय में अभी बहुत मतभेद है। बहुधा इसके लिए चार भिन्न भिन्न समय आँके गये हैं। यथा—

1—The origin of Indus Valley Script is deeply rooted in the signs found in Southern India. The burial pots with marks scratched on thems. containing bones and some other things buried under the earth were found in numbers in the Hyderabad State.

"Article I by
Dr. Pran Nath, Hd of the Deptt
of Indo Sumerian Studiees, Banares

२—मातृदेवी—आज की दुर्गा का स्वरूप तुल्य था। यह उस समय फारस से लेकर इटैली के समीप इंडियन सागर के निकट तक सभी देशों में प्रचलित था।

१—डा० राधा कुमुद मुकर्जी	३२०० ई० पू०
२—डा० नन्दलाल चटर्जी	५६०० ई० पू०
३—डा० रमाशंकर त्रिपाठी	३२५०–२७५० ई० पू०
४—डा० नगेन्द्र नाथ घोष	३५०० ई० पू०

इसमें महत्त्व की बात तो यह है कि इसके खण्डहर सात स्तरों में मिलते हैं। इन सात स्तरों में से तीन पश्चात् कालीन हैं, तीन मध्य कालीन हैं, और एक प्राचीन है। इसमें यह भी सम्भव है कि एक-आध स्तर और रहा हो जो पुरातत्व वेत्ताओं को प्राप्त ही न हुआ हो, अभी तक इन स्तरों के बीच विभेद को विद्वानों ने ५०० वर्ष का समय दिया है, अर्थात् लगभग १०० वर्ष पश्चात् एक स्तर का विनाश हो गया हो, और दूसरा उसके पश्चात् बना हो, अथवा कोई २०० वर्ष तक चला हो तो कोई ५० वर्ष में ही किसी कारण विशेष से नष्ट हो गया हो। जो हो इतना निश्चित है कि यह सभ्यता बहुत प्राचीन है, और बहुत समय तक टिकी रही। बहुत सम्भव है कि सिन्धु नदी का हेर-फेर ही इसे मिटाता और बनाता रहा हो।

निर्माता – इसके निर्माता कौन थे, यह भी अभी निश्चित नहीं, पर इसे आर्य सभ्यता मानने में कुछ अड़चने हैं। यथा—

(i) आर्य सभ्यता ग्रामीण थी, जबकि इनकी सभ्यता नगरवासियों की थी।

(ii) आर्य सम्भवतः लोहे से परिचित थे, पर ये नहीं।

(iii) आर्यों के वहाँ घोड़ा व कुत्ता महत्त्वपूर्ण थे पर इनका उनसे परिचय भी न था।

(iv) आर्य धर्म में मूर्ति पूजा न थी, पर इनमें थी।

इसके अतिरिक्त इनके प्राप्त अस्थि पंजरों से ज्ञात होता है कि ये कई जातियों के थे। फिर भी कुछ विद्वान इन्हें वैदिक काल से पूर्व रहने वाले द्रविड मानते हैं। कुछ इनको एलम और सुमेर से मिला देते हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि डा० प्राणनाथ इन्हें सौराष्ट्र में केन्द्रीभूत करते हैं। अतः जब तक कोई अचूक प्रमाण न हो तब तक यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इसके मूल मिर्माता कौन थे।

———

परिच्छेद—४

आर्य

आर्यों का आदि देश

आर्यों का आदि देश कहाँ था, यह सदा से एक विवाद का प्रश्न रहा है। आज भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उनका उद्गम स्थान कौन था ? यदि कुछ निश्चित है तो केवल यह कि उनके रहने का प्राचीनतम स्थान आजकल के पंजाब व पाकिस्तान का उत्तरी भाग था, क्योंकि उनकी सर्वप्रथम पुस्तक ऋग्वेद में इस क्षेत्र से आगे के स्थानों का वर्णन नहीं है, वैसे इस क्षेत्र की नदियों में सात नदियों का विशेष कर वर्णन है। उनमें पश्चिम में सिन्धु तथा उसकी पाँच सहायक और पूर्व में सरस्वती थी। इसी लिए इस क्षेत्र का नाम सप्तसिन्धु था। डा० अविनाश चन्द्र दास का कहना है कि यही क्षेत्र आर्यों का मूल निवासस्थान था, किन्तु ऐसा मानने में एक आपत्ति है। वैदिक लोग अपने को दासों से पृथक् समझते थे और यह दास शब्द इस प्रदेश की प्राचीन जातियों के लिए प्रयोग किया गया है। इन दोनों में केवल सभ्यता व संस्कृति का ही अन्तर न था बल्कि रंग और रूप का भी था। दास महोदय का कहना तो यह है कि ये दास आर्यों के ही निम्नतम अंग थे, पर यह उनके कारणों के आधार पर युक्तिसंगत नहीं, यथा उनका कहना है कि दास धूप में रहने के कारण काले पड़ गये थे, पर क्या किसी जाति का एक ही अंग काला होगा, जबकि हम जानते हैं कि सभी आर्य कृषि कर्म करते थे।

डा० त्रिपाठी का कहना इस विषय में अत्यन्त स्पष्ट है, **"कि इस व्यवस्था का निम्नतम स्तर उन शब्दों से बना जो दासों और दस्युओं में से विजित वर्ग के थे।"** फिर सबसे बड़ी बात तो यह है कि यदि दास आर्यों के निम्नतम अंग होते, तो आर्यों की ऋग्वेद में इस शिकायत का कोई अर्थ ही न था कि—**"हे देव मुझे बचाओ ये दास प्रबल हैं, और इनके पास दुर्ग वाले नगर हैं, इनसे हमें भय है।"**

१—पृष्ट ३९—प्राचीन भारत का इतिहास

—डा० रामशंकर त्रिपाठी

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में सप्तसिंधु के प्रति आर्यों के प्रचलन का भी संकेत है। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि ऋग्वेद में हमें मनु मनुष्य रूप में ही मिलते हैं, देवता के रूप में नहीं, वे दासों को पराजित करते हैं। वे इन्द्र की सहायता लेते हैं। यही नहीं शतपथ ब्राह्मण में मनु तथा बाढ़ की कथा आती है, इससे सिद्ध होता है कि आर्य अपने घर में बाढ़ आने के कारण चले और यहाँ आकर उन्हें दासों से लड़ना पड़ा हो। हो सकता है कि यह बड़ी प्रलयंकारी बाढ़ रही हो जिससे नूह (मनु का सूक्ष्म रुप) बचकर निकल सके थे। पर मूल प्रश्न तो यह है कि यदि वे प्रारंभ से सप्तसिंधु के निवासी न थे तो कहाँ से आये। इसका पूर्ण निराकरण यहाँ सम्भव नहीं पर सत्य के निकट पहुँचा जा सकता है। इनके मूल निवास के लिए हमें निम्नलिखित स्थानों की चर्चा मिलती है—

१—पामीर का पठार	—पेन्का
२—आर्कटिक क्षेत्र	—तिलक
३—योरुप का एक भाग	—गाइल्स (जाइल्स)
४—मध्य एशिया	—मैक्समूलर
५—काले सागर का उत्तरी भाग	—वेन्फे
६—पश्चिमी जर्मनी	—जायगर
७—भारतवर्ष	—पुराणों के आधार पर।

इस विषय में एक बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, इस ओर अभी तक इतिहासकारों का ध्यान ही न गया था। वह यह कि हमें भली भाँति ज्ञात है कि उत्तरी भारत फारस, योरुप में आर्य सभ्यता पनपती रही। साथ ही यह भी निश्चित है कि इन सबमें भारतीय आर्य सभ्यता प्राचीनतम है, चूँकि भारतीय वेद योरुप की इलियड, और फारस की जिन्दा वस्ता से कहीं प्राचीन है। ऐसी स्थिति में यदि हम योरुप के किसी प्रदेश को आर्यों का मूल स्थान मानते हैं, तो भारतीय आर्य सभ्यता कैसे प्राचीनतम हो सकती है। फिर योरूप के साहित्य में तो कोई ऐसी पुस्तक नहीं है जो वेद के समकालीन ठहरायी जा सके। साथ ही जो लोग उनका मूल स्थान योरुप मानते हें वे भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि आर्य जाति घुमक्कड़ न थी बल्कि व्यवस्थित ढंग से रहती थी। ऐसी दशा में उनका उल्लेख योरुप के किसी प्राचीनतम ग्रन्थ में होना चाहिये था पर उनका कोई पदचिन्ह कहीं पर मिलता ही नहीं।

दूसरी ओर योरुप को उनका घर माननेवालों ने भी बड़े युक्तिपूर्ण तर्क उपस्थित किये हैं।

इस मत को माननेवालों ने प्राचीन भाषाओं को अपनी आधारशिला

बनाया है। अठारवीं शताब्दी में दो योरुपीय विद्वानों ने[1] संस्कृत का गहन अध्ययन किया उन्होंने संस्कृत, ग्रीक तथा लेटिन भाषाओं के शब्दों में बड़ी समता देखी। यथा—

संस्कृत	आवेस्तन	लेटिन
पितृ	पितर	पेटर
मातृ	मातर	मेटर
भ्रातृ	भ्रातर	फ्रेटर
सुउ	हूनु	सन
वीर	वीरो	वीर
गो	गौस	गोस
अश्व	अस्प	इक्वस
देव	देव	दयूस

यही नहीं डा० मुकर्जी का कथन है कि **"न केवल एक शब्द अथवा शब्द समूह, बल्कि पूरे अनुच्छेद के अनुच्छेद भारतीय भाषा से ईरान की भाषा में बिना किसी शब्द अथवा बनावट के अनूदित हो सकते हैं।"**[2] इस प्रकार भाषा विज्ञान के अध्ययन से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है, कि फारसी, ग्रीक कैल्टैक आदि भाषाओं के धातु रूप शब्द एक थे। अतः इन भाषाओं का भी एक कुटुम्ब मान लिया गया है। इसे भारत योरुपीय अथवा भारत जर्मन कहते हैं। इसके तुलनात्मक ज्ञान से हमें यह विदित होता है, कि ये शब्द एक दूसरे से नहीं लिये गये, और इनके बोलनेवाले एक स्थान पर रहे होंगे जिनके परस्पर व्यवहार के शब्द एक थे, और आज भी एक हैं। दूसरे यह भी ज्ञान होता है, कि इनका मूल निवासस्थान संसार में अलग से पर्वतों तथा जल से घिरा हुआ कोई स्थान रहा होगा। ये किसी द्वीप के निवासी भी न रहे होंगे, क्योंकि इनके शब्द कोष में कोई शब्द द्वीप के लिए एक सा नहीं है। इसके अतिरिक्त ये समशीतोषण जलवायु में रहे होंगे जिसका ज्ञान हमें उनके द्वारा ज्ञात वृक्षों से होता है। वे ओक (oak) बीच (beech) विलो (willow) जानते थे।

1—"Not only single words and phrases but whole stanzas may be translated from the dialect of India into the dialect of Iran without change of vocabulary or construction."

Hindu Civilization by Dr. R. K. Mookerji

Ch. IV p. 66.

२—कोर्डो (Courdoux) फ्रांस का धर्मप्रचारक।

३—विलियम जोन्स (William Jones) बंगाल का प्रधान न्यायाधीश।

ये स्थायी निवासी थे, क्योंकि समय का ध्यान रख कर फसलें पैदा करथे थे। कोई भी घुमक्कड़ जाति यह न जानती थी। यही नहीं उन्होंने कुछ पशु पक्षी भी पालना सीखा था, जैसे--बैल, गाय, भेड़, घोड़ा, कुत्ता, और सुअर। उन्हें रीछ और भेड़िये का भी ज्ञान था, पर शेर और चीते का नहीं'। उन्हें ऊँट और हाथी ज्ञात थे, गर्दभ नहीं। इन तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि उनके निवासस्थान में मैदान तथा पर्वतीय दोनों प्रकार का स्थल था। इन्हीं आधारों पर डा० जाइल्स ने उनका मूल स्थान हंगेरी और आस्ट्रिया का भूभाग ठहराया है। आप का कहना है कि इस भूभाग में अनाज उगने की सुविधा, चारागाह की सुविधा, जलवायु की अनुकूलता और पशु तथा वृक्षों के निमित्त अधिक उपयुक्तता रही है, किन्तु यह सारा आधार निराधार हो जाता है, यहाँ यह प्रश्न उठता है, कि यह किस युग की बात है, क्या उस समय भी यह स्थल ऐसा ही रहा होगा। डा० जाइल्स के अनुसार पामीर का प्रदेश बंजर और अनाकर्षण का स्थान रहा है, पर यह सब बड़े ठोस आधार पर आधारित नहीं जैसा कि श्री काला महोदय लिखते हैं; कि 'यह सब गलत तथ्यों पर आधारित है', हमें कोई एक भी वस्तु अथवा पशु, ऐसा नहीं ज्ञात है जो पूर्णतः और मूलतः योरुपीय हो, और जिसका पूर्व तथा पश्चिम की आर्य भाषाओं में एक ही समान नाम हो[१]"

इस प्रकार हमें पुनः पामीर जैसे स्थलों की ओर देखना पड़ता है, और एक बार यह सम्भावना समझ पड़ती है कि हो न हो यह विश्व की छत ही उस युग में उनके निवास के योग्य भूमि रही हो, और इसी से चलकर कदाचित् ये इधर-उधर फैले हों। यही कारण है कि पेन्का महोदय ने पामीर के पठार को इनका मूल निवासस्थान बताया। आपका कथन है कि पामीर आज अनाकर्षण की वस्तु दिखाई देता है, पर उस समय आकर्षण की रहा होगा।

इसी प्रकार तिलक जी उस स्थल को आर्कटिक की ओर घसीटते हैं, आपका कहना है कि ऋग्वेद की लम्बी ऊषा, छः महीने के दिन रात, इस बात को सिद्ध करते हैं कि आर्य ध्रुव प्रदेश में रहते थे, लेकिन इस प्रमाण के विरुद्ध यह आपत्ति खड़ी होती है कि क्या साहित्य में केवल अपने ही भूखण्ड का वर्णन करना सदा प्रिय और अपेक्षित होता है, फिर आर्यों का ज्ञान केवल अपने ही प्रदेश तक रहा हो यह मान लेना युक्तिसंगत नहीं है। दूसरे मान भी लें कि वे ध्रुव प्रदेश में रहते थे, तो उस दूर प्रदेश को छोड़कर भारत में सप्त-

---

1—"But this is based on false premises as Mr. Kalla has observed "We do not know of a single object, tree or animal that is entirely European in origin having a common name in the Aryan languages of East and West.

=The Home of Aryans,

सिंधु में ही क्यों आकर बसे यह भी आश्चर्य है, उन्हें इससे अच्छे प्रदेश अन्यत्र भी सुलभ हो सकते थे। इससे अधिक युक्तिसंगत मत तो भारत को ही उनका मूल निवासस्थान मानने वालों का है। उनका कहना है कि संस्कृत साहित्य में आर्यों के अनेक आचार-विचार-व्यवहार सभी के वर्णन हैं, परन्तु उसमें कहीं भी उनके एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए प्रचलन का वर्णन नहीं है। फिर आर्यों ने जननी जन्मभूमिश्च (अर्थात् मातृभूमि सबसे बड़ी है) के आदर्श को मान कर सप्तसिंधु को पूज्य ठहराया है, उनका कथन है कि भाषा का आधार कोई ठोस आधार नहीं, साथ ही उनका कथन है कि यदि आर्य बाहर से आये थे, तो जहाँ से आये वहाँ भी उनके साहित्य का कुछ अंश अवश्य मिलता। अतः इन भारतीय मत वाले विद्वानों के अनुसार आर्यों का मूल निवासस्थान मध्य देश (वर्तमान उत्तर प्रदेश और बिहार) था। उनके मुख्य केन्द्र अयोध्या, प्रतिष्ठान (प्रयाग के समीप झूसी) और गया थे। भारतीय अनुश्रुति के आधार पर भारतीय आर्यों की कई शाखाएँ मध्य और पश्चिमी एशिया में गयीं, वे अपने साथ संस्कृत भाषा भी ले गयीं, और उन्हीं की धाराएँ आज भी उन भाषाओं में मिलती हैं।

इसी प्रकार हम मध्य एशिया अथवा पश्चिमी जर्मनी और काले सागर के उत्तरी प्रान्त को उनके मूल स्थान के लिये असिद्ध कर सकते हैं। अतः ऐतिहासिक ज्ञान की इस सीमा पर खड़े होकर हम अभी भी यह निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि सत्य किस ओर है।

———

परिच्छेद—५

वैदिक कालीन सभ्यता

आर्य कहाँ के मूल निवासी थे, यह निश्चित न हो, पर उनका प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ ऋग्वेद है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी के आधार पर हमें उनकी सभ्यता का ज्ञान होता है। यह ग्रन्थ किसी एक समय की रचना नहीं, और न यह किसी एक ऋषि का काव्य है। इसकी रचना में सैकड़ों वर्ष लगे। वैदिक पुजारी तो इसे अपौरुषेय (मनुष्य का बनाया नहीं) मानते हैं। यह मनुष्य की रचना है अथवा ईश्वर की यह प्रश्न तो इस स्थल पर हल नहीं किया जा सकता; पर इसकी रचना का काल क्या था, यह इसी के अनेक तत्वों को तथा इसके पश्चात् की अनेक बातों को देखकर निश्चित किया जा सकता है।

ऋग्वेद—वेद का अर्थ संस्कृत "विद्" धातु से जानना (ज्ञान) होता है। ज्ञान का यह सबसे प्राचीन भाण्डार एक अद्वितीय ग्रन्थ है। इसमें १०२८ सूक्त हैं। ये सूक्त दस भागों में विभक्त कर दिये गये हैं, इनमें से प्रत्येक को मण्डल कहते हैं। इसके रचयिता अनेक ऋषि थे, वे दृष्टा कहे जाते हैं, अर्थात् उनकी आत्मा इतनी पवित्र, उत्कृष्ट, और प्रबल थी कि उनको इस प्रकार का ज्ञान हुआ। उन्होंने सबसे पहिले यह ज्ञान स्वयं धारण किया, इस ज्ञान भाण्डार को वे पिता से पुत्र तक अथवा गुरु से शिष्य तक की परम्परा से सदियों तक प्रदान करते रहे। जब इनकी सन्तति की स्मृति व धारणाशक्ति इतनी अच्छी न रही कि वे उसे हृदय में रख सकें तो उन्होंने उसे लिपिबद्ध करने का विचार किया। इस प्रकार यह ग्रन्थ के रूप में प्रकट हुआ। अतः जो सभ्यता इसके आधार पर प्राप्त होती है, उससे यह अनुमान लगाना कि वह अपने प्रारंभिक काल को बतलाती है, भ्रमपूर्ण होगा। वस्तुतः इसकी रचना का काल तो उसकी सभ्यता का अवसान काल हुआ। जो हो, यह उनकी प्रार्थनाओं और कार्यों की रूपरेखा के साथ हमें अनेक बातें प्रदान करता है।

इसका काल—इस स्थल पर संक्षेप में इसके रचना काल का निर्णय करना भी असंगत न होगा, क्योंकि विद्वानों के इस विषय में भी भिन्न भिन्न मत हैं। इसके धार्मिक पुजारी तो इसे अनादि मानते हैं, पर ऐतिहासिकता के

आधार पर इसका काल २५००० ई० पू० से लेकर २०० ई० पू० तक आंका गया है। इसमें भी हम २५००० ई० पू० और २०० ई० पू० की दोनों सीमाओं को सरलता से छोड़ सकते हैं, क्योंकि वैदिक साहित्य बौद्ध साहित्य से बहुत पहिले का है। इसका प्रमाण यह है कि बौद्ध वैदिक साहित्य की चर्चा करते हैं, और यह निश्चित है कि प्रथम बौद्ध साहित्य ६०० ई० पू० में बना। अत: वैदिक साहित्य ६०० ई० पू० के पश्चात् का तो हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार दूसरी सीमा व्यर्थ है, क्योंकि २५००० वर्ष पूर्व भारत की क्या दशा रही होगी यह अनुमान की बात है। क्या यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय की सभ्यता में भी ऋषि थे, और उनका आध्यातम ज्ञान इस सीमा तक पहुँच चुका था? अत: इन तिथियों की सम्भावना का प्रश्न ही नहीं उठता।

१—शेष सिद्धान्तों में जो ४००० ई० पू० से १५०० ई० पू० तक के हैं, मैक्समूलर का कहना है कि बौद्ध साहित्य से वैदिक साहित्य पूर्व का है, और इसका ६०० ई० पू० तक अन्त हो जाता है, फिर यह साहित्य कम से कम चार विभिन्न प्रकार का है, ब्राह्मण, उपनिषद्, अरण्यक, और सूत्र। यदि इनमें से प्रत्येक प्रकार के साहित्य के फूलने-फलने के लिए कम से कम २०० वर्ष मान लें, तो भी ६००+८०० अर्थात् १४०० ई० पू० का समय हुआ जिसके पहिले ही हमें ऋग्वेद का रचना काल रखना होगा।

२—इसी बात का समर्थन मैकडोनैल ने भी किया है। आप का कथन है कि ऋग्वैदिक और आवेस्ता के साहित्य में बड़ी समानता है, और आवेस्ता का साहित्य ८०० ई० पू० से बहुत पहिले का नहीं है, अत: यदि वैदिक साहित्य को उससे ५०० वर्ष पूर्व का भी मान लें तो यह १३०० ई० पू० तक पहुँच जाता है; परन्तु इन दोनों मतों में जो आधार माना गया है, वही बहुत विश्वास की चीज़ नहीं ठहरता। जहाँ तक किसी साहित्य के फूलने-फलने तथा परिर्वतन का प्रश्न है, यह २०० वर्ष में बदल सकता है, और ५०० वर्ष भी सरलता से एक रस चल सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक साहित्य इतने ही दिन चला और चलेगा।

३—इस विषय में तीसरा मत जैकोबी और तिलक जी का है। आप लोगों का कहना है कि ज्योतिष के आधार पर इस ग्रन्थ का रचना काल ४५०० अथवा ६००० ई० पू० का रहा होगा, क्योंकि ब्राह्मणों में कृत्तिका नक्षत्र अन्य नक्षत्रों से आगे बताया गया है और ध्रुवतारे को ध्रुव कहा गया है। इस मत के विरुद्ध सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि जिन शब्दों के अर्थ पर यह बात आधारित है, उनका अर्थ ही निश्चित नहीं। ये शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ के बोधक हो सकते हैं।

४—चतुर्थ मत डा० दास का है। आपने भूशास्त्र के आधार पर कहा है कि यह काल २५००० ई० पू० का है। पर इसके विरुद्ध एक भारी आपत्ति यह उठती है कि २५००० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक किसी भाषा का स्वरूप एक ही कैसे रह सकता है।

५—डा० पुरुषोत्तम लाल जी भार्गव ने अपनी पुस्तक[1] में विस्तारपूर्वक इस काल का विवेचन किया है। इस विषय में आपका एक ठोस प्रमाण यह है कि वायु पुराण में एक श्लोक आया है, जिसमें महापद्मनन्द और परीक्षित के बीच का समय १०५० वर्ष बताया गया है। वैसे तो विद्वानों का विश्वास पौराणिक तथ्यों पर कम जमता है, पर जब वही आधार मौर्य आदि राजाओं के विषय में मान्य है, तो दूसरे स्थल पर अमान्य क्यों हो, यह कोई तर्क नहीं। जो हो श्लोक का अभिप्राय स्पष्ट है, "महापद्म के अभिषेक से लेकर परीक्षित के जन्म तक १०५० वर्ष का समय हो गया।"[२]

यहाँ इस विवाद में नहीं पड़ा जा सकता कि यह परीक्षित कौन सा परीक्षित था, क्योंकि दो एक ठोस आधारों पर यह कहा जा सकता है कि वह परीक्षित प्रथम ही था। यथा परीक्षित द्वितीय महाभारत के पश्चात् पैदा हुआ, इसमें पहिली विचारणीय बात तो यह है कि पुराणकार को यदि कोई गणना करनी थी तो महाभारत जैसे भीषण संग्राम और मुख्य घटना के काल से करता, और यदि उसे यह गणना किसी राजा या व्यक्ति विशेष के नाम से करनी थी, तो श्रीकृष्ण जो उस काल के प्रमुख व्यक्ति थे उनसे करता, फिर मान लें उसे किसी राजा का ही नाम लेना था, तो परीक्षित से तो उसका बेटा जनमेजय अधिक प्रतापी हुआ। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद में जिस परीक्षित का उल्लेख है वह कुरुओं पर राज्य करता था। यह परीक्षित द्वितीय नहीं हो सकता। तीसरे संहिताओं में किसी ऐसे राजा का वर्णन नहीं हो सकता जो महाभारत के बाद का हो। अतः यह परीक्षित प्रथम था, और निश्चित ही यह महापद्मनन्द से १०५० वर्ष पहिले हो चुका था। महापद्मनन्द चन्द्रगुप्त के ठीक पहिले था। नन्दों का राजत्व काल ४० वर्ष अधिक से अधिक ठहराया जा सकता है, अतः

ई० पू० ३२० चन्द्रगुप्त मौर्य का काल (जो निश्चित है)
ई० पू० ४० वर्ष नन्द का काल
ई० पू० १०५० वर्ष श्लोक में दिया गया काल

१४१० ई० पू० कुल समय परीक्षित का काल के पश्चात् हुआ। यदि इस स्थल

---

१. India in the Vedic Age.

२. महापद्माभिषेकात्तु जन्म यावत्परीक्षितः। वायु
एतद्वर्ष सहस्रंतु सेयं पंचाशदुत्तरम्॥ ९९,४१५,

पर परीक्षित को गद्दी पर बैठने के समय ३० वर्ष का ही मान लें तो इसके अभिषेक का समय (१४१०-३०) १३८० ई० पू० हुआ। परीक्षित से पहिले कम से कम ८१ पीढ़ियाँ और हुईं जो मनुपुत्र इक्ष्वाकु से लेकर परीक्षित प्रथम तक हुईं। यदि उस समय की आयु को देखते हुए इन सम्राटों का काल कम से कम २० वर्ष मान लें तो ८१ × २० = १६२० वर्ष पूर्व और चलना पड़ता है। अतः वैदिक काल को हम (१३८० + १६००) = ३००० वर्ष ई० पू० के पश्चात् का नहीं कह सकते।

६—इसी प्रमाण की पुष्टि बहुत सीमा तक दूसरे प्रमाण भी करते हैं यथा—एशिया माइनर के बोगज़कोई' लेख का प्रमाण। इस लेख में खत्री और मिटैनी जातियों की एक सन्धि का उल्लेख है, यह उल्लेख १४ ई० पू० का है। इसमें सन्धि के साक्षी स्वरूप कुछ देवताओं के नाम हैं, यथा— मित्र, वरुण, इन्द्र और नासित्य। इन नामों को हम ज़िन्दावैस्ता तथा ऋग्वेद दोनों में पाते हैं, पर उनका क्रम ऋग्वेद में अधिक मिलता है। यहाँ प्रश्न यह है कि ये नाम वहाँ कैसे पहुँच गये। इसका एक ही उचित उत्तर है कि जब पंजाब में वैदिक मंत्रों की रचना हो गयी, और वैदिक सभ्यता का प्रसार हुआ तो ये उस ओर चले गये। अर्थात् आर्यों के इस ओर आने के समय वे नहीं लिखे गये क्योंकि वैदिक मंत्रों की रचना भारत में ही हुई अन्यत्र नहीं, और इससे पहिले नहीं, इसका अर्थ यह हुआ कि जब पर्याप्त समय तक उन्होंने यहाँ निवास कर लिया होगा, तभी इनकी एक शाखा उत्तर-पश्चिम को गयी होगी। यह समय महाभारत से भी कम से कम १५०० वर्ष पहिले का ठहरता है, क्योंकि इतने समय पूर्व ही वे उस ओर गये। अतः इस आधार पर भी ऋग्वेद का रचना काल ३००० से २५०० ई० पू० के बीच ठहरता है।

७—हम देखते हैं कि ऋग्वेद का संकलन कृष्णद्वैपायन व्यास ने किया। व्यास निश्चित रूप से महाभारत काल के थे। यदि इनके संकलन का काल १४५० ई० पू० माना जाय तो ऋग्वेद के आदि मंत्र बहुत पहिले के रहे होंगे। जैसा कि कहा जा चुका है कि ये शताब्दियों की रचना है, अतः इनकी रचना १५०० वर्ष व्यास के समय से पहिले की अवश्य रही होगी।

८—श्री भगवतशरण उपाध्याय ने भी हर ओर के प्रमाण देकर यह सिद्ध किया गया है कि यह काल ३००० ई० पू० का था। आर्यों के प्रचलन तथा सिंधु घाटी के कालनिरूपण के आपके तर्क अकाट्य हैं। इस पुस्तक के कलेवर का ध्यान रखकर इन प्रमाणों की पेचेदगी में यहाँ जाना सम्भव नहीं, पर यह निश्चित है कि यह काल ३००० ई० पू० के रूप में ही

ग्राह्य है। इसी का समर्थन डा० राधा कुमुद मुकर्जी द्वारा हिन्दू सभ्यता में किया गया है।

आर्यों का प्रसार—ऋग्वेद में आर्यों के प्रचलन का कोई उल्लेख नहीं है, पर उसमें आये भौगोलिक नामों से यह स्पष्ट है कि उनका विस्तार अफगानिस्तान से गंगा के मैदान तक था। ऋग्वेद में हमें कुभा (काबुल) सुवास्तु (स्वात) क्रुमु (कुर्रम) गोमती (गोमल) तथा सिंधु और उसकी पाँचो सहायक अर्थात् वितस्ता (झेलम) असिकिनी (चिनाव) परुष्णी (रावी) विपाशा (व्यास) शुतुद्रि (सतलज) के नाम प्राप्त होते हैं। कहीं कहीं दृषद्वती और सरस्वती का भी उल्लेख है। सरस्वती के तट पर तो अनेक यज्ञ करने की चर्चा है। इस ग्रंथ में केवल दो तीन बार यमुना और गंगा का भी उल्लेख है। इससे विदित होता है कि ये इस ओर कम आये थे। इसी प्रकार उन्हें समुद्र का भी ज्ञान न था, क्योंकि इस शब्द का प्रयोग उन्होंने बड़े जलखण्डों के लिए किया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ में हिमालय की चर्चा है, पर विंध्याचल की नहीं, इसी प्रकार उसमें सिंह की चर्चा है, पर बंगाल के वासी व्याघ्र की नहीं। अतः यह निश्चित है कि आर्य इस समय तक दक्षिण तथा पूर्व में न जा पाये थे। इस स्थल पर कहना न होगा कि ये सभी नाम प्रसंगवश आये हैं, अतः हो सकता है कि ये किसी स्थल तक गये हों, पर उसके उल्लेख का प्रयोजन न आया हो। ऋग्वेद के एक भाग में जहाँ ऊषा के सूक्त हैं, पंजाब के अद्‌भुत सौन्दर्यशाली प्रातःकाल की झांकी मिलती है, किन्तु इसके अंश में बिजली, मेघों और पर्वतों से घनघोर वर्षा के रूप में रुद्र प्रकृति का वर्णन है; जो पंजाब में नहीं बल्कि ब्रह्मावर्त के उस प्रदेश में पायी जाती है, जहाँ सरस्वती और दृषद्वती नदियाँ बहती हैं। इस प्रकार आर्यों का प्रसार हिमालय से विंध्या के उत्तर तक तथा अफगानिस्तान से गंगा के मैदान तक सीमित था। यह भूभाग भी उनकी कई शाखाओं में बँटा था। जैसे—(१) गांधारी (जो अपनी ऊन के लिए प्रसिद्ध थे) (२) मूजबन्त (जहाँ का सोम प्रसिद्ध था) (३) अनु (४) द्रुह्यु (५) तुरवश (जो रावी के किनारे बसे थे) (६) भरत तथा (७) पुरु (जो मध्य देश के वासी थे)।

राजनीतिक अवस्था—ऋग्वेद में राजनीतिक घटनाओं का भी कोई क्रमवद्ध लेखा नहीं है, पर इससे हमें प्रसंगवश अनेक बातों का ज्ञान प्राप्त होता है। इसमें एक स्थल पर दस राजाओं के युद्ध का[1] वर्णन है, जो भरतों के राजा सुदास के साथ हुआ था। यह संघर्ष उत्तर-पश्चिम में रहने वाले जन

---

१. ऋगवेद (७, ३३, २)

और ब्रह्मावर्त के उत्तरकालीन आर्यों में हुआ था। इसका कारण राज्याधिकार का प्रश्न था। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय की सभी जातियों ने इस युद्ध में भाग लिया था। यह युद्ध परुष्णी के तट पर हुआ था। इसमें एक ओर से विश्वामित्र की मंत्रणा से दस राजाओं के नेतृत्व में अनेक जनों ने संघ बनाकर भरतों के राजा सुदास पर आक्रमण किया। दूसरी ओर सुदास के नेता और पुरोहित वशिष्ठ थे, जिनकी सहायता से उन्होंने अपने शत्रुओं को हरा दिया। इसके अतिरिक्त सुदास को एक युद्ध और भी करना पड़ा जिसमें उसने पूर्व की ओर शत्रुओं से लोहा लिया, साथ ही उनको भी यमुना के निकट पराजित किया। इस काल के युद्ध दो प्रकार के थे, एक तो आर्यों का आर्यों से और दूसरा आर्यों का अनार्यों से। आर्य और अनार्य का भेद अतीत से चला आ रहा है, और किसी न किसी स्वरूप में आज भी लोग मानते हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि इन दोनों की सभ्यता तथा संस्कृति में महान् अन्तर है। आर्य ऊँचे कद के और गौर वर्ण के थे, जबकि दास, दस्यु अथवा अनार्य कृष्ण और नाटे कद के थे। इन अनार्यों को आर्यों ने विविध प्रकार के विशेषणों से पुकारा यथा अनाक (चपटी नाक वाले) अयज्वद (यज्ञ न करने वाले) और इनसे सदा संघर्ष मोल लेते रहे। इनके आर्यों के साथ संघर्ष का चित्रण डा० त्रिपाठी ने अच्छा किया है। आपका कथन है, "दस्यु चप्पे-चप्पे भूमि के लिए लड़े, इंच-इंच पर उन्होंने अपना और अपने शत्रुओं का रक्त बहाया, स्वदेश और अपने ढोरों की रक्षा के लिए उन्होंने अनुपम बलिदान किये। परन्तु शत्रुओं की अपूर्व शक्ति ने जब उनके पुर और दुर्ग तोड़ डाले उनकी भूमि को लहूलुहान कर दिया तभी उन्होंने आत्मसमर्पण किया।"[१]

आर्यों का राजनीतिक संगठन—ऋग्वैदिक राष्ट्र के संगठन की सबसे छोटी इकाई कुल थी, कुल का सबसे बड़ा बूढ़ा ही कुलपति होता था। कई कुलों को मिलाकर एक ग्राम होता था, इसी प्रकार ग्रामों का समूह विश, और विशों का समूह जन कहलाता था। इसमें ग्राम का मुखिया ग्रामणी, विश का विशपति, और जन का राजा होता था। राजा बहुधा चुना जाता था, पर यह चुनाव उच्च कुल से ही होता था, अथवा साधारण से भी यह स्पष्ट नहीं है। युद्ध के दिनों राजा जन का नेतृत्व करता था और उसकी रक्षा करता था, इसके बदले प्रजा उसे कर (बलि) देती थी, राजा ही न्याय का अधिपति होता था और वही भौतिक समृद्धि के लिए यज्ञ करता था। राजा का सबसे बड़ा सहायक पुरोहित होता था। पुरोहित शब्द का अर्थ आज की भाँति पुजारी या पंडित न था। इसका अर्थ सामने स्थित रहने वाला था

---

१. **प्राचीन भारत का इतिहास by डा० रमाशंकर त्रिपाठी (पृष्ठ २५)।**

(पुर=समक्ष, सामने; हित=धा=धारण करना, स्थित ।)। यह शांति व युद्ध दोनों समय राजा के कार्यों में तत्परता से हाथ बटाता था। राजा के अन्य सहायक सेनानी और ग्रामणी आदि होते थे। साथ ही राजा उस समय भी निरंकुश न था। उस समय उसकी सहायतार्थ दो सभाएँ होती थीं—सभा और समिति। ये उसकी सहायता करती थीं पर उसकी निरंकुशता पर रोक रखती थीं। इसमें भी समिति समस्त जनता की संस्था थी, यही राजा को चुनती थी। राजा उसकें अधिवेशन में जाता था, ऋग्वैदिक मंत्रों में इस समिति के राजा से घनिष्ठ संबंध का ज्ञान हमें मिलता है। इसके विपरीत सभा में अनेक कुलों के आर्य एकत्र होते थे, इसकी सहायता से राजा अभियोगों का निर्णय करता था।

सामाजिक व्यवस्था—ऋग्वैदिक काल में गृहस्थ जीवन का विकास हो चुका था। विवाह की पद्धति इस समय बन चुकी थी, माता-पिता कुटुम्ब के संरक्षक रूप होते थे। उनकी अनुपस्थिति में सबसे बड़ा भाई वही कार्य करता था। आर्य इस समय तक अच्छे आदर्श और चरित्र की रूप-रेखा बना चुके थे। साथ ही उनके आदर्शों का स्तर उच्च कोटि का था। उनके समाज का वर्गीकरण विशेष रूप से दो भागों में विभक्त हो गया था, एक वर्ग आर्यों का था, और दूसरा दासों का। बहुत सम्भव है कि दास वाले वर्ग ने अपनी प्रतिष्ठा के हेतु यह नाम बदल कर कभी शूद्र कर लिया हो। डा० त्रिपाठी का तो निश्चित मत है कि ये अनार्य सन्तान थीं जो इस कोटि में गिने गये। पर आर्य वर्ग के भी विभाग हो चुके थे। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में कहा गया है कि विराट पुरुष के मुखस्वरूप ब्राह्मण, भुजास्वरूप क्षत्रिय, जंघातुल्य वैश्य, और शूद्र उसके चरण से उत्पन्न हुए। यह विभाजन नियमतः तीन ही भागों को एक वर्ग का मानता है। इसमें भी ये तीनों वर्ग आज की भाँति इतने दूर दूर न थे। वे परस्पर विवाह आदि भी करते थे। उदाहरण के लिए हम देखते हैं राजा ययाति ने ऋषि उशनस शुक्र की कन्या देवयानी से, ऋषि च्यवन ने राजा सरयात की पुत्री सुकन्या से विवाह किया था। इसी प्रकार ऋषि जमदग्न्य ने क्षत्रियबालिका रेणुका से, और महर्षि अगस्त्य ने विदर्भ के राजा की कन्या लोपामुद्रा से विवाह किया था। अतः यह वर्ग का विभाजन वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप न था, बल्कि श्रम का विभाजन था। यही नहीं उस समय व्यवसाय परिवर्तन भी संभव था। ऋग्वेद में एक ऋषि ने कहा है कि मैं शिल्पी हूँ, मेरा पिता वैद्य, और मेरी माता चक्की पीसने वाली है (उपलप्रक्षिणी)।

उस समय अधिकांश एक पत्नी का नियम था, किन्तु किसी किसी की कई पत्नियां भी थीं, हाँ बहुपति पद्धति बिलकुल न थी। विवाह एक अत्यन्त

पवित्र सम्बन्ध माना जाता था, जिसके पश्चात् पत्नी अपने पिता के घर से पति के घर जाकर गृहस्वामिनी बनती थी। विवाह में दहेज देने का उस समय कोई बन्धन न था, पर कन्या के साथ कुछ दान अवश्य दिया जाता था। समाज में स्त्रियों का स्थान उत्तम था, उन्हें भी पूर्ण शिक्षा का अधिकार था।

"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।"

Av. XI V 18.

यही नहीं स्त्रियाँ उस समय इतनी योग्य थीं कि वे वेदमंत्रों की रचयित्री बन सकीं। उनको प्रत्येक प्रकार की स्वतंत्रता थी, उन्हें तुल्यता का अधिकार प्राप्त था, यहाँ तक कि उनके सहयोग के बिना पुरुष अकेला धार्मिक कृत्य भी न कर सकता था।

आर्थिक जीवन—ऋग्वैदिक काल में आर्यों का आर्थिक जीवन कुछ इनी-गिनी बातों पर निर्भर था। चूँकि वे निरंतर युद्ध करते रहे, अतः कुछ लोगों को तो सदा युद्ध के लिए तैयार रहना पड़ता था, युद्ध में वे रथों का विशेष रूप से प्रयोग करते थे। इसके अतिरिक्त वर्म (कवच), शिप्रा (शिरस्त्राण) अस्त्र-शस्त्र, धनुष, बाण, भाले, बरछे, तलवार आदि सभी का वे प्रयोग करते थे।

इनका एक वर्ग कृषि कर्म में ही लगा रहता था और अच्छे स्तर की कृषि का कार्य होता था। क्योंकि हमें उनकी जुताई, बुआई, कटाई, तथा समय-समय पर फसल का होना, सभी का उल्लेख मिलता है। वे हल में धातु का फल प्रयोग करते थे और सिंचाई के लिए कुओं तथा नदियों से काम लेते थे। कृषि की उपज बढ़ाने के लिए खाद का ज्ञान उन्हें था। अनाजों में जौ, गेहूँ, उड़द (माष), तिल, धान आदि की खेती होती थी।

कृषि कर्म के साथ-साथ पशु-पालन एक आवश्यक अंग है, अतः वे पशु-पालन करते थे, और पशुओं में गाय सबसे प्रधान धन था। उनकी सम्पत्ति गाय, बैल, के द्वारा ही आँकी जाती थी, पर इसके अतिरिक्त वे भेड़, घोड़े और कुत्ते से भी बहुत काम लेते थे। साँड या बैल ही इनका हल खींचते थे। इसी के साथ कुछ और पेशे भी सम्बद्ध थे, यथा तक्षक (बढ़ई) यह हल और रथ बनाने के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण था। कर्मार (लोहार) यह धातुओं की वस्तुएँ बनाता था, हिरण्यका (सोने-चाँदी के कार्य), वाय (जुलाहा) कपड़े आदि के लिए, चर्मकार (चमड़े के कार्य के लिए) भिषक्—वैद्य। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी उन्नत समाज को जिन वस्तुओं की विशेष आवश्यकता होती है वह उस समय उपलब्ध थीं। इसके साथ जहाँ इतनी कृषि और सम्पत्ति होगी, वहाँ परस्पर चीजों का आदान-प्रदान भी स्वाभाविक ही था,

अत: आर्य उस युग में भी अच्छा व्यापार करते थे। व्यापार के मार्ग, व्यापारी, आदान-प्रदान (विनिमय) मोल-भाव, व्याज आदि की चर्चा हमें वैदिक साहित्य में प्राप्त होती है। सिक्का आज की भाँति तो कोई न था, पर वे निष्क नामक सोने के एक आभूषण का प्रयोग कभी-कभी इस रूप से करते थे। बहुधा उनकी विनिमय की चीज गाय ही हो जाती थी। व्यापारी वर्ग समाज में पणि कहा जाता था और वे स्वदेश ही में नहीं विदेश तक जाते थे।

वस्त्राभूषण—उनके तीन मुख्य वस्त्र थे, (१) नीवी। (जो स्त्रियों के लिए धोती की भाँति थी) (२) वास (जो अंगरखा सरीखा होता था) (३) अधिवास (जो चादर या ओढ़नी की भाँति का था), कपड़े ऊनी, सूती रेशमी तीनों प्रकार के थे। धनिक और सम्मानित आर्य सोने के तारों से कढ़े तथा रंगे हुए वस्त्र पहनते थे। कुछ लोग पगड़ी भी (उष्णीष) बाँधते थे। इसके अतिरिक्त उस समय स्त्री और पुरुष दोनों ही आभूषण पहनते थे। आभूषणों में प्रमुख कुण्डल, हार, अंगद, वलय, और गजरे थे। वे बालों में तेल डाल कर कंघा करते थे। कुछ लोग केशों का जूड़ा बनाते थे। कुछ दाढ़ी रखते थे, कुछ नहीं। उनकी वेशभूषा एक सरल, और शिष्ट समाज का चित्रण सम्मुख उपस्थित करती है। इस दृष्टि से वे बनावट तो नहीं पर कला के प्रेमी थे।

आहार विहार—ऋग्वेदिक काल के आहार में अन्न और माँस दोनों ही थे, उनके खाने में जौ ओर गेहूं का मुख्य स्थान था। चूँकि रोटी और तवे के लिए उनके साहित्य में शब्द नहीं मिलते अत: यह नहीं कहा जा सकता कि वे इन अन्नों का प्रयोग किस प्रकार करते थे। वैसे भी उनके भोजन में दूध और फलों का अंश बहुत होता था। दूध के अतिरिक्त आर्यों का एक विशेष पेय (पीने की चीज) और था जिसे सोम कहते हैं। ऋग्वेद के एक मण्डल में इसकी विशेष रूप से प्रशंसा की गयी है। साधारण रूप से उन्होंने सुरापान को अच्छा नहीं कहा और वर्जित किया है, पर सुरा का पान होता था, इसमें सन्देह नहीं। इसके साथ कहना न होगा कि उनका जीवन नीरस न था। वे अपने मनोरंजन के साधन भी जुटा चुके थे। उनके त्योहारों में सदा नृत्य-गान हुआ करता था। उनके वाद्यों में वीणा, बाँसुरी, और दुँदुभी का उल्लेख आता है। इसी के पश्चात् सामगान की परम्परा चली जो कि बाद को सामवेद के रूप में प्रकट हुई। संगीत के अतिरिक्त वे द्यूत के भी प्रेमी थे। पाँसों की बुराई बतलाते हुए भी उनका कहना है कि उनकी खन-खनाहट दूर से उन्हें बुला लेती थी, युद्धप्रिय होने के नाते वे घुड़दौड़ तथा रथों की दौड़ में खूब भाग लेते थे।

धार्मिक जीवन –ऋग्वेद के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आर्य बड़े धार्मिक थे और यह ग्रन्थ वस्तुतः उनके धर्म का ही भाण्डार है। इस समय अनेक देवी-देवता माने जाते थे, पर उनका धर्म सरल था।

वे देवताओं की पूजा बहुधा दो कारणों से करते देखे जाते हैं, (१) वे उनसे भयभीत रहते थे। (२) अथवा वे उनका उपकार करते थे। ये देवता तीन प्रकार के थे। (१) पृथ्वी पर के, यथा पृथ्वी, सोम, अग्नि, (२) आकाश के, यथा इन्द्र, वायु, मरुत, और पर्जन्य। (३) स्वर्ग के देवता—यथा सूर्य, वरुण, मित्र, द्यौस, पूषण, विष्णु आदि। इन देवताओं में सभी का समान आदर न था, कुछ बहुत सम्मान पाते थे, और प्रमुख समझे जाते थे। यथा—वरुण और इन्द्र। कुछ विद्वानों का कहना तो यह है कि यह बहुदेवतावाद केवल वाह्य है, अर्थात् ऐसा प्रतीत होता है कि वे अनेक देवता मानते थे, पर वस्तुतः वे सब एक ही देवता के स्वरूप थे। इसी के विराट् रूप की वे सदा अनेक रूपों में आराधना किया करते थे। जैसा ऋग्वेद में वायु स्थल पर आया है "....

"इन्द्र सूर्य, वरुण, अग्नि, तथा वह अच्छे पंख वाला गरुड़ यम और वायु सभी का विप्र अनेक प्रकार से वर्णन करते हैं जबकि वे एक ही के स्वरूप हैं।

जो हो वे स्तुति पढ़कर, यज्ञ करके, बलिदान देकर सभी रूपों से अपने इष्ट देवों को प्रसन्न करते थे। कहीं-कहीं तो उनकी प्रार्थनाएँ इस प्रकार की हैं जिनमें उन्होंने लिखा है, कि "ऐ इन्द्र तुम युद्ध में हमारी सहायता करो," दूसरे मन्त्र में वे कहते हैं, "इन्द्र तुमने अच्छा किया हमारी सहायता की, हम विजयी हुए, आओ हम तुम साथ-साथ सोम का पान करें।" इन प्रार्थनाओं से एक विचित्रता प्रकट होती है कि वे आध्यात्मिक रूप से इतने उच्च थे, उनका मस्तिष्क इतना प्रबल और पवित्र था कि आज की भाँति उन्हें कोई शंका न होती थी, कि भगवान न जाने है भी या नहीं। उनका भगवान उनके बुलाने पर सदा आता रहा और वे उसके भक्त रहे। यही कारण है कि इस समय तक न तो देवताओं की मूर्ति बनी थी, और न उनके मन्दिर। उस समय तक तो उनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष था। इसके अतिरिक्त वे पितरों को भी पूजते थे। उनके समाज में मृतकों की क्रिया विधिवत् की जाती थी। यद्यपि इनके अन्दर पुनर्जन्म की भावना तो अभी न जगी थी, पर वे यह जानते थे, कि शरीर के नाश होने पर भी जीवन का अन्त नहीं होता।

---

१. **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान।**
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः॥

ऋग्वेद १–१६४,४६

ऋग्वैदिक तथा सिन्धु घाटी की सभ्यताओं की तुलना

वैदिक सभ्यता सिन्धु घाटी की सभ्यता से बाद की है, अतः इनमें पूर्वापर सम्बन्ध तो है ही, पर दोनों एक दूसरे से भिन्न संस्कृतियाँ थीं, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। निम्नलिखित कुछ बातें इसकी प्रामाणिकता सिद्ध कर देंगी—

१. इनकी असमानता केवल बाहरी स्वरूप में ही न थी, बल्कि आन्तरिक थी, क्योंकि एक ओर आर्यों का धन, उनके धनुष-बाण, घोड़े की पीठ, अथवा गाय और कुटी थे, जब कि मोहेनजोदारो और हरप्पा में भव्य भवन, योजित नगर और आगार थे।

२. आर्यों का मस्तिष्क मेधावी और स्पष्ट था, क्योंकि उनके ऊषा आदि की प्रशंसा में प्रकृतिवर्णन के मन्त्र, उनका प्रकृति-प्रेम उन्हें विश्व साहित्य में उच्च स्थान प्रदान करता है। पर इस प्रकार के किसी ज्ञान की प्राप्ति हमें सैन्धव सभ्यता में नहीं होती।

३. कहना न होगा कि आर्यों का दैनिक जीवन सैन्धवों के जीवन के सामने नगण्य था। यथा आर्य ग्राम के निवासी, प्रकृति से तपस्वी, तथा भौतिकवाद (materialism) से दूर थे, जब कि सिन्धु के निवासी प्रत्येक सुख का पूरा ध्यान रखते थे। सैन्धवों के भवन दो—मञ्जिले थे, उनके नगर में पानी से भरे और खाली किये जानेवाले बड़े-बड़े सार्वजनिक कृत्रिम स्नान सरोवर थे। साथ ही उनके यहाँ गन्दे जल को निकालने के लिए मनुष्य की गहराई के ढके हुए नाले थे।

४. ऋग्वैदिक आर्यों के द्वारा प्रयोग की जानेवाली धातुओं में स्वर्ण, ताम्र, पीतल और सम्भवतः लोहा थे। पर सैन्धव सभ्यता में यह निश्चित है कि लोहे का ज्ञान न था। वे सोना और चाँदी अधिक व्यवहार में लाते थे। हाँ, इन दोनों के अस्त्र-शस्त्र प्रायः समान थे, यद्यपि आर्यों के शिरस्त्राण सैन्धव सभ्यता में न थे।

५. आर्यों का नित्य का साथी अश्व था, जब कि सैन्धवों को इसका ज्ञान भी न था।

६. ऋग्वेद के देवता प्राकृतिक और उदात्त थे, जबकि सैन्धवों के लिंग परक।

७. अन्त में यह कहना असंगत न होगा कि आर्य, जिनका साहित्य उच्च कोटि का था, लेख से परिचित न थे, पर सैन्धव जिन्हें श्रुति का ज्ञान न था, लिपि से परिचित थे।

———

परिच्छेद—६

उत्तर वैदिक कालीन सभ्यता

उत्तर वैदिक काल के आधार—ऋग्वैदिक कालीन सभ्यता के पश्चात् आर्यों ने अपने जीवन में इतनी शीघ्र उन्नति की कि दोनों कालों में भारी विभेद उत्पन्न हो गया। उनके भौगोलिक ज्ञान का प्रसार हुआ, उनके ज्ञान की वृद्धि हुई, उन्होंने नये नये साहित्य का सृजन किया, उनके राज्य विस्तृत होने लगे, उनके प्रबन्ध अधिक कुशल और इतने संगठित हो गये कि आज भी हम उनकी प्रशंसा करते हैं। पर चूँकि इस काल में भी वैदिक साहित्य का ही सृजन हुआ, और वही हमारे उस समय के ज्ञान का आधार है, अतः इसे उत्तर वैदिक काल की संज्ञा दे दी गयी। यह काल १४०० ई० पू० से लेकर लगभग ६०० ई० पू० तक माना जाता है। इसमें ऋग्वेद के पश्चात् तीन अन्य संहिताएँ बनीं[1] अर्थात् यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की रचना इसी काल में हुई। इसी काल में ब्राह्मण, अरण्यक, और उपनिषद् क्रमशः रचे गये। ब्राह्मण ग्रन्थों में वेदों का ही विषय है। इनमें विशेष रूप से यज्ञों के विधान दिये गये हैं, बल्कि जो विषय वेदों में स्पष्ट नहीं है, उनको इनमें कथाओं के रूप में स्पष्ट कर दिया गया है। प्रमुख ब्राह्मण ग्रन्थ ऐतरेय, शतपथ, पञ्चविंश और गोपथ हैं। इन्हीं के अन्तिम भागों को कहीं-कहीं अरण्यक का नाम दिया गया है, क्योंकि यह भाग अरण्य (जंगल) में एकान्त में बैठकर ही पढ़ा-पढ़ाया जाता था।

अरण्यक ग्रन्थों में तैतरीय, कौशीतकी और ऐतरेय प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त इस काल की रचना उपनिषद् हैं, जिनमें आध्यात्म का उच्च कोटि का ज्ञान भरा है। पर जहाँ वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ आदि का समर्थन करते हैं, उपनिषद् मनुष्य को ज्ञान की ओर ले जाते हैं। छान्दोग्य, केन, कठ, मांडूक्य, ईश, श्वेताश्व आदि प्रमुख उपनिषद् हैं।

भौगोलिक प्रसार—उत्तर वैदिक काल में, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, आर्य दक्षिण और पूर्व की ओर बढ़े। सारा उत्तरी भारत उनका उपनिवेष

---

१. **संहिता—चूँकि वैदिक ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न ऋषियों के मंत्र संग्रहीत हैं, अतः इन्हें संहिता भी कहते हैं।**

बन गया। अत: अब इनकी संस्कृति का केन्द्र सरस्वती और दृष्द्वती के बीच का प्रदेश कुरुक्षेत्र हो गया था। इस क्षेत्र में इन्होंने अनेक यज्ञ किये और उसे ब्रह्मर्षि देश कह कर पुकारने लगे। जैसे-जैसे ये लोग दक्षिण-पूर्व की ओर बढ़ते गये, उत्तर-पश्चिम के भागों का महत्त्व कम होता गया। इनके नये केन्द्र कौशल और विदेह बने। यद्यपि अंग और मगध में इनकी संस्कृति पूर्ण रूप से न जम पायी थी, पर हम आंध्रों, बंगाल के पुण्ड्रों, उड़ीसा के शबरों और दक्षिण-पश्चिम में पुलिंदों का नाम इस काल में पहली बार सुनते हैं। इसके अतिरिक्त ऐतरेय और जैमनीय ब्राह्मणों के पिछले भागों में केवल दो बार विदर्भ का नाम आया है। इससे सिद्ध होता है कि अभी भी आर्य विंध्याचल के दक्षिण अधिक न गये थे।

राजनीतिक संगठन—भौगोलिक परिवर्तनों के साथ-साथ आर्यों के राजनीतिक संगठन में भी बहुत अन्तर आ गया था। इनके अनेक जन अब अपना महत्त्व खो चुके थे और कुछ नये उठ खड़े हुए थे। यथा ऋग्वेद के भरत अब शक्तिशाली न रह गये थे, उनका स्थान अब कुरुओं और पांचालों ने ले लिया था, इसी पांचाल संघ में सम्भवत: पहिले के अनु, द्रुह्य और तुर्वस भी सम्मिलित हो गये थे। इस समय की सबसे प्रमख बात यह है कि अब राज्य के स्थान पर साम्राज्य बनने लगे। इसीलिए हमें अब सार्वभौम, अधिराट् एकराट्, शब्दों का उल्लेख इस समय के साहित्य में मिलता है। यही नहीं वे यज्ञ भी उसी ढंग के करने लगे थे, यथा अश्वमेघ, वाजपेय, राजसूय आदि।

राजा—ब्राह्मण ग्रन्थों में राजनीतिक संस्थाओं की उत्पत्ति पर बहुत सूक्ष्मता से विचार किया गया है। साथ ही यह स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है, कि राजा अकेले राज्य नहीं कर सकता। ऐतरेय ब्राह्मण में तो यहाँ तक लिखा है कि राजा कि उत्पत्ति दानवों के साथ युद्ध में देवताओं के हारने के कारण हुई। देवताओं ने एक स्थल पर कहा है—

"हम लोगों का कोई राजा न होने के कारण दानवों ने हमें जीत लिया, अत: हमें अब राजा चुनना है"[1]

अत: राजा की उत्पत्ति युद्ध के कारण हुई। उत्तर वैदिक काल में राज्य ही नहीं साम्राज्य बनने लगे थे, पर वे सर्वथा निरंकुश न थे। प्रजातान्त्रिक भावनाएँ इसी समय जग चुकी थीं, यथा राजा

---

1. The Devas and Asuras were fighting. The Asuras defeatcd the Devas. The Devas said, "It is on account of our having no king that the Asuras conquered us. Let us elect a king."

Hindu Civilization By Dr. R. K. Mookerji

के चुनाव में प्रजा की सम्मति, उसके अभिषेक के समय लगाये गये बन्धन, उसका अपने कार्य-सम्पादन के लिए मंत्रिपरिषद् पर निर्भर होना और सभा तथा समिति की संस्थाएँ आदि अनेक बातें उसके अधिकार को सीमित कर चुकी थीं। साथ ही बड़े बड़े राज्यों की उत्पत्ति के कारण राजा की शक्ति पर्याप्त बढ़ गई थी। उसको अब केवल युद्ध का ठेकेदार नहीं, बल्कि समस्त प्रजा का स्वामी समझा जाता था। प्रायः उसका पद वंशानुगत होता था, पर जैसा ऊपर बताया गया है, चुनाव की व्यवस्था थी। यही नहीं उसको कुछ प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ती थीं, यथा **"हे पृथ्वी मैं तेरी रक्षा करूँगा, पर तू मेरी रक्षा कर"**। **"यदि मैं प्रतिज्ञा भंग करूँ, तो मेरे धार्मिक अनुष्ठान, दान, सत्कर्म स्थान, जीवन तथा सन्तान तक का सत्य जाता रहे"**। उसे सदा धर्म का पालन करना पड़ता था, और धर्म के वास्तविक रूप को निश्चित करने का अधिकार राजा का न होकर महर्षियों का होता था। यहाँ तक कि यदि राजा अनुचित कार्य करता था, तो जनता उसे दण्ड दे सकती थी। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार के उल्लेख हैं कि अमुक अन्यायी राजा मार भगाया गया और अमुक राजा पुनः प्रतिष्ठित किया गया। साधारण रूप से राजा को अभिषेक के पश्चात् अदण्ड्य (जिसे दण्ड न दिया जा सके) माना गया है। जो हो, वह अपने मन्त्रियों, सभा और समिति के सहयोग से शासन का कार्य करता।

सभा और समिति—इन संस्थाओं का वर्णन अथर्ववेद में आया है, (७-१२-१)। ये राजा के न केवल राजनीतिक क्षेत्र में, बल्कि व्यक्तिगत कार्यों पर भी नियंत्रण रखती थीं। अर्थववेद में इन्हें प्रजापति की दो पुत्रियों के समान कहा गया है। सभा का राजा के लिए इतना महत्त्व था, कि प्रजापति भी बिना सभा के कार्य नहीं कर सकता था। सभा वाद-विवाद, और विचार-विनियय द्वारा जनता के कार्य का संचालन करने के लिए एक संसद का रूप थी। इसमें भाषण का महत्त्व था, और भाषण के नियम थे। इसके सदस्य प्रार्थना करते हैं कि मुझे ईश्वर इतनी शक्ति दे कि मेरे भाषण से सभा मन्त्रमुग्ध हो जाय। इसका निर्णय बहुमत से होता था। यह सभा उस समय न्यायालय का कार्य भी करती थी। ऐतरेय ब्राह्मण और अथर्ववेद में कुछ ऐसे उल्लेख हैं, जिनसे सभा की सम्पूर्ण शक्ति का ज्ञान होता है। समिति और सभा का स्पष्ट अन्तर तो हमारे पास उपलब्ध प्रमाणों से नहीं होता, पर सभा वृद्धजनों की छोटी और चुनी हुई संस्था थी, जब कि समिति जनता की बड़ी संसद थी। अथर्ववेद के कई मन्त्रों में कहा गया है, कि राजा के चुनाव में यह विश या जन की वाणी की प्रतिनिधि हैं। एक मन्त्र में समिति राजा का समर्थन करती हैं, अन्यत्र वह राजा के दुष्कर्मों और अत्याचार के कारण उसका अनुमोदन नहीं करती। इससे स्पष्ट है कि कार्य सम्पादन के लिए राजा को उसके सहयोग की आवश्यकता थी।

मन्त्री तथा अन्य कर्मचारी—राजा की सहायता के लिए सभा और समिति के अतिरिक्त पुरोहित आदि अन्य अनेक कर्मचारी रहते थे। चूंकि इस काल में शासन-व्यवस्था पर्याप्त रूप से विकसित हो चुकी थी, अतः राजा के कर्मचारियों में भी वृद्धि हो गयी थी। इनको (रत्निन) (राजा का रत्न प्राप्त करने वाला) कहा जाता था। और इनमें निम्नलिखित प्रमुख थे—

(१) **पुरोहित**—राजा के धार्मिक और नैतिक विषयों में प्रधान।

(२) **राजन्य**—राजवंश और शासक वर्ग का प्रतिनिधि।

(३) **सेनानी**—सेना का प्रधान अधिकारी।

(४) **संग्रहीता**—कोषाध्यक्ष ।

(५) **मागदुह**—कर वसूल करने वाला अधिकारी।

(६) **क्षता**—दौवारिक।

(७) **महिषी**—पटरानी।

(८) **वावता**—प्रियरानी ।

(९) **अक्षावाद**—आय-व्यय का अध्यक्ष ।

(१०) **गोनिकर्तन**—(बैलों का प्रबन्धक) कुछ लोग इसे मृगया (शिकार) का अध्यक्ष भी बतलाते हैं।

सामाजिक व्यवस्था—जिस काल का राजनीतिक स्तर इतना उच्च था, उसका समाज उससे पहिले उच्च होगा। फिर ऋग्वैदिक काल में हम देख चुके है, कि इनका समाज पर्याप्त उन्नति कर चुका था, पर जो बातें ऋग्वैदिक काल में स्पष्ट न थीं, वे इस काल में अधिक स्पष्ट हो गयीं। उनके नियम और बन्धन दृढ़ हो चुके थे। उदाहरण के लिए वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप ऋग्वैदिक काल में ढाँचा मात्र था पर अब वह एक निश्चित स्वरूप धारण कर चुका था। अब इस समाज के स्पष्ट चार वर्ग थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ।

ब्राह्मण—यह वर्ग आध्यात्मवाद और उपासना का एक मात्र आश्रय था। यह स्वयं तो उपासना करता ही था साथ ही अन्य द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) वर्णों को यज्ञ आदि कराता, अध्यापन करता, तथा युद्ध आदि की सम्मति देता था। कार्यों के अनुसार इस वर्ग के भी कई वर्ग बन चुके थे। ये एक दूसरे से सम्बन्धित तथा परिवर्तनशील थे। पर अन्य वर्गों से सर्वथा अलग हो चुके थे। इसमें पुरोहित, मंत्री, शिक्षक, आचार्य, ऋषि आदि के उपविभाग थे। ये अपने अन्य बन्धुओं से बराबरी का व्यवहार करते थे। और वे इसके लिए जब युद्ध अथवा कृषि करते थे, तो ये उनके लिए पूजा और शिक्षा का कार्य करते थे। पुरोहित शब्द का अर्थ हैं, सदा आगे स्थित रहना। आजकल यह शब्द बड़ा भ्रम उत्पन्न कर देता है, क्योंकि आज का

पुरोहित युद्ध करने को नहीं सोचता, पर प्राचीन समय में वह सदा शान्ति व हर प्रकार के युद्ध में राजा के सम्मुख रहता था। एक ओर वह दृष्टा और ऋषि था, दूसरी ओर राजा का परम सलाहकार मंत्री। एक ओर वह पुजारी और ध्यान मग्न तो दूसरी ओर वीर सेनानी। धीरे-धीरे ब्राह्मण बुद्धि तथा लेखनी के बल के लिए प्रसिद्ध हो गये।

क्षत्रिय—आर्यों का जो वर्ग युद्ध कला में विशेष भाग लेता था, जो रक्षा का विशेष अधिकारी था और शासन का कार्य-भार सम्हालता था, क्षत्रिय के नाम से विख्यात हुआ। इस वर्ग के भी कई भाग हो गये थे, यथा राजवंश, राजपुरुष, शासक, और सैनिक आदि। यह वर्ग केवल इसीलिए अलग हुआ था कि ऋग्वैदिक काल में जब यह अलग न था, तो आर्य हार जाते थे, इनमें सबसे प्रमुख राजवंश हुआ, जो धीरे-धीरे पैतृक हो गया। इसे मन्त्रों द्वारा इतना पवित्र करके अधिकार दिया जाता था कि फिर वह अदण्ड्य हो जाता था।

वैश्य—विश या साधारण प्रजा से वैश्य बना। इसके भाग वाणिज्य, गोपालन तथा कृषि के आधार पर बन गये। इनका काम सभी वर्गों को भोजन देना और सम्पत्ति को संचित करके रखना था।

शूद्र—यह वह भाग था जिसे सेवा का कार्य करने का उत्तरदायित्व मिला, सम्भवत: इसमें अनार्यों का अंग था। आर्यों ने इनसे सेवा कार्य ही न लिया बल्कि उन्हें अनेक सुविधाओं से वंचित कर दिया। उस समय से आज तक यह अँग उठ न सका। अब स्वतन्त्र भारत में और विशेषकर बीसवीं सदी के अन्तिम चरण में आशा है यह उन्नति कर सकेगा।

इन वर्गों की समालोचना—यह कहा जा चुका है कि ये वर्ग ऋग्वैदिक काल से अधिक कठोर और सीमित हो चुके थे। इन चार भागों में से पहिले तीन को द्विज कहते हैं और इनके पारस्परिक सम्बन्ध सदा उत्तम रहे। धीरे-धीरे जीवन की पेचीदगियों के बढ़ने के साथ-साथ ये सम्बन्ध घटते गये। और आपस के अन्तर इतने बढ़े, कि उनके व्यवसाय कुल के अनुसार होने लगे। द्विजों में परस्पर आना-जाना सम्भव था। पर कालान्तर में एक वर्ग को दूसरे से विवाह होने पर उनकी सन्तान को हेय माना जाने लगा। इस प्रकार उनके अन्य अलग-अलग वर्ण बन गये। इन्हीं में अन्य अनेक परिस्थितियाँ आ मिलीं। और इन अनेक वर्गों की अपनी अपनी रूढ़ियाँ बन गयीं, उनके अलग-अलग नियम, विधि और विधान बन गये। फल यह हुआ कि परस्पर खान-पान भी बन्द हो गया।

पर इस समय भी सामाजिक नियमों में वह जटिलता न आयी थी, जो

आज है। इस काल का क्षत्रिय भी ज्ञान का प्यासा होता था, और ब्राह्मण भी युद्ध करता था, जैसे राजा जनक क्षत्रिय थे, किन्तु कितने ही ब्राह्मण उनसे ब्रह्मज्ञान लेने के लिए सदा उत्सुक रहते थे।

इस युग में स्त्रियों की स्थिति ऋग्वैदिक काल के समान उन्नत न रह गयी थी, सम्भवत: इसका कारण यह रहा हो कि आर्यों का अनार्य स्त्रियों से भी विवाह हुआ, और वे वैदिक क्रियाओं और यज्ञों को ठीक-ठीक न कर सकीं थीं। अत: सूत्रकारों ने उनसे यज्ञ करने का अधिकार ही छीन लिया, और शूद्रों के समान उन्हें भी वेदों के पठन-पाठन का अधिकारी न रखा। एक विद्वान्[1] का तो यह कहना है कि यह अधिकार केवल इसलिए छीना गया था, कि पाठक में आगे पढ़ने की रुचि ही न रह गयी थी। वे या तो अपनी काम-वासना के कारण अथवा बुद्धि की प्रखरता में कमी के कारण स्वयं इतने क्लिष्ट विषयों को न अपनाना चाहती थीं। इसी प्रकार उनका कहना यह भी है कभी-कभी कोई विद्यार्थी किसी अपराध के कारण वेदपाठ से वंचित कर दिया जाता था। पर धीरे-धीरे यह वर्ग शूद्र वर्ग से मिला अत: वे इससे वंचित हो गये, परन्तु यह कथन युक्तिसंगत नहीं; क्योंकि अपराधी को वंचित किया जा सकता है, उसके पीछे उसकी सन्तति को नहीं। इस विषय में दूसरा मत यह है कि आर्यों ने अनार्यों को अपने समक्ष न आने देने के लिए ऐसा किया।

इसी समय स्त्रियों को सम्पत्ति अधिकार से भी वंचित किया गया। इसका फल यह हुआ कि स्त्री फिर गिरती ही गयी। बाल-विवाह की प्रथा इस समय चल चुकी थी, गौतम धर्मसूत्र में सबसे पहिले इस बात का उल्लेख मिलता है, कि कन्या का विवाह उसके ऋतुमती होने से पहिले कर देना चाहिये। यही नहीं कन्या का जन्म ही दु:ख का कारण माना जाने लगा। पर इसके अपवाद रूप अनेक स्त्रियाँ इस काल में भी विदुषी थीं। यथा गार्गी, मैत्रेयी। इनको सर्वदा सम्मान प्राप्त हुआ। इस समय के वस्त्राभूषण लगभग वही थे जो ऋग्वैदिक आर्यों के थे, पर खानपान में विभेद आ गया था। यथा जो माँस भक्षण और सुरापान ऋग्वैदिक काल में उचित गिने जाते थे अथर्ववेद में वर्जित हो गये थे।

वर्णाश्रमधर्म—सबसे प्रमुख बात जो इस समाज ने अपने में उत्पन्न कर ली थी, वह उनके जीवन का आश्रमों में विभाजन था। वे अपने जीवन को चार आश्रमों में बाँट कर व्यतीत करते थे। वे जीवन में सभी अंगों और

---

१. **मथुरादत्त दीक्षित** (A repvted scholar of Sanskrit)

उद्देश्यों की सफलता चाहते थे, और जिस उद्देश्य विशेष की सफलता जिस प्रकार के जीवन में सम्भव थी, उसी प्रकार के जीवन को अपना लेते थे। उस समय पूर्ण आयु १०० वर्ष मानी जाती थी, अतः उसके चार बराबर भाग कर दिये गये थे, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और सन्यास।

ब्रह्मचर्य—यह सबसे पहिला आश्रम था, जिसमें ८ वर्ष की आयु में बालक प्रवेश करता था। यह बालक गुरु के घर अथवा गुरुकुल में जाकर रहता था। वहाँ वह वेदों का अध्ययन करता था, यज्ञादि क्रियाएँ करता था और पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ अपने आश्रम का पालन करता था। इस बीच उसके माता-पिता भी उसे न बुला पाते थे। २५ वर्ष की आयु तक विद्याभ्यास करके वह गुरु से आज्ञा लेकर बाहर आता, तथा दूसरे आश्रम में प्रवेश करता था। कभी-कभी अधिक पढ़ना चाहनेवाला (जिज्ञासु) अपने अध्ययन को इस अवधि के अनन्तर भी कायम रखता था और विशेष विद्याओं में अधिकार पाकर ही गुरु-गृह छोड़ता था। गुरु उस समय अपने शिष्य को शिक्षा तो देता ही था, उसे भोजनादि भी देता था और शस्त्र तथा शास्त्र दोनों ही विद्याओं में पारंगत कर उसे जीवन-संग्राम के लिए पूर्ण रूप से प्रस्तुत करता था।

गृहस्थ—२५ वर्ष से ५० वर्ष तक गृहस्थ जीवन की आयु मानी गयी है। इसमें व्यक्ति विवाह करके उस सयय अपनी जीविका की खोज में निकल पड़ता था अथवा अपने पैतृक व्यवसाय को अपना लेता था। आर्य सभ्यता के अनुसार यह भी एक ऋण माना जाता था जिससे मुक्त होना प्रत्येक मनुष्य का धर्म होता था। साथ ही इस आश्रम में मनुष्य धन ही उपार्जन न करता था, बल्कि अपने धर्म का भी बहुत ध्यान रखता था। वह अतिथि तथा सन्यासी आदि का बड़ा सम्मान करता था। अनेक विद्वान् आज भी गृहस्थ जीवन को अन्य आश्रमों से बढ़कर मानते हैं। क्योंकि उनके जीवन गृहस्थ के ही दानादि पर निर्भर हैं।

वानप्रस्थ—यह तीसरा आश्रम था, जो ५० वर्ष की अवस्था से ७५ वर्ष तक रहता था। इसमें मनुष्य गृहस्थी का भार अपने पुत्रों को सौंपकर त्याग, तपस्या तथा साधना का जीवन बिताता था। वह अधिकतर पत्नी के साथ वन को चला जाता था। इस आश्रम में मनुष्य या तो भगवान का भजन करता था अथवा अध्ययन, अध्यापन, करता था। अथवा जंगल में जाकर लोकसेवा को ही अपना कर्त्तव्य मानकर जीवन व्यतीत करता था।

सन्यास—इस आश्रम में मनुष्य सब कुछ त्याग कर वन की ओर चला जाता था। सन्यास शब्द का अर्थ है पूर्ण त्याग। इसके अन्तर्गत मनुष्य को धन-दौलत

से लेकर पत्नी, पुत्र और यज्ञोपवीत तक का त्याग कहा गया है। इस आश्रम का लक्ष्य ब्रह्म का चिन्तन और मोक्ष-प्राप्ति होता था। इस प्रकार आर्यों के वर्ण तथा आश्रमों के आधार पर बिताये जानेवाले जीवन की जर्मन विद्वान् डयूसन ने बड़ी सराहना की है। उसका कहना है कि "मानव जाति के इतिहास में विचारों और जीवन के आदर्शों की यह ऊँचाई कहीं नहीं है"।

इसकी समालोचना—आज के युग में वर्ण तथा आश्रम का कोई मूल्य नहीं, क्योंकि एक ओर तो हम स्प्यूटनिक की बात करते हैं, प्रत्येक मनुष्य को उच्च से उच्च पद प्रदान करने को ही मानव-धर्म समझते हैं, हमारे सामने न जाने हमारे कितने नेता और देश के कर्णधार ६० वर्ष से अधिक आयु के हो गये, पर अभी भी युवकों की भाँति कार्य में लगे रहते हैं, यही नहीं यदि आज चर्चिल की भाँति ८० वर्ष का होने पर अवकाश ग्रहण किया जाने लगे तो युक्तिसंगत नहीं लगता क्योंकि मनुष्य की सामान्य आयु का स्तर केवल २६ वर्ष है, दूसरी ओर हमीं रंगभेद की कटु अलोचना करते हैं। हमारा कहना है कि जातिवाद का सीधा अर्थ

१—एकता पर आघात है, अथवा

२—उच्च वर्ग का निम्न के प्रति दुर्व्यवहार है, अथवा

३—एक व्यक्ति की आत्मा का पतन है, अथवा

४—धर्म नहीं बल्कि धर्म से किसी को वंचित करना है।

पर इस बात को उस समय को दृष्टि में रखकर भी सोचना होगा, जिस समय की वह उत्पत्ति है। उस समय श्रम के अनुसार ही यह विभाजन किया गया था, और यह आवश्यक था कि एक व्यक्ति एक ही कार्य करे, उसमें यह भी देखा गया कि ऋषि का बालक उत्तम ऋषि और क्षत्रिय का बालक वीर और साहसी सेनानी हुआ। दूसरे इस प्रकार कार्य-क्षेत्र के विभाजन से एक वर्ग की दूसरे के कारण कोई हानि नहीं हुई, बल्कि सौहार्द्र के साथ सहयोग ही मिला, और इस प्रकार का सहयोग यदि उस समय न मिलता तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, जो उस समय अन्न का उत्पादन न करते थे, भूखों ही मर जाते। तीसरे रक्त का प्रभाव बड़ा ही अमिट और स्वाभाविक होता है, इसीलिए रक्त की शुद्धता की रक्षा के लिए गोत्र व ऋषि के नाम की प्रथा चली, चौथे इस प्रकार समाज में मनुष्य बँधकर आत्मा को उच्च से उच्च उठा सकता था। उसको पतन के अवसर कम थे। पर अब ये समय के पीछे की बातें हैं।

आर्थिक जीवन—उत्तर वैदिककाल में आर्थिक जीवन का भी पर्याप्त विकास हो गया था। अथर्ववेद में कृषि, पशुपालन तथा व्यापार की सफलता के लिए अनेक प्रार्थनाएँ हैं। कृषि इनका मुख्य उद्यम था। उसमें उस

समय भारी हल बनने लगे थे जिनको खींचने के लिए २४-२४ बैलों की आवश्यकता होती थी, उपज की वृद्धि के लिए खाद की उपयोगिता समझी जाने लगी थी। अब जौ के अतिरिक्त गेहूँ, तिल, धान आदि अन्न ऋतुओं के अनुसार बोये और काटे जाने लगे थे। अतः कृषि में उन्होंने अच्छी समृद्धि इकट्ठी कर ली थी। कृषि की समृद्धि के बल पर ही इन्हें अन्य अनेक पेशे भी करने पड़े। यथा सूत, कुम्हार, लोहार, नापित, व्याध, कर्षक, रथकार, सुवर्णकार, रजक, रज्जकार, नट, गायक आदि। स्त्रियाँ बहुधा रंगसाजी, कढ़ाई, सीना-पिरोना, आदि का काम करती थीं। आर्थिक अवस्था में सबसे बड़ी चीज उनका धातुओं का विशेष ज्ञान है। ऋग्वेद में केवल स्वर्ण और अयस (ताँबा) का उल्लेख है, पर इस काल में शीशा, चाँदी (रजत सोना, लाल, श्याम अयस (लोहा) का भी ज्ञान हो गया था। इस समय शतभान नाम का एक सिक्का भी चलने लगा था जिसकी तौल १०० गुञ्चों के बराबर थी। उनके भोजन, वस्त्र और मनोरंजन के लगभग सब वही साधन थे जो ऋग्वैदिक काल में थे।

धर्म तथा दर्शन—इस काल में वैसे तो वही देवता पूजे जाते थे, जो ऋग्वैदिक काल में, पर उनकी प्रधानता में अन्तर आ गया था। अब प्रजापति का स्वरूप बदल गया था और रुद्र तथा विष्णु की विशेष आराधना होने लगी थी, इनमें भी रुद्र का स्थान प्रधान था। ऋग्वेद में विष्णु सूर्य का ही एक रूप है और उस समय उनकी विशेष महत्ता न थी, पर उत्तर वैदिक काल में ये पालक के स्वरूप में देखे जाने लगे। धार्मिक जीवन की जो सरलता ऋग्वैदिक काल में थी, वह अब जटिल हो गयी। अब बड़े-बड़े यज्ञ और अनुष्ठान होने लगे। उनमें अब अधिक व्यय होने लगा। यज्ञों में पशु-हिंसा होने लगी। साथ ही इन यज्ञादि के कराने के कारण ब्राह्मण वर्ग का एक विशिष्ट स्थान हो गया। ये पृथ्वी के देवता कहे जाने लगे थे। सर्वसाधारण का दृष्टिकोण इस प्रकार बन गया था कि वैदिक क्रियाओं के उचित ढंग से करने में ही उसका कल्याण है। वस्तुतः यह युग वेदवाद का युग बन गया। इसका अभिप्राय यह है कि पहले मनुष्य भय और स्वार्थ के कारण एक सत् की आराधना करता था, पर अब उसने प्रकृति पर कुछ अधिकार पा लिया, और अपने मन्त्रों के बल से उसने देवताओं को भी अपने वश में करना चाहा। उसका विश्वास बन गया कि वह अपनी सारी इच्छाओं की पूर्ति यज्ञ और अनुष्ठानों से करा सकता है। अतः अब उसने वेदों को केवल ज्ञान के लिए नहीं बल्कि उनकी शब्दशक्ति को मानकर उसने उन्हें हृदयंगम करना प्रारंभ कर दिया।

इसी समय वेदाङ्गों का जन्म हुआ। वेदाङ्ग छः हैं—१. व्याकरण २. शिक्षा (उच्चारण की पद्धति) ३, कल्प (कर्मकाण्ड) ४. निरुक्त (शब्द

विज्ञान) ५. छन्दस् (छन्द, metre) और ज्योतिष। इन अंगों द्वारा वेदों का अध्ययन अधिक सरल तथा सुव्यवस्थित कर दिया गया ।

पर दूसरी ओर इसकी प्रतिक्रिया भी इसी काल में प्रारम्भ हो गयी। कुछ चिन्तनशील लोगों का इन यज्ञ आदि में विश्वास घटने लगा। वे यज्ञ को टूटी नाव कहने लगे। इन चिन्तनशील लोगों में क्षत्रिय, ब्राह्मण सभी थे। यथा जनक, अजातशत्रु, और प्रवाहण जैवालि सरीखे क्षत्रिय तथा उद्दालक, अरुणि, श्वेतकेतु, सत्यकेतु और याज्ञवल्क्य आदि ऋषि थे। इन सभी महापुरुषों ने व्यर्थ की हिंसा के विरुद्ध आवाज उठायी। मुण्डक उपनिषद् में तो यज्ञ करनेवालों को मूर्ख तक कहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् में यज्ञ करनेवालों को देवताओं का पशु बतलाया गया था। इस प्रकार धीरे-धीरे दर्शनों का (Philosophic Books) आविर्भाव हुआ। इनमें हमारा षट् दर्शन आज भी संसार की उच्च दर्शन की रचनाओं में गिना जाता है । इन दर्शनों का प्रतिपाद्य विषय तो उपनिषदों में दिया गया था, पर वह ज्ञान यत्र-तत्र बिखरा था, अतः कुछ महर्षियों ने उसे एकत्र करके अपनी-अपनी दृष्टि से एक नवीन मार्ग का प्रदर्शन किया अतः ये षट् दर्शन बन गये जो निम्नलिखित हैं—

१. **सांख्य**—यह कपिल मुनि के श्रम का फल है। इसमें आपने ज्ञान को सब कुछ माना है और वह ज्ञान प्रकृति के अस्तित्व का सिद्धान्त, व्यक्त अव्यक्त और जिज्ञासु का ज्ञान होगा। आपका कहना है कि मोक्ष कोई ऐसी पृथक् वस्तु नहीं जो कभी मिले और नष्ट हो जाय, यह तो अपने को ही जान लेना मात्र है।

२. **योग**—यह शास्त्र पतञ्जलि द्वारा संग्रहीत किया गया है। आपका कहना है कि यदि मन तथा इन्द्रिय व्यापार को रोक दिया जाय और ध्यान किया जाय तो आत्मा को शान्ति और आध्यात्मिक आह्लाद प्राप्त होता है। इस स्थिति में आत्मा परमात्मा में विलीन हो जाता है। इसी अवस्था की प्राप्ति योग है। वस्तुतः प्रकृति तथा पुरुष की एकता के आभास का निराकरण ही मोक्ष है।

३. **न्याय**—दर्शनों में सबसे प्रमुख और तर्कसाध्य विषय को रखनेवाला ग्रन्थ न्याय है। इसका प्रतिपादन गौतम ऋषि ने किया है। आपने कहा है कि संसार परमाणुओं से निर्मित है, अतः उनका सम्यक् ज्ञान ही (१६ पदार्थों का विशेषकर) मोक्ष का साधन है।

४. **वैशेषिक**—इसके दृष्टा कणाद मुनि थे। आपने कहा कि छः पदार्थों[1]

---

[1] छः पदार्थ—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय।

का कहाँ एक-सापन है (साधर्म्य) कहाँ वे भिन्न हैं (वैधर्म्य) यह ज्ञान होने से ही मुक्ति मिल सकती है।

५. **पूर्वमीमांसा**—इसका विषय वेदों में जो यज्ञ आदि का स्वरूप दिया गया है, उसको समझाना है। इसके ऋषि जैमिनि थे। आपने कहा कि वेदों में यज्ञादि के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। अतः इनके ही उचित ढंग से समझने और करने में मुक्ति मिल सकती है।

६. **उत्तरमीमांसा**—यह वेदान्त भी कहा जाता है। इसका प्रतिपादन वादरायण (व्यास) ने किया है। आपका कथन है कि इस जगत को हम ठीक नहीं देख रहे, यह भ्रम है जैसे रस्सी में सर्प दिखाई देता है। अतः इसमें जो तत्व है (ब्रह्म) और जिसका ही स्वरूप हम हैं वही सत्य और नित्य है, हम और वह एक हैं, अज्ञान के कारण कभी इसे समझ नहीं पाते। अतः ब्रह्म को जानना और उसी का अंश अपने को समझना (जैसे धूप के भाग) ही मोक्ष है। इन सभी का मुख्य विषय आध्यातमवाद हुआ। इसमें संक्षेपतः कहा जा सकता है कि अपने-अपने दृष्टिकोणों से ऋषियों ने मोक्ष का साधन खोजने का उपाय किया। ये ऋषि इस प्रकार के विषयों का चिन्तन जंगल में जाकर करते थे, और यज्ञ आदि के स्थान पर स्वाध्याय और सदाचार पर जोर देते थे। यही नहीं इस समय की राजसभाएँ भी इन विषयों पर विचार करने की केन्द्र बन गयीं। इन सभाओं में शास्त्रार्थ होने लगे, और विजय उपहार दिये जाने लगे।

शिक्षा और साहित्य—शिक्षा की दृष्टि से कहा जा चुका है कि विद्यार्थी गुरु के पास जाकर रहता था तथा ब्रह्मचर्य का पालन करता था। इस समय की शिक्षा का उद्देश्य श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धन, आयु और मोक्ष की प्राप्ति थे। उनकी विद्या के आदर्श इस संसार में उन्नति और परमार्थ की प्राप्ति थे। विद्या प्रचार के साधन उस समय गुरुकुल, आश्रम, परिषद् और सभा थे। इस समय जो विद्वान् भ्रमण करके विद्यादान करते थे उनको चरक कहते थे। इस समय की शिक्षापद्धति में पाठों का उच्चारण, उनके भाष्य, और वाद-विवाद अनेक बातें सम्मिलित थीं। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार इस समय निम्नलिखित विषय पढ़ायें जाते थे—

१. चारों वेद,
२. इतिहास, पुराण आदि,
३. व्याकरण,
४. दैव,
५. निधि,
६. ब्रह्मविद्या,
७. भूत विद्या,
८. नक्षत्र विद्या,
९. सर्प विद्या,
१०. देवजन विद्या, आदि

इससे प्रकट होता है कि उनकी ज्ञान की सीमा कितनी बढ़ चुकी थी।

भागवत धर्म—राजा वसु के समय यज्ञों में पशुओं की बलि के विषय पर एक विवाद उठ खड़ा हुआ। कहा जाता है कि उसने अपने यज्ञों में पशुबलि के विरुद्ध आचरण किया। इससे भगवान उस पर प्रसन्न हो गये। वसु के पश्चात् मथुरा के यदुवंशियों ने इसी पद्धति का अनुगमन किया। उनका कहना है कि हरि देवों का देव है, और उसकी प्रसन्नता के लिए न उतनी यज्ञ व कर्मकाण्ड की आवश्यकता है, न तपस्या करने की, जितनी अपने कर्त्तव्य पालन की। इसी मार्ग का प्रचार बाद को कृष्ण, उनके वंशज प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ने भी किया। इसी मार्ग का नाम भागवत धर्म पड़ गया।

सूत्र तथा महाकाव्य काल

उत्तर वैदिक काल तक स्मरण करने की सामग्री इतनी अधिक हो गई कि सर्वसाधारण को याद करने में बड़ी कठिनता होने लगी। दूसरे स्मृति की बात के एक से दूसरे तक जाने में बदलने का भय रहता था। अतः उसके पश्चात् एक नयी पद्धति बनी। ऋषियों ने आवश्यक ज्ञान को सूक्ष्म रूप में उपस्थित करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार जो ग्रन्थों की रचना हुई उन्हें सूत्र ग्रन्थ कहते हैं। सूत्र का अर्थ है डोरा। जैसे धागे में अनेक रत्न पिरोये जा सकते हैं, वैसे ही एक-एक सूत्र में अनेक बातें भर दी गई, और इन्हीं को याद किया जाने लगा। इनका रचना काल लगभग ७०० ई० पू० से लेकर २०० ई० पू० तक माना जाता है। इनमें वह सब विषय रखा गया जो वेदाङ्गों के कल्प भाग में है। इस प्रकार जो ग्रंथ बने वे तीन प्रकार के थे।

१. **श्रौत्र सूत्र**—इन सूत्रों में केवल धार्मिक यज्ञ और अनुष्ठानों की चर्चा है।

२. **गृहसूत्र**—इनमें मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक संस्कारों का वर्णन है। मनुष्य को कब, क्या और किस प्रकार करना है, यह इनमें पूरे विवेचन के साथ दिया गया है। इनसे हमें उस समय की दशा का ज्ञान भी अच्छा मिल जाता है।

३. **धर्मसूत्र**—इनमें व्यक्तिगत धर्म की नहीं बल्कि समाजगत धर्म की चर्चा है। इनके प्रमुख रचयिता गौतम, बौधायन और वशिष्ठ हैं, इन सूत्रकारों ने समाज के लिए बड़े उपयोगी नियम बना डाले हैं। अतः इनसे उस समय के समाज का यथेष्ठ ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

उस काल का समाज—इस समय समाज में वर्णाश्रम धर्म पूर्ण रीति से जम चुका था। इसका उल्लेख उत्तर वैदिक काल में किया जा चुका है। इस

समय भी वर्गों की शुद्धता पर बहुत जोर दिया गया है। अतः अब भोजन, विबाह आदि में बड़ी कड़ाई से नियमों का पालन किया जाने लगा। इन नियमों का फल यह हुआ कि समाज का दृष्टिकोण संकुचित हो चला और यह उसी के लिए घातक सिद्ध हुआ। उन्हें देश के बाहर जाने और दूसरे की भाषा सीखने तक की स्वतन्त्रता न थी। यही नहीं इनके अनुसार स्त्रियों की स्वतन्त्रता सर्वथा नष्ट हो गयी। वे अब सम्पत्ति की भी अधिकारिणी न रहीं।

राजनीति—इन सूत्रों में राजा के कर्त्तव्यों का भी वर्णन है। राजा का परम कर्त्तव्य प्रजा की रक्षा करना था। यही नहीं उसको विद्वानों, विद्यार्थियों, और असहायों का भार भी सम्हालना होता था। इसके अतिरिक्त इन सूत्रों में विभिन्न कर्मचारियों के कर्त्तव्य और उनके वैसा ही न चलने पर दण्ड के विधान की भी चर्चा है। राजा जनता से उपज का छठा भाग कर के रूप में लेने का अधिकारी था।

सूत्रकार पाणिनि—पाणिनि के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है पर यहाँ इसके विवाद में नहीं पड़ा जा सकता। डा० काशी प्रसाद जयसवाल ने इनका समय मंजु श्री मूल कल्प के आधार पर ५०० ई० पू० माना है। यही तिथि सत्यता के निकट है। आप उत्तर-पश्चिम में युसुफजाइयों के एक गाँव शालितूर के निवासी थे, आपने संस्कृत साहित्य को अमर बनानेवाली एक पुस्तक लिखी है, इसका नाम अष्टाध्यायी है। इसमें आठ भागों में सूत्र के रूप में समस्त संस्कृत व्याकरण की रचना की गयी है। इन सूत्रों का क्रम इतना विचार कर रखा गया है, कि उसे शीघ्र बदलना भी सम्भव न हुआ। आजकल इसी का अध्ययन दूसरे क्रम से होता है, जो सिद्धान्त कौमुदी में अपनाया गया है। इस व्याकरण में अनेक भौगोलिक और ऐतिहासिक नाम भी आ गये हैं। पर वे दक्षिण भारत से सम्बन्धित नहीं है, इस आधार पर अनेक विद्वानों का कहना है कि शायद तब तक आर्यों को दक्षिण भारत का ज्ञान न था। पर ऐसी बात ५०० ई० पू० में सम्भव नहीं, जब कि महात्मा बुद्ध का जन्म हो चुका था, जब जैन सम्प्रदाय चल चुका था, जब अनेक जनपद बन चुके थे। हाँ, उत्तर-पश्चिम के कोने में रहनेवाले पाणिनि को सम्भवतः दक्षिण भारत का ज्ञान न रहा हो। अष्टाध्यायी में हमें उस काल की राजनीति और समाज आदि अनेक विषयों का भी ज्ञान हो जाता है।[1]

---

१. इसके विशेष अध्ययन के लिए देखो—पाणिनि कालीन भारत by डा० बासुदेवशरण अग्रवाल

महाकाव्यों का समय

हमारे प्राचीन साहित्य में दो महाकाव्य ऐसे हैं, जिनका हर दृष्टिकोण से एक महत्वपूर्ण स्थान है। ये हैं रामायण और महाभारत। इन दोनों में सकड़ों वर्ष का राजनीतिक विकास तथा अपने-अपने समय की समाज और धर्म की बातें सभी व्याख्या सहित मिलती हैं। इनके द्वारा दिये गये अनेक तथ्य बड़े खरे उतरते हैं। इसके अतिरिक्त इन महाकाव्यों ने हमारी संस्कृति को इतना प्रभावित किया है, कि आज भी हर हिन्दू परिवार में रामायण अथवा महाभारत की एक पुस्तक मिल जाती है। ये दोनों ही हिन्दू धर्म और सभ्यता के विश्वकोष हैं। इनके आदर्श यद्यपि सदियों पहले के हैं, पर आज भी हम उन्हीं पर चलने में अपना अभिमान समझते हैं। यही नहीं नित्य इनका पाठ किया जाता है और जो स्वयं नहीं पढ़ सकते वे दूसरे के द्वारा सुनते हैं। फिर इनका साहित्यिक महत्त्व भी कम नहीं है। दोनों में सुन्दर भाषा और अलंकार है। दोनों में उच्चकोटि के विचार, चिन्तन और कल्पनायें हैं। दोनों में एक अनुपम सरसता है। पर ये काव्य भिन्न-भिन्न कालों की रचनायें हैं, और इनमें आपस में बहुत-सा अन्तर भी है।

इनका रचना काल—न तो इनका रचना काल आज तक सुनिश्चित हो सका, और न इनका स्वरूप ही प्रारम्भ से आज तक एक-सा रहा। रामायण का जो कलेवर पहिले था, अब उससे वह कहीं बड़ा है। इसी प्रकार महाभारत भी दूना, चौगुना बढ़ गया है। इन दोनों की मूल प्रतियाँ निश्चित ही प्राचीन और छोटी-छोटी थीं, पर समय के साथ इनमें जोड़ लगते गये, और इनके ये जोड़ गुप्त काल तक रहे, जिसके बाद हमें उनका आज का स्वरूप मिल जाता है। वस्तुतः इनकी घटनाएँ, कथाएँ और इनकी रचनाएँ भिन्न-भिन्न कालों की हैं, और इस स्थल पर इनकी कथाओं की तिथि निश्चित नहीं की जा सकती। हाँ इनके रचनाकाल का अनुमान सत्य के निकट पहुँच सकता है। इनमें से रामायण[1] कहीं पहिले की है।

रामायण—यह आदिकाव्य है, जो हमारे आदिकवि महर्षि बाल्मीकि की रचना है। इसमें सात कांड और २४,००० श्लोक हैं। जैकोबी महोदय का कथन है कि इसका पहला और अन्तिम कांड बाल्मीकि जी की रचना ही नहीं, ये भाग बाद को जोड़ दिये गये है। उनका कहना है, बाल्मीकि राम को पहिले पुरुषोत्तम मानकर चलते हैं और अन्त में वे विष्णु के अवतार हो जाते हैं। अतः यह एक कवि की रचना कैसे सम्भव हैं, सबसे बड़ी बात

---

१. इसकी कथा इतनी प्रसिद्ध है कि यहाँ देना आवश्यक नहीं।

यह है कि रामायण में पाटलिपुत्र की चर्चा नहीं है. और कोशल की राजधानी साकेत न होकर अयोध्या है, यह राजधानी बौद्ध साहित्य में साकेत के रूप में मिलती है। अतः इसकी रचना उससे पूर्व की हुई। फिर महाभारत के तीसरे पर्व में राम की कथा का वर्णन है, और महाभारत की रचना भी ५०० ई० पू० के लगभग हो चुकी थी, अतः रामायण की रचना का काल १००० ई० पू० के लगभग हुआ। यहाँ यह नहीं भुलाया जा सकता कि इसकी घटना का काल और पहले का है, उसे विद्वानों ने १७५० ई० पू० (भगवतशरण उपाध्याय) से १३०० ई० पू० के बीच रखा है। जो हो यह ध्रुव निश्चित है कि रामायण की रचना महाभारत से कहीं पहिले की है क्योंकि हम देखते हैं कि रामायण में सीता को शुद्ध होने के पश्चात् भी त्याग दिया जाता है, और महाभारत में द्रौपदी पाँच पति लेकर भी पतिव्रता समझी जाती है। इतना भारी अन्तर थोड़े-से काल में किसी भी समाज में नहीं आ सकता।

महाभारत—महाभारत की मूल रचना श्री वेदव्यास जीने की है। इसमें भी इतने जोड़ पड़े हैं कि मूल का पता लगाना सरल नहीं। साथ ही इसमें कई प्रकार की शैली तथा भाषा इसे एक मनुष्य और एक काल की रचना मानने से रोकते हैं। इसमें १८ पर्व[1] हैं, इनमें अनेक ऐतिहासिक कथानक हैं। कहा जाता है कि पहिले इसका नाम जय था, इसके अनन्तर भारत पड़ा, और चलते चलते महाभारत हुआ। इसका रचना काल अश्वलायन गृहसूत्र के आधार पर ५०० ई० पू० के लगभग का है। पर इसमें गुप्तकाल तक योग दिये जाते रहे। इसकी कथा इतनी प्रसिद्ध है कि यहाँ देना अपेक्षित नहीं।

इन काव्यकालों की सभ्यता—इन दोनों महाकाव्यों में अत्यन्त उच्च-कोटि की सभ्यता के दर्शन होते हैं, ऐसा कोई क्षेत्र नहीं जिस पर इन कवियों की कलम न चली हो। इनमें एक ओर राजनीति तो दूसरी ओर आध्यात्म सभी विद्यमान हैं।

राजनीति—इन काव्यों के राजा स्वेच्छाचारी नहीं थे। दोनों महाकाव्यों में हम राजसूय और अश्वमेध यज्ञों की चर्चा पाते हैं। अतः वे अब चक्रवर्ती सम्राटों से कम अपना लक्ष्य ही न रखते थे। साथ ही भारत की राजनीतिक एकता का भाव कुछ जग चुका था। उन्हें प्रजा के सुख से सुख और दुःख से

---

१. आदि, सभा, अरण्य, विराट, उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक, स्त्री, शांति, अनुशासन, अश्वमेध, आश्रमवासिक, मौसल, महाप्रस्थानिक स्वर्गारोहण ये १८ पर्व हैं।

दुःख होता था। दुराचारी राजा को राजपद से हटा दिया जाता था। पर राजा शाँति तथा युद्ध दोनों ही कालों में प्रजा का नेता रहता था। अपने व्यक्तिगत जीवन में वह भोग-विलास, संगीत, द्यूत, आखेट सभी में आनन्द लेता था।

उसका वैभव उच्चकोटि का था। वृद्धावस्था में प्राय: अपने बड़े लड़के को राज्यभार सौंप कर स्वयं वानप्रस्थ की भाँति रहने लगता था। उसकी राजधानी खाई आदि से भली प्रकार घिरी और सुरक्षित रहती थी। वह सदा मन्त्रियों की सहायता से शासन करता था।

इस काल में शासन की इकाई ग्राम बन चुका था। ग्राम का अध्यक्ष ग्रामणी होता था, इसी प्रकार दस गाँव का अध्यक्ष दसग्रामी, बीस का विंशपति होता था। सेना इस समय चार अंगों से बनी होती थी। इसमें हाथी (गजदल), रथ, घोड़े (अश्व) और पदाति चार अंगों के कारण वह चतुरंगिणी कहलाती थी। युद्ध में धनुष-बाण, भाले, बर्छे, तलवार, फरसे आदि अस्त्र-शस्त्र बहुतायत से प्रयोग होते थे। बाण तो इनके अग्नि की वर्षा कर सकते थे।

इसके अतिरिक्त हम महाभारत में गणतन्त्रात्मक शासन का भी उल्लेख पाते हैं। इन गणों के संघ बन जाया करते थे। महाभारत के शान्ति पर्व में[1] गण की सुरक्षा के लिए आपस में एकमत तथा एकता की परम आवश्यकता है, इसमें अनेक प्रतिनिधि मिलकर शासन करने का भी वर्णन है।

समाज—इस समय के समाज में वर्ण-व्यवस्था पूर्ण रूप से जम चुकी थी। इनमें ब्राह्मणों का सम्मान बहुत बढ़ गया था। महाभारत में एक स्थल पर यहाँ तक कहा गया कि यदि ब्राह्मण अशिक्षित हो तो भी पूजनीय होता है, पर कुछ विचारशील लोग इन बन्धनों के विरुद्ध भी चलने की सोचने लगे थे। उनका मत था कि आचरण प्रधान है, और यदि ब्राह्मण का आचरण ठीक नहीं तो वह शूद्र के तुल्य है। महाभारत में हमें अन्तर्जातीय विवाह खूब देखने को मिलते हैं। यही नहीं व्यवसाय भी वर्ण को लेकर ही सदा नहीं होता था, क्योंकि हम देखते हैं, विश्वामित्र क्षत्रिय होकर महर्षि बने, और द्रोणाचार्य तथा परशुराम ब्राह्मण होकर क्षत्रिय के समान अस्त्र-शस्त्र में निपुण थे। शूद्रों को कुछ सम्मान मिलने लगा था, वे पहिले की भाँति हेय दृष्टि से न देखे जाते थे, पर स्त्रियों का स्थान पहिले की अपेक्षा बहुत गिर चुका था। बहुपत्नी विवाह की प्रथा चल पड़ी थी। राजाओं के

---

१. शान्ति पर्व--अध्याय १०७ श्लोक ६३२।

अन्त:पुर में अनेक रानियों का रहना साधारण सी बात थी। कभी-कभी तो सौतों को काफी कष्ट उठाने पड़ते थे। लक्ष्मण द्वारा शूर्पनखा का अपमान, दु:शासन द्वारा द्रौपदी का अपमान, बड़े-बड़े राजाओं द्वारा स्त्री जुए में हार जाना, जैसी अनेक घटनाएँ सिद्ध करती हैं, कि स्त्री को समानता का अधिकार ही न रह गया था। उनके विवाह के लिए स्वयम्वर की प्रथा थी, पर गन्धर्व विवाह के उदाहरण प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त इस समय सती प्रथा प्रचलित थी, पर बहुत अधिक नहीं। स्त्री के लिए सबसे बड़ा धर्म पति की सेवा था।

धार्मिक अवस्था—इस समय तक प्राकृतिक शक्तियों की पूजा समाप्त हो गयी थी। वैदिक देवताओं के स्थान पर ब्रह्मा, विष्णु और महेश पूजे जाने लगे थे। इनके अतिरिक्त कुछ नए देवता भी पूजे जाने लगे थे। जैसे दुर्गा, गणेश। अब आत्मा के आवागमन में विश्वास जम चुका था। महाभारत में गीता जैसे दर्शन के उच्चकोटि के ग्रन्थ का समावेश होना, और पुराणों में भागवत जैसे पुराण की रचना, इस समय के धर्म का रूप ठीक-ठीक बता सकते हैं। अब लगभग अवतारवाद की छाप जनता पर पड़ चुकी थी, क्योंकि परशुराम, राम, और कृष्ण उनके प्रतीक अवतरित हो चुके थे। पर कहना न होगा कि इस ओर मनुष्य सदाचार का भी कम ध्यान न रखता था। उसे विश्वास था, कि यदि जीवन को सफल बनाना है तो चाहे ज्ञान मार्ग का अनुसरण करो चाहे भक्ति का, दोनों में सच्चरित्रता अमूल्य साधन है। आजकल के हिन्दू धर्म का स्वरूप महाभारत काल में बहुत कुछ निश्चित हो चुका था। इसमें सबसे प्रमुख कर्मवाद था, जो प्रत्येक के हृदय में घर कर चुका था।

परिच्छेद—८

(अ) महाजनपद काल

महाकाव्य काल के पश्चात् हमें अपने इतिहास में एक सर्वथा नए युग का दर्शन होता है। इसको महाजनपद काल कहना उचित होगा क्योंकि इस काल में १६ महाजनपद भारत में फैले थे, और अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये थे। इनका वर्णन हमें बहुत कुछ जैन और बौद्ध साहित्य में प्राप्त होता है। यद्यपि ये साहित्य धार्मिक दृष्टिकोण से लिखे गये हैं, पर इनमें आया हुआ राजनीतिक वर्णन पुराणों से भी अधिक विश्वस्त है। चूँकि बौद्ध और जैन धर्म निश्चित ही ६वीं शताब्दी ई० पू० में थे, और सबसे प्राचीन बौद्ध साहित्य में इन जनपदों की चर्चा है, अतः हम इनका काल ८ वीं शताब्दी ई० पू० रख सकते हैं। उस समय जो जन जिस प्रदेश में निवास करता था, उसी के नाम पर बहुधा उसके प्रदेश का नाम भी पड़ गया। इस प्रकार निम्नलिखित १६ जनपदों के नाम हमें प्राप्त होते हैं--

१. **काशी**—इस युग में सब से अधिक प्रसिद्ध जनपद काशी का था। इसकी राजधानी काशी (वाराणसी) थी। यह उस समय शिल्प और व्यापार का भी केन्द्र थी। राजा ब्रह्मदत्त के समय इसकी प्रमुखता विशेष बढ़ गयी थी। इसी में जैनों के सुप्रसिद्ध तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के पिता राजा अश्वसेन हुए थे। कुछ समय तक इसका संघर्ष कोसल से चलता रहा जिसमें कोसल नरेश ने इसे अपने अधीन बना लिया था।

२. **कोसल**—आजकल का अवध पहिले कोसल का जनपद कहा जाता था। इस समय इसकी राजधानी अयोध्या न थी, बल्कि उत्तर में राप्ती के किनारे श्रावस्ती थी। यह नगर एक प्रसिद्ध वणिक पथ (व्यापारिक मार्ग) पर स्थित था। इसमें और काशी में सदा होड़ रही, और अन्त में कोसल ने काशी को दबा लिया था। इसके खण्डहर अब गोंडा, बहराइच की सीमा पर सहेत—महेत नामक गाँवों में मिलते हैं। इसका पूर्वी हिस्सा अलग होकर गणराज्यों में मिल गया था।

३. **अंग**—यह जनपद बिहार के उत्तरी-पूर्वी भाग में बसा था। इसकी राजधानी उस समय चम्पा थी। इसके स्थान पर आज भागलपुर बसा है।

यह भी उस समय व्यापार और सभ्यता का भारी केन्द्र रहा। इसका संघर्ष इसके पड़ोसी मगध राज्य से चलता रहा जिसमें पहिले अंग प्रबल था और बाद को मगध ने शक्ति ग्रहण कर ली थी।

४. **मगध**—बिहार में गंगा के दक्षिण का भाग मगध कहलाता था। इसकी राजधानी राजगृह थी, यह भी अपने वैभव के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध रहा। इसके स्थान पर आजकल आधुनिक गया और पटना नगर हैं। राजगृह का पहिला नाम गिरिव्रज था, जिसको राजा बिम्बिसार ने पुनः बसा कर राजगृह कर दिया था। यहाँ का सबसे प्रसिद्ध प्राचीन राजा जरासन्ध हुआ।

५. **वज्जि**—पहिले के विदेह और कोसल के कुछ भागों के मिलने से यह जनपद बना था। यह एक राजतन्त्र न होकर गणतन्त्र वाला राज्य था। इसका एक संघ था जिसमें आठ गणराज्य शामिल थे। इसकी राजधानी वैशाली थी। वैशाली की जगह आज मुजफ्फरपुर जिले में बसाढ़ नामक स्थान है। इसके गणों में सबसे प्रमुख लिच्छवि थे।

६. **मल्ल**—आजकल के गोरखपुर और देवरिया जिलों के स्थान पर पहिले मल्लों का जनपद बसा था। मल्लों की दो शाखाएँ थीं, इनमें से एक की राजधानी कुशीनगर और दूसरे की पावा थी। ये नगर भी अपने समय में बड़े ही महत्त्वपूर्ण रहे।

७. **चेदि**—यह जनपद आजकल के बुन्देलखण्ड के स्थान पर था। इसकी राजधानी शुक्तिमती थी। महाभारत काल के राजा शिशुपाल के पश्चात् चेदि राज्य का ह्रास हो गया। इसी काल में इसकी एक शाखा कलिंग तक गयी।

८. **वत्स या वंश**—काशी के दक्षिण और चेदि के उत्तर का भाग उस समय वत्स राज्य था। इसकी राजधानी कौशाम्बी थी। इसके खण्डहर आज भी यमुना के तट पर इलाहाबाद से ३० मील दूर कोसम में मिलते हैं। यह नगर व्यापारिक केन्द्रों के बीच था। युद्ध आदि के लिए भी यहाँ से होकर जाते थे। इसका संघर्ष इसके पड़ोसी अवन्ति से चला करता था।

९. **कुरु**—यमुना के किनारे इन्द्रप्रस्थ और हस्तिनापुर के आस-पास का प्रान्त कुरु जनपद में था। आज यहाँ दिल्ली राज्य है। इसके पहिले भी कुरुक्षेत्र यज्ञों का क्षेत्र रहा था, और महाभारत काल में इसकी महत्ता सबसे अधिक रही। इस काल में भी यह अपनी संस्कृति के लिए विख्यात था।

१०. **पांचाल**—यह जनपद गंगा-यमुना के दोआब के पूर्वी भाग में स्थित था। इसके दो भाग थे--उत्तर पांचाल और दक्षिण पांचाल। उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्र और दक्षिण की कांपिल्य थी। बौद्ध साहित्य से

विदित होता है कि इसके एक प्रसिद्ध राजा दुर्मुख ने बड़ी दूर-दूर तक विजय की थीं।

११. **मत्स्य**—आधुनिक जयपुर, भरतपुर, अलवर के स्थान पर उस समय मत्स्य जनपद बसा था। इसकी राजधानी विराट नगरी थी, जिसे आज बैराट कहते हैं। कहा जाता है कि महाभारत काल में यही विराट नगर पाण्डवों के गुप्तवास का स्थान था।

१२. **शूरसेन**—शूरसेन जाति के नाम पर मथुरा के आसपास वाले प्रान्त का नाम शूरसेन पड़ा। इसे वर्तमान ब्रज का पूर्ववर्ती कह सकते हैं। इसकी राजधानी मथुरा थी।

१३. **अस्सक**—यह राज्य दक्षिण में गोदावरी के तट पर था। इसकी राजधानी पोतन या पोतलि थी। कहा जाता है कि ये पहिले दक्षिण की ओर बसे थे पर बाद को मथुरा और अवन्ति के बीच वाले प्रदेश तक आये।

१४. **अवन्ति**—यह जनपद आज के पश्चिमी मालवा के स्थान पर था। इसकी राजधानी उज्जयिनी थी। इस राज्य में चण्ड प्रद्योत का वंश राज्य करता रहा। इसका संघर्ष बहुधा मत्स्य राज्य से होता रहा। इसके दक्षिणी भाग का प्रमुख नगर माहिष्मती था। इस नगर में पहिले हैहय वंश का राज्य था। इस वंश में सहस्रबाहु बहुत प्रसिद्ध हो चुका है।

१५. **गान्धार**—उस समय आधुनिक अफगानिस्तान का दक्षिणी-पूर्वी भाग गान्धार कहलाता था। इसमें पंजाब का पश्चिमी भाग और कुछ काश्मीर का दक्षिणी भाग भी सम्मिलित था। इसकी राजधानी तक्षशिला थी। तक्षशिला उस समय विद्या और कला का भारी केन्द्र था। वहाँ बहुत दूर-दूर तक के विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए आते थे। प्रथम मौर्य सम्राट का अध्ययन काल भी यहीं बीता था।

१६. **काम्बोज**—इस जनपद में गान्धार का उत्तर वाला और काश्मीर का भाग सम्मिलित था। इसका उल्लेख साहित्य में सदा गान्धारों के साथ-साथ हुआ है। इसकी राजधानी राजपुर थी।

राजनीतिक अवस्था—इन महाजनपदों के अतिरिक्त उस समय छोटे-छोटे अन्य जनपद भी थे जो इन्हीं में से किसी न किसी एक के प्रभाव में रहते थे। यथा कपिलवस्तु के शाक्य जो कोसल और मल्ल के बीच थे, अस्सक के पूर्व में कलिंग था और आजकल के पंजाब में केकय और मद्रक थे। इस प्रकार भारतवर्ष उस समय अनेक भागों में बँटा था, पर इनकी राजनीतिक व्यवस्था भिन्न-भिन्न थी। एक दूसरे के अधीन न था। इसका फल यह हुआ कि देश में केन्द्रीकरण (Centralization) बहुत देर में आ सका, और आकर

भी अधिक दिन तक न टिक सका। इनमें से कुछ राज्य राजतांत्रिक (Monarchical) थे, जिनका शासक एक राजा होता था, जैसे काशी, कोसल और कुछ गणतांत्रिक (Democratic republic) जिसमें एक समूह का शासन होता था। यथा वज्जि, मल्ल, लिच्छवि, विदेह, आदि। इसके अतिरिक्त उनमें से कुछ ऐसे हैं जो एक दूसरे को हड़पने के चक्कर में रहते थे।

गणराज्यों का शासन विधान—बौद्ध साहित्य में उस समय के गणराज्यों के विधान की चर्चा है, विशेषकर जातकों में। इस प्रकार का राज्य एक प्रधान की अध्यक्षता में रहता था, पर प्रधान को भी वे राजा ही कहते थे। हमें यह ज्ञात नहीं कि यह कितने दिन के लिए अथवा किस आधार पर चुना जाता था। स्वयं बुद्ध के पिता शुद्धोदन इसी प्रकार के एक प्रधान थे। यह निश्चित है कि गण के सम्मान की कोई भी बात बिना सामूहिक निश्चय के की ही नहीं जा सकती थी। वैसे राष्ट्र का शासन एक संस्थापिका सभा द्वारा होता था। वह सभा **संस्थागारों** में मिलती थी, जिसमें युवक, वृद्ध, धनी और दरिद्र सभी उपस्थित होते थे। सदस्यों की संख्यापूर्ति गणपूरक नाम का पदाधिकारी करता था। ये लोग प्रस्तावित विषय पर ही बोल सकते थे, और प्रस्ताव को प्रतिज्ञा कहते थे। **संस्थापिका** की कार्यवाही के लिए सदस्यों की न्यूनतम संख्या (Quorum) निश्चित थी। सदस्यों की उपस्थिति का भार गणपूरक पर ही रहता था। इस समय संस्थापिका में जो वाचन (Reading) होता था उसे ज्ञप्ति कहते थे। दूसरे वाचन को ज्ञप्ति द्वितीया, और तीसरे को ज्ञप्ति तृतीया कहते थे। आजकल के बैलट (Ballot) के स्थान पर वे शलाका का प्रयोग करते थे। वे मतदान इकट्ठा करने वाले को शलाका ग्राहक कहते थे। ये शलाकाएँ लकड़ी की ही होती थीं। सभा में पूर्ण अनुशासन रहता था, और अनुशासन को वे **विनय** कहते थे। इसी आधार पर उसका सभापति विनयधर कहा जाता था।

सामाजिक अवस्था—समाज में इस समय न तो वैदिक काल की उदारता थी और न महाकाव्य काल की जटिलता। हमें व्यवसाय और विवाह दोनों के विषय में पर्याप्त स्वतंत्रता मिलती है। अनेक ब्राह्मण कृषि, और व्यापार का कार्य करने लगे थे। वस्तुतः यही समय है, जब से ब्राह्मणों के सम्मान में कमी आने लगी, क्योंकि वे अपनी जीविका के लिए दूसरों की ओर न ताक सकते थे।

यही नहीं हमें ऐसे भी उल्लेख मिलते है, जिनमें क्षत्रिय भी कृषि कर्म करते थे। साथ ही क्षत्रिय ब्राह्मणों की भाँति ईश्वरचिंतन को और पढ़ने को अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझने लगे थे। वे अब अन्धे रूप से ब्राह्मणों के पीछे न चलना चाहते थे। विवाह अन्तर्जातीय होने लगे थे। यथा कोसल के राजा प्रसेनजित ने श्रावस्ती के मालाकार की कन्या के साथ विवाह किया

था। दिव्या व दान में तो एक स्थल पर यहाँ तक लिखा है कि एक ब्राह्मण-कुमारी ने शूद्र कुमार के साथ विवाह किया। साधारण रूप से विवाह माता पिता की इच्छा पर होते थे, पर स्वयम्वर और गान्धर्व रीति के विवाह भी होते थे। यथा अवन्ति के राजा चण्डप्रद्योत की कन्या का गान्धर्व विवाह वत्स के राजा उदयन के साथ हुआ था, हाँ बाल विवाह की चर्चा हमें नहीं मिलती। इस समय भी दहेज की प्रथा प्रचलित थी। श्रावस्ती के एक धन कुबेर श्रेष्ठी द्वारा ५४ कोटि धनराशि देने का उल्लेख मिला है। विवाह बहुधा वयस्क (बालिग) होने पर ही होते थे। धम्मपद में राजगृह की एक कन्या की चर्चा है जो १६ वर्ष की हो चुकी थी और अविवाहित थी। नैतिक स्तर इस समय भी उच्च था। हमें इसका ज्ञान वधुओं को दी गयी कुछ शिक्षाओं से हो जाता है। अंगुत्तर निकाय में लिखा है कि स्त्री को घर के कार्य करने में किसी प्रकार का प्रमाद न करना चाहिए। उसे पति की इच्छानुसार चलना चाहिए, तथा कम व्यय करके जीवन व्यतीत करना सीखना चाहिए।

आर्थिक जीवन—इस समय भी हमारा प्रधान व्यवसाय कृषि ही था। ईख और धान की खेती खूब होने लगी थी। खेत अधिकतर छोटे-छोटे थे। पर कहीं-कहीं बहुत बड़े खेतों की चर्चा भी हैं, जिनमें ५०० हलों की आवश्यकता होती थी। पर खेती के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय भी कम न थे। दीघ निकाय के आधार पर २३ व्यवसायों की तालिका मिलती है, इनमें से ११ युद्ध सम्बन्धी थे, और १२ दूसरे। अन्य स्थलों पर भी हमें १८ व्यवसाओं का ज्ञान होता है, जिनमें से बहुत ही प्रमुख यहाँ दिये जाते हैं। यथा—

१. मालाकार २. रथकार, ३ रजक, ४. कुंभकार ५. मुद्रिक (गिनने वाला), ६. नलकार (टोकरे बनाने वाला) ७. चर्मकार, ८. चित्रकार, ९. अश्वारोही, १०. चेलक (युद्ध का झंडा रखने वाला) ११. धनुर्धर, १२. रथिक १३. चलक व्यूह रचना में प्रवीण), आदि।

श्रणी—व्यवसायी लोग श्रेणियों में बँटे थे। एक श्रेणी के मुखिया को श्रेष्ठी कहते थे। कहीं-कहीं ऐसे गाँव के गांव बसे थे। कि जिनमें एक ही व्यवसाय के लोग रहते थे।

नगर—इस समय के नगर दुर्गों के समान बनाये जाते थे। नगर के चारों ओर परकोटा होता था। उसी के अन्दर घर, महल, बाजार, तथा अन्य सभी आवश्यक साधन रहते थे। इसका सबसे उत्तम उदाहरण हमें राजगृह नगर में मिलता है जिसे अजातशत्रु ने तीन ओर से पर्वतों से

घिरा होने पर भी आक्रमण के भय से चौथी ओर एक पहाड़ जैसी दीवार से घेर लिया था। जातक कथाओं में इस समय सात मंजिलों के घरों का उल्लेख है।

गाँव—इस समय नगरों के अतिरिक्त, दो तरह के गाँव होते थे। एक तो व्यावसायिक, दूसरे वे जिनमें कृषक समुदाय तथा उसी से सम्बन्धित जनसमुदाय रहता था। इस प्रकार के गांव के साथ चरागाह भी रहते थे, जिनमें पशु स्वच्छन्दता से विचरते थे। ये ग्रामनिवासी सहयोग से कार्य करते थे जिसका प्रमाण हमें उनके द्वारा सार्वजनिक भवन, कुआँ, अथवा मन्दिर बनाने में मिलता है। ये लोग राज्य को अपनी उपज का ६ठे भाग से लेकर १२वें भाग तक दे देते थे। गाँव का प्रबन्ध ग्रामसभा करती थी। इसका प्रधान ग्रामभोजक होता था और उसका चुनाव ग्रामसभा से ही होता था। गाँव की उन्नति, रक्षा, और न्याय का उत्तरदायित्व ग्राम सभा पर था। उस समय की समृद्धि सचमुच इसी विकेन्द्रीकरण (Decentralization) के ऊपर पर आधारित थी। जैसा कि चार्ल्स मेटकाफ ने एक स्थल पर कहा है: **"ग्राम की ये इकाइयाँ छोटी-छोटी स्वायत्त संस्थाएँ हैं, जिनमें उनकी जरूरत की लगभग सभी वस्तुएँ रहती हैं, वे बाहरी नियन्त्रण से सर्वथा मुक्त रहती हैं और युगों तक ऐसी ही चलती रहेंगी।"**[1] आज भी हम अपने समस्त वैज्ञानिक साधन लेकर उतना सुख नहीं उठा पाते जितना उस समय के लोग बिना इन साधनों के उठा लेते थे।

व्यापार—इस समय तक हमारा व्यापार काफी बढ़ चुका था। देश में तथा देश के बाहर हम सभी से अपने व्यापारिक सम्बन्ध बना चुके थे। व्यापारिक वर्ग उस समय का एक अत्यन्त धनी वर्ग था। इसके लिए उसके काफिले के काफिले (सार्थ) चलते थे। क्योंकि उस समय इतनी सुरक्षा न हो सकती थी कि व्यक्ति गत व्यापारी दूर देश तक जा सकें। व्यापार मुख्य रूप से मलमल, कढ़े हुए कपड़े, रेशमी वस्त्र, औषध, सुगन्धित द्रव्य, आभूषण और अस्त्र-शस्त्र का होता था। जातक कथाओं में बैलगाड़ियों द्वारा व्यापारिक काफिलों के चलने का उल्लेख हैं। इनमें ५०० से लेकर १००० तक बैलगाड़ियाँ चलती थीं। इनकी यात्रायें भी बहुत लम्बी होती

---

1. The village communities are little republics having nearly everything they can want within themselves, and almost independent of any foreign relations. They seem to last where nothing else lasts."

—Sir Charles Metcalfe; Industrial Arts of India, P. 320.

थीं। गाँधार जातक में एक सार्थ (काफिला) द्वारा विदेह से गाँधार तक १२०० मील की यात्रा की चर्चा है। जलमार्ग से गंगा नदी में जहाजों के आगमन की चर्चा हमें महाजनक जातक में मिलती है।

विदेशों में लंका, सुवर्णभूमि, और बेबीलोन से भारत का समुद्री व्यापार होता था। महाजनक जातक के आधार पर हमें विदित होता है कि चम्पा से सुवर्णभूमि को एक जहाज से सात सार्थवाहों का माल लेकर सात सौ योजन लम्बी यात्रा सात दिन में की गयी थी। उस समय हमारे यहाँ जहाज बहुतायत से बनाये जाते थे। एक जातक कथा में ३०० जहाज बनाने का आदेश बुद्ध द्वारा आनन्द को दिया गया है।

मुद्रा—इस समय की मुद्राप्रणाली बहुत व्यवस्थित तो न हो पायी थी, पर हमें कार्षापण नाम के ताँबे के सिक्के का उल्लेख बार-बार मिलता है। इसके अतिरिक्त सोने के प्राचीन सिक्के निष्क, सुवर्ण, और धरण भी चलते थे। कहीं कहीं कार्षापण सोने और और चाँदी के भी बने मिलते हैं। ये लोग सिक्के बनाने के लिये धातु की चद्दर के छोटे-छोटे टुकड़े करके उस पर जनपद अथवा श्रेणी का चिह्न बना देते थे। उस समय श्रम के मूल्य का ज्ञान भी हमें मिलता है। एक श्रमिक (मजदूर एक बार का भोजन १ कार्षायण में प्राप्त कर लेता था। इसके अतिरिक्त बैलों की एक जोड़ी का मूल्य २४ कार्षापण, पर घोड़े इस समय इनसे कहीं मँहगे होते थे, उनका मूल्य १००० से ६००० कार्षापण तक मिलता है। रथ का किराया ८ कार्षापण प्रति घंटा था। इस प्रकार उनका आर्थिक जीवन अब नियमित और सुखी था।

धार्मिक अवस्था—महाकाव्य काल में हम देख चुके हैं कि धार्मिक क्षेत्र में आजकल के हिन्दू धर्म का स्वरूप जम चुका था, पर साथ ही उसमें इतनी जटिलता आ गयी थी, कि हमारा एक अंग दूसरी ओर चलने लगा था। यही प्रवृत्ति बढ़ती गयी, आगे चलकर धार्मिक आन्दोलनों में फूट निकली, अधिकांश लोगों को अभी भी उसी धर्म पर श्रद्धा थी, वे अवतारवाद, कर्मवाद, यज्ञ, अनुष्ठान, और दान-पुण्य में पूरी श्रद्धा रखते थे, मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक सभी व्यापार नियमित हो चुके थे। उसे इस युग में मोक्ष की प्राप्ति की कामना प्रबल हो चली थी। वह एक नहीं अनेक यत्न सोचने और करने लगा था कि उसे इन सांसारिक बन्धनों से छुटकारा मिल जाय। सबसे बड़ी बात इस समय यह थी कि उनके सारे कृत्य ब्राह्मण वर्ग पर निर्भर थे। वही गुरु थे, वही पुरोहित, और वही यज्ञादि के कर्त्ता, अतः अन्य वर्ग इस वर्ग के आश्रित से हो गये थे। पर इस प्रकार की स्वतन्त्रता की कमी अन्य बर्ग भी अनुभव करने लगे थे। ज्ञान की खोज में रहने वाले अब अधिक

शास्त्रार्थ करने लगे थे, क्योंकि शास्त्र (दर्शन) का मूल कहना क्या है, इसी बात पर झगड़े उठ खड़े हुए थे। अतः सूत्रों के भाष्य बनने लगे और धर्म के क्षेत्र में अलग-अलग धाराएँ बहने लगी। इसी के साथ कुछ और भी कारण जुट गये, जिनके फलस्वरूप इस युग ने धार्मिक आन्दोलनों को जन्म दिया। यथा

१—यही नहीं इस काल में पृथ्वी पर एक अनोखी धर्म की लहर जगी। भारत में ही नहीं अन्य देशों में भी यही स्थिति हुई। यथा-चीन में कनफ्यूसियस और लाओत्से जैसे महात्माओं ने अपनी नैतिक जीवन की वाणी फूंकी। ईरान में लगभग इसी समय जरथुस्त्र अपनी धार्मिक शिक्षा का प्रचार कर रहा था। जूडिया में हिब्रू ने यज्ञ और बलिदानों के विरुद्ध स्वर ऊँचा किया। यूनान में अनेक ऐसे दार्शनिक हुए जिन्होंने प्रकृति के रहस्यों को जानने की चेष्टा की (डिमाक्रिटस व हिराक्लिटस)।

२—भारत में ब्राह्मण वर्ग की दूसरे वर्गों पर अधिकार रूप से शासन करने की प्रवृत्ति अन्य वर्गों को खलने लगी। ठीक भी है, इस समाज का चौथाई से अधिक अंश वेदादि पढ़ने का भी अधिकारी न रह गया था। दूसरी ओर जिन महात्माओं ने अपने-अपने नये मार्ग अपनाये, उन्होंने जाति-पाँति के बन्धन को स्थान न दिया था।

३—पूर्व की ओर भारत में वैदिक धर्म इतना प्रबल न हो सका था कि दूसरे उसके विरुद्ध खड़े न हो सकें। इस ओर गणराज्य थे, जिनमें भारी चेतना थी।

४—फिर जिन महात्माओं ने धर्म की नयी ज्योति दी वे स्वयं उच्च कुल के थे, और उनकी निर्भीक वाणी में प्रभाव था।

५—सर्वसाधारण अब कर्मकाण्ड से इतना ऊब गया था कि दूसरा मार्ग चाहता था। लोग सीधा और सरल मार्ग अपनाना चाहते थे।

६—पाली ग्रन्थों से विदित होता है कि जब बुद्ध ने अपना धर्म प्रचार किया तो उन्हें ६२ छोटे-छोटे सम्प्रदायों का सामना करना पड़ा। यथा आजीवक, जटिलक, परिव्राजक, मुण्ड, श्रावक, गोतमक आदि।

७—अन्त में कहना न होगा कि मनुष्य की शक्ति में जैसे-जैसे क्षीणता आती गयी, वह नये परिवर्तन और साधन खोजने लगा। उसने अपनी उन्नति नये मार्ग अपनाने में ही समझी विशेषकर इसलिए कि अब वह अन्धे रूप से किसी बात को न मानकर तर्क के आधार पर चलना चाहता था। अतः हमारे यहाँ उत्तरी भारत में जैन व बौद्ध धर्मों के बीज पड़े, उत्पन्न हुए, बढ़े, फैले और फूले।

(आ) जैन धर्म

यों तो धार्मिक दृष्टिकोण से जैन धर्म को माननेवाले अपने धर्म को बहुत प्राचीन मानते हैं, उनका कहना है कि उनके २४ तीर्थंकर हुए[1] जिनमें अन्तिम महावीर थे। पर हम ऐतिहासिक रूप से दो को ही जानते हैं। महावीर के पहिले पार्श्वनाथ हुए थे, जिनको जैन २३वें तीर्थङ्कर मानते हैं। जैन धर्म के प्रथम आचार्य ऋषभदेव थे। वे अयोध्या में सूर्यवंश में उत्पन्न हुए थे। इनके पश्चात् २२वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय जैन धर्म बहुत कुछ प्रकाश में आ जाता है। पार्श्वनाथ महावीर स्वामी से लगभग २५० वर्ष पूर्व हो चुके थे। आप काशीनरेश अश्वसेन तथा उनकी पत्नी वामा की सन्तान थे। ये बड़े ही लोकप्रिय रहे। युवा होने पर इनका विवाह द्वारिका के राजा नरवर्मन की पुत्री प्रभावती से हुआ था। तीस वर्ष की आयु तक ये गृहस्थ धर्म का पालन करते रहे। इसके अनन्तर तपस्या करने निकल पड़े। तिरासी दिन घोर परिश्रम और चिन्तन के पश्चात् आपको "केवल" ज्ञान प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् आप १०० वर्ष की आयु तक अपने धर्म का प्रचार करते रहे। अन्त में पारसनाथ की पहाड़ियों पर जाकर आपने मुक्ति पायी, और इस संसार को प्रकाश प्रदान कर अपने भौतिक शरीर को त्याग दिये। अपने धर्म में आपने निम्नलिखित बातों पर जोर दिया था:—

१. **अहिंसा**—यह आपका प्रमुख सिद्धान्त था। यह सिद्धान्त वैसे तो गीता आदि में भी बहुत पहिले से दिया गया है, पर वैदिक बलि का विरोध करने के लिए इसकी विशेष आवश्यकता थी। दूसरे यह अनुभव की बात थी कि यह सिद्धान्त सभी धार्मिक कृत्यों का मूल है, क्योंकि बिना इसके इन्द्रिय निग्रह ठीक से न हो सकता था।

२. **सत्य**—सत्य का सिद्धान्त कहने में बड़ा सरल प्रतीत होता है, पर यह सबसे कठिन है। आपका कहना था कि जो सत्य का आचरण करेगा, वह

---

[1]

१ ऋषभदेव	९ पुष्पदन्त	१७ कुंठनाथ
२ अजितनाथ	१० शीतलनाथ	१८ अर्हनाथ
३ सम्भवनाथ	११ श्रेयांश	१९ मल्लिनाथ
४ अभिनन्दन	१२ वंशपूज्य	२० मुनीश्वरनाथ
५ सुमतिनाथ	१३ विमलनाथ	२१ ननुनाथ
६ पद्मप्रभु	१४ अनन्तनाथ	२२ नेमिनाथ
७ सुपार्श्वनाथ	१५ धर्मनाथ	२३ पार्श्वनाथ
८ चन्द्रप्रभु	१६ शान्तिनाथ	२४ महावीर

दुष्कर्म कर ही नहीं सकता, क्योंकि मनुष्य जब भूल करता है, तो यही विचार कर कि उसका पाप खुलेगा नहीं। वह उसे छिपा लेगा। यदि वह सत्य का आचरण करता है, तो वह दूसरे के प्रति बुरी भावना भी न रख सकेगा। इसके आधार पर सबसे अधिक आत्मबल प्राप्त होता है। बहुतों की धारणा रहती है, कि अब झूठ बोलने वाला सुखी, और सच बोलने वाला दुःखी होता है, तो सत्य को कैसे अपनाया जा सकता है, इसका सीधा सा उत्तर आपने वह दिया कि दिन-रात झूठ बोल कर एक बार सत्य बोलने से इसका ज्ञान नहीं होता। यह तो पूर्ण सत्य का आचरण करने से होता है, और यदि ऐसा न होता तो प्रत्येक धर्म में इसको इतना महत्व न मिलता।

३. **अस्तेय**—इसका अर्थ है चोरी न करना। मनुष्य चोरी केवल धन की ही नहीं करता वरन् विचारों की करता है। वह कभी-कभी अपने को भी धोखा देता है। अतः आपने इसी दृष्टि से इस सिद्धान्त को अपनाया।

४. **अपरिग्रह**—यह भी एक अटल सिद्धान्त है। यदि कोई दूसरे के धन से धनी होना चाहे तो गलत है, वह कभी भी धनी नहीं हो सकता, अतः पार्श्वनाथ जी ने ये चार अटल सिधान्त अपने धर्म के मूल में रखे और जन-साधारण से कहा कि वह सदाचरण करे, उसे इसी मार्ग से बिना किसी जाति-पाँति के बन्धन के उसे मुक्ति प्राप्त होगी। पार्श्वनाथ के पश्चात् उनके धर्म का प्रचार २५० वर्ष तक किन आचार्यों ने किया यह ज्ञात नहीं। पर इनका पूरा समर्थन महावीर स्वामी ने किया।

महावीर—जैन धर्म के यह सबसे प्रमुख ऐतिहासिक आचार्य हुए हैं। आपने ही वस्तुतः जैन धर्म को एक व्यापक धर्म का स्वरूप दिया। आपका जन्म कश्यप गोत्री क्षत्रिय परिवार में वैशाली के समीप कुण्ड ग्राम में हुआ था। आपके माता-पिता बड़े वैभवशाली परिवारों के सदस्य थे। पिता सिद्धार्थ ज्ञातृकों के मुखिया थे, माता त्रिशाला लिच्छवियों के प्रतिनिधि राजा चेटक की बहिन थी। यह वही चेटक था जिसकी कन्या चेल्लना का विवाह मगध के राजा विम्बिसार से हुआ था। महावीर की जन्मतिथि बहुत सुनिश्चित तो नहीं, पर अधिकतर ६९९ ई० पू० मानी जाती है।

जन्म से ही वर्धमान वैराग्य प्रवृत्ति के थे, पर इनके माता-पिता ने इन्हें गृहस्थ बना ही दिया। उन्होंने इनका विवाह कुण्डिन्य गोत्री राजकुमारी यशोदा से कर दिया। इस दम्पति से एक कन्या हुई जिसका नाम अणोज्जा रखा गया। परन्तु महावीर बहुत समय तक इस जीवन को न चला सके। अपने माता-पिता के मरने के पश्चात् आप ३० वर्ष की आयु में अपने भाई नन्दिवर्धन से आज्ञा लेकर तपस्या करने निकल पड़े।

आपने तेरह वर्ष तक घोर तप किया, और अन्त में जृम्भिका ग्राम के समीप एक शाल वृक्ष के नीचे आपको कैवल्य प्राप्त हुआ। इसी के अनन्तर आपको अर्हत, जिन, और केवलिन के पदों से विभूषित किया गया। जो मनुष्य अपनी इन्द्रियों को जीत लेता है, उसको जिन कहा जाता है। इसी आधार पर आपके चलाये हुए धर्म का नाम जैन धर्म पड़ा। जिन की पदवी पाकर महावीर ३० वर्ष तक विभिन्न स्थानों में अपने धर्म का प्रचार करते रहे। मगध, अंग, मिथिला, कोसल आदि राज्यों में विशेषकर आपका भ्रमण हुआ। इस प्रकार ७० वर्ष की आयु प्राप्त कर आपने ५२७ ई० पू० यह असार संसार त्याग दिया।

आपका उपदेश—अपने पूर्ववर्ती आचार्य पार्श्वनाथ के उपदेशों में आपने एक बात और जोड़ दी। यह थी ब्रह्मचर्य का पालन। आपका विश्वास था कि बिना ब्रह्मचर्य के पालन के सत्य, अहिंसा आदि की रक्षा सम्भव ही नहीं है। यही नहीं आपका कथन था कि मनुष्य सत्य को नही पहचानता, अतः वह भौतिक (Physical) सुखों के चक्कर में पड़ता है, इससे बचने का केवल एक ही उपाय है, और वह है इन्द्रियदमन। ये स्वयं भी सदा नंगे फिरते रहते थे। इन्हें किसी प्रकार की लज्जा अथवा संकोच न था। आप अपने शरीर को दिशाओं के वस्त्र से ढकना पर्याप्त समझते थे। (दिक्+अम्बर) इसी आधार पर आप दिगम्बर कहलाये। आपने अपने धर्म में वेदों को प्रमाण नहीं माना। आपके मतानुसार यज्ञ आदि बिल्कुल व्यर्थ थे। उनमें की गयी हिंसा से आपको तीव्र वेदना होती थी। इसीलिए यज्ञादि को धर्म मानने वालों के विरुद्ध आपने अपना नया धर्म चलाया, और यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि प्रत्येक अणु में जीव होता है, अतः मनुष्य को बहुत सम्हल कर चलना चाहिये, उसे किसी भी जीव का जीवन लेने का कोई अधिकार नहीं। यद्यपि इस सिद्धान्त में सत्यता है, पर इनके मानने वालों ने कहीं-कहीं इसका दुरुपयोग भी किया था, जैसे एक जैन राजा ने पशु की हत्या करने पर मनुष्य को प्राण-दण्ड दे डाला था। आपका विश्वास परमात्मा की सत्ता में नहीं है। आपका कहना हैं, कि जीवात्मा का ही उत्कृष्ट रूप शुद्धतः परमात्मा है, उसी में सारी शक्ति है, उसकी सत्ता कहीं अलग नहीं है। इसीलिए इस शरीर के साथ जो बन्धन (ग्रन्थियाँ) आत्मा को माया की ओर घसीटती हैं, उनसे बचने का प्रयत्न करना चाहिये। इनके लिए व्रत, और तप तथा योग साधन आवश्यक हैं। इनमें तीन साधन प्रमुख थे, जिनको आपने त्रिरत्न कहा है।

१. **सम्यक् ज्ञान**—अर्थात् सत्य और पूर्ण ज्ञान जो सर्वज्ञ तीर्थंकरों के उपदेशों के अध्ययन से हो सकता है।

२ **सम्यक दर्शन**—तीर्थंकरों में पूर्ण विश्वास और श्रद्धा।

३. **सम्यक् चरित्र**—अर्थात् नैतिक बल के साथ आचरण करना। आपका कहना था कि केवल ज्ञान और श्रद्धा से क्या यदि वे जीवन में सदाचार की पुष्टि नहीं करते। आपने तप के दो प्रकार बतलाये हैं। एक बाहरी शुद्धता के लिए, और दूसरा आंतरिक शुद्धता के लिए। बाहरी शुद्धता प्राप्त करने के लिए उपवास करना, (चान्द्रायण)[1] भिक्षा से भोजन प्राप्त करना, शरीर को कष्ट देना और रसों को त्यागना आदि सम्मिलित हैं। आन्तरिक शुद्धता के लिए विनय, सेवा, स्वाध्याय, ध्यान, और शरीर त्याग तक आवश्यक हैं।

धर्म का प्रचार—आपने अपना धर्म प्रचार सभी वर्गों के लोगों में किया। आपके अनुयायी और सहायकों में केवल साधारण जनता ही न थी, बल्कि बिम्बिसार और अजातशत्रु जैसे राजा भी थे। इनमें लिच्छवि और मल्लों जैसी गण जातियाँ थीं। आपके प्रभाव का केन्द्र वैशाली रहा। इसी समय मक्खली पुत्त गोसाल भी लगभग इन्हीं सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे थे, पर वे महावीर के कट्टर विरोधी थे। कहा जाता है कि श्रावस्ती में महावीर से उनका शास्त्रार्थ हुआ, और उसमें गोसाल की पराजय हुई। यही नहीं उनकी पराजय के एक सप्ताह पश्चात् ही उनकी मृत्यु भी हो गयी। पर महावीर इस घटना के पश्चात् भी १६ वर्ष तक जीवित रहे। महावीर को अपने धर्म के प्रसार में उतनी सफलता नहीं मिली जितनी उनके समकालीन बुद्ध को। इसका कारण यह था कि इनके धर्म में व्रत आदि के ऐसे नियम थे जो हर एक के वश के न थे। ब्राह्मण वर्ग तो इनके विरुद्ध था ही, क्षत्रियों का भी वह वर्ग जो सैनिक कार्य में लगा रहता था, अहिंसा के उस उच्च आदर्श का पालन न कर सका।

जैन अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में एक अकाल पड़ा, जो बारह वर्ष तक रहा। इसी समय भद्रबाहु नामक एक जैन आचार्य ने अपने अनुयायियों के साथ दक्षिण को प्रस्थान किया और मैसूर में जाकर **श्रवनबेल-गोला** के समीप बस गये। इस प्रकार जैन धर्म दक्षिण की ओर गया। इधर उत्तरी भारत में भद्रबाहु के जाने के पश्चात् उनके शेष अनुयायियों ने अनुशासन में शिथिलता करना प्रारम्भ कर दिया। अकाल के पश्चात् भद्रबाहु के शिष्य लौट आये, पर आचार्य नैपाल की ओर चले गये। भद्रबाहु के अनुयायियों ने अपना एक संगठन अलग-सा कर लिया क्योंकि वे अब भी उसी कट्टरता से

१—चान्द्रायण व्रत में मनुष्य पहिले दिन यदि १५ ग्रास भोजन करता है तो दूसरे दिन १४, फिर १३ और इसी प्रकार १ तक कम करता फिर चन्द्रमा की कला के साथ एक ग्रास बढ़ाता है, और दूसरे १५ दिन पश्चात् पुनः अपना पूर्ण भोजन प्राप्त कर सकता है।

जैन सिद्धान्तों का पालन करते थे। इस शाखा का नाम दिगम्बर सम्प्रदाय हुआ। इसी समय से उत्तर के जैनियों ने अपने को श्वेताम्बर कहना प्रारम्भ कर दिया, क्योंकि वे नंगे रहना पसन्द न करते थे, और श्वेत वस्त्र धारण करने लगे।

जैन संगीति—३०० ई० पू० के लगभग जैनियों ने पाटलिपुत्र में एक महान् संगीति (सभा) बुलायी। इसमें उन्होंने अपने धर्मशास्त्रों को इकट्ठा किया, और उनमें समय के अनुसार सुधार किया। इन सुधारों के पश्चात् इनके धर्मशास्त्रों का जो रूप निश्चित हुआ उसे दिगम्बरों ने स्वीकार नहीं किया।

दूसरी संगीति—कुछ ही काल में श्वेताम्बरों के इन धर्मशास्त्रों में भी गड़बड़ी आ गयी, अतः महावीर की मृत्यु के पश्चात् ९८० वें वर्ष में (लगभग ५१२ ई०) गुजरात प्रान्त के वलभी नामक स्थान पर एक दूसरी संगीति बुलायी गयी। यह क्षमा श्रमण गणधर की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। इसका उद्देश्य धार्मिक ग्रन्थों को एकत्र करके लिपिबद्ध करना था। इस समय तक इनको धर्मशास्त्र के १२ अंगों का ज्ञान न रह गया था।[1] अतः इसके पश्चात् आज तक इसमें केवल ११ अंग ही रह गये।

जैन धर्म का भारत पर प्रभाव—यद्यपि इस धर्म का जन्म पूर्वी भारत में हुआ था पर आज यह पश्चिमी भाग में अधिक है, क्योंकि समय की गति के साथ यह उस ओर को चलता रहा और जन्म-स्थल पर अन्य अनेक विरोधी तत्व आते गये। चूँकि इससे अनेक सिद्धान्त हिन्दू धर्म से मिलते जुलते थे। अतः यह अपनी जड़ें भारत में अधिकाधिक जमा सका। मौर्य काल में इसे मगध सम्राटों का आश्रय न मिला अतः यह पश्चिम की ओर चलकर मथुरा और उज्जैन में पनपने लगा। मथुरा में जैन अभिलेख भारी संख्या में पाये जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि यह स्थान उस समय इस धर्म का केन्द्र रहा होगा। इसके अतिरिक्त उज्जैन की महत्ता भी कम नहीं रही। उज्जैन में एक आचार्य कालक रहते थे। कहते हैं एक बार विक्रमादित्य के पिता गर्दभिल्ल ने कालकाचार्य को अपमानित किया। इससे क्रुद्ध होकर अपने अपमान का बदला लेने की भावना से कालकाचार्य शकों की ओर गये। आपने शक क्षत्रपों को गर्दभिल्ल पर आक्रमण करने के लिए प्रस्तुत कर लिया और उन्होंने गर्दभिल्ल पर आक्रमण कर उसे तंग भी किया, पर उसके पुत्र विक्रमादित्य ने शकों को पुनः हराकर अपना साम्राज्य पा लिया। इसी के उपलक्ष्य में उसने (विक्रमादित्य) ५८ ई० पू० में एक नई तिथि का

१—यह कहना न होगा कि भद्रबाहु ने स्थूलभद्र को जब शिक्षा दी थी तो यह कह दिया था, कि वे १४ पूर्वी में से केवल दस का प्रचार करें।

सूत्रपात किया जिसे शक सम्वत् कहते हैं। आज भी इसीकी बदौलत राजस्थान, मालवा, गुजरात, और मथुरा के क्षेत्र में जैन सम्प्रदाय के लोग अधिक संख्या में पाये जाते हैं। ये अधिकांश वैश्य वर्ग के लोग हैं। ये धनी तथा सम्पन्न हैं। इनके द्वारा स्थान-स्थान पर विद्यालय, धर्मशाले, और मन्दिर बनवाये गये हैं। इन सभी के वैभव से भी उनकी समृद्धि का ज्ञान होता हैं। जैन धर्म इस प्रकार भारत में विखरा हुआ अवश्य है, पर बौद्ध धर्म की भाँति लुप्त नहीं हुआ।

(इ) बौद्ध धर्म

वैदिक धर्म के विरुद्ध दूसरी आवाज उठानेवाले महात्मा बुद्ध थे। आपने अपने समय में जनसाधारण में ऐसी जान फूंक दी कि न केवल भारत बल्कि चीन, जापान, श्याम, और लंका सभी आज तक इनके ऋणी हैं। जैन धर्म की चर्चा करते हुए यह कहा जा चुका है कि यह केवल किसी आचार्य की प्रतिभा न थी, बल्कि उस युग की चेतना थी, उस युग की पुकार थी, जिसके फल-स्वरूप नये-नये धर्मों की लहरें उठीं। और जगत के कोने-कोने में फैलीं। इनके द्वारा चलाये गये धर्म के जहाँ अन्य वे सभी कारण थे जो जैन मत वालों को प्रेरित किये, वहाँ कुछ जैनियों की निज की कमजोरियाँ भी थी। जिससे जनता को पूर्ण सन्तोष न मिल सका था। बुद्ध जी को वस्तुत: एक कचोट थी कि मनुष्य का दुःख कैसे दूर हो, उसे कैसे सुखी बनाया जाय। अत: बड़े से बड़े वैभव को त्याग कर, और अन्य अनेक कष्ट उठाकर भी आपने अपने विचारों को न छोड़ा, और अन्तत: एक चिरस्थायी मत का सूत्रपात किया।

जीवन वृत्त—गौतम बुद्ध का असली नाम सिद्धार्थ था। आपका जन्म ५६३ ई० पू० लुम्बिनी वन में हुआ था। आपके पिता शाक्यवंशीय क्षत्रिय थे, जिनका गणराज्य नैपाल की तराई में था। इसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। मायादेवी आपकी माता थीं, और जब वे गर्भवती थीं, तो एक बार उन्होंने इच्छा प्रकट की कि वे अपने पिता के घर जाना चाहती हैं। उनकी इच्छानुसार उन्हें भेजा गया। मार्ग में ही उन्हें प्रसव-वेदना हुई और यही कारण है कि उन्होंने लुम्बिनी वन में सिद्धार्थ को जन्म दिया। यह लुम्बिनी आजकल के रुम्मिनदेई के स्थान पर थी।

सिद्धार्थ बचपन से ही विरक्त बुद्धि के थे। इनके जन्म के पश्चात् ज्योतिषियों का कहना था, कि या तो यह बालक एक सिद्ध महात्मा होगा अथवा चक्रवर्ती सम्राट। शुद्धोदन को इससे बड़ी चिन्ता हो गयी। उन्होंने इनको महात्मा बनकर गृहत्याग से रोकने के लिए अनेक यत्न किये। उन्होंने छोटी ही आयु में इनका विवाह एक अत्यन्त रूपसुन्दरी कन्या यशोधरा से कर दिया। सिद्धार्थ स्वभाव से शीलवान तो थे ही, पिता की आज्ञा

के बाहर न चले, पर विवश होकर कोई कितने दिन बिता सकता है। इनका मन न तो आखेट में लगता था, न बगीचे की सैर में, न इन्हें राज्य से कोई स्नेह था और न वैभव से। ये सदा यही विचारा करते थे कि मनुष्य को इस संसार में क्यों आना पड़ा, उसको किसी ने बनाया भी हो तो कष्ट क्यों दिया? क्या वह इन कष्टों से बच नहीं सकता? इस प्रकार उनकी आयु के २९ वर्ष बीत गये। इसी अवस्था में इनके एक पुत्र रत्न हुआ, जिसका नाम राहुल रखा गया। राहुल के जन्म की घोषणा सुनते ही आपका कहना था "आज मेरे बन्धन की शृङ्खला की एक कड़ी और गढ़ी गयी।"

इस प्रकार भावनाओं में डूबे हुए सिद्धार्थ को उनका सारथी नित्य उद्यान की ओर ले आता था, और सोचता था कि शायद कुमार सिद्धार्थ का मन बहल जायगा, पर दैव को कुछ और ही अपेक्षित था। इस मार्ग में भी नित्य नई घटनाएँ घटीं जिन्होंने सिद्धार्थ के वैराग्य के विचार और भी दृढ़ कर दिये।

एक दिन उन्हें मार्ग में एक वृद्ध मिला। उसे देखकर उन्होंने अपने सारथी छन्न से पूछा कि इसकी यह अवस्था कैसे प्राप्त हो गयी। छन्न ने उत्तर दिया कि यह अवस्था प्रत्येक प्राणी को आती है, और जब मनुष्य की शक्ति क्षीण हो जाती है, तो ऐसा होता है। दूसरे दिन उन्हें एक रोगी से भेंट हुई, उसे देखकर पुनः उन्होने छन्न से पूछा कि यह मनुष्य क्यों पीड़ित है? छन्न ने उत्तर दिया कि प्रत्येक प्राणी को शारीरिक कष्ट होते हैं, और इनसे वह जीवन में कभी भी सर्वथा मुक्त नही रह सकता। तीसरे दिन सिद्धार्थ को एक मृत पुरुष को ले जाते हुए कुछ लोग दिखाई दिये, और छन्न से पूछने पर उसने बताया कि जो जन्म लेगा वह मरेगा भी, जो मरेगा, वह जन्म लेगा, ऐसा ही चक्कर प्राणियों को लगा रहता है, और वे इससे सरलता से मुक्ति नहीं पा सकते। चौथे दिन उन्हें एक सन्यासी से भेंट हुई, तो छन्न ने बताया कि इस महापुरुष को किसी की चिन्ता नहीं, इसे जरा मरण का भी वह दुख न होगा जो जनसाधारण को होता है, क्योंकि इसने अपनी सारी मनोकामनाओं को वशीभूत कर लिया है; अतः यह सज्जन अन्य प्राणियों से अधिक सुखी है। बस छन्न का इतना कहना था कि सिद्धार्थ के विचारों में दृढ़ता आ गयी, और एक रात अपनी पत्नी और पुत्र को त्याग कर घर से निकल पड़े। बौद्ध धर्म को मानने वाले इस घटना का भारी महत्व मानते हैं, उन्होंने इसके लिए एक विशेष नाम दिया है, **महाभिनिष्क्रमण**। उनके अनुसार यह दैवी प्रेरणा का फल था। अतः सिद्धार्थ के घर से जाते समय किसी को ज्ञान न हो सका। घर से चलते समय वे अपने प्रिय घोड़े कन्थक और सारथी को भी ले गये थे। रातोरात शाक्य राज्य को पार कर प्रातः उन्होंने अनोमा

नदी को पार किया और सारथी को घोड़े सहित वापस कर दिया। इसके पश्चात् उन्होंने अपनी तलवार से अपने बाल काट डाले और अपने कीमती वस्त्र तथा आभूषण एक भिखारी को दे दिये। इस प्रकार एक तपस्वी का वेष बनाकर, वे पण्डितों तथा सन्यासियों का सत्संग ढूंढने लगे।

वे शान्ति और ज्ञान की प्यास लेकर मगध की राजधानी राजगृह में गये। उस समय वहाँ दो प्रसिद्ध पण्डित थे, आलार और उद्रक। इनसे सिद्धार्थ ने शास्त्रार्थ सीखा, पर इस प्रकार के कोरे वाद-विवाद से सिद्धार्थ को कोई लाभ न दिखाई दिया। अतः उन्होंने अधिक कठोर तप करना आरम्भ कर दिया। गया के समीप निरञ्जना नदी के किनारे उरूवेल नामक जंगल में उन्हें अन्य पाँच साथी मिले। सभी ने तपस्या प्रारम्भ की। उनका सभी का विचार था कि शरीर को कष्ट देकर उन्हें ज्ञान की प्राप्ति होगी, पर ऐसा न हुआ।

एक दिन जब वे तपस्या में लीन थे, एक लड़की सुजाता ने आकर उन्हें खीर खिला दी, यह देखकर वे पांचो ब्राह्मण बोले, "**गौतम भोगवादी है उसे ज्ञान न मिलेगा**" और उसका साथ छोड़कर चल दिये। पर सिद्धार्थ जमे रहे, और अन्ततः यह निश्चय करके बैठ गये कि—

"Let my Skin, my nerves and bones waste. Let all the flesh and blood in my body dry up, but never from this seat will I stir until I have attained the supreme and absolute wisdom." R. K. Mookerji
Men and Thought.

अर्थात् "मेरे चर्म, स्नायु, अस्थिपंजर, को सूख जाने दो, मेरे शरीर के समस्त रक्त और मांस को सूख जाने दो, किन्तु मैं बिना ज्ञान प्राप्ति के इस आसन से हिलूँगा नहीं।"

फलतः उन्हें एक दिन ज्ञान हो गया। इस ज्ञान की ज्योति जगने को बौद्ध सम्बोधि कहते हैं।

यह ज्ञान क्या था? उन्हें कौनसा प्रकाश प्राप्त हुआ? इन प्रश्नों का उत्तर देना असंगत न होगा। गौतमको ज्ञात हुआ कि संसार में चार बातें सत्य हैं।

१—संसार में दुःख है।

२—दुःख का कारण है (समुदय)। अर्थात् यह दुःख सदा वासना से उत्पन्न होता है।

३—दुःख का निरोध चाहिये। अर्थात् दुःख के कारण हटाने की आवश्यकता है।

४—इसके हटाने का मार्ग (साधन आदि) सम्भव है। इसी आधार को लेकर उन्होंने प्रचार आरम्भ करने की ठानी। सबसे पहिले वे उन ब्राह्मणों की खोज में निकल पड़े, जो कुछ समय पहिले उन्हें छोड़कर चले गये थे। ये उनको बनारस के समीप सारनाथ पर मिले। गौतम (जो अब प्रबुद्ध हो चुके थे) को दूर से देखते ही उनके मन में अगाध श्रृद्धा उमड़ पड़ी, और उन्होंने बुद्ध का स्वागत किया। साथ ही उनकी शिक्षाओं को ग्रहण किया। फिर क्या था, उनके नित्य नये शिष्य बनने लगे। क्या धनी, क्या निर्धन, क्या राजा, क्या रंक, सभी ने उनको प्राणी मात्र का रक्षक माना, और उनकी अनोखी प्रतिभा के सामने सर झुकाये। इस प्रकार उपदेश करते हुए, देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में जाकर गौतम बुद्ध ने वैदिक धर्म की जड़ें हिला दीं। उन्होंने एक नये धर्म की रूपरेखा खड़ी कर दी। इनके धर्म का उस समय की उच्च वर्ग से पीड़ित जनता ने हर्ष के साथ स्वागत किया। इसी प्रकार ८० वर्ष की आयु तक अपने धर्म का प्रचार कर आपने इस भौतिक शरीर को गोरखपुर जिले के कुशीनगर स्थान पर त्याग दिया। आजकल इस स्थान को कसिया कहते हैं। गौतम बुद्ध के इस देहावसान को बौद्धों ने **निर्वाण** की संज्ञा दी है। इसकी तिथि अधिकांश (५६३—८०) ४८३ ई० पू० मानी जाती है। फ्लीट और गायगर ने इसी तिथि का समर्थन किया है, यद्यपि कुछ विद्वान् इसे ५४३ ई० पू० रखना चाहते हैं।

बौद्ध धर्म—प्रत्येक धर्म के दो रुप होते हैं। एक तो उसका वह रूप जिसे साधारण से साधारण मनुष्य समझ और मान सके, और दूसरा वह दार्शनिक रूप जिसे बुद्धवादी ही समझ सकें। इसके दार्शनिक स्वरूप में कार्य-कारण, अज्ञान, कर्म, ज्ञान नाम, रूप, इन्द्रिय—जन्म व्यापार, विचार, तृष्णा, परिग्रह जन्म और मरण का ज्ञान है। इसी के अन्तर्गत ऊपर कहे गये चार आर्य सत्य हैं। इसी के अन्तर्गत अष्टांग मार्ग है। इस मार्ग के आठ अंग हैं (अष्ट+अंग)।

१. सम्यक दृष्टि—इसका अभिप्राय है, मनुष्य की धारणाएँ गलत न हों। जैसे बलि को उचित मानना एक गलत धारणा है। मनुष्य मनुष्य को बराबर न मानना गलत है। अतः बुद्ध का कहना था कि, अपनी दृष्टि सबसे पहले सही हो। जो आनन्द की वस्तु है, उसी में आनन्द ढूँढो, सीपी में चाँदी का भ्रम न करो।

२. सम्यक् संकल्प—जब दृष्टि उचित होगी तो उसके प्रति विचार भी उत्तम होंगे। बुद्ध का कथन है कि उत्तम विचार पर ही सारी उन्नति की सीढ़ी बन सकती है।

३—**सम्यक् वाक्**—कार्य करने के पहले मनुष्य विचार प्रकट करता है, और यह जिह्वा कटु से कटु कह सकती है, अतः वाणी पर भी संयम रखना आवश्यक है। वाणी में विशेष कर क्रोध, निन्दा और ईर्ष्या आदि के विकार उत्पन्न न हों।

४—**सम्यक कर्मान्त**—इसका तात्पर्य है उचित कार्य करना। उचित कार्य से अभिप्राय है अहिंसा का पालन करना, चोरी न करना, कामवासना में न पड़ना, मादक पदार्थों का प्रयोग न करना, पर ये निषेधात्मक हुए, इनके क्रियात्मक रूप दान देना, सत्य बोलना, सेवा करना, और दया दिखाना आदि हैं।

५—**सम्यक् आजीव**—यदि मनुष्य का कर्मान्त ठीक है, तो उसकी जीविका कमाने का मार्ग स्वभावतः सही होगा, इसमें सही आजीविका वह है जिसमें दूसरों को कष्ट न हो, दूसरे की हिंसा न हो, अथवा दूसरों को दास न बनाया जाय।

६ – **सम्यक् व्यायाम**—व्यायाम से तात्पर्य केवल शारीरिक व्यायाम नहीं, बल्कि अपना मानसिक व्यापार शुद्ध हो, मनुष्य गन्दे बिचार मन से निकाल दे, और शुद्ध विचार धारण करे। यही सबसे भारी व्यायाम होता है।

७—**सम्यक् स्मृति**—इससे तात्पर्य है कि मनुष्य अपनी की हुई बातों पर विचार करे और यदि उसने भूल की हो, तो उसका सुधार करे।

८—**सम्यक् समाधि**—इसका अर्थ है अपने चित्त को एकाग्र करना, एक ही वस्तु पर ठीक से ध्यान रखना और आत्मा को शुद्ध रखना।

इसी मार्ग को मध्यम मार्ग भी कहा गया है, क्योंकि इसमें दोनों ओर की ज्यादती को तोड़ दिया गया है। बुद्ध का कहना था कि मनुष्य को न तो भोगविलास में लिप्त रहना चाहिये, और न इतना इन्द्रिय दमन ही करना चाहिये कि मानसिक क्लेश हो। (जैनियों की भाँति जो क्रियात्मक नहीं) आपका कहना था कि अहार और विहार में मनुष्य को सामान्य रूप से रहना चाहिये जैसा कि श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है:—

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

अर्थात् कर्म करने में मनुष्य की चेष्टा, उसके आहार, और विहार नियमित परिमाण में होना चाहिये। ऐसे नियमित आहारविहार वाला, और नियमित सोने और जगने वाले का कार्य (योग) सिद्ध होता है।"

—गीता (६—१७)।

इसके अतिरिक्त आपने नैतिक उपदेश भी दिये। आपने बताया कि मनुष्य को दस शीलों का पालन करना चाहिये। शील ये हैं—

१—अहिंसा २—सत्य ३—अस्तेय (चोरी न करना) ४—अपरिग्रह (संग्रह न करना) ५—ब्रह्मचर्य ६—नृत्य गान का त्याग ७—सुगन्ध मालादि का त्याग ८—असमय में भोजन का त्याग ९—कोमल शय्या का त्याग १०—कामिनी-कांचन का त्याग।

इन शीलों में पहिले पाँच गृहस्थ उपासकों के लिए हैं, पर भिक्षुकों के लिए सभी दस आवश्यक हैं। बुद्ध अनीश्वरवादी थे, उनका कहना था कि संसार की सृष्टि के लिए किसी कर्त्ता की आवश्यकता नहीं, यह संसार कार्य-कारण रूप से चला करता है। वे आत्मा में भी विश्वास नहीं करते थे। उनके अनुसार मनुष्य का व्यक्तित्व कई संस्कारों का योग है, जैसे कोई यन्त्र कई पुरजों से मिलकर बनता है, और जैसे इन पुरजों को अलग-अलग करने पर कोई तत्व बचता नहीं इसी प्रकार शरीर के अवयव नष्ट होने पर आत्मा जैसी कोई चीज नहीं बचती।

विश्व के सम्बन्ध में आपके विचार क्षणिकवादी थे। इसका अभिप्राय यह है, कि संसार में सभी पदार्थ क्षणिक (थोड़ी देर रहने वाले) और परिवर्तनशील हैं। ये स्थायी इसलिए दिखाई पड़ते हैं, कि सदा चलते रहते हैं यथा—नदी का जल कभी स्थिर नहीं होता, पर किनारे पर बैठे हुए व्यक्ति को वह स्थिर ही मालूम पड़ता है। यहाँ विचित्र बात यह है, कि बुद्ध न तो ईश्वर को मानते थे, न आत्मा को, फिर भी पुनर्जन्म मानते थे। उनके अनुसार पुनर्जन्म कार्यकारण भाव से संचालित होता है, और जब मनुष्य की तृष्णा पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है, तो उसे निर्वाण प्राप्त होता है, निर्वाण का अर्थ है दीपक की भाँति बुझ जाना। जिस प्रकार तेल और बत्ती के समाप्त हो जाने पर, दीपक शान्त हो जाता है, उसी प्रकार वासना के नष्ट हो जाने पर मनुष्य शान्ति प्राप्त करता है। इसी शान्ति के प्राप्त करने के लिए बुद्ध ने नैतिक आचरण और ज्ञान को आवश्यक समझा पर वैदिक कर्मकाण्ड और वेदों के प्रमाण को अस्वीकार किया।

बौद्धधर्म का प्रचार—सबसे पहिले, जैसा कहा जा चुका है, गौतम ने अपने पहिले के पाँच साथियों को निज उपदेश दिया। इसके अनन्तर उन्होंने उरुवेला के विप्र कश्यप को अपना शिष्य बनाया, मगध की यात्रा की और बौद्धधर्म के स्तम्भरूप सारिपुत्त तथा मौदगल्यायन को अपने धर्म के अन्तर्गत किया। यही नहीं आप लौटकर कपिलवस्तु आये और आपने अपने कुटुम्ब के सभी लोगों को बौद्ध बनाया। इसके अतिरिक्त श्रावस्ती के एक धनी व्यापारी अनाथपिण्डिक को तथा कोसल के राजा प्रसेनजित को अपनी ओर

आकृष्ट किया। अन्ततः उन्होंने एक संघ बनाया और व्यक्तिगत प्रचार से उसे सामूहिक प्रचार में बदल दिया। धीरे-धीरे इस संघ की प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गयी कि हर बौद्ध तीन वाक्य दुहराने लगा। उसे संघ में जाना ही प्रतिष्ठा की बात हो गयी। वह कहता था—

बुद्धं शरणं गच्छामि।
धर्म्मं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि।

अर्थात् मैं बुद्ध, धर्म, और संघ की शरण में जाता हूँ।

गौतम बुद्ध का स्वयं भी एक स्थल पर कहना था—

"भिक्षुओ, अब तुम लोग जाओ, घूमो, लोगों के हित के लिए, लोगों के कल्याण के लिए, देवों और मानवों के कल्याण के लिए घूमो, तुम लोगों में से कोई दो एक साथ न जायँ। तुम लोग उस धर्म का प्रचार करो, जो आदि-मंगल, मध्यमंगल, और अंतमंगल है।"

—गौतमबुद्ध

इस प्रकार बौद्ध धर्म का प्रचार बड़ी शीघ्रता से हुआ। इसके लिए अनेक बातें उत्तरदायी थीं। जिनमें सबसे पहिले उनका प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व और उनकी आकर्षक वाणी थी। उन्होंने कहा था—

"Now monks, I have nothing more to tell you, but that all that is composed is liable to decay, strive after salvation energetically".

From 2500 Years of Buddhism

अर्थात् "भिक्षुको, मुझे तुमसे अब कुछ नहीं कहना, बस सिवा इसके जो कुछ बना है वह बिगड़ेगा भी, अतः निर्वाण के लिए सम्पूर्ण शक्ति से यत्न करो।"

२—यह इतना सरल तथा व्यावहारिक था कि दूसरे धर्म मानने वालों को अपनी ओर आकृष्ट कर सका।

३—इसके पहिले ही जनता वैदिक कर्मकाण्डों से इतनी ऊब चुकी थी कि उसे इस ओर बचने का उपाय सूझा और वह एकाएक इधर झुक पड़ी।

४—इसमें वर्ण का बन्धन न था, इसका द्वार मनुष्यमात्र के लिए खुला था, अतः निम्न वर्गों के विशेष प्रसन्नता का विषय बना।

५—इसके प्रचार की भाषा साहित्यिक संस्कृत न होकर, जनसाधारण की बोलचाल की भाषा थी, बुद्ध अपना भाषण दृष्टान्त देकर सदा रोचक

बना देते थे। उनकी बात हृदय में बैठ जाती थी। यही नहीं इनकी शैली मध्यम मार्ग को लेकर चली थी, जो साधारण मनुष्य के लिए सम्भव था।

६—उन्होंने प्रचार करने के लिए एक संघ का निर्माण कर दिया था, जो तत्परता तथा बड़ी सच्चाई से कार्य करने लगा।

७—उस समय के बड़े-बड़े राजाओं का इनको सहयोग प्राप्त था, यथा विम्बिसार, अजातशत्रु, प्रसेनजित, उदयन। अनाथपिण्डिक जैसे धनी-मानी की चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

८—फिर इसके पश्चात् के समय में भी इसे कालाशोक, अशोक, कनिष्क, हर्ष आदि का सहयोग प्राप्त हो सका। राजाश्रय पाकर ही चीज शीघ्र फूलती तथा फलती है।

बौद्ध संगीतियाँ—गौतम बुद्ध के देहावसान के पश्चात् इस धर्म का स्वरूप ठीक रखने के लिए इसके मतावलम्बियों ने ४ संगीतियाँ कीं। इनमें से प्रथम दो की चर्चा यहाँ इसलिए की जाती है, कि उनके लिए अलग स्थल न मिलेगा। तीसरी संगीति अशोक, और चतुर्थ कनिष्क के समय यथास्थान मिलेगी।

प्रथम संगीति—यह संगीति बुद्ध के परिनिर्वाण के ठीक बाद हुई। इसे राजगृह में बुलाया गया था। इसका अधिवेशन सप्तपर्ण गुफा में महा-कश्यप की अध्यक्षता में हुआ था। उस समय यहाँ का शासक अजातशत्रु था। उसने सभी अतिथियों के लिए भोजन और निवास का प्रबन्ध किया था। यह सभा वर्षाकाल के दूसरे माह में हुई थी। इसके सभासद चुने हुए ५०० भिक्षु थे। इन्होंने बौद्ध धर्म के धर्म और विनयपिटक सम्बन्धी तथ्यों को एक-सा किया। इसमें सबसे अधिक योग उपालि, और आनन्द ने दिया था। इसके अतिरिक्त इसी संगीति में आनन्द की परीक्षा और छन्न को दण्ड के कार्य भी किये गये थे।

दूसरी संगीति—बुद्ध के देहावसान के १०० वर्ष पश्चात् इसकी दूसरी संगीति वैशाली में बुलायी गयी। यह अजातशत्रु के वंशज कालाशोक के राज्य काल में सम्पन्न हुई थी। इसके सभासदों में बड़े-बड़े वाद-विवाद हुए, किन्तु अन्ततः उन्होंने तीनों पिटकों (अभिधर्म, विनय, सूत्त), निकायों (दीर्घ, अंगुत्तर आदि) अंगों और धर्म स्कन्धों की व्यवस्था की। इसका भी उद्देश्य पहिली की भाँति बौद्ध धर्म की गिरती हुई अवस्था को सुधारना, तथा उसमें भिन्न-भिन्न उपदेशक होने के कारण आई हुई गड़बड़ियों को मिटाना था।

बौद्ध तथा जैन धर्म—इन दोनों धर्मों की अनेक बातें मिलती-जुलती हैं, पर अनेक अलग-अलग हैं।

इनकी समानता—दोनों की उत्पत्ति ब्राह्मण वर्ग की प्रभुता के विरोध और वैदिक कर्मकाण्ड की शुष्कता के त्याग के लिए थी।

२—दोनों ने अहिंसा तथा सदाचरण को अपनाया।

३—दोनों ही सृष्टि के कर्त्ता तथा नियामक में विश्वास नहीं करते।

४—दोनों ने कर्मफल के सिद्धान्त का समर्थन किया है और दोनों का कहना है कि कर्म का प्रभाव मोक्षप्राप्ति पर पड़ता है। कर्म के कारण ही पुनर्जन्म होता है।

५—दोनों ने ही मानव मात्र को अपना बन्धु माना तथा जाति पाँति का विरोध किया।

६—दोनों के संगठन का आधार भिक्षु धर्म था और दोनों तप तथा संयम को महत्त्व प्रदान करते हैं।

७—दोनों के प्रवर्त्तक उच्च क्षत्रिय कुल के शिरोमणि थे, और दोनों ही भारत के पूर्वी भाग में उत्पन्न हुए।

८—दोनों ने संस्कृत व पाली भाषाओं को अपनाया।

९—दोनों ने जन-विश्वासों को बनाये रखा, और यही कारण था कि दोनों में कुछ काल के अनन्तर अनेक देवताओं का सूत्रपात हुआ।

१०—दोनों का लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है।

११—दोनों ने त्रिरत्नों का सम्मान किया। बौद्धों ने बुद्ध धर्म और संघ का, जब कि जैनियों ने ज्ञान, दर्शन और चरित्र का।

१२—दोनों सत्य, दया तथा पवित्रता में विश्वास रखते थे।

१३—दोनों ही हिन्दुत्व की उपज हैं।

१४—दोनों ही कार्य से ज्ञान की ओर चले पर कर्म को प्रधान मानते हैं।

पर दोनों में कुछ विभिन्नताएँ भी रहीं। यथा—

१—जैन सम्प्रदाय वाले नंगे रहना अच्छा समझते हैं, पर बौद्धों को यह प्रिय नहीं।

२—दोनों ने अपने-अपने भिन्न शास्त्रों की रचना की।

३—बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक केवल एक बुद्ध थे, जब कि जैनियों के २४ तीर्थंकर।

४—जैन धर्म में व्रत आदि शरीर को कष्ट देने वाले साधन अच्छे माने गये, पर बौद्ध धर्म में मध्यम मार्ग का अनुसरण करने को कहा गया।

५—यही नहीं जैनियों में हिन्दू रीति-रिवाजों का प्रचलन आज भी है, पर बुद्ध धर्म इससे भी कहीं दूर हो चुका है।

६—यद्यपि दोनों निर्वाण को मानते हैं, पर इस विषय में प्रत्येक का दृष्टिकोण भिन्न है।

यहाँ पर यह कहना असंगत न होगा कि बौद्ध धर्म के अनुसार निर्वाण वह स्थिति है, जिसे प्राप्त करने के पश्चात् कोई ज्ञान ही नहीं रहता, पर जैनियों के कैवल्य प्राप्त करने का अर्थ है, एक आनन्द की स्थिति पा जाना। बौद्ध तो निर्वाण पाकर जन्म ही नहीं मानते, पर जैनियों का कहना है कि कैवल्य पाकर भवसागर के शरीर बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। पर निर्वाण प्राप्त करने के लिए दोनों के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं।

७—बौद्ध धर्म वाले आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। जब कि जैनी सभी में (चेतन और अचेतन) आत्मा को मानते हैं।

८—जैनियों का गृहस्थ धर्म पर विश्वास रहा, पर बौद्ध प्रमुख रूप से अपने संघ पर निर्भर रहे। वस्तुतः ये दोनों वैदिक धर्म रूपी एक ही मूल से उत्पन्न वृक्ष की दो शाखाएँ हैं।

बौद्ध धर्म की भारतीय संस्कृति को देन—भारतीय संस्कृति को भी बौद्ध धर्म की विशेष देन है। इसने हिन्दू धर्म के दलित वर्ग को उठाने में भारी योग दिया। इसके अतिरिक्त इसने वैदिक धर्म के मूल सिद्धान्त अहिंसा को व्यापक रूप प्रदान किया। बौद्ध धर्म का महायान रूप तो हिन्दू धर्म की मूर्ति पूजा का समकक्ष है। फिर बौद्धों ने एक सुन्दर साहित्य की रचना की, इसमें धार्मिक तत्व ही नहीं बल्कि विशुद्ध साहित्यिक कल्पनाएँ, प्रकृति चित्रण और मनोरम कथाएँ भी हैं। यही नहीं कला के क्षेत्र में तो बौद्धों ने बड़ा सराहनीय कार्य किया है। उनके स्तूप, चैत्य, विहार, स्तम्भ, मन्दिर, उनकी मूर्तियाँ आज भी हमारे चित्त को आकर्षित करती हैं।

भारतीय कला की प्रतीक अजन्ता की गुहाएँ, साँची स्तूप के द्वार तथा भारहुत की कारीगरी अथवा अशोक के अनेक स्तम्भ ने इसमें क्या कम योग दिये हैं। इन सबसे अधिक सराहनीय बात तो यह है कि बौद्ध धर्म ने ही भारत की सीमाएँ इसकी प्राकृतिक सीमाओं के आगे बढ़ा दीं। आज हम उसे चीन, जापान, ब्रह्मा, स्याम और लंका में देख कर अथवा उसके अनुयायियों को इसकी जन्मभूमि भारत में देखकर कम गौरवान्वित नहीं होते।

———

परिच्छेद—९

मगध राज्य का उत्थान

बौद्ध कालीन भारत में जितने छोटे-छोटे राज्य सम्पन्न हुए, उनमें मगध राज्य का विकास सबसे अधिक हुआ । यह एक दिन राज्य से साम्राज्य बन गया । यद्यपि इसमें किसी एक वंश का उत्थान बहुत काल तक न रह सका, पर इसकी प्रभुता दिन पर दिन बढ़ती रही, इस काल से पूर्व भी यहाँ जरासंध ने साम्राज्य बनाना चाहा था, पर वह बहुत सफल न हो सका था । इस काल में सबसे प्रमुख वंश हमारे सामने हर्यंक वंश आता है ।

हर्यंक वंश—पाली साहित्य में हर्यंक वंश वर्णन है । उसके अनुसार बिम्बिसार एक साधारण मांडलिक भद्रिय का पुत्र था । उसी को श्रेणीक भी कहा गया है । पुराणों में इसे शिशुनाग वंशीय घोषित किया है, पर इसके लिए कोई ठोस प्रमाण नहीं । यह निश्चित है कि महात्मा बुद्ध के समय मगध का शासक बिम्बिसार था । हर्यंक शब्द का अर्थ (हरि=नाग, अंक=गोद) नाग की गोद होता है, इसी प्रकार शिशुनाग का अर्थ छोटा नाग होता है । इससे यह निश्चय हुआ कि यह वंश किसी नागवंशीय क्षत्रिय का उपवंश था । पश्चिमोत्तर भारत में महाभारत युद्ध के बाद नागों की शक्ति का विकास हुआ था, इसी प्रकार उनकी एक शाखा पूर्व में भी आ गयी होगी ।

बिम्बिसार—५४३ ई० पू० के लगभग बिम्बिसार ने हर्यंक वंश राज्य की नींव डाली । उसका पिता भट्टिय एक साधारण सामन्त था । वह १५ वर्ष की आयु में सिंहासन पर बैठा, और कुछ ही काल में उसने अपने राज्य का प्रभुत्व बढ़ा लिया । उसने कई एक वैवाहिक सम्बन्ध किये जिनका महत्त्व राजनीतिक था । उसकी प्रधान रानी कोसल के राजा प्रसेनजित की बहन महाकोसला (कौशलदेवी) थी । इस विवाह के साथ उसे काशी का प्रान्त दहेज रूप में मिला था । बिम्बिसार ने दूसरा विवाह लिच्छवि वंश की चेटक की बहन चेल्लना से किया था, जिससे उसके राज्य की उत्तरी सीमा सुरक्षित हो गयी थी । उसका तीसरा विवाह विदेह कन्या वासवी से हुआ था । इससे बिम्बिसार को अपने शत्रु अंग को घेरने का अवसर मिल गया था । यही नहीं उसने अंग पर आक्रमण कर उसका कुछ भाग छीन भी लिया था । इसके अतिरिक्त उसने अपने राजदूत वत्स, मद्र, गांधार, और काम्बोज आदि राज्यों तक भेजे थे ।

बिम्बिसार ने गिरिब्रज को छोड़कर राजगृह को अपनी राजधानी बनाया। जैन ग्रन्थ उसे अपना, और बौद्ध अपना अनुयायी मानते हैं। इससे स्पष्ट है कि वह एक उदारचित्त व्यक्ति था और दोनों ही धर्मों पर उसकी कृपा थी। उसका शासनसूत्र सर्वदा दृढ़ रहा। उसने अपने शासन को सुव्यवस्थित बनाने के लिए महामात्यों की नियुक्ति की थी। इसके लिए उसने कठोर दण्डनीति का अनुसरण भी किया था।

बिम्बिसार के अन्तिम दिन अच्छे न बीते। उसके पुत्र अजातशत्रु ने उसके दीर्घकालीन राज्य से तंग आकर उसको बंदी बना लिया, और कारागार में पड़े-पड़े ही उसका देहान्त हो गया। यह घटना लगभग ४९१ ई० पू० की है।

अजातशत्रु—अपने पिता के जीते जी ही अजातशत्रु ने बलपूर्वक सिंहासन प्राप्त कर लिया था। उसने भी मगध राज्य की पर्याप्त उन्नति की। अपने पिता के शासनकाल में वह अंग के एक भाग पर शासन करता था। अतः उसे शासनसत्ता सम्भालने का अनुभव था, किन्तु सर्वप्रथम उसे अपने पिता को मारने का प्रतिफल भोगना पड़ा। बिम्बिसार के शोक से उसकी माता महाकोसला की भी मृत्यु हो गई, और महाकोसला की मृत्यु के पश्चात् काशी का प्रान्त प्रसेनजित ने वापस ले लिया। यह अजातशत्रु को सह्य न हुआ, अतः उसे कोशल से युद्ध करना पड़ा। युद्ध में कभी किसी की और कभी किसी की हार-जीत हुई; परन्तु अन्त में अजातशत्रु को बन्दी बना लिया गया। कहा जाता है कि ऐसी स्थिति में प्रसेनजित की पुत्री वजिरा से उसका प्रेम सम्बन्ध हो गया, और प्रसेनजित को उसका विवाह अजातशत्रु से करना पड़ा। विवाह के पश्चात् काशी का प्रान्त पुनः देकर उसे विदा किया गया।

इस घटना के अनन्तर अजातशत्रु ने वज्जि संघ पर आक्रमण किया और कूटनीति आदि सभी साधनों का प्रयोग कर वह विजयी भी हुआ। उसको जीत कर उसने इस गणराज्य का अन्त कर दिया और अपने साम्राज्य की सीमा हिमालय तक पहुँचा दी। धीरे-धीरे उसने एक साम्राज्य की नींव डाल दी, जिसमें मगध, काशी, वज्जि, वैशाली आदि सभी आ गये।

अजातशत्रु भी धार्मिक प्रवृत्ति का था। कहते हैं उसने अपने कुकृत्य के लिए (पितृघात) बुद्ध से क्षमायाचना की थी और स्वयं बौद्ध हो गया था। जैन ग्रंथों के अनुसार वह जैन था, पर बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् उनके अवशेष ग्रहण करना, उन पर स्तूप बनवाना, बौद्ध धर्म की संगीति बुलाना आदि इतने प्रबल प्रमाणों के सामने उसे जैन ठहराना ठीक नहीं प्रतीत होता। हो सकता है कि वह पहिले जैन न होते हुए भी जैन धर्म का आदर करता रहा

हो, जिसके आधार पर जैन धर्म को उसका आश्रय मिला हो और उसी के अनुसार जैन ग्रंथों में उसकी चर्चा हो। उसके साथ सबसे विचित्र घटना यह हुई कि अपने पिता की भाँति वह भी दीर्घ काल तक राज्य करता रहा, और उसी की तरह अपने पुत्र उदयिन के हाथ दिवंगत भी हुआ।

अजातशत्रु के उत्तराधिकारी—जैन अनुश्रुतियों के अनुसार अजातशत्रु के बाद मगध के सिंहासन पर जो चार राजा हुए, वे सभी अपने-अपने पिता को मारकर गद्दी पर बैठे। अतः उसके ३६ वर्ष के शासन काल में जनता के बीच भी असंतोष हुआ, और उसने इस वंश को राज्यच्युत करके शिशुनाग नामक मंत्री को अपना राजा बनाया। अजातशत्रु के पश्चात् उसका पुत्र उदायी मगध की गद्दी पर बैठा। जैन अनुश्रुति के अनुसार उसने अपने पिता का संहार नहीं किया बल्कि वह उस समय चम्पा में प्रतिनिधि था। इसके राज्य की सबसे प्रसिद्ध घटना गंगा और सोन के संगम पर पटना की नींव डालना है, इसका नाम उस समय पाटलीपुत्र रखा गया था। वह राजगृह से हटाकर अपनी राजधानी यहाँ ले गया था। उस समय को देखते हुए यह घटना भी बहुत महत्त्वपूर्ण थी।

उदायी के पश्चात् अनुरुद्ध और मुण्ड नामक राजा क्रमशः मगध की गद्दी पर बैठे, और अन्त में नागदाशक सिंहासनारूढ़ हुआ जिसके हाथ से यह राज्य शिशुनाग वंश को चला गया। सिंहली ग्रंथों के अनुसार ये (अनुरुद्ध, मुण्ड और नागदाशक) तीनों उदायी के लड़के थे। इनमें से नागदाशक को पुराणों में दर्शक कहा गया है। ऐसा जान पड़ता है कि इनके समय में गृह-कलह बढ़ गई और ये एक दूसरे का घात करने लगे।

शिशुनाग—शिशुनाग बड़ा वीर और विजयी राजा था। राज्य पाते ही उसने अवन्ति पर आक्रमण किया, और वहाँ के प्रद्योतवंश की शक्ति नष्ट कर उसे मगध राज्य में मिला लिया। यही नहीं उसने कोसल को भी जीतकर अपने राज्य में मिला लिया और अपने पुत्र को काशी का शासक नियुक्त किया। इस प्रकार पंजाब और उसके पश्चिम का भाग छोड़कर सारा उत्तर भारत मगध साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया। उसने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र से हटाकर पुनः राजगृह कर ली।

कालाशोक—शिशुनाग के पश्चात् उसका पुत्र अशोक (कालाशोक, अथवा काकवर्ण) गद्दी पर बैठा। इसने राजगृह को छोड़कर पुनः पाटलिपुत्र को राजधानी बनाया। इसी के शासनकाल में लगभग २८३ ई० पू० बौद्ध धर्म की दूसरी संगीति हुई। कालाशोक के दस पुत्र[1] हुए जिनमें नन्दिवर्धन

१—१ भद्रसेन २ कोरण्डवर्ण, ३ मंगुर, ४ सर्वंज्ञ, ५ जालिक ६ उभक ७ संजय ८ कोरव्य ९ नन्दिवर्धन १० पञ्चमक।

सबसे योग्य और प्रसिद्ध था । अतः पुराणों में केवल इसी का नाम मिलता है ।

नन्द वंश

महापद्म नन्द - भारतीय इतिहास में नन्दवंश का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है । यद्यपि शासन की दृष्टि से इस वंश के सम्राटों को लोकप्रियता नहीं मिली पर ऐतिहासिक दृष्टि से इस वंश ने ऐसे समय पर सत्ता ग्रहण की जिसकी महत्ता विशेष है । इस वंश का सर्वप्रथम सम्राट, जिसने शिशुनागों से गद्दी प्राप्त की नन्दिवर्धन था । पुराणों के अनुसार इसकी शूद्रा रानी से[1] महापद्म नन्द उत्पन्न होगा; वह अत्यन्त बलवान् किन्तु लोभी और सभी क्षत्रिय राजाओं का विनाश करनेवाला होगा । वह इक्ष्वाकु वंशियों, शूरसेनों, मैथिलों और अन्य राजाओं को जीतकर दूसरे परशुराम की तरह एकराट् और एकक्षेत्र होकर शासन करेगा । हिमालय और विन्ध्याचल के बीच सम्पूर्ण पृथ्वी के ऊपर उसका सर्वमान्य राज्य होगा ।[2]

पर महाबोधिवंश के अनुसार नौ नन्दों के नाम दूसरे ढंग से दिये गये हैं । यथा—

१—उग्रसेन २—पण्डुक ३—पण्डुगति ४—भूतपाल, ५—राष्ट्रपाल ६—गोविषाणक ७—दससिद्धक, ७—कैवर्त, ९—धन । इनमें से उग्रसेन पिता और शेष ८ उसके पुत्र थे । जैनियों के ग्रन्थ पारशिष्ट पर्वन के अनुसार यह एक नाई द्वारा उत्पन्न वैश्यापुत्र था । इसी को यूनानी लेखक कर्टियस (Curtius) ने लिखा है कि जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, उस समय मगध में औग्रसेन (Augrasen) (जो संस्कृत में औग्रसेन अथवा उग्रसेन का पुत्र) का पिता (अर्थात् उग्रसेन) विद्यमान था, और वह एक नाई था । रानी का कृपापात्र बनकर उसने सम्राट् की हत्या कर डाली, और उसकी सन्तानों का अभिभावक (guardian) बनकर राज्यसत्ता अपने हाथ में ले ली फिर अल्प आयु ही में कुमारों को मारकर वर्तमान सम्राट का पिता हुआ । जो हो महापद्म के विषय में दो तीन बातें निश्चित हैं । वह वीर

१—शूद्र गर्भोद्भव ।

२—भविष्य पुराण की भाषा भविष्यत् काल में लिखी गयी है, इसका संकेत है कि किसी दृष्टा ऋषि ने घटनाओं के होने के पूर्व ही कह दिया था कि ऐसा-ऐसा होगा इसीलिए यहाँ काल नहीं बदला गया ।

और पराक्रमी था, वह धनी था[1] साथ ही साथ वह उच्च कुल का न होने के नाते किसी प्रकार लोकप्रिय ही था, पर महापद्मनन्द ने उत्तर भारत में अपना प्रभुत्व जमा रखा था जिसकी पुष्टि पौराणिक वर्णन से होती है। यही नहीं खारवेल के सुप्रसिद्ध हाथीगुम्फा के अभिलेख से यह सिद्ध होता है कि किसी नन्द राजा ने कलिंग पर आक्रमण कर उनका छत्र और श्रृंगार छीन लिया था। साथ ही उसने एक नहर का निर्माण कराया था। यह नन्द राजा महापद्म ही हो सकता है, जिसके पराक्रम का पुराण वर्णन करते हैं। यूनानी लेखकों के अनुसार (Curtius and Diodorus) सम्राट नन्द के पास २०,००० घुड़सवार, २,००,००० पैदल, २,००० रथ, और ३,००० हाथी थे। इनके ऐश्वर्य के विषय में चीनी यात्री ह्वेनसांग भी सात प्रकार के अमूल्य रत्नों की पाँच निधियों का वर्णन करता है।

महापद्म नन्द के उत्तराधिकारी—महापद्म नन्द का प्रमुख उत्तराधिकारी धननन्द था। यूनानी लेखकों ने इसी को (Augrasen) औग्रसेन (उग्रसेन का पुत्र) लिखा है। उसके पास असीम सैन्यबल था। बौद्ध साहित्य में सिकन्दर के समकालीन नन्द का नाम धननन्द मिलता है, यह नन्द सम्राट भी लोकप्रिय न था। सिकन्दर को यह सूचना दी गयी थी कि यदि वह गंगा की घाटी में आक्रमण करेगा तो वह राजा नन्द को सरलता से हरा देगा, क्योंकि उसके प्रति जनता की श्रद्धा नहीं है। इसके अतिरिक्त इस विषय में अधिक ज्ञान नहीं सिवा इसके कि पुराणों के अनुसार महापद्म नन्द ने २८ वर्ष राज्य किया और उसके पुत्रों ने १२ वर्ष।

इनका अन्त—नन्दों का शासनसूत्र बहुत दिनों न टिक सका, यह निश्चित है। इसका प्रमुख कारण यह था कि उन्होंने प्राचीन वैदिक धर्म को छोड़ कर जैन धर्म को अपनाया, और अनेक राजाओं का उन्मूलन किया था। दूसरे वे इतने धनलोलुप थे कि धन इकट्ठा करते रहे, पर प्रजा का हित न कर सके। तीसरे चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे यशस्वी योद्धा का जन्म हो चुका था, उस पर भी उसे चाणक्य जैसे महामन्त्री की सहायता तथा संरक्षता प्राप्त हो गयी थी।

———

१—कुछ विद्वान् उसे असंख्य सेना के कारण महापद्म का उपाधिधारी बतलाते हैं, पर शायद सेना के कारण नहीं बल्कि अतुल धन के कारण महापद्म नन्द कहा गया होगा।

परिच्छेद—१०

भारत पर विदेशी आक्रमण

(क) पारसीक आक्रमण

जिस समय भारत के उत्तर-पूर्व में मगध साम्राज्य पनप रहा था उसी समय इसके उत्तर-पश्चिम में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे, जो एक दूसरे की स्वतन्त्रता के घातक थे। अतः भारत की समृद्धि देखकर और इन सीमाप्रान्त राज्यों को दुर्बल जानकर भारत के पश्चिम ओर के निकटवर्ती राज्य अपनी लोलुप दृष्टि को बहुत दिनों तक न रोक सके। उन्होंने एक के बाद एक अभियान प्रारम्भ कर दिये। इनमें से सबसे पहिला आक्रमण पारसीकों का था। ई० पू० छठी शताब्दी में (५५०-५२८[1]) ईरान में काइरूस (साइरस, अथवा कुरुष) ने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। उसने इतनी शीघ्रता से अपने पड़ोसियों को पराजित किया कि लोग यह देखकर दंग रह गये। कुछ ही समय में ईरान की शक्ति ईराक, एशिया माइनर, भूमध्यसागर के पूर्वीतट तथा नील नदी के डेल्टा तक फैल गयी। इसने जैड्रोसिया होकर भारत पर भी आक्रमण किया, (५५० ई० पू०) परन्तु स्ट्रैवो के कथनानुसार उसको इसका दुष्परिणाम भुगतना पड़ा। वह यहाँ पराजित ही नहीं हुआ बल्कि अपने बचे हुए सात साथियों को लेकर सिंध से वापस लौट गया था। फिर भी वह हताश नहीं हुआ, और पुनः उसने कावुल की घाटी के मार्ग से चढ़ाई की। प्राचीन रोमन विद्वान् प्लिनी का कथन है कि इस बार उसने कावुल के उत्तर में कपिशानगरी को उजाड़ दिया और पश्तो बोलने वाले प्रदेश को जीत लिया।

काइरूस के पुत्र कैम्बाइसेस (Cambyses) (५२८-५२१ ई० पू०) ने पूरा मिस्र जीतकर साम्राज्य का विस्तार किया, पर उसे भारत की ओर बढ़ने का अवसर न मिल सका। उसका पुत्र दारायूस प्रथम (५२१-४८५ ई० पू०) बहुत प्रतापी सम्राट हुआ। वह ईरान का सबसे बड़ा सम्राट था। यह निश्चित है कि उसने पूर्व में सिन्धु घाटी को

१—यह तिथि डा० नन्दलाल चटर्जी के अनुसार दी गयी है, यद्यपि दूसरे विद्वान् इसे (५५८-३० ई० पू०) भी मानते हैं।

जीता। यही नहीं उसका अधिकार भारत के समस्त पश्चिमोत्तर भूभाग पर हो गया था। उसके साम्राज्य में बीस प्रान्त थे, और बीसवाँ हिन्दुओं का देश अर्थात् सिन्धु तटवर्ती प्रदेश था। पर्सिपोलिश और नकशए रुस्तम वाले उसके लेखों में भारतीय उसकी प्रजा कहे गये हैं। यही नहीं इन लेखों में वह अपने को भी आर्यों में आर्य और क्षत्रियों में क्षत्रिय कहता है। इसमें गान्धार का भी उल्लेख है, कुछ ही काल के पश्चात् फारस के दरबार में ग्रीस राजदूत हैरोडोटस पहुँचा। उसने भी दारायूस के इस भारतीय आक्रमण की चर्चा की है। वह लिखता है कि पहिले दारायूस ने स्काईलैक्स की अध्यक्षता में सिन्धु नदी के मुहाने से फारस की खाड़ी तक पहुँचने का जलमार्ग खोजने के लिए एक नौ सेना भेजी। इसी आधार पर स्काई लैक्स ने एक पुस्तक लिखी जिससे दारायूस ने अपने पूर्वी अभियान में पूरा-पूरा लाभ उठाया। इस प्रदेश को विजय करके उसने दस लाख पौण्ड प्रति वर्ष से अधिक की आय प्राप्त की थी।

इसके आक्रमण के पश्चात् लगभग दो शताब्दी तक इस भूभाग पर फारसी अधिपत्य रहा। दारायूस का उत्तराधिकारी क्षयार्स (Xeryars) था। यह ४८६–६५ ई० पू० तक रहा। उसका भी शासन भारत के इस भूभाग पर था। यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इस स्थल से फारस वालों का अधिकार कब उठ गया पर सिकन्दर के आक्रमण के समय ये प्रदेश स्वतन्त्र थे, यह निश्चित है।

पारसीक आक्रमण का प्रभाव—इस प्रकार के फारसी और भारतीय संघर्ष से दोनों को लाभ हुआ क्योंकि भारत के राजनीतिक, आर्थिक, तथा कलातमक दृष्टिकोणों पर इसका प्रभाव अमिट हो गया। दोनों के बीच अधिकाधिक व्यापार होने लगा। खरोष्ठी लिपि, जो अशोक के पश्चिमी लेखों में प्रयोग की गई हैं, ईरान से ही भारत आयी और इसे हम कनिष्क के समय तक वैसा ही पाते हैं। यही नहीं चन्द्रगुप्त मौर्य के राजकीय नियमों और आचारों पर भी पारसीक प्रभाव दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त मौर्य युग की कला पर भी ईरानी प्रभाव रहा है। वस्तुतः एक समय था, जब ये दोनों एक ही आर्य शाखा के अंग थे। उनके धार्मिक विश्वास तथा व्यावहारिक रीति रिवाजों में भी बहुत साम्य पाया जाता है। वैदिक देवता वरुण और ईरान के प्रधान देवता आहुर मज़दा के बीच एक निश्चित सम्बन्ध माना जाता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण हम ऋग्वैदिक काल की चर्चा में बोगाज़कोई के अभिलेख में देख चुके हैं। अतः इस आक्रमण के फलस्वरूप वह पुराना सम्बन्ध पुनः स्थापित हो गया। कुछ विद्वानों का मत है कि पाटलिपुत्र में अशोक का स्तम्भ, प्रधान विशाल भवन, उसके स्तम्भों और

शिलाओं पर अभिलेख तथा घण्टे के आकार का शीर्ष सभी ईरानी अनुकरण का फल है । पर इस सबसे एक बड़ी हानि भी हुई, वह यह कि इसने भारतीय दुर्बलता का परिचय दे दिया, जो भविष्य में अन्य अनेक आक्रमणों का कारण बनी, दूसरे एक दूसरे में रक्तमिश्रण से एक पृथक् जाति का सृजन हुआ ।

(ख) सिकन्दर का आक्रमण

सिकन्दर के आने से पूर्व का भारत—जैसा कहा जा चुका है कि ईरानी आक्रमण के पूर्व पश्चिमोत्तर भारत दुर्बल था, ठीक वही दशा चौथी शताब्दी ई० पू० तक रही। इस समय भारत के पूर्वी भाग में तो मगध का साम्राज्य था, पर उसकी पश्चिमी सीमा सतलज के पश्चिम तक न जा सकी थी। उत्तर-पश्चिम में अन्य कोई राष्ट्र शक्तिशाली न था, जो भी छोटे-छोटे राज्य थे, वे या तो ईरानियों के अधीन रहकर अब स्वतन्त्र हो गये थे, अथवा उनकी जड़ें नयी लगीं थीं । इनमें से किसी भी एक में ऐसा बल न था, जो भारी विदेशी आक्रमण को रोक सकता । दूसरे इनमें आपस में ऐसी एकता भी न थी कि सभी मिलकर उसका सामना करते । इसके विपरीत कुछ ने तो उस समय विदेशी का ही स्वागत किया, और जब एक भारतीय नरेश पिटता रहा तो वे खड़े ताकते रहे ।

निम्नलिखित राज्य उस समय इस प्रदेश में थे—

१. **अश्वक**—यह राज्य काबुल नदी के उत्तर में था ।

२. **गौर**—यह पंचकौर नदी की घाटी में था ।

३. **उद्यान**—सुवास्तु की घाटी में ।

४. **नीसा**—काबुल और सिन्धु के बीच में था ।

५. **पश्चिमी गांधार**—यह भी काबुल और सिन्धु के बीच था, और इसकी राजधानी पुष्करावती थी ।

६. **पूर्वी गांधार**—यह राज्य सिन्धु और झेलम के बीच था, इसकी राजधानी तक्षशिला थी ।

७. **उरशा**—यह राज्य पूर्वी गान्धार के उत्तर-पूर्व में था ।

८. **अभिसार**—इसमें काश्मीर का पश्चिमोत्तर भाग सम्मिलित था ।

९. **कैकय**—यह झेलम और चिनाव के बीच पौरव राज्य था, जिसमें पंजाब के झेलम, गुजरात और शाहपुर जिले शामिल थे ।

१०. **ग्लुचुकायन**—यह राज्य कैकय के पूर्व में था ।

११. **अद्रिज**—यह रावी नदी के पर्वतीय भाग में था इसकी राजधानी पिम्प्रामा थी ।

१२. **कठ**—यह एक गणराज्य था जो रावी और व्यास के मध्य में था।

१३. **भगल**—यह कठ के दक्षिण रावी और व्यास के बीच था।

१४. **सौभूति**—यह झेलम नदी के पूर्व में स्थित था।

१५. **शिवि** झेलम और चिनाव के संगम के दक्षिण में था।

१६. **क्षुद्रक**—यह रावी और व्यास के बीच था।

१७. **मालव** - रावी और चिनाव के संगम के उत्तर में था।

१८. **क्षत्रि**—चिनाव और रावी के निचले भाग में था।

१९. **शूद्र**—यह सिन्ध के उत्तरी भाग में था।

२०. **मूषिक**—आधुनिक सिन्ध का मध्यभाग था। इसकी राजधानी एलोर के समीप थी।

२१. **प्रोस्थ**—यह सिन्धु के पश्चिम में स्थित था।

२२. **शाम्ब**--यह मूषिक राज्य के निकट था। इसकी राजधानी शेहवान थी।

२३. **पटल**—यह राज्य सिन्ध प्रान्त के दक्षिण भाग में सिन्धु के मुहाने के निकट था। इसकी राजधानी बहमनाबाद के समीप में थी।

२४. **अम्बष्ठ**—यह चिनाव के निचले प्रान्त में था।

सिकन्दर का प्रारम्भिक जीवन (३५६-३२३ ई० पू०)—सिकन्दर मकदूनिया के राजा फिलिप का पुत्र था। वह बचपन से ही विजय के स्वप्न देखा करता था। उसे अपने पिता की विजयों से प्रसन्नता न होती थी। वह सोचता था कि यदि इसी प्रकार वह विजय करता रहा तो मेरे लिए क्या शेष रहेगा। उस समय का एक भारी दार्शनिक अरस्तू सिकन्दर का गुरु था। सिकन्दर जितना महत्त्वाकाँक्षी और साहसी था, उतना ही वह रण-कुशल भी था। उसने अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त ३३६ ई० पू० में मकदूनिया का सिंहासन प्राप्त किया। तभी से वह विश्व विजय के स्वप्न देखने लगा। वह समझता था कि पूर्व में विश्व का छोर भारत तक ही है। उस समय मिस्र, एशिया माइनर, सीरिया आदि सभी ईरानी साम्राज्य के अंग थे। सिकन्दर ने सर्व प्रथम एशिया माइनर पर धावा किया। उसे पराजित कर वह मिस्र की ओर बढ़ा। यहाँ नील के मुहाने पर उसने सिकन्दरिया की नींव डाली। इसके अनन्तर वह उत्तर-पूर्व की ओर मुड़ा।

उसकी अन्य विजयें--उस समय फारसी साम्राज्य की जड़ें हिल चुकी थीं, एक तो वह विस्तृत था, दूसरे अव्यवस्थित। अतः सिकन्दर जैसे वीर सेनानी के लिए उसकी विशाल वाहिनी को भी पराजित करना अत्यन्त सरल था। यही विचार कर उसने ईराक पर आक्रमण किया, और उसे जीत

कर उसने ईरान की राजधानी पर्सिपोलिस को जला डाला। दारायुस तृतीय यह देखकर भाग खड़ा हुआ। इस प्रकार (३३१-३० ई० पू०) ईरानी साम्राज्य का अन्त हो गया।

इसके पश्चात् सिकन्दर ने भारत विजय की तैयारी की। भारत तक आने से पूर्व उसे बीच की कुछ अन्य स्वतन्त्र सत्ताओं को समाप्त करना पड़ा। इनमें सबसे पहिले उसके सामने सीस्तान पड़ा। उसे जीत कर वह दक्षिणी अफगानिस्तान पर टूट पड़ा। यहाँ भी उसने एक नगर की नींव डाली, जिसे अलैक्जैंड्रिया कहा गया। आज उसकी जगह कन्दहार बसा हुआ है।

दूसरे वर्ष उसने काबुल की घाटी में प्रवेश किया। यहाँ पर उसने अपनी सेना को दो भागों में बाँट दिया। इनमें से एक भाग को सिन्धु का पुल बनाने के लिए आगे भेज दिया और दूसरा भाग स्वयं लेकर अनेक लड़ाकू जातियों से लड़ता हुआ वह आगे बढ़ा।

उस समय काबुल के समीप हिन्दूकुश के उत्तर में शशिगुप्त नाम का एक राजा था। यह पहिले सिकन्दर का विरोध करता रहा और ईरानियों को सहायता देता रहा, पर जब वे हार गये, तो इसने भी सिकन्दर की भारत अभियान में सहायता की। तक्षशिला में उस समय राजकुमार आम्भि था; उसने भयभीत होकर सिकन्दर का स्वागत किया और उसकी सहायता की। इसी प्रकार पुष्करावती के संजय और काबुल के कोफायस ने उसकी मैत्री स्वीकार की। **इस बीच कुछ लोग ऐसे थे जिन्होंने बिना लड़े अस्त्र नहीं डाले।** इनमें काबुल के उत्तर में पर्वतीय प्रदेश के एस्पेशियन थे। वे बड़े वीर और साहसी थे। इन्हीं के समीप अश्वक लोगों का निवास था, जिनकी राजधानी मस्सग थी। उसी के निकट न्यास जाति का गणतन्त्रात्मक राज्य था। पर इनमें से किसी की एक न चली और सिकन्दर का मार्ग आगे प्रशस्त होता गया। नीसा (न्यासा) जाति वालों ने तो हार कर यह कहला भेजा था कि वे स्वयं यूनानी हैं; अतः उन्हें अधीन बनने में कोई विरोध नहीं है।

इसके पश्चात् सिकन्दर का सामना गान्धार के राजा हस्ति ने किया। हस्ति उसे एक मास तक रोके रहा; परन्तु अकेला हस्ति कर ही क्या सकता था? सिकन्दर ने उसे भी विजय किया और शशिगुप्त को जीते हुए प्रदेशों का क्षत्रप बना दिया। इसके अनन्तर आम्भि की सहायता से उसने सिन्धु पार किया और वह तक्षशिला पहुँचा। यहाँ उसका भव्य स्वागत हुआ। यहीं पर उसने आगे बढ़ने की पूरी तैयारी की।

सिकन्दर और पुरु—सिकन्दर ने तक्षशिला से ही पुरु के पास एक दूत भेजा और कहलाया कि वह भी अधीनता स्वीकार कर ले, पर पुरु का उत्तर

सिकन्दर महान
का आक्रमण
३२७ ई० पू०
काबुल
काबुल नदी
पेशावर
तक्षिला राज्य
पोरस राज्य
सिकन्दरिया
चिनाव नदी
काथोई
रावी नदी
सतलुज नदी
मुसकीनोस
डराकोई
सम्बोस
ओरीटाई
अराबीटाई
पटलाई
अरब सागर
पैदल सेना
घुड सवार
तीरनदाज
सवार
रथ
घुड़सवार
पैदल सेना
हाथी
पैदल सेना
रथ
घुड़ सवार
पोरस से युद्ध
यूनानी सेना
पोरस सेना
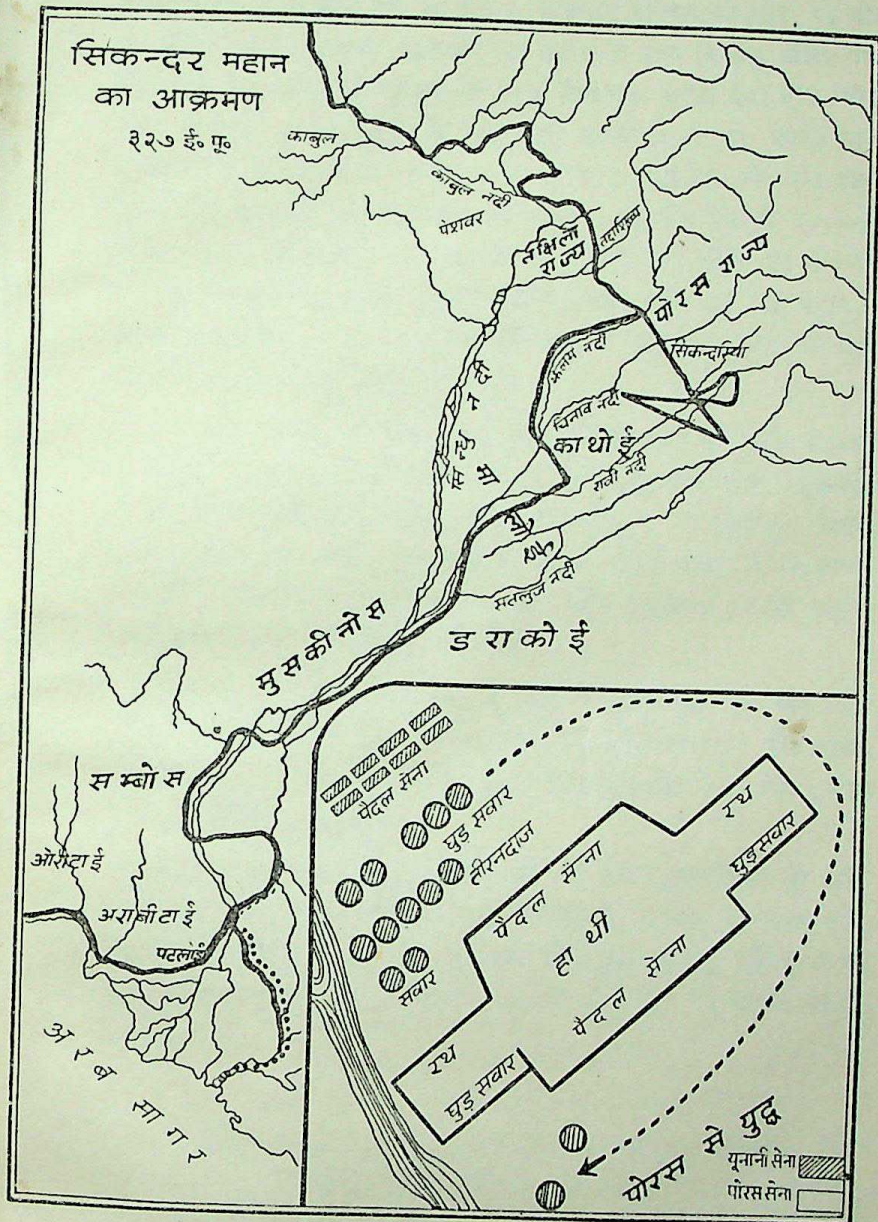
(पृष्ठ ६४ के सामने)

मिला कि वह उसका स्वागत युद्धभूमि में करेगा । आखिरकार दोनों की सेनाएँ झेलम के दो कूलों पर आ डटीं । सिकन्दर पश्चिम की ओर था और पुरु पूर्व की ओर । महीनों सिकन्दर का साहस न हुआ कि वह झेलम पार करे । एक दिन आँधी और तूफान के सहारे सिकन्दर अपनी सेना बीस मील उत्तर ले गया । पुरु के दिखावे के लिए उसने प्रकाश आदि का प्रबन्ध पहले के स्थल पर ही रखा । दूर जाकर उसने चुपचाप नदी पार की और दोनों सेनाएँ बात की बात में अति निकट आ पहुँची । पुरु की सेना में ३०,००० पैदल, ४,००० अश्वारोही, ३०० रथ और २०० हाथी थे । पहिले पुरु ने अपने युवा पुत्र को आगे के दल का मुखिया बना कर भेजा, और जब वह मैदान में वीरगति पा चुका, तो पुरु के सामने कोई चारा न रह गया, वह भी आगे बढ़ा और घनघोर युद्ध आरम्भ हो गया ।

भाग्य का चक्र था कि पिछली रात वृष्टि हो चुकी थी और भूमि दलदली हो गयी थी । अतः पुरु के रथ आगे न बढ़ सके । यही नहीं उसके तीरन्दाज अपने धनुष के निचले भाग जमीन पर न टिका सके । उधर सिकन्दर जिसके पास असीम बल था, अपने घुड़सवारों के सहारे बढ़ता आया, उसके अश्वारोहियों पर भाले थे । जिसके कारण उन्हें कोई असुविधा न हुई, उन्होंने भारतीय सेना का संहार प्रारम्भ कर दिया ।

इतने पर भी, पुरु अपनी सेना का नेतृत्व करता रहा, पर जब उसके हाथी बिगड़ गये और उन्होंने अपनी ही सेना का अधिकांश भाग रौंद डाला, तो अकेला पुरु क्या कर सकता था ? अतः वह बन्दी बना लिया गया । जैसा डा० राय चौधरी ने लिखा है--

"पोरस यह देखकर भी कि उसकी बहुत-सी सेना तितर-बितर हो गयी, उसके हाथी बिना रथवान के हैं अथवा मरे पड़े हैं, रणक्षेत्र से भागा नहीं, जैसे दारायूस कोडोमैनस दो बार भागा था, बल्कि एक बहुत ही ऊँचे हाथी पर बैठा युद्ध करता रहा, और जब उसके नौ घाव लग चुके तो बन्दी बनाया जा सका ।"[1]

1—"Poras, when he saw most of his forces scattered, his elephants lying dead or straying riderless, did not flee as Darius Codomannus had twice fled, but remained fighting, seated on an elephant of a commanding height, and received nine wounds before he was taken a prisoner."

By H. Ray Chaudhari (In Political History p. 301.)

सिकन्दर ने उसकी वीरता की हृदय से प्रशंसा की, अपने इतने लम्बे दौर में सिकन्दर को एक ही ऐसा स्थल मिला था, जहाँ उसे घमासान युद्ध करना पड़ा। उसने पुरु से पूछा, "तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाय?" पुरु ने उत्तर दिया, जो एक राजा दूसरे राजा के साथ करता है। सिकन्दर भी वीर और यशस्वी योद्धा था। उसने पुरु को मुक्त कर दिया, उसका राज्य लौटा दिया और सदा के लिए उसे अपना मित्र बना लिया कदाचित् इसमें यह रहस्य था कि यदि वह उससे बैर मोल ले लेता, तो उसके आगे बढ़ने पर सिकन्दर को पुनः आपत्ति आ सकती थी।

इसके पश्चात् अपनी विजय के उपलक्ष में सिकन्दर ने दो नगर और बसाये। एक तो उस स्थल पर जहाँ उसका घोड़ा वाउ केफला मरा था और दूसरा जिस स्थल पर उसने विजय प्राप्त की थी। इन नगरों के नाम वाउ केफला और विजय देवी क्रमशः रख दिये गये।

इसके अनन्तर वह पुनः आगे बढ़ा, उसने झेलम के पूर्व ग्लचुकायन जनपद के ३७ नगर ले लिये और अद्रिजों की राजधानी त्रियामा अपने अधीन कर ली। फिर क्या था ? उसने चिनाव तथा रावी को पार किया, जहाँ पुरु का दृष्टान्त देखकर अन्य छोटे-छोटे राजाओं ने सर न उठाया। यहीं पुरु का एक वंशज और था, जो उसी के समान वीर था, उसने भी सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली। रावी और व्यास के बीच कठ जाति से सिकन्दर को पुनः लड़ना पड़ा। कठों ने उसका तीव्र विरोध किया। उन्होंने अपने नगर के चारों ओर रथों का व्यूह बना रखा था। सिकन्दर इस व्यूह को कदाचित् न तोड़ पाता, पर उसके नये मित्र पौरव की ओर से उसे ५०० हाथियों की सहायता प्राप्त हो गयी, जिनके सहारे वह उस रथव्यूह को तोड़ सका।

कठों को पराजित करके सिकन्दर व्यास नदी के तट तक आया। यहाँ उसके सैनिकों ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। वे वस्तुतः वर्षों से बाहर निकले थे, और लड़ते-लड़ते थक चुके थे। उन्हें घर लौटना था। फिर यह भी निश्चित न था कि अभी उन्हें कितनी बार और युद्ध करना होगा। इसके अतिरिक्त वे ठंढे प्रदेश के वासी थे और एक गर्म देश में आ पड़े थे; उन्हें यहाँ का जलवायु सह्य न था, वे अपनी जन्मभूमि देखने को विकल थे, साथ ही उन्हें यह ज्ञात हो चुका था कि भारतीय वीर हैं, इन्हें जीतना सरल नहीं। यूनानी लेखक एसिन ने तो यहाँ तक लिखा है, कि **"एशिया में उस समय जितनी जातियाँ निवास करती थीं, उन सब में भारतवासी युद्ध कला में आगे थे।"**

इसके अतिरिक्त व्यास पार करके उन्हें बड़े-बड़े साम्राज्यों के सैन्यबल से लोहा लेना होगा, यह सोच कर उनके उत्साह गिर जाते थे। प्लूटार्क ने लिखा है **"उसके मुकाबिले के लिए गंसरिदाई और प्रेसिआई २०,०००**

अश्वारोही, २००००० पैदल, २००० रथ, और ६००० हाथी लिये, प्रतीक्षा कर रहे थे।"

अतः सिकन्दर ने लौटने का निश्चय किया और ३२६ ई० पू० वह भारत से वापस चला। पहले पहल वह व्यास से झेलम तक चल कर अपने मित्र पौरव के समीप गया। वहाँ उसने अपने जीते हुए प्रदेश का प्रबन्ध पुरु के हाथ सौंप दिया और स्वयं नावों के बेड़े द्वारा झेलम तथा सिन्धु पार करता हुआ अपने देश की ओर चल दिया।

पर भारत से शान्त होकर लौटना भी सम्भव न था। सबसे पहले झेलम की घाटी में उसे सौभूत राजा से सामना करना पड़ा। ये कठों के समान ही सुन्दर आकृति के तथा वीर थे, फिर भी सिकन्दर के सामने वे अधिक न टिक सके, अतः सिकन्दर निर्भीकता से झेलम और चिनाव के संगम तक पहुँच गया।

इसके अनन्तर शिवि लोगों ने उसका सामना करना चाहा, पर उनकी दशा भी सौभूति की तरह हुई, इन्हें जीतकर सिकन्दर अगलस्स जाति से लड़ा, ये शिवियों से भी अधिक शक्तिशाली थे, पर जब उन्होंने देखा कि वे यूनानियों से पार न पा सकेंगे, तो उन्होंने स्वयं अपने नगर को जला डाला और उसी में स्त्री बच्चे भी भून दिये, इस प्रकार जौहर का इतिहास में यह पहला उज्ज्वल उदाहरण इस स्थल पर मिलता है।

पर अभी सिकन्दर को रोकने के लिए चिनाव और रावी के समीप मालव तैयारी कर रहे थे, उन्होंने क्षुद्रकों के साथ संघ बनाना चाहा, किन्तु इसके पूर्व ही सिकन्दर ने आगे बढ़कर मालवों से घोर युद्ध किया। जिसमें वह स्वयं घायल हो गया, अतः उसने उनके स्त्री बच्चों तक का संहार करा दिया। इधर अभी उसके मुकाबिले के लिए अम्बष्ठ और क्षतृ शेष थे। यही नहीं इधर सिन्ध में मुचकर्ण मौजूद थे। पर उस विजेता के सामने एक भी न टिक सके, फिर भी इसके अनन्तर सिकन्दर का सामना ब्राह्मणक जनपद वासियों ने किया, उन्होंने स्वयं विरोध किया और दूसरे अधीन लोगों को भी भड़काया, अतः सिकन्दर ने उनके साथ निर्दयता का व्यवहार किया, उनके संहार के पश्चात् अनेक लाशों को सड़क पर टँगवा दिया। इसके उपरान्त सिकन्दर पातानप्रस्थ नगर तक पहुँचा, जहाँ सिन्धु नदी दो धाराओं में बँट जाती है, और आजकल यहाँ हैदराबाद का नगर बसा है। यहाँ के निवासी उसकी अधीनता स्वीकार न करना चाहते थे, साथ ही वे इस योग्य भी न थे कि उसका सामना करते, अतः वे भाग खड़े हुए। इनकी शासन व्यवस्था के विषय में यूनानियों ने लिखा है, कि वे स्पार्टा की भाँति रहते थे और दो वंशगत राजा एक कुल वृद्धों की सभा के साथ शासन का प्रबन्ध करते थे। यहाँ सिकन्दर ने अपनी सेना को पुनः दो भागों में बाँट दिया। एक भाग उसने जलमार्ग द्वारा जल सेनापति नियार्थस की अध्यक्षता

में पश्चिम की ओर भेज दिया और दूसरे भाग के साथ उसने स्वयं मकरान के स्थल मार्ग से बेवीलोन की ओर प्रस्थान किया।

सिकन्दर की मृत्यु—सिकन्दर स्थल मार्ग की अनेक कठिनाइयों का सामना करता हुआ, ३२३ ई० पू० में बेवीलोन पहुँचा। मालव युद्ध में लगे घाव भी अभी उसके न भरे थे। उधर उसे ज्वर ने आ घेरा। अतः ३२ वर्ष की आयु में ही वह जगत प्रसिद्ध विजेता इस अपार संसार से चल बसा। सिकन्दर के मरते ही, उसके साम्राज्य में अव्यवस्था फैल गई। उसके सेनापति अपना अलग अलग राज्य स्थापित करने लगे। मैसीडोनियाँ में एण्टीगोनस ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। मिश्र टालेमी ने अपनी सत्ता स्थापित की। सीरिया में सिल्यूकस ने एक नये राज्य की नींव डाली। भारत में भी स्थान-स्थान पर विद्रोह हुए और उसका क्षत्रप फिलिप्स मार डाला गया।

यूनानी आक्रमण का भारत पर प्रभाव—यद्यपि सिकन्दर भारत में आँधी-तूफान की भाँति आया, यहाँ से आँधी-तूफान की ही भाँति चला भी गया, और भारत में कोई चिरस्थाई सत्ता स्थापित न कर सका; तथापि उत्तर पश्चिम में जो राज्य असंयत थे, जिनमें एकता का अभाव था, उन्हें एक होने के लिए वह प्रेरित कर गया। इससे उसके पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य का कार्य अत्यन्त सरल हो गया, डा० राय चौधरी ने ठीक ही कहा है—

"यदि औग्रसेन महापद्मनन्द चन्द्रगुप्त मौर्य के पूर्वी साम्राज्य का पिछला शासक था, तो उस साम्राज्य की नींव उत्तर पश्चिम में दृढ़ करने वाला सिकन्दर था।"

सिकन्दर के आक्रमण से स्थल और जल दोनों के मार्ग खुल गये और पश्चिमी देशों से भारत का नाता अधिक घनिष्ठ हो गया। स्ट्रैबो का कथन है कि :—

"कैस्पियन और काले सागर के रास्ते से योरुप को भारतीय माल भेजने में आमू दरिया एक कड़ी के समान है"।

इस यातायात का प्रमाण वे यूनानी सिक्के हैं, जिनकी अनेक निधियाँ उत्तर पश्चिमी भारत में मिली हैं। इसी आक्रमण के फलस्वरूप भारतीय व्यापारी बड़ी संख्या में योरुपीय देशों को जाने लगे।

दूसरे ग्रीक भारतीय सीमा के नगरों में बस गये और बहुत समय तक ये दोनों के बीच सम्पर्क स्थापित करने का कार्य करते रहे। इससे भारतीय कला तथा सिक्कों के प्रचलन में अधिक योग मिला। किन्तु इस आक्रमण से एक भारी हानि भी हुई, वह यह कि भारतीयों की दुर्बलता का परिचय विदेशियों को मिल गया। गणतंत्र तो उस समय प्रायः नष्ट ही हो गये।

इस आक्रमण का भी भारतीय संस्कृति पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ सका, क्योंकि भारतीय उन्हें हैय दृष्टि से देखते रहे और उनसे सदा आतंकित रहे। अतः उन्होंने कभी भी उनका अनुकरण न करना चाहा, दूसरी ओर भारतीय दर्शन और साहित्य इतने विकसित हो चुके थे कि इन्होंने यूनानी दर्शन और साहित्य पर अपनी छाप छोड़ दी, यूनानी दार्शनिक पाइथैगोरस के आत्मा, पुर्नजन्म के सिद्धान्त पर भारत की ही छाप दिखाई देती है।

परिच्छेद ११

मौर्य साम्राज्य

भारतीय इतिहास का प्रथम सम्राट जो चौथी शताब्दी के अन्तिम चरण के प्रारम्भ में हमारे सम्मुख आता है, चन्द्रगुप्त मौर्य था। इसके उदय के साथ हमारे ऐतिहासिक सूत्र और अधिक विश्वस्त हो जाते हैं, पर वे हमें इसके वंश के विषय में परस्पर विरोधी तथ्य प्रदान करते हैं। इसके सम्बन्ध में हमें बौद्ध, जैन तथा पौराणिक ग्रन्थ, यूनानी लेखकों के वर्णन, मुद्राराक्षस, तथा सबसे अधिक कौटिल्य का अर्थशास्त्र सामग्री प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त इसके काल में कुछ ऐतिहासिक घटनाएँ भी ऐसी घटती हैं जो इसके तिथिक्रम को निश्चय कर देती हैं। यथा चन्द्रगुप्त की सिकन्दर से भेंट, उसका सिल्यूकस से युद्ध, चाणक्य का उदय आदि। इन आधारों पर हम इसका राज्यारोहण लगभग ३२१ ई० पू० मान सकते हैं।

इसका वंश तथा प्रारंभिक जीवन—इसके वंश के विषय में दो निश्चित मत हैं, एक इसे शूद्र की सन्तान घोषित करता है, दूसरा क्षत्रिय कुल का शिरोमणि। जो लोग इसे शूद्र कहते हैं उनका कहना है कि यह नन्द की उपपत्नी मुरा से उत्पन्न पुत्र था[1] इसी आधार पर यह मौर्य कहलाया। उनका दूसरा आधार मुद्राराक्षस है, जिसमें चाणक्य चन्द्रगुप्त को वृषल (शूद्र) कह कर पुकारता है, पर इनमें से एक भी न्याय संगत नहीं ठहरता, क्योंकि संस्कृत शब्द मुरा से सन्तान अर्थ में मौर्य बनता ही नहीं, इससे तो मौरेय बनता है।[2] फिर वह अभिमानी ब्राह्मण चाणक्य जिसे नन्दों का विनाश करना था, उनके स्थान पर किसी शूद्र को सिंहासन देगा यह सर्वथा असम्भव है। दूसरी ओर जो (विशेषकर ग्रन्थ) इसे क्षत्रिय बतलाते हैं उनका कथन है कि यह शाक्य वंश का था। जिस समय प्रसेनजीत के पुत्र विडुडाम ने इन पर अत्याचार किया था उस समय वे अपने देश को छोड़ कर पिप्पलि वन की ओर

१—चन्द्रगुप्तं नन्द स्यैव पत्न्यन्तरस्य पुत्र मौर्या प्रथमम्। अर्थात् उस चन्द्रगुप्त को जो नन्द की उपपत्नी से उत्पन्न है, और प्रथम मौर्य सम्राट है।

२—वृषल का अर्थ राजाओं का सरदार भी होता है।

चले गये थे। इसी की पुष्टि जैन ग्रन्थ दूसरे ढंग से करते हैं, इनका कथन है कि यह एक मयूर पोषक (मोरों को पालने वाले) का पुत्र था। यह बात कुछ सिक्कों तथा मौर्य वंश के चिह्नरूप मोर की प्रतिमाओं से भी सिद्ध होती है, अशोक ने तो मोर का वध ही बन्द करा दिया था। इसके अतिरिक्त महावंश, दिव्यावदन, महापरि निर्वाणसुत्तान्त बोधिवंश, और विष्णुपुराण में मौर्यों को क्षत्रिय ही माना है। मौर्य लोग राजनीतिक तथा सामाजिक विषयों में सुधारवादी थे और प्राचीन रूढ़ियों का पालन नहीं करते थे, बाद में इन्होंने बौद्ध धर्म अपना लिया। अतः परम्परा वाले लेखकों ने इसे शूद्र आदि कह डाला और अनेक दन्तकथाएँ बन गयीं, पर वे सब निराधार हैं। इसके क्षत्रिय होने का एक अन्य प्रबल प्रमाण यह है कि दिव्यावदान में उसका पुत्र बिन्दुसार अपने को मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय (जिसका राजतिलक होता है, और जिसका मस्तक मन्त्रों से पवित्र किया जाता है ऐसा क्षत्रिय) कहता है, और उसका पुत्र अशोक महापरि निर्वाण सूत्र में अपने को क्षत्रिय घोषित करता है। महापरि निर्वाण सूत्र में मौरियों के लिए लिखा है कि ये पिप्पलि वन में शासन करते थे, और क्षत्रिय थे। अन्त में कहना न होगा कि कुछ मध्यकालीन उत्कीर्ण (Inscriptions) लेखों में यह सूर्यवंशी क्षत्रिय बताया गया है। यही नहीं प्लूटार्क तथा जस्टिन जैसे यूनानी लेखक भी इसे सामान्य वंश का बतला कर रह जाते हैं। अतः इसे क्षत्रिय मानना ही न्याय संगत है। चन्द्रगुप्त का प्रारंभिक जीवन अधिक ज्ञात नहीं है, पर यह निश्चित है कि इसकी चाणक्य जैसे महापंडित से छोटी ही आयु में भेंट हो गयी। चाणक्य ने ही उसे विद्याध्ययन कराया और इस योग्य बनाया कि यह नन्द वंश को समूल उखाड़ फेंके।

चाणक्य स्वयं तक्षशिला विश्वविद्यालय का अध्यापक था। तक्षशिला के समीप **चणक** स्थान का निवासी होने के नाते उसे चाणक्य कहा जाता है, और वह स्वरूप से काला तथा कुटिल था, अतः उसका गोत्र का नाम कौटिल्य था, उसी का सामान्य नाम विष्णुगुप्त था। वह महापंडित था, उसने एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है अर्थशास्त्र, इसमें उसने सारी आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं का विशद वर्णन किया है। आज भी यह पुस्तक बड़ी प्रामाणिक मानी जाती है। चाणक्य किसी कारणवश नन्दों से असन्तुष्ट हो गया, और उनका नाश करना चाहता था। कहा जाता है कि उसे नन्द के पूर्व मन्त्री शकटार ने जाकर नन्द से कुपित करा दिया था। शकटार का नन्द राजा ने अपमान किया था और वह स्वयं उसका बदला न ले सकता था, अतः एक दिन उसने चाणक्य को देखा कि वह एक घास की जड़ खोद कर उसमें मट्ठा डाल रहा है। पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह कुश है, और बिस

समय वह विवाह के निमित्त घर से निकला तो उससे उसके घाव हो गया जिससे उसके विवाह का शकुन बिगड़ गया, अत: वहीं वे पौधे फिर न निकल आयें, वह उन्हें जड़ से उखाड़ कर उनके स्थान पर मट्ठा डाल रहा है। अत: शकटार ने अपने मन का भाव छिपाकर उसे दरबार में बुलाया और उच्च आसन पर बैठाया, नन्द ने उसे देखकर वहाँ से हटने को कहा, इसी पर चाणक्य को क्रोध आ गया। दूसरी अनुश्रुति के अनुसार चाणक्य तक्षशिला से विद्याध्ययन करके शास्त्रार्थ करने निकल पड़ा और चलते-चलते नन्द राज्य में पहुँच गया। वहाँ उसने सभी को शास्त्रार्थ में पराजित किया, अत: सभापति के आसन का अधिकारी बना, पर राजा नन्द को उसकी आकृति से घृणा हुई और उसने उसे वहाँ से हटने की आज्ञा दी, इसी पर वह क्रोधित होकर बोला कि भूमण्डल में जब तक नन्दों का अस्तित्व न मिट जायगा वह अपनी शिखा न बाँधेगा और वहाँ से चल दिया। इसी समय उसकी मार्ग में इस बालक चन्द्रगुप्त से भेंट हुई, कहते हैं इस बच्चे को एक गोपालक ने पाला था, और उसका बैल चन्द्र इसे नाद में देखकर भी इससे न बोला था, अत: इसका नाम चन्द्र+गुप्त पड़ गया था। चाणक्य ने इस बालक को राज क्रीड़ा का खेल खेलते पाया। वह इसकी चातुरी से अत्यन्त प्रसन्न हो गया, और इसे साथ ले लिया। अपने उद्देश्य के अनुसार इसे अस्त्र-शस्त्र सभी प्रकार की शिक्षा दी और इसके साथ राज शासन तक बराबर रहा।

चन्द्रगुप्त का उत्कर्ष—उस समय की राजनीतिक परिस्थिति ने चन्द्रगुप्त के उत्कर्ष में मनचाहा योगदान दिया। सिकन्दर के भारतभूमि से विदा लेते ही, यूनानियों के भाग्य ने पलटा खाया और सिकन्दर के प्रधान क्षत्रप फिलिप्स की हत्या कर दी गयी। जब तक सिकन्दर उसका नया प्रबन्ध करता, जैसा कि वह आदेश भेज चुका था, तब तक वह स्वयं इस लोक से विदा हो गया। अत: उत्तर-पश्चिमी भारत का क्षेत्र किसी भी महत्वाकांक्षी और साहसी देशवासी युवक के स्वागत के लिए प्रस्तुत हो गया। चन्द्रगुप्त ऐसे अवसर को कब हाथ से जाने दे सकता था। उसने तो सिकन्दर से भी भेंट की थी, और वह चाहता था कि नन्द जैसे अप्रिय राजा का शीघ्र से शीघ्र अन्त हो। अत: उसने शक्ति संचय करना प्रारम्भ कर दिया। चाणक्य के साथ मिलकर उसने विन्ध्यमेखला के पास बहुत सा धन एकत्र किया और एक बड़ी सेना तैयार की। इस सेना को लेकर उन्होंने नन्द-साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया, पर नन्दों की शक्ति अभी भी प्रबल थी; अत: उनको पराजित होना पड़ा। यही नहीं उनको गुप्त-वेष बनाकर भागना और इधर-उधर भटकना पड़ा। धननन्द ने उनके प्राण-दण्ड की घोषणा करा दी थी। इस समय उन्होंने अनु-

भव किया कि साम्राज्य के केन्द्र स्थान पर आक्रमण करके उन्होंने भूल की[1]। अतः वे उत्तरापथ की ओर गये। जब वे दोनों उत्तरापथ पहुँचे तो यूनानियों की बलवती धारा चल रही थी, उनको यह सह्य न हुआ। उन्होंने यूनानी शत्रुओं को तितर-बितर कर दिया और अपनी सत्ता जमा ली। इसी का उल्लेख जस्टिन ने इन शब्दों में किया है—

"सिकन्दर की मृत्यु के बाद भारत ने अपने कन्धों से मानो दासता के जुए को एकबारगी उठाकर अलग कर दिया और उसके प्रान्तीय शासकों को मृत्यु के घाट उतार दिया। इस स्वाधीनता का श्रेय सैण्ड्रोकोहस को है।[2]"

इसी स्थल पर उन्होंने पर्वतक से मैत्री की। कुछ इतिहासकार[3] इसे पोरस का ही दूसरा नाम बतलाते हैं। बहुत सम्भव है कि सिकन्दर के लौटने के पश्चात् पोरस का आधिपत्य प्रबल हो गया हो और चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य ने उसका बैर मोल न लेकर उसे अपने जीते हुए नन्द साम्राज्य से आधा देने का वचन दिया हो। मुद्राराक्षस का नाटककार इसी घटना को ५वीं शताब्दी में लिखता है। उसका कहना है कि चन्द्रगुप्त चाणक्य की सहायता से नन्दों का विरोध करने के लिए एक प्रबल संघ का अध्यक्ष हो गया, जिसमें हिमालय प्रदेश का राजा पर्वतक उसका प्रमुख साथी बना। जो हो, उसकी सहायता से चन्द्रगुप्त ने नन्द-साम्राज्य पर आक्रमण किया और नन्द को पराजित किया।

पर नाटक कार ने चाणक्य द्वारा पर्वतक की हत्या का षडयन्त्र रचवाया है, किन्तु इसमें अधिक तथ्य न होकर कोरी कल्पना ही प्रतीत होती है; क्योंकि पोरस उस समय यूनानी प्रतिनिधि इवदिम से अलग हो चुका था और वह इसके लिए अधिक उत्तरदायी हो सकता है। चाणक्य, चन्द्रगुप्त तथा पोरस तीनों ही स्वदेशाभिमानी थे, और चाणक्य इतना निंद्य कार्य नहीं कर सकता था

---

१ एक वृद्धा की कथा है कि—जहाँ वे टिके थे वहीं एक वृद्धा खाना पका रही थी और अपने बच्चे को खिला रही थी। बच्चा रोटी बीच से तोड़ कर खाने लगा तो वृद्धा ने कहा, "तू तो पागल हुआ है, चन्द्रगुप्त की तरह बीच में तोड़ना चाहता है, वहाँ जल जायगा।"

2. "India after the death of Alexander has shaken, as it was, the yoke of servitude from the neck and put his governors to death. The author of this liberation was Sandrocothus."

—'Ancient India Age described by Magasthenes & Arian.'

3. Dr. F. W. Thomas.

कि वचन तोड़कर राज्य के लोभ से अपने सहायक मित्र की हत्या कराता। चाणक्य नीति विशारद था और मुद्राराक्षस से यह स्पष्ट हो जाता है कि कैसे उसने राक्षस जैसे योग्य मन्त्री को चन्द्रगुप्त के लिए अपनी ओर मिलाया। पर ऐतिहासिक गणना के आधार पर चन्द्रगुप्त मौर्य लगभग ३२१ ई० पू० मगध के सिंहासन पर आसीन हुआ।

चन्द्रगुप्त की अन्य विजयें—चन्द्रगुप्त की विजयों का कोई क्रम बद्ध लेखा तो उपलब्ध नहीं होता, पर यह निश्चय है कि उसके अधिकार में सम्पूर्ण आर्यावर्त आ गया था। पश्चिम में सौराष्ट्र में स्थित रुद्रदामन के गिरनार शिला लेख में उल्लेख है कि चन्द्रगुप्त का राष्ट्रिय पुष्यगुप्त वहाँ शासक था, और उसने पर्वतों में बांध बनाकर सुदर्शन झील बनवायी थी। इससे स्पष्ट है कि उसके अधिकार की पश्चिमी सीमा समुद्र का स्पर्श कर रही थी, उसने दक्षिण के वे सभी प्रदेश अपने अधिकार में कर लिये थे जो नन्द के राज्य के अन्तर्गत थे। इसका प्रमाण यह है कि विन्दुसार ने वे देश जीते नहीं और न अशोक ने ही जीते। पर अब यह निश्चय हो चुका है कि मास्की तक अशोक का साम्राज्य था। अतः यह चन्द्रगुप्त मौर्य का ही काम था कि उसको जीतता। जैन और तामिल साहित्य में कई स्थलों पर ऐसा संकेत मिलता है कि मौर्यों के रथ तिनेवली की पहाड़ियों तक पहुँच गये थे। यूनानी लेखक प्लतार्थ के अनुसार उसने ६ लाख सैनिकों को लेकर सारे भारत को आक्रान्त कर लिया था। बौद्ध ग्रन्थ महावंश ने तो उसे सारे भारत का (जम्बूद्वीप का) सम्राट् बता डाला है।

उसका सिल्यूकस से युद्ध—सिकन्दर के जाने के पश्चात् उसका सेनापति सिल्यूकस निकैटौर (विजयी) उसके बचे-खुचे साम्राज्य का स्वामी बना। उसने सिकन्दर की भाँति खोये हुये प्रदेशों पर पुनः अधिकार करना चाहा। अतः ३०५ ई० पू० में उसने भारत पर आक्रमण कर दिया। पर इस समय भारत का मानचित्र और ही था, चन्द्रगुप्त अपनी जड़ें जमा चुका था और पश्चिमोत्तर के छोटे-छोटे राज्य समाप्त हो चुके थे। फिर आम्भि और शशिगुप्त जैसे भारत विरोधी नरेश न रह गये थे, यही नहीं चन्द्रगुप्त की सेना सुसंगठित और स्थायी थी, अतः चन्द्रगुप्त ने आक्रमणकारी को सिन्धु के उस पार जाकर रोका, इस स्थिति में बिना किसी लम्बे युद्ध के सिल्यूकस को हार खानी पड़ी और उसे विवश होकर अपमान-जनक सन्धि करनी पड़ी। उसने चन्द्रगुप्त को सिन्धु के उस ओर का सारा प्रदेश (जिसमें एरिया, एराकोशिया, जैड्राशिया और पैरोपैनीसैदाई आज के हिरात, कन्धहार, मकरान और काबुल थे) दे दिया; साथ ही अपनी कन्या का विवाह भी विजयी से कर दिया। चन्द्रगुप्त ने इस सन्धि के उपलक्ष में ५०० हाथी दिये, जिनकी उसके श्वसुर

को अपने क्षेत्र में आवश्यकता थी। इसी सम्बन्ध में एक यूनानी राजदूत मेगास्थनीज़ पाटलपुत्र आया। इस युद्ध के अनन्तर दोनों ने सन्धि को आजीवन निबाहा, जिसके फलस्वरूप मौर्य साम्राज्य की पश्चिमी सीमा हम हिन्दूकुश तक देखते हैं।

साम्राज्य का विस्तार--चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य का विस्तार सुनिश्चित सा है। पूर्व में बंगाल की खाड़ी से लेकर पश्चिम में हिन्दूकुश और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक उसके साम्राज्य का विस्तार था।

चन्द्रगुप्त का अन्त—लगभग २३ वर्ष शासन करके चन्द्रगुप्त इस असार संसार से चल बसा। उसके अन्त के विषय में एक जैन अनुश्रुति है कि उसके शासन के अन्तिम समय में देश में एक भीषण अकाल पड़ा, जो बारह वर्ष तक रहा। इसके कारण वह अपनी प्रजा की दयनीय दशा न देख सका और उसने जैन आचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण की ओर यात्रा की, और श्रवण वैलगोला में जाकर उसके साथ कुछ समय तक रहा। अन्त में उपवास द्वारा उसने अपना प्राणान्त किया। (लगभग २९८ ई० पू०) अनेक इतिहासकारों का कथन है कि यह अनुश्रुति अशोक के पौत्र संप्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय) पर अधिक लागू होती है, क्योंकि वह जैन मतावलम्बी था, अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय का सम्पर्क भद्रवाहु तथा श्रवण वैलगोला में अधिक सम्भव है।

चन्द्रगुप्त का चरित्र—भारतीय सम्राटों में चन्द्रगुप्त मौर्य का स्थान अत्यन्त गौरवपूर्ण है। सामान्य वंश और स्थिति का होकर उस युग में इतना बड़ा साम्राज्य स्थापित करना उसी का काम था। उसी ने भारत से विदेशियों की जड़ें ऐसी उखाड़ फेंकी थीं कि वे कुछ समय तक इस ओर दृष्टिपात भी न कर सके। यही नहीं जो साम्राज्य उसने नंदों से प्राप्त किया था, उसका पर्याप्त विस्तार भी किया। फिर इतने बड़े साम्राज्य में बिना रेल और तार के शान्ति बनाये रखना उसी का कार्य था।

वह न केवल शासक था वरन् प्रजापालक भी था। एकछत्र सम्राट होते हुए भी हम उसे निरंकुश नहीं पाते। न्याय का सर्वोच्च अधिकारी होते हुए उसे कभी पक्षपात पूर्ण नहीं पाते। वह सदा निर्भीकता से काम करता रहा। सिकन्दर जैसे दिग्विजयी से वह निडर होकर बात कर सका और अपना स्वार्थ सिद्ध न होते देख उसकी सारी सेना के होते हुए भी टके सा जवाब देकर चला आया। चाणक्य जैसे महा पण्डित को वह अपने व्यक्तित्व की छाप से मोह सका। चाणक्य ने उसे खूब परख कर ही अपने साथ लिया था, और साथ लेने के उपरान्त भी अनेक युद्धों में चाणक्य ने उसे आजमाया। किसी निर्वीर साधारण व्यक्ति का कार्य न था कि नन्द की विशालवाहिनी से अथवा सिल्यूकस जैसे विजयी से लोहा लेता। वह देश भक्त, राष्ट्र निर्माता, साम्राज्य

कुशल शासक था। उसने ग्रीक राजदूत को अपने यहाँ रखा जिसने उसके राज्य प्रबन्ध की भूरि भूरि प्रशंसा की है। वह एक उच्चकोटि का सैनिक, दूरदर्शी तथा राजनीतिज्ञ था। डा० विसेण्ट स्मिथ का कथन है कि "वह निरंकुश शासक था, जो मनमाने ढंग से अपनी प्रजा पर शासन करता था और उसके साथ दासों जैसा व्यवहार करता था" निश्चय ही अतिरंजित है, और जस्टिन के लेखों से प्रभावित है। इससे वस्तुतः हमें उसकी कठोर दण्डनीति का अनुमान न लगाकर उसके अनुशासन का विचार करना चाहिये। उस युग में इसके बिना शासन सूत्र टिक ही नहीं सकता था। उसके सुव्यवस्थित और विकेन्द्रीकरणयुक्त (Decentralized पंचायत आदि) शासन के लिए उसकी ई० बी० हैवेल ने भी प्रशंसा की है।

अपने कर्त्तव्य-पालन में उसने कभी त्रुटि न आने दी। कभी-कभी वह न्याय करने बैठता था तो सारा दिन बैठा रहता था। इसी प्रकार वह अस्पतालों, स्वास्थ्य रक्षा केन्द्रों, दुर्भिक्ष और दीन दुखियों के कष्ट निवारण के लिए सदा यत्नशील रहता था।

सम्राट का व्यक्तिगत जीवन उस समय बड़ा ही कंटकों से भरा रहता था, मेगस्थनीज लिखता है कि वह सदा प्राण भय से सशंकित रहता था, इसी कारण लगातार दो रातें वह एक ही कमरे में न बिता पाता था। वह केवल चार अवसरों पर अपने महल से बाहर जा पाता था—युद्ध-यात्रा, यज्ञ का अनुष्ठान, न्याय-वितरण और आखेट। आखेट में जाते समय उसका मार्ग रस्सियों से घेर लिया जाता था, और उन्हें लाँघने का दण्ड प्राण दण्ड ही था। जब वह निकलता था तो स्वर्ण की पालकी पर निकलता था, और सुन्दर कढ़े हुए चमकीले वस्त्र पहनता था। यात्रा करते समय वह कोई घोड़े अथवा हाथी का उपयोग करता था। उसे खेलों से बहुत चाव था और वह बहुधा साड़ों, हाथियों अथवा गैंडों के युद्ध देखता था।

मेगस्थनीज़—यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ सेल्यूकस द्वारा चन्द्रगुप्त के दरबार में भेजा गया था, उसने मौर्य कालीन भारत की दशा का विशद वर्णन किया है। उसकी लिखी पुस्तक का नाम इंडिका है; पर वह अब मूलरूप में प्राप्त नहीं है। इसके अनेक अंश ग्रीक और रोमन लेखकों ने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किये हैं। अतः इन्हीं खण्डों के रूप में हम उसकी रक्षा कर सके हैं। इसमें विशेष रूप से उसने चन्द्रगुप्त के शासन प्रबन्ध का वर्णन किया है जिसका उल्लेख मौर्यकालीन शासन पद्धति में आगे किया जायगा।

बिन्दुसार

चन्द्रगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र बिन्दुसार लगभग २९८ ई० पू० में गद्दी

पर बैठा । इसका शासन काल बहुत ही शान्त रहा । न तो इसने कोई युद्ध ही ऐसे किये जो उसे गौरव प्रदान करते, न किसी अन्यरूप से साम्राज्य का विस्तार ही । उसे ग्रीक इतिहासकार अन्य कई नामों से पुकारते हैं, जो सभी अमित्रघात के रूपान्तर हैं ।

इसके शासन काल में कुछ उपद्रव भी हुए, जिसका दमन उसके प्रान्तीय शासकों द्वारा किया गया । एक विद्रोह तक्षशिला में उठ खड़ा हुआ । वहाँ पर बिन्दुसार का पुत्र सुषीम शासन कर रहा था, पर वह उसे न दबा सका । अतः बिन्दुसार ने उज्जयिनी के प्रान्तपति अशोक को तक्षशिला भेजा । अशोक के वहाँ पहुँचने पर विदित हुआ कि वे सम्राट के विरुद्ध न थे, न हैं, बल्कि कुछ मंत्रियों के क्रूर शासन से दुःखी थे । अतः अशोक ने बिना युद्ध के ही शान्ति स्थापित कर दी ।

इस स्थल पर एक बात अवश्य विचारणीय है कि दक्षिण के कुछ राज्य जो चन्द्रगुप्त ने नहीं जीते थे, और जो अशोक के साम्राज्य में आते हैं, यह आखिर कैसे सम्भव हुआ ? बहुत सम्भव है कि चाणक्य ने बिन्दुसार को भी चन्द्रगुप्त की नीति का अवलम्बन करने को कहा हो और इसी आधार पर उसने अमित्रघात (शत्रुनाशक) की उपाधि धारण की हो ।

उसका वैदेशिक सम्बन्ध—बिन्दुसार ने यवन राज्यों से मित्रता का सम्बन्ध रखा । यूनानी लेखक स्ट्रैबो के अनुसार सीरिया के राजा एन्टीयोकस सोटर ने डाइमेकस को बिन्दुसार के दरबार में अपना दूत बनाकर भेजा । प्लिनी का कथन है कि मिश्र के राजा टालमी ने डायोनीयिस को राजदूत बनाकर पाटलि-पुत्र भेजा । कहा जाता है कि बिन्दुसार ने अपने मित्र सीरिया के राजा को लिखा कि वह उसके लिए अंगूरी शराब, अंजीर और एक दार्शनिक भेजे । इसका उत्तर उसे मिला कि पहिली दो वस्तुएँ मैं हर्ष के साथ भेज देता हूँ, पर दार्शनिक भेजने की हमारे यहाँ परम्परा नहीं है ।

बिन्दुसार की सन्तति— लंका के पाली साहित्य के अनुसार बिन्दुसार के १६ रानियाँ और १०१ पुत्र थे । पर यह नितान्त कल्पना की चीज है, हाँ उसके कई रानियाँ और कई पुत्र थे जिनमें अशोक, सुषीम, तिष्य प्रमुख थे । इनमें से कई के परिवारों का उल्लेख अशोक स्वयं करता है, पर किसी भी ओर कोई ठोस प्रमाण नहीं है । इतना अवश्य है कि अशोक ही सबसे योग्य था, अतः पिता की २७३ ई० पू० में मृत्यु के उपरान्त वहीं सिंहासन पर बैठा ।

अशोक (२७३—२३२ ई० पू०)

अशोक आज से लगभग २२०० वर्ष पूर्व हो चुका और विश्व ने उस समय से आज तक जो प्रगति की है, उससे एक पूर्णतया नूतन युग बन गया ।

पर अशोक की स्मृति आज भी उसी श्रद्धा से हमारे हृदय पटल पर अंकित है, जसी उसके समय में थी। आज भी समस्त संसार उसे सम्मान की दृष्टि से देखता है। स्वतंत्र भारत में उसके चक्रचिह्न को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है। अशोक ने अपनी प्रजा पर शासन नहीं किया, बल्कि उसकी स्वयं सेवा की है। यही नहीं कि अशोक प्रजानुरंजन सम्राट था, बल्कि वह प्रजा का हित इसलिए करता था कि उसे अपने को उससे उऋण करना था।

अशोक का राज्यारोहण—यह संकेत किया जा चुका है कि दिव्यावदान और सिंहली वर्णनों के अनुसार अशोक ६६ भाइयों को मार कर गद्दी पर बैठा। उसने राधागुप्त की सहायता से अपने सौतेले बड़े भाई का वध कर दिया और राधागुप्त को अपना प्रधान मंत्री बनाया। इसकी पुष्टि में सबसे बड़ा प्रमाण यह दिया जाता है कि अशोक का राजतिलक उसके गद्दी पर बठने के ४ वर्ष पश्चात् हुआ, दूसरे पाँचवें शिला लेख में वह अपने भाइयों के परिवारों की चर्चा करता है, उसकी रक्षा की बात सोचता है पर भाइयों के विषय की बात इस स्थल पर नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि यह कहा जाय कि उसका राजतिलक इसलिए देर से हुआ कि वह कम आयु का था, तो भी उचित नहीं, क्योंकि महाभारत के आधार पर हम बच्चों का भी अभिषेक देखते हैं। अतः उसके विलम्ब से गद्दी पर बैठने में रहस्य अवश्य है पर कहना न होगा कि अशोक को क्रूर बनाने में बौद्ध-ग्रंथों का तात्पर्य कुछ और ही था, वे उसे इसलिये निर्दय दिखाते हैं कि उसके बौद्ध होने के पूर्व तथा पश्चात् की दशा में स्पष्ट अन्तर दिखाई दे। दूसरे उसके ६६ भाई और भी थे इसके ठोस प्रमाण कहाँ हैं ? हाँ यह निश्चित है कि वह अपने सहोदर भाइयों में सबसे बड़ा न था, पर सबसे सुयोग्य वही था।

कलिंग विजय—अशोक को हिमालय से मैसूर और हिन्दुकुश से बंगाल तक का साम्राज्य उत्तराधिकार में मिला था, पर उस युग में सम्राट को कुछ विजय भी करना आवश्यक था, अतः उसने अपनी विजय यात्रा अपने राजतिलक के ८ वें वर्ष में अर्थात् २६१ ई० पू० में कलिंग के विरोध में की। कलिंग महानदी और गोदावरी के बीच का समुद्र तट के समीप का भाग था। चौथी शताब्दी ई० पू० राजा नन्द इस पर आक्रमण कर यहाँ (महापद्मनंद) से एक जैन तीर्थंकर की मूर्ति उठा ले गया था। पर बिन्दुसार के काल में सम्भव है उसने मगध का आधिपत्य छोड़ दिया हो, अतः अशोक को आवश्यक था कि वह इसे जीते। कलिंगवासी इतने निर्बल और भीरु भी न थे कि एकाएक अस्त्र डाल देते। अतः उन्होंने अशोक का डटकर सामना किया, इसका फल यह हुआ कि वे एक बड़ी संख्या में मारे गये और उससे अधिक बन्दी बनाये गये। अशोक के १३ वें शिलालेख में लिखा है कि १½ लाख बन्दी बनाये गये,

और एक लाख मारे गये और उसके कई गुने घायल हुए। इसका फल यह हुआ कि विजय श्री अशोक के हाथ रही। पर होना कुछ और ही था। इस घटना से अशोक के चित्त पर एक आघात सा लगा। उसने भेरीघोष (लड़ाई का सूचक शब्द) समाप्त करा दिया और धर्म घोष बजवा दिया।

अशोक का धर्म—इसमें सन्देह नहीं कि अशोक बौद्ध हो गया था, पर व्यक्तिगत रूप से उसमें इतनी उदारता थी कि वह सभी धर्मों को अपने साम्राज्य में सम्पन्न और स्वतन्त्र देखना चाहता था। (सवेपसंडा सवत बसेयु: अर्थात् सभी धर्म सर्वत्र रहे) उसने कभी भी किसी को बौद्ध धर्म मानने को विवश नहीं किया। उसका विश्वास था कि 'सभी धर्मों में मनुष्य को आत्मसंयम, भाव शान्ति तथा चित्त को शुद्ध करने का पाठ पढ़ने को मिलता है।"[१] फिर हम देखते हैं कि उसने ब्राह्मण, श्रमण, आजीवकों आदि का सदा सम्मान किया। उसने आजीवकों के लिये गुफाएँ बनवा दीं। बौद्ध होते हुए भी उसने जिस धर्म का उपदेश किया वह सभी धर्मों का निचोड़ था। कौन सा ऐसा धर्म है जिसमें अपने माता-पिता, गुरू अथवा अतिथि को पूज्य नहीं माना जाता। अथवा कौन सा ऐसा धर्म है जो अपने हृदय की शुद्धता नहीं सिखाता। यही बातें उसने अपने शिलालेख ७ स्तम्भ २ और सात में गिनायी हैं। इन उपदेशों में बौद्ध धर्म का अष्टांग मार्ग और निर्वाण कहाँ है ?

यही नहीं उसने हिंसा को बुरा समझा और जहाँ जहां उसकी सम्भावना थी, वे सब कृत्य बन्द कर दिये; यथा उसने गाने, बजाने के उत्सव बन्द करा दिये, उसने माँस का पकना अपने रसोई घर तक में बन्द करा दिया। उसने कुछ पशु पक्षियों का तो दागना ही बन्द करा दिया। उसने आखेट और अन्य मनोरंजनों के लिए विहार यात्राओं के स्थान पर धर्म यात्राओं का आयोजन किया। उसने सत्य, दया, कृतज्ञता तथा दान आदि की सराहना की है। एक स्थान पर तो उसने अधिक व्यय करना और अधिक धन जोड़ना पाप बताया है। और कम खर्च तथा कम जोड़ने की प्रशंसा की है (अप बियाता, अप मंडता साधु, साधु दाने आदि।) उसके विभिन्न लेखों में दिये गए उपदेशों से उसकी निज की आत्मा की शुद्धता तथा सरलता का निश्चित ज्ञान होता है, आज भी मनुष्य पढ़कर उसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। इस विषय में वह कहीं भी आज्ञा देना नहीं जानता, बल्कि कहता है, यह कार्य शुभ है, यह कल्याणप्रद है, इसे मैं स्वयं करता हूं, इसे मेरे बच्चे, उनके

---

१ सप्तम शिलालेख।

बच्चे और उनके बच्चे भी करते रहेंगे। ऐसा करते हुए मैं थकता नहीं हूं आदि।

उसके बौद्ध धर्म के प्रतिकार्य—उसके व्यक्तिगत स्वभाव और धर्मोपदेश को देखकर कुछ लोगों को शंका होती है कि क्या बौद्ध भी हैं, ऐसी बात नहीं। वह बौद्ध धर्म को स्वयं ग्रहण न करता तो बोध गया और लुम्बिनी का तीर्थाटन क्यों करता, ८४००० स्तूप क्यों बनवाता। त्रिरत्नों में (बुद्ध, धर्म और संघ) अपनी श्रद्धा क्यों घोषित करता आदि। अतः वह बौद्ध तो था ही। इसीलिए उसने शाक्यमुनि के धर्म के प्रचार के लिए अनेक यत्न किये। यथा—

१. उसने बुद्ध के अवशेषों को आठ स्तूपों से निकलवाया, और उन्हें पुनः अनेक खंडों में विभाजित कर स्तूपों में गढ़वाया।

२. बीसवें वर्ष में वह स्वयं बुद्ध के जन्मस्थल लुम्बिनी ग्राम गया और वहाँ उसने एक स्मारक शिला स्तम्भ स्थापित कराया। अशोक ने उस पर जो लेख खुदवाया उसमें अपनी यात्रा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यहाँ बुद्ध पैदा हुए थे, (हिद बुध जाते) सम्भव है इसी समय जयपुर में स्थित वैराट वाला शिलालेख लिखवाया गया, जिसमें अशोक ने स्पष्ट रूप से अपना विश्वास बुद्ध-धर्म और संघ में प्रकट किया और कहा कि जो कुछ बुद्ध भगवान ने कहा है वह सब अच्छा कहा हैं। आगे उस शिलालेख में कुछ ग्रंथों के नाम दिये हैं, जिनका पाठ वह बौद्ध धर्म को चिरस्थायी रखने के लिए उपयोगी समझता था।

३—उसने अपने राजतिलक के १४ वें वर्ष में कपिलवस्तु के स्तूप को बड़ा करवाया और उसकी यात्रा की।

४—कुछ ही काल के अनन्तर उसने गिरते हुए बौद्ध धर्म को जीवन दान देने के लिए एक संगीति बुलाई। इस संगीति के फलस्वरूप बौद्ध धर्म का बाहर प्रचार करने के लिए धर्म प्रचारकों के जत्थे बनाये। महावंश में लिखा है कि अशोक के राजतिलक के १७ वें वर्ष में जो संगीति हुई उसमें कश्मीर, गांधार, यवन देश, अपरांत महाराष्ट्र, सुवर्णभूमि और लंका में धर्म प्रचारक भेजने का निश्चय हुआ। उसमें धर्म प्रचारकों के नामों का उल्लेख है। इनमें सबसे प्रमुख उसका पुत्र महेन्द्र और उसकी पुत्री संघमित्रा थी। इन दोनों ने लंका के राजा देवानां प्रिय तिष्य के समय उस द्वीप को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया।

५—उसने विहार यात्राओं को बन्द कर दिया, और उनके स्थान पर धर्म यात्राएँ प्रारम्भ की। धर्म प्रचार के लिए उसने अपने राज कर्मचारियों को भी देशाटन करने का आदेश दिया।

६— उसने विविध प्रदर्शनों द्वारा, धर्म महामात्रों की नियुक्ति द्वारा, स्वयं मानकर, दान देकर, नित्य भिक्षुकों को भोजन कराकर, तथा अनेक विहार बनवा कर बौद्ध धर्म की जड़ें भारत में ही नहीं इसके बाहर भी ऐसी लगा दीं कि आज भी वह धर्म जीवित है।

अशोक के लोकोपकारी कार्य—अशोक निश्चय ही प्रजा पालक था, शासक नहीं। उसने अपनी प्रजा के इस लोक तथा परलोक में सुख के लिए कार्य किये यथा—

१ – उसने सड़कों के किनारे छायादार वृक्ष लगाये, आम के बगीचे लगवाये। मार्ग में मील मील भर की दूरी पर उसने जलाशय और कुएँ खुदवाये। यात्रियों की सुविधा के लिए धर्मशालाएँ बनवायीं।

२—उसने मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा के लिए अस्पताल बनवाये। जहाँ जहाँ पर औषधियों का उचित प्रबन्ध नहीं था, वहाँ-वहाँ उसने दूसरे स्थानों से लाकर औषधि वृक्ष लगवाये। उसने यह प्रबन्ध अपने ही राज्य में नहीं बल्कि अपने पड़ोसी राज्यों में भी किया। यथा चोल, पांड्य, चेर आदि।

३—उसने निर्धनों के लिए उचित दान देने की व्यवस्था की। (साधु साने) उसने प्राणियों की हिंसा रोकने का प्रयत्न किया। (अनालम्भो साधु)

४—उसने अपने शासन में प्रतिवेदकों की नियुक्ति की, जो उसे हर समय (चाहे वह खाना खा रहे हों, चाहे अपने अन्तःपुर में हों, चाहे व्यायामशाला में हों,) सूचना दे सकते थे।

५—उसने विशेष अवसरों पर बन्दियों को सदा मुक्त किया।

६—स्थायी रूप से साम्राज्य का दौरा करने के लिए उसने व्युष्ट नामक अधिकारी नियुक्त किये।

७—राजधानी के सामाजिक जीवन को उच्च बनाने के लिए उसने समाज बन्द कर दिया, और नये धार्मिक समाजों की व्यवस्था की। विहार यात्राएँ छोड़ कर धर्म यात्राएँ कीं।

बौद्धधर्म की तृतीय संगीति—बौद्ध धर्म की तीसरी संगीति अशोक ने पाटलिपुत्र में बुला दी। इसका कारण यह था कि बौद्धों में भी अनेक सम्प्रदाय हुए जा रहे थे, अतः उनको एक सूत्र में रखने के लिए अशोक ने उसे अपने राजतिलक के सत्रहवें वर्ष में बुलाया। इसका प्रधान मोग्गलीपुत्र तिस्स था। नौ महीने तक बाद विवाद के पश्चात् संगीति ने अपना निर्णय दिया। इसी के पश्चात् बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए प्रचारक देश-विदेश भेजे गये। इस संगीति में तिष्य के द्वारा बनायी गयी कथावत्थु बौद्धधर्म की विधियों में सम्मिलित कर ली गयी और उसका स्वरूप अंतिम मान लिया गया।

दूसरी अनुश्रुति के अनुसार अशोक के धार्मिक गुरु उपगुप्त थे । आचार्य उपगुप्त बनारस के एक गंधी के पुत्र थे, पर मथुरा के पास १८००० भिक्षुओं के साथ एक पर्वत पर निवास करते थे । कहा जाता है कि इन्हीं के आग्रह पर यह संगीति बुलायी गयी थी । तथा यही उसके अध्यक्ष भी थे। और इन्होंने ही कथावत्थु की रचना की थी । कुछ विद्वानों का मत है कि ये दोनों एक ही व्यक्ति थे ।

अशोक के अभिलेख—अशोक के विषय में जो कुछ वृत्तान्त मिला है, उसका सबसे बड़ा अंश उसी के लेखों से मिला है । इनमें उसकी आत्मा का सच्चा दर्शन होता है, और उन्हें पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानो वह आज सम्मुख खड़ा अपनी बात कह रहा है । सबसे बड़ी बात इनमें यह है कि वह कहीं भी एक बड़े सम्राट के गर्व से बात नहीं करता । जो कुछ उसने कहा है, सदा बड़ी ही नम्रता से । ये लेख उसके समस्त राज्य में फैले हैं और कई प्रकार के हैं, कुछ चट्टानों पर, कुछ खम्भों पर, कुछ गुफाओं में अतः हम इनको नीचे लिखे क्रम के अनुसार विभाजित कर देते हैं ।

१. **चतुर्दश शिला लेख**—ये चौदह हैं, और देश के सात भिन्न-भिन्न स्थानों पर मिलते हैं । अर्थात् शाहबाजगढ़ी, मातसेरा, कालसी, गिरनार, धौली, जौगड, और सोपारा । इनमें से धौली और जौगड में केवल ११ मिलते हैं । १, २, ३ नहीं हैं ।

२. **कलिंग शिला लेख**—इनमें धौली और जौगड में लेख हैं जो ११, १२, १३, शिला लेखों की जगह हैं, क्योंकि ये विशेष स्थल था, जो जीता गया था ।

३. **लघुशिला लेख**—इसके दो भाग हैं, पहिला भाग ७ स्थानों पर है। सिद्दापुर, ब्रह्मगिरि, जटिंग रामेश्वर, मास्की, शसराम, रूपनाथ, वैराट, दूसरा पाँच स्थानों पर है, और इन्हीं ऊपर के स्थानों में से मास्की और वैराट में नहीं है ।

४. **स्तम्भ लेख**—ये सात है, जो छः स्थानों पर प्राप्त होते हैं । अर्थात् १ टोपरा दिल्ली, २ मेरठ दिल्ली, ३ कौशाम्बी इलाहाबाद, ४ रामपुरवा, ५ लौरिया अराराज, ६ लौरिया नन्दनगढ़ ।

५. **लघु स्तम्भ लेख**—ये तीन स्थानों पर प्राप्त होते हैं । साँची, कौशाम्बी इलाहाबाद, सारनाथ ।

६. **दो तराई अभिलेख**—ये रूम्मिनदेई, और निग्लिव में प्राप्त होते हैं ।

७. **गुहा अभिलेख**—बराबर की पहाड़ी पर तीन गुहा अभिलेख मिलते हैं ।

८. **बभ्रू शिला लेख** ।

अशोक के अन्तिम दिन—लगभग ४० वर्ष राज्य करके और अपनी प्रजा को सुख तथा शान्ति प्रदान करके अशोक स्वयं भी सुख की नींद सो गया। उसका पारवारिक जीवन बहुत सुखमय न था। उसकी प्रधान रानी का नाम असंधिमित्रा था, पर असंधिमित्रा की दासी तिष्यरक्षिता अशोक के अंतिम जीवन काल में उसकी प्रधान रानी हो गयी, और कहते हैं कि उसने एक षडयन्त्र दारा तक्षशिला के ६ शासक, सम्राट के ज्येष्ठ पुत्र कुणाल, की आँखें निकलवा लीं। वह गया के वोधिवृक्ष के प्रति अशोक की अपार श्रद्धा देखकर जल भुन गयी। अतः उसने ऐसा यत्न किया कि वह सूख जाय। साँची स्तूप के पूर्वी द्वार पर एक दृश्य खुदा है, जिसमें अशोक को तिष्यरक्षता के साथ बोधि वृक्ष को पुनः जीवित करने के लिए जलूस में जाते अंकित किया गया है। इसमें वह हाथी से उतरते दिखाया गया है। जूनागढ़ में जो झील चन्द्रगुप्त ने प्रारंभ कराई थी उसे अशोक की तरफ से एक यवन प्रादेशिक शासक तुलास्क ने पूर्ण कराया।

उसके उत्तराधिकारी—उसकी मृत्यु के पश्चात् कौन उसका उत्तराधिकारी हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि साम्राज्य कई भागों में बँट गया हो जिसमें कुणाल पटना में (२३२-२२४ जलौक जो शैव था कश्मीर में स्वामी बन बैठे, और इसके उपरान्त दशरथ। (बन्धुपालित) जो कुणाल का पुत्र था (२२४-२१६ ई० पू०) सम्प्रति जो कुणाल का भाई था (२१६-२०७ ई० पू०), शालशूक(२०७-२०६ ई० पू०) सोमशर्मन (२०६-१९९ ई० पू०) शतधन्वन (१९९-१९१ ई० पू०) और वृहद्रथ (१९१-१८५ ई० पू०) तक उसके उत्तराधिकारी हुए।

ये सभी अत्यन्त दुर्बल शासक थे, इनके विषय में भिन्न भिन्न सूत्र अपनी अलग अलग राय देते हैं, पर यह निश्चित है कि अन्तिम मौर्य सम्राट वृहद्रथ ही था, उसके समय तक बौद्ध धर्म के विरुद्ध ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया प्रबल हो चुकी थी। उसी के फलस्वरूप उसके सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने एक दिन मगध सम्राट को समाप्त कर दिया और स्वयं राज्य का स्वामी बन बैठा।

अशोक का इतिहास में स्थान—न केवल भारतीय इतिहास में बल्कि वैदेशिक इतिहास में भी अशोक का स्थान अति उच्च है। क्योंकि उसने अपने समय में जिस नीति का पालन किया, वह आज के युग में भी सम्भव नहीं हो सकी। उसकी अन्तरात्मा इतनी विशुद्ध थी कि वह प्रजा के लिए हर सुख का साधन जुटाना चाहता था। उसने अपने को कभी भी सम्राट की पदवी से गर्वित न समझा। उसका कहना था—**"सभी मनुष्य मेरी सन्तान हैं मैं उनके लिए वही कार्य करना चाहता हूं जो अपनी सन्तान के लिए, जिससे वे इस लोक तथा परलोक में सुख उठा सकें"।**

धौली का पृथक अभिलेख

उसने तृतीय शिला लेख में लिखा है:—

"साधु दाने, पानानं अनालंभे साधु, अपवियाता अपमंडता साधु"

अर्थात् दान देना अच्छा होता है, प्राणियों को न मारना अच्छा होता है, साथ ही कम खर्च करना, और कम इकट्ठा करना अच्छा होता है।

ये विचार उसे बीसवीं सदी से पीछे का नहीं बता सकते। आज जिन विचारों का विनोबा जी तथा जयप्रकाश नारायण भारत के कोने, कोने में प्रचार कर रहे हैं, उनका प्रतिपादन अशोक ने २२०० वर्ष पहिले कर दिखाया और उसका प्रचार इतने अपूर्व ढंग से हुआ कि आज का सम्प्रसारण (Broadcasting) भी उसका मुकाबला नहीं कर सकता।

सेनार्ट ने उसके लिए एक स्थल पर लिखा है :—

"सम्राट के वाक्य बहुधा संक्षिप्त तथा विषम होते हैं, और उनमें चित्रता नहीं पायी जाती।"

अशोक को अपने कर्त्तव्य का भली भाँति ज्ञान था कि अच्छा कार्य करना सरल नहीं, मनुष्य इन्द्रियों का दास होता है। अतः उसे उन पर भी विजय पाना है। उसने एक स्थल पर स्वयं कहा है :—

"अच्छा करना बहुत कठिन है। जितना भी मनुष्य अच्छा करता है, वह कठिन कार्य करता है, अतः मैंने भी बहुत अच्छा किया, मेरे पश्चात् मेरे बच्चे, उनके बच्चे, और ऐसे ही उनके बच्चे, युगों तक करते रहेंगे।"

फिर वह धार्मिक विषयों में कितना सहिष्णु था इसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। इस विषय में वह अकबर, कौन्सटैन्टायन, शार्लमैन तथा एलिजाबैथ सभी से बढ़कर ठहरता है। अशोक ने अपने धर्म को मानने के लिए किसी को विवश नहीं किया, पर लाखों ने उसे श्रद्धा से ग्रहण किया, अकबर के द्वारा चलाये गये धर्म को केवल १८ व्यक्ति मान सके। इसी प्रकार कौन्सटैन्टायन ने जिस धर्म का प्रचार किया वह उस समय स्वयं उन्नति पर था, एलिजाबैथ ने ऐंग्लीकन चर्च को न मानने पर दण्ड की घोषणा की, अतः इन शासकों का बड़प्पन अशोक के सामने तुच्छ ठहरता है। तभी तो H. G. Wells ने लिखा है—

"इतिहास के स्तम्भों में एकत्र होने वाले हजारों व करोड़ों राजाओं, और सम्राटों के बीच, अकेले अशोक का नाम सितारे सा चमकता है, बाल्गा से

---

1 "All people are my children. I wish to them as to my children, that all of them may have happiness & welfare here and hereafter."

Trans. by Ramavatar Sharma

अशोक का साम्राज्य
२७२–२३२ ई० पू०
ब्रह्मपुत्र
सिन्धु
गंगा
गंगा
नर्मदा
महानदी
गोदावरी
कृष्णा
अरब सागर
खाड़ी बंगाल
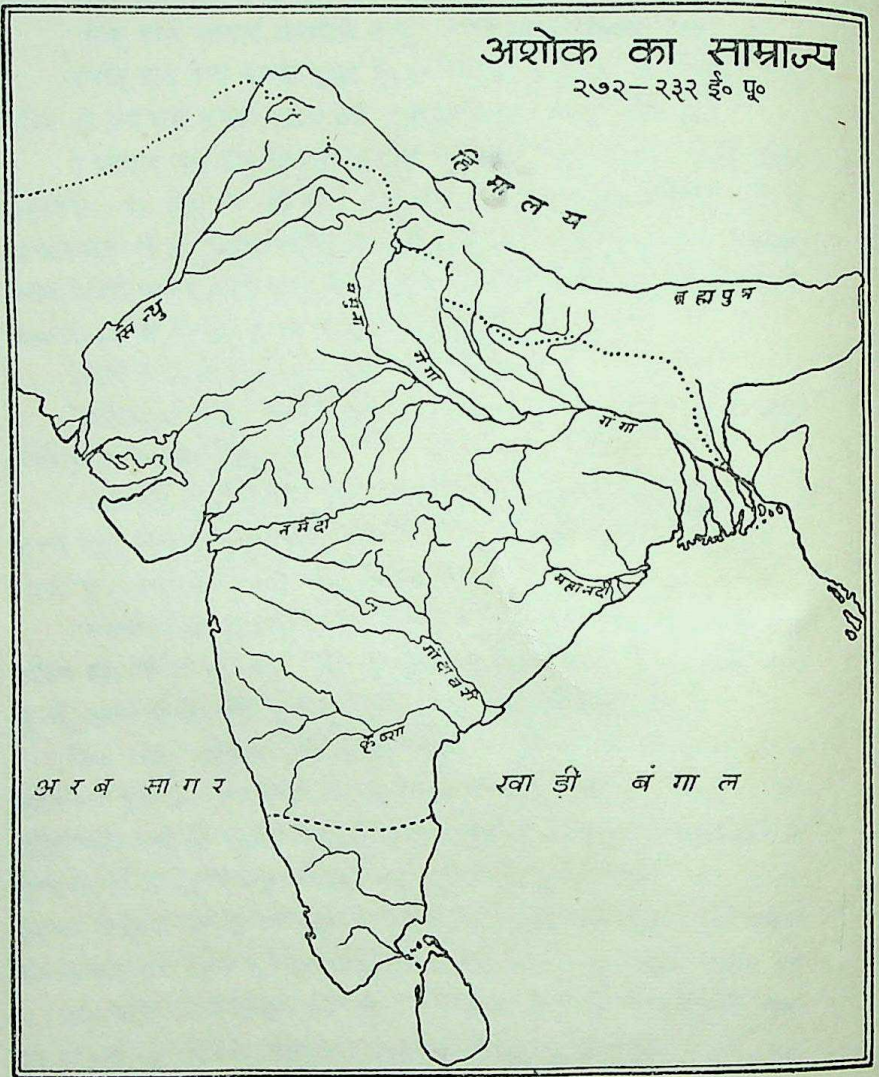
(पृष्ठ ११५ के सामने)

लेकर जापान तक आज भी अशोक का नाम आदरणीय है। चीन, तिब्बत, और भारत भी अशोक की महानता की गाथाओं को सम्हाले हैं जब कि कौन्सटैन्टायन और शार्लमैन को कोई नहीं जानता, अशोक की स्मृति आज भी अनेक हृदयों पर अंकित है।"

अशोक कितना प्रजा हितचिन्तक था, कितना परिश्रम-शील था, कितना शुद्ध और सरल चित्त युक्त था, यह केवल इस बात से विदित होता है कि, "मैं जो कुछ करता हूँ, वह केवल इसलिए कि प्रजा का मेरे ऊपर भार है, ऋण है, और उससे मुझे मुक्त होना है।" वह जो कुछ अपने अधिकारियों को आदेश देता था उसका पालन स्वयं पहले करता था। उसने अपने प्रजा के केवल सांसारिक सुखों का ही ध्यान नहीं रखा बल्कि उसके आध्यात्मिक स्तर का ही ध्यान रखा। वह यह अनुभव कर चुका था कि शुद्ध चित्त के बिना कोई सुख नहीं मिल सकता। इसीलिए मैकफिल महोदय ने लिखा है,

"अशोक ने बहुत से मनुष्यों का जीवन सुखी बनाया होगा, क्योंकि उसने उन के भौतिक सुख के कार्य ही नहीं किये, वरन् उन्हें अपना जीवनयापन करने की सुन्दर विचारधारा भी सिखाई।"

वस्तुत: अशोक ने एक ऐसे युग का सूत्रपात किया जिसमें शान्ति, सामाजिक उन्नति, सांस्कृतिक गौरव और धार्मिक भावनाओं का व्यापक रूप से प्रचार था। वही एक ऐसा सम्राट हुआ है जिसे उसकी विजय भी कलंकित न कर सकी।

मौर्य कालीन शासन

इतने विशाल साम्राज्य का सैकड़ों वर्ष स्थिर रहना ही यह सिद्ध करता है कि शासन सुव्यवस्थित था। इस समय की शासन व्यवस्था के लिए कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मेगस्थनीज के वर्णन और अशोक के लेख हमारी आधार शिला हैं। इसके पूर्व नन्दों का राज्य था, उससे प्रजा ऊब चुकी थी, अत: चन्द्रगुप्त और चाणक्य को पूर्व स्थित शासन पद्धति में पर्याप्त सुधार करना पड़ा होगा। इसमें कोई संदेह नहीं, उस समय शासन का मूल स्रोता सम्राट होता था, पर मौर्य सम्राटों को हम कहीं भी निरंकुश नहीं पाते। साथ ही सम्राट ही सबसे बड़ा न्याय का अधिकारी होता था, पर इन्हें हम कभी पक्षपात पूर्ण नहीं पाते।

---

† Asoka must have made life happier for great multitudes of people not only by measures he took for their physical comforts, but by teaching them to live useful lives and think noble thoughts"

—Macphil.

फिर सम्राट ही युद्ध एवं शान्ति का निर्णायक होता था, पर कभी भी हम अशोक के समय तक किसी को पीछे कदम उठाते नहीं देखते।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राजा को विधि का संरक्षक ही नहीं, बल्कि एक सर्वगुण सम्पन्न पूर्ण पुरुष माना है, अतः वही राजाज्ञा का निर्माता भी हुआ। प्राचीन परम्परा के अनुसार राजा की शक्ति सात अंगों पर निर्भर थी, यथा राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, सेना और मित्र पर कौटिल्य ने सारी शक्ति राजा में ही बतायी है। अतः राजा ही मन्त्री, पुरोहित और राज्य के अन्य अध्यक्ष अधिकारियों की नियुक्ति करता था। शासन केन्द्र और प्रान्त दो स्थानों से संचालित था।

केन्द्रीय व्यवस्था—केन्द्रीय व्यवस्था में राजा तथा विभिन्न विभागों के मंत्री मुख्य थे। कौटिल्य ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि **"राजसत्ता बिना सहायता के सम्भव नहीं, अकेला एक पहिया नहीं चल सकता, अतः राजा को चाहिए कि वह मंत्रियों की नियुक्ति करे, और उनके परामर्श को सुने"** इसी आधार पर मौर्य सम्राटों की सहायता के लिए भी एक मंत्रि परिषद थी। मंत्रियों की बात मानने के लिए राजा किसी प्रकार बाध्य नहीं था, पर साधारणतया वह उनके निश्चयों द्वारा ही शासन का संचालन करता था। केन्द्रीय शासन के विभागों का नाम कौटिल्य ने तीर्थ रखा है, ये तीर्थ लगभग १८ थे। इन्हीं में आमात्य, महामात्य तथा अध्यक्ष होते थे। यथा—

(१) प्रधान मंत्री अथवा पुरोहित (२) समाहर्त्ता—राजकर लेनेवाला (३) सन्निधाता—कोषाध्यक्ष (४) सेनापति—सेना का अध्यक्ष (५) दण्डपाल—आरक्षक अधिकारी (Police) (६) प्रदेष्टा—विषयों का शासक (७) अन्तपाल—(सीमा-रक्षा सम्बन्धी) (८) कर्मान्तिक—उद्योग मंत्री (९) युबराज—(विभाग का अध्यक्ष भावी शासक) (१०) दुर्गपाल—गृह रक्षा मंत्री (११) आटविक—(जंगल विभाग का अध्यक्ष) (१२) प्रशास्ता—राजकीय कागजों का अध्यक्ष, उनमें से प्रमुख थे। ये अपने अपने विभागों में पूर्ण स्वतन्त्रता से कार्य करते थे और सभी राजा के प्रति उत्तरदायी होते थे।

प्रान्तीय शासन—मौर्य साम्राज्य शासन की सुविधा के लिए प्रान्तों में बटा था। इसका ज्ञान हमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र से तो नहीं होता पर अशोक के लेखों से उनके नाम ज्ञात हो जाते हैं। ये प्रान्त ६ थे।

१. गृहराज्य—जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी।
२. उत्तरापथ—जिसकी राजधानी तक्षशिला थी। (पंजाब, सिन्ध आदि)
३. सिल्यूकस से प्राप्त प्रदेश—इसकी राजधानी कपिशा थी।
४. सौराष्ट्र—इसकी राजधानी गिरिनार थी।
५. अवन्ति—इसकी राजधानी उज्जयिनी थी।

६. दक्षिणापथ—इसकी राजधानी स्वर्णगिरि थी।

सुरक्षा की दृष्टि से प्रमुख प्रान्तों के शासक राजवंश के लोग अथवा राजकुमार ही होते थे, अन्य प्रान्तों का शासन महामात्र कर सकते थे। इन प्रदेशों को चक्र भी कहा गया है। इन चक्रों के सर्वोच्च अधिकारी की पदवी रजुक है जिसके अधीन कई लाख मनुष्य थे और जो उन्हें दण्ड या पुरस्कार देता था। रजुकों को मृत्युदण्ड देने तक का अधिकार था। राजा इनके कार्यों की देख-रेख करता था और उसका गुप्तचर विभाग उनके विषय में आवश्यक सूचना देता था। मगध प्रान्त का शासन राजा स्वयं ही महामात्यों की सहायता से करता था।

जिले तथा ग्राम का शासन—प्रान्त पुन: कई भागों में बँटे होते थे, जो जनपद कहलाते थे, जनपद पुन: **विषय** और ग्राम में बँटे थे। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम था। ग्राम का शासन ग्रामिक करता था। यह राज्य की ओर से नियुक्त किया जाता था और अपना कार्य ग्रामवृद्धों की सहायता से करता था। पाँच या दस ग्रामों का शासक गोप कहलाता था। उसके भी ऊपर स्थानिक का पद था जो जनपद के चौथाई भाग पर शासन करता था। ये सब पदाधिकारी केन्द्रीय शासन के अधिकारी प्रदेष्टा और समाहर्ता की देख-रेख में कार्य करते थे।

नगर का शासन—नगर के शासन के विषय में हमें मेगस्थनीज का विवरण बड़ी सहायता देता है, यद्यपि उसने यह विवरण केवल पाटलिपुत्र को दृष्टि में रखकर दिया है, पर अनुमान है कि यही व्यवस्था अन्य नगरों की भी रही होगी। मेगस्थनीज का कहना है कि नगर के शासन के लिए ६ समितियाँ कार्य करती थीं। इनमें से प्रत्येक में पाँच पाँच सदस्य रहते थे। यह स्पष्ट नहीं है कि ये सदस्य चुने हुए होते थे अथवा राज्य द्वारा मनोनीत।

१. **शिल्पकला समिति**—इस समिति का कार्य औद्योगिक उत्पादन की देखरेख था। इसके अन्तर्गत सामग्री की शुद्धता, श्रमिक का वेतन और इन्हीं से सम्बन्धित अन्य बातें रहती थीं।

२. **वैदेशिक समिति**—यह समिति विदेशियों के आने-जाने की सुविधा, उनके ठहरने के प्रबन्ध आदि को देखती थी। इससे एक बात और सिद्ध होती है कि उस समय भी विदेशी इतनी संख्या में आते थे कि जिनके लिए एक अलग समिति ही कार्य करती थी। विदेशियों के मरने पर उनका धन उनके वारिसों को भेज दिया जाता था।

३. **जनसंख्या समिति**—इस समिति का कार्य जन्म और मरण का लेखा रखना था। इस आधार पर जन गणना में सरलता होती थी।

४. वाणिज्य और व्यवसाय समिति—यह समिति व्यापार की देखरेख करती थी। इसका मुख्य कार्य विक्रय का प्रबन्ध करना तथा झूठे नाप-तौल से बचाना था। एक वस्तु से अधिक का व्यवसाय करने वाले को उसी के अनुसार कर भी अधिक देना पड़ता था।

५. वस्तु निरीक्षक समिति—इस समिति का अधिकारी कारकानों पर नियन्त्रण रखता था, यह इस बात का विशेष ध्यान रखती थी कि पुरानी चीजें नयी के साथ मिलाकर न बेच दी जाँय। ऐसा करना एक अपराध था।

६. कर समिति—यह बिक्री की चीजों पर कर वसूल करती थी। इससे अपने को बचाना दण्डनीय था।

न्याय तथा दण्ड विधान—मौर्य कालीन न्याय और दण्ड का विवेचन अर्थशास्त्र में विशेष रूप से किया गया है। राज्य में दो प्रकार के न्यायालय थे। (१) धर्मस्थीय, (२) कंटक शोधन।

१. धर्मस्थीय—(दीवानी) के अन्तर्गत सम्पत्ति का उत्तराधिकार, भवनों का क्रय-विक्रय, ऋण, जुआ, धरोहर, चोरी, खेत, चरागाह आदि के विवाद उपस्थित किये जाते थे। तीन अमात्य धर्मस्थीय न्यायालयों के अध्यक्ष का कार्य करते थे। इनकी सहायता के लिए विधि जानने वाले तीन ब्राह्मण रहते थे। अध्यक्ष अपना निर्णय समुचित प्रमाण और साक्षी लेने के बाद ही सुनाते थे। निर्णय के विरुद्ध अपील राजा तक हो सकती थी। अपराधों के आधार पर अर्थ दण्ड, बंधन (कारावास), अंगभंग, निर्वासन और मृत्यु तक का दण्ड दिया जाता था।

२. कंटक शोधन—(फौजदारी) इस न्यायालय में राजनीतिक अपराध, कर्मचारियों का दुराचार, बलात्कार, बड़ी चोरी या डकैती, कम माप तौल, न्याय का उल्लंघन, तथा शिल्पियों की रक्षा आदि के मामले आते थे। इसमें भी तीन अमात्य न्यायालय के अध्यक्ष का कार्य करते थे। इनका विशेष सहायक गुप्तचर विभाग था। अपराध को स्वीकार कराने के लिए कठोरता से काम लिया जाता था और शीघ्र से शीघ्र निर्णय सुनाया जाता था। मेगस्थनीज का कहना है कि राजदंड के भय से अपराध कम होते थे। व्यभिचार और राजद्रोह जैसे गम्भीर अपराधों के लिए प्राण दण्ड ही दिया जाता था।

सेना—चन्द्रगुप्त ने अपनी सेना का प्रबन्ध अत्यन्त सुव्यवस्थित ढंग से किया था। प्लिनी के आधार पर उसकी सेना में ६००००० पैदल, ३०००० घोड़े, ९००० हाथी थे। रथों की संख्या के विषय में वह मौन है। कर्टियस के अनुसार रथों की संख्या २००० और प्लूटार्क के अनुसार ८ हजार थी। अर्थशास्त्र में अनेक तरह के रथों का विवेचन है। इनमें से एक विशेष प्रकार के रथ दुर्गों पर आक्रमण करने के काम में लाये जाते थे। नगर शासन की

भाँति सेना के हर अंग की देखभाल के लिए समितियाँ थीं। मेगस्थनीज ने ऐसी ६ समितियों का उल्लेख किया है।

१. नौ सेना समिति—इसका अध्यक्ष नावध्यक्ष कहा गया है।

२. यातायात समिति—यह युद्ध सामग्री के प्रचलन का प्रबन्ध करती थी।

३. पदाति समिति, ४ गज समिति, ५ रथ समिति और ६ अश्व समिति।

हाथी के ऊपर महावत के अतिरिक्त तीन धनुर्धारी बैठते थे। रथ में दो अथवा चार घोड़े जोते जाते थे। हर रथ में ६ सैनिक बैठते थे। प्रत्येक अश्वारोही अपने पास दो भाले और एक ढाल रखता था। हाथी, घोड़े और सैनिक सभी कवचों से संरक्षित रहते थे।

पुलिस तथा गुप्तचर—ये विभाग भी अत्यन्त सुचारु रूप से कार्य करता था। इसके दो अंग थे। (१) प्रकट (२) गुप्तचर। बहुधा विद्यार्थी, साधु, तपस्वी, दूकानदार, सपेरे आदि के भेष में काम करते थे। एक ही स्थान पर रहने वाले गुप्तचर 'संस्था' और विभिन्न स्थानों में संचरण करने वाले 'संचार' कहलाते थे। इनका अध्यक्ष महामायत्ररुर्द कहा जाता था। इनका कार्य गुप्त रीति से मामले को जानकर सम्राट की सहायता करना था।

मुद्रा—इस विषय में अभी हमारा ज्ञान अपूर्ण है। यद्यपि कौटिल्य मुद्रा के अध्यक्ष को लक्षणाध्यक्ष कहता है और हम जानते हैं कि सिक्के कई प्रकार के प्रचलित थे, तथापि हमारा ज्ञान सुनिश्चित नहीं है। पंचमार्क्‌ड चाँदी के सिक्के कार्षापण या पुराण कहलाते थे। ताँबे के सिक्के यद्यपि कम मिलते हैं, फिर भी वे कई आकार के थे; यथा अण्डाकार अथवा वर्गाकार इन सिक्कों पर अर्धचन्द्र, मोर अथवा पर्वत के लक्षणों को मौर्य चिन्ह माना गया है।

आयकर—राजकीय आय का मुख्य साधन भूमि कर ही था। अधिकतर सरकार भूमि के रूप में उपज का चौथा भाग लेती थी। आय का दूसरा मूल साधन विक्रीकर था। यह नियमित रूप से वस्तुओं को एक स्थल पर लाकर और मुहर लगाकर वसूल किया जाता था। इसके अतिरिक्त आय के साधन-**खानों की चुंगी**, शराब पर चुंगी, जंगलों पर आयकर, अर्थदण्ड आदि थे। अशोक ने लुम्बिनी ग्राम का भूमि कर $\frac{1}{2}$ कर दिया था; इससे स्पष्ट है, कि अन्यत्र उसने अपने पितामह के करों को वैसा ही रखा होगा।

सिंचाई—इस शासन में सिंचाई पर भी समुचित ध्यान दिया गया था। हम सुदर्शन झील का ऊपर वर्णन कर चुके हैं। मेगस्थनीज लिखता है कि अनेक राज कर्मचारियों की नियुक्ति इसलिए हुई कि वे भूमि को नापें और

उन प्रणालिकाओं की देखभाल करें जिनके द्वारा नहर की अनेक शाखाओं का जल सिंचाई के काम आता है।

राजप्रासाद—चन्द्रगुप्त ने अपने लिए एक भव्य राजप्रासाद बनवाया था। यह एक विस्तृत उद्यान के बीच खड़ा था। इसके चारों ओर मज़बूत दीवारें थीं और भीतर गुप्त मार्ग थे। इसके स्तम्भ सुनहले थे और उद्यान में कृत्रिम झील कुञ्ज थी। उसके भव्य सौन्दर्य के सामने सूसा और इकवताना के राजमहल फीके पड़ जाते हैं। यह प्रासाद लकड़ी का बना था, अतः इतने समय में बहुत सा नष्ट हो गया।

राजधानी सम्राट की राजधानी पाटलिपुत्र थी, जिसकी नींव ई० पू० ५ वीं शताब्दी में पड़ी थी, यह नगर सोन और गंगा के संगम की त्रिकोण भूमि पर सोन के उत्तर और गंगा से कुछ मील हट कर बसा हुआ है। यह नगर लम्बाई में ९ मील और चौड़ाई में १½ मील था। इसके चारों ओर लकड़ी की एक मज़बूत दीवार थी, इसमें ६४ द्वार और ५७० बुर्ज बने थे। बाहर एक खाई थी, जिसमें सोन नदी से पानी भरा जाता था।

मौर्यकालीन आर्थिक जीवन

इस काल के आर्थिक जीवन का चित्र हमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र से तथा उस समय के वैदेशिक सम्बन्धों से पूर्णरूपेण प्राप्त हो जाता है। इस समय तक भारतीय व्यापार में अपूर्व वृद्धि हो चुकी थी। इसके लिए खेने योग्य नदियों का उपयोग होता था, जहाजों और नावों की सुरक्षा के लिए राज्य की ओर से सावधानी बरती जाती थी। कौटिल्य का कथन है कि "शत्रु पर आक्रमण करने के आधार वणिक-पथ ही है। वणिक-पथों से ही गुप्तचरों को आना जाना पड़ता है। व्यापारियों को राज्य की ओर से आज्ञा-पत्र मिलते थे और राज्य के नियमों के अनुसार ही व्यापार होता था।

यहाँ की कृषि की उपज, खनिज सम्पत्ति तथा शिल्पियों की कुशलता की यूनानियों ने भूरि-भूरि सराहना की है। मेगस्थनीज ने यहाँ के शिल्पियों के विषय में लिखा है कि वे कला-कौशल में निपुण हैं। भारतीयों में अलग व्यवसायों से जीविका अर्जित करने वाले लोग हैं। कई जमीन जोतते हैं, कई व्यापारी हैं, कई सिपाही हैं।

उस समय भी जुलाहों का कार्य अच्छा होता था। कौटिल्य ने कई प्रकार के वस्त्र गिनाये हैं। उसका कथन है कि जो वस्त्र वंग देश में बनता है वह सफ़ेद और चिकना होता है। पुण्ड्र देश का वस्त्र काला और मणि के समान होता है। काशी और पुण्ड्र के बने हुए सन के वस्त्र भी बहुत उत्तम होते हैं। मगध, पुण्ड्र और सुवर्ण (असम) देशों में अनेक वृक्षों के पत्तों और उनकी

छालों के रेशों से भी वस्त्र बनाये जाते हैं। मेगस्थनीज इनके विषय में लिखता है कि वे मलमल के फूलदार कपड़े पहनते हैं, सिर पर पगड़ी बाँधते हैं और चमकीले रंगों से रंगे हुए वस्त्रों का प्रयोग करते हैं। कौटिल्य ने ऊनी वस्त्रों का तथा नैपाल से आने वाले, वर्षा में भी शरीर को न भीगने देने वाले वस्त्रों का उल्लेख किया है।

वनों से प्राप्त पदार्थों, सुगन्धित द्रव्यों का महत्त्व अधिक था। कौटिल्य ने चन्दन, अगरु आदि की चर्चा की है। उस समय काठ का और हाथी दाँत का काम अत्यन्त प्रशंसनीय होता था। इसके अतिरिक्त पत्थरों की कारीगरी तथा पालिश तो उस समय की अनुपम है।

खानों के वारे में भी यबन राजदूत लिखता है कि, "भारत-भूमि के गर्भ में भी सब प्रकार की धातुओं की अनेक खाने हैं। इस देश में सोना और चाँदी बहुत होता है। उनका व्यापार आभूषण, युद्ध के हथियार तथा साज-सामान बनाने के लिए होता है।"

कहते हैं कि चन्द्रगुप्त की पालकी स्वर्ण की बनी थी। कौटिल्य ने मोतियों, मणियों, हीरों और मूंगों आदि का विस्तार पूर्वक उल्लेख किया है।

इस काल के अन्य उद्योगों में मिट्टी के बर्तन बनाना, रंग साजी करना, औषधि बनाना, शस्त्रास्त्र बनाना आदि था।

मौर्यकालीन संस्कृति

उपर्युक्त विवरण से यह तो स्पष्ट हो ही गया कि जहाँ इतना उत्कृष्ट प्रबन्ध हो, वहाँ के समाज का स्तर भी निश्चयही उच्च रहा होगा। मौर्यकालीन संस्कृति का ज्ञान भी हमें उन्हीं सूत्रों से होता है जिनसे अन्य विषयों का।

समाज—कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में चार वर्णों और चार आश्रमों की चर्चा की है। इनके अतिरिक्त उसमें कृषक, गोपाल, रुचिक, (भोजनालय के प्रबन्धक) काष्ठक, (बढ़ई) आदि के उल्लेख भी हैं। पर ये चारों वर्णों के ही अन्तर्गत आते थे। मेगस्थनीज के आधार पर भारतवर्ष की सारी जन संख्या ७ भागों में बटी थी—दार्शनिक, किसान, ग्वाले, कारीगर, सैनिक, निरीक्षक और अमान्य। अशोक के लेखों में ब्राह्मण, इम्य (वैश्य) और दास मृतक (शूद्र) का उल्लेख है। मेगस्थनीज लिखता है कि जातियों में बन्धन था, कि कोई अपनी जाति या व्यवसाय नहीं बदल सकता और न जाति के बाहर विवाह सम्बन्ध ही कर सकता था। इससे यह सर्वथा स्पष्ट है कि बौद्ध धर्म के इतने प्रबल होते हुए भी उस समय की समाज-रचना में अन्तर नहीं आया था; यद्यपि बौद्ध साहित्य के अनुसार ये बन्धन इतने कठोर न थे।

विवाह-पद्धति—विवाह इस समय पूर्णतया शास्त्रीय नियमों के अनुकूल

होते थे। चाणक्य को विवाह के नियम भंग होने पर ही क्रोध आ गया था। ये आठ प्रकार के थे—१ ब्रह्म—(कन्या को पिता द्वारा वर को सौंपना) २—प्राजापत्य (सन्तान के लिए विवाह) ३—कार्ष (वर पक्ष से गाय का जोड़ा लेकर कन्या का पिता पुनः दे देता था) ४ – दैव (देव कार्य में लगे पुरुष को कन्या देना) ५—आसुर (द्रव्य लेकर कन्या देना) ६—गान्धर्व (कामवश, पर माता-पिता की आज्ञा से) ७ – राक्षस (बलात् छीनना) ८—पैशाच (छल से या मादक वस्तु के उपयोग से) इनमें पहिले ४ प्रकार का विवाह श्रेष्ठ और अन्तिम ४ प्रकार का निन्द्य समझा जाता था। विवाह में दहेज की प्रथा प्रचलित थी। पुरुष कई स्त्रियों से विवाह कर सकता था और स्त्री-पुरुष दोनों को मोक्ष (तलाक) तथा पुनर्विवाह का अधिकार था। उस समय वियोग (पति के बहुत दिन विदेश रहने पर विवाह करना) भी सम्भव था। कौटिल्य ने एक स्थल पर कहा है कि **"यदि कोई पति बुरे आचार का है, परदेश गया हुआ है, राज्य का द्वेषी या खूनी है, पतित या नपुंसक है, तो स्त्री उसका त्याग कर सकती है।"**

स्त्री का स्थान—स्त्रियों की दशा इस समय सम्मानित न थी। मेगस्थनीज ने कुछ जातियों में स्त्रियों के क्रय-विक्रय का भी उल्लेख किया है। बहुधा उन्हें पति की आज्ञानुसार घर की चहारदीवारी में ही रहना पड़ता था। केवल बौद्ध भिक्षुणियाँ ही घर के बाहर घूम-फिर सकती थीं। अशोक के लेखों से विदित होता है कि स्त्रियों में अन्ध-विश्वास बहुत था। हाँ, उनको परिवार की सम्पति में अधिकार अवश्य था।

भोजन और पेय—भोजन के पदार्थों के अन्तर्गत अन्न, फल, दूध और मांस था। अशोक का पहिला शिलालेख इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि पहिले मांस का प्रचार बहुत था। अशोक कहता है कि, **"मेरे रसोई घर में[1] पहिले अनेक पशु मारे जाते थे, पर जब से यह धर्म लिपि लिखायी है, केवल तीन पशु मारे जायेंगे, दो मोर और एक मृग।"** इससे सिद्ध होता है कि मांस का खाना कितना प्रिय और आवश्यक अंग था। उस समय भी लोग खाने-पीने के बड़े प्रेमी थे, अतः समृद्ध परिवारों में कई प्रकार के भोजन बनने लगे थे। पीने वाले पदार्थों में कई प्रकार की शराब का उल्लेख मिलता है। मेंगस्थनीज

१—**दुले महावससि देवानं पियसा पियदसिसा लजिने,**
अनुदिवसं पान सहसानि आलभियिसु सुपठाये॥
से इदानीं इयं धम्म लिपि लेखिता तदा तिनिएव पानानि आलमपन्ति, दुबे मजुला एकेमिगे।"

—**प्रथम शिला लेख।**

लिखता है, "जब भारतीय खाने बैठते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति के सामने तिपाई की शक्ल की मेज रखी जाती है, इसके ऊपर एक सोने का प्याला रखा जाता है, जिसमें सबसे पहिले चावल डाले जाते हैं, वे ऐसे उबले होते हैं, जैसे उबले जौ, इसके बाद दूसरे पकवान रखे खाते हैं, जो भारतीय विधि से तैयार होते हैं। भारतीय अकेले जाते हैं उनके यहाँ सामूहिक भोजन का कोई समय निश्चित नहीं।"

आमोद-प्रमोद—अर्थशास्त्र के अनुसार समाज में कुछ लोग ऐसे थे, जिनका कार्य मनोरंजन करना ही था, जैसे नट, नर्तक, गायक, बादक, वाग्जीवी (विभिन्न प्रकार की बोली बोलने वाले) कुशीलव (वीरों का यश गाने वाले) सौमिक (मदारी), प्लवक (रस्सी आदि पर नाचने वाले)। मेगस्थनीज ने इनके अतिरिक्त रथ दौड़, साँड़ युद्ध तथा हाथी युद्ध का भी उल्लेख किया है। अ ोक ने इस प्रकार के समाजों का बहिष्कार कर धार्मिक समाज में ही आनन्द खोजने की चेष्टा की। वैसे राजा लोग भी पहिले विहार यात्रा तथा आखेट आदि के लिए जाया करते थे। राजाओं के शिकार के लिए कुछ वन सुरक्षित रखे जाते थे। इस समय भी जुआ का उल्लेख मिलता है। पर इस पर राज नियंत्रण रहता था, अधिक समृद्ध समाज नाटकों आदि से भी अपना मनोरंजन करता था।

और लिपि—मौर्यकाल में साहित्य और शिक्षा की कम उन्नति नहीं हुई। इस समय संस्कृत का वैदिक रूप प्रान्तीय बोलियों के सम्पर्क से काफी बदल चुका था, इसीलिए पाणिनि उस समय की संस्कृत को लौकिक कहता है। अशोक की धर्मलिपियों से हमें इस बात का ज्ञान होता है कि बोलचाल की भाषा प्राकृत थी और इसके उत्तर पश्चिम तथा पूर्व के रूपों में भी कुछ अन्तर थे। जैसा कि मानसेरा, शाहबान गढ़ी (उत्तर पश्चिम) और कालसी (देहरादून) के लेखों से विदित होता है। साथ ही इनकी लिपि भी दो प्रकार की थी, उत्तर पश्चिम की लिपि खरोष्ठी कहलाती है, जो दाहिने से बायीं ओर चलती है और जो आज की फारसी लिपि की जननी है और पूर्व तथा मध्य भारत की लिपि ब्राह्मी थी, इसी से आज की देवनागरी लिपि उत्पन्न हुई है। अशोक के शिला लेखों से एक बात और भी स्पष्ट है कि उस समय साक्षरता कम न थी तथा विद्या केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित न थी।

साहित्य व शिक्षा—इस समय के साहित्य में हम देखते हैं कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र, भद्रबाहु का कल्प सूत्र और बौद्ध ग्रन्थ कथा वत्थु की रचना हुई। पंतजलि के अपने ग्रंथ में उल्लेखों से विदित होता है कि कंस-वध और

बालि-वध नाटक भी इसी समय रचे गये। व्याडि और कात्यायन के व्याकरण भी तो इसी काल में बने। व्याडि ने १००००० श्लोकों का संग्रह लिखा, और पाणिनि के सूत्रों की परिभाषा तथा उत्पलिनी नामक कोष की रचना की। इसी काल में एक अन्य वैयाकरण भगवान कात्य हुए, जो महावार्तिका के रचयिता माने जाते हैं। किसी सुबंधु नाम के महाकवि ने वासवदत्ता नाट्य-धारा की रचना की। सम्भवतः रामायण और महाभारत के कुछ अंश भी इसी समय लिखे गये। इस काल का बौद्ध साहित्य पाली में लिखा गया। जैन धर्म के प्रसिद्ध लेखक स्वायंभव ने दशवैतालिक लिखा।

इतना प्रचुर साहित्य इस बात का साक्षी है कि इस समय शिक्षा का स्तर उच्च रहा। हमें तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालय के दर्शन होते हैं। जहाँ साहित्यिक आदि सभी विषयों से लेकर अस्त्रशस्त्र तक की शिक्षा दी जाती थी। इसके अतिरिक्त पाञ्चाल, वाराणसी, पाटलिपुत्र, उज्जयिनी, राजगृह आदि अनेक विद्या के केन्द्र थे। पांचाल परिषद् की विशेषता उच्च दर्शन की शिक्षा देने में थी। उज्जयिनी ज्योतिष के लिए सदा से प्रसिद्ध रही। विद्यालयों का प्रबन्ध राज्य और जनता दोनों की ओर से होता था। विद्यार्थी बहुधा पूर्ण पण्डित बन कर ही विद्यालय छोड़ता था, शास्त्रार्थ की परिपाटी उस समय बहुत थी, इसके लिए नन्द से लेकर बिन्दुसार तक हम तार्किकों को राज्याश्रय पाते हुए देखते हैं।

कला तथा कारीगरी—भारत में यों तो ऐतिहासिक युग से कला का विशेष सूत्रपात हो चुका है, पर मौर्यकालीन कला में इतने परिवर्तन और संशोधन इस क्षेत्र में आ गये कि यह एक नये युग का प्रारम्भ हो गया। अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ जो कुछ यत्न किये उनसे कला की सेवा स्वतः हो गयी।

इस काल की कला में कई एक पद्धतियों का समन्वय भी है। अशोक ने इसमें सीरिया और बेबीलोन के पशुओं का मूर्तिकरण, ईरान और मिश्र से स्तम्भों का सजाना, यूनान से पत्थरों पर दृश्यों के उकेरने की कला का समावेश कर दिया। लकड़ी और ईंटों के स्थान पर पत्थर का उपयोग भी कदाचित इन्हीं देशों की देन है। ठीक भी है, यदि ये स्मारक पत्थर के न होते तो हमारा इतिहास ही आज अधूरा होता। काष्ठ न जाने कब का गल गया होता। अशोक ने पाटिलीपुत्र में एक सुन्दर भवन बनाया था, जिसे देखकर पांचवीं शताब्दी में चीनी यात्री फाँहयान भी दंग रह गया था। उसका कथन है, "दीवारें और द्वार पत्थर चुन कर बनाये गये हैं, उन पर खुदाई बहुत सुन्दर हैं, इस लोक में मनुष्यों द्वारा न बनाये जाकर मानो ये देवताओं द्वारा निर्मित हैं।"

इस काल में वैसे तो कई सहस्र स्तूप, चैत्य और बिहार बनें पर सबसे सुन्दर और गौरव प्रदान करने वाले अशोक के स्तंभ हैं। ये बलुहे (बालू वाले) अत्यन्त चिकने और चमकदार बने हैं। पूरा पत्थर सदा एक ही चट्टान से काटा गया है। इसकी ऊँचाई ४० फीट है। यह आधार की ओर मोटा है और ऊपर की ओर क्रमशः पतला होता गया है। इनके शीर्ष भाग में पशुओं की मूर्तियाँ हैं। इनकी शिलाएँ चुनार के समीप पहाड़ों से काटी गयी हैं। इनपर हलकी गुलाबी झलक इनकी आभा की वृद्धि करती है। साथ ही इन पर धुंधले काले रंग की चित्तियाँ पड़ी हैं, जिससे इनकी सुन्दरता निखर जाती है। इनमें से सारनाथ का स्तम्भ अभी तक अपनी छटा का अनुमान करा देता है। इस विषय में मार्शल का कथन है—

"These sculptures are master pieces, in point of both style and technique, the finest earning indeed that India has, yet produced and surpassed, I venture to think by anything of their kind in the ancient world."

अर्थात् "ये (अशोक की) कृतियाँ शैली और कला की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट हैं, ये वास्तव में सुन्दरतम उपलब्धियाँ हैं जो भारत ने आज तक उत्पन्न की हैं और मैं तो यह कहने का साहस करूँगा कि प्राचीन काल के संसार में इनके समान पदार्थों का इनसे पार पाना असम्भव है।"

एक लम्बे स्तम्भ पर उलटा हुआ कमल का अलंकरण रहता है, उस पर भी एक गोल अंडाकार भाग है, जिस पर चारों दिशाओं में चार पशुओं (हाथी, बैल, घोड़ा और सिंह) की आकृति बनी होती है। इसी अंड के ऊपर पीठ सटा कर उंगलियों के बल पर बैठे चार सिंह बने रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सिंह जीवित हैं। उनकी एक-एक नस कारीगर ने अलग-अलग करके दिखा दी है। इन सिंहों के मस्तकों पर एक चक्र था, जो अब अलग है।

इन सिंहों की सजीव आकृति की इतिहासकारों ने बड़ी सराहना की है। डा० स्मिथ ने उन्हें संसार की सर्वोत्तम आकृति कहा है।

इसके अतिरिक्त राम पुरवा का स्तम्भ भी बहुत ही सुन्दर है। इसके अंडाकार भाग में कमल का पुष्प और सबसे ऊपर एक वृषभ की मूर्ति है। इसी प्रकार अन्य स्तम्भों पर अलग अलग पशुओं की मूर्तियाँ हैं, यथा रामपुरवा में दूसरे स्तम्भ पर सिंह की मूर्ति, संकिस्सा में हाथी की, लुम्बिनी

के स्तम्भ पर घोड़े की तथा लौरिया अरराज के स्तम्भ पर गरुड़ की मूर्ति है। ये पशु भगवान बुद्ध के जीवन की घटनाओं से सम्बन्धित हैं, यथा गर्भ धारण करते समय स्वप्न में हाथी का दर्शन, सिंह चक्रवर्ती का सिंहनाद, अथवा स्वयं बुद्ध का स्वरूप शाक्यसिंह, बैल इसलिए कि वे वृषभ नक्षत्र में जन्मे थे और अश्व कंथक होगा। इस काल की मूर्तियों की चर्चा भी यहाँ असंगत न होगी। आगरा और मथुरा के बीच एक गाँव पर खम्भ है, वहाँ पर एक यज्ञ की ७ फीट ऊँची मूर्ति तथा दीदारगंज से मिली चामर ग्राहिणी की मूर्ति इस काल की प्रारंभिक कला के नमूने हैं। यक्ष में तो सौन्दर्य न होकर केवल आकार हैं पर चामर ग्राहिणी का वक्षस्थल कुछ भला बन पड़ा है। इसके अतिरिक्त वेस नगर में मिली एक स्त्री की मूर्ति है जो अधिक सुन्दर बन पड़ी है। मौर्य कालीन कला के लिए श्री फर्ग्यूसन का कथन है।

"The nobilest and most perfect examples of it are the works of Emperor Asoka" अर्थात् कला के रूप में सर्वसुन्दर और पूर्ण उदाहरण सम्राट अशोक की कृतियाँ हैं।

यही नहीं इस समय तक प्रेक्षागृहों और रंगशालाओं का विकास हो चुका था, जिनका संकेत हमें भास के नाटकों से मिलता है। प्रेक्षागृहों के कुछ नमूने सरगुजा राज्य की रामगढ़ पहाड़ियों को काटकर बनाये हुए गुहा भवनों में पाये जाते हैं।

धार्मिक जीवन—मौर्य काल में हम वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों धर्मों को किसी न किसी रूप में पाते हैं। बौद्ध अनुश्रुतियों के अनुसार चन्द्र गुप्त, बिन्दुसार, और अशोक तीनों ही पहिले वैदिक धर्म को मानते थे और ब्राह्मण आदि को दान दिया करते थे। साथ ही बौद्ध और जैन धर्मों के इतने प्रचार के अनन्तर भी अभी यज्ञ, अनुष्ठान बलिदान और श्राद्ध आदि कर्म हुआ करते थे। यूनानी लेखकों का कथन है कि पुरु युद्ध में भी अपने साथ कृष्ण की मूर्ति ले गया था। यह तो निश्चित ही है कि यज्ञों में पशु हिंसा होती थी, जिसे अशोक ने रोका। इसके अतिरिक्त स्त्री पुरुष दोनों ही सन्यासी बन सकते थे, पर कौटिल्य ने ऐसे गृहस्थों को अपराधी और दण्ड का भागी बताया है, जो घर का ठीक प्रबन्ध किये बिना गृह त्याग करते थे। कौटिल्य ने मन्दिरों का उल्लेख किया है, जिनमें अपराजित, अप्रतिहत, जैयंत, वैजयंत, शिव, कुबेर, अश्विनी और लक्ष्मी की पूजा होती थी। इनके अतिरिक्त अग्नि, नदी, इन्द्र, समुद्र, वन, पर्वत, दिक आदि की पूजा भी प्रचलित थी। साधारण जनता का जादू टोना, ज्योतिष, मूहूर्त्त, स्वप्न और शकुन में विश्वास था। स्वर्ग में तो अशोक ने भी अपनी श्रद्धा प्रदर्शित की है।

बौद्ध धर्म में कुछ विभेद आने लगा था। अशोक ने इसे तीसरी बौद्ध संगीति बुलाकर समाप्त प्राय कर दिया। साथ ही अशोक ने किसी धर्म का ह्रास नहीं चाहा और न बौद्ध धर्म मानने को किसी को विवश किया। जैन धर्म में भी विभेद आ गया था। पर चन्द्रगुप्त का भन्द्रवाहु के साथ चला जाना उसके प्रभाव का द्योतक है।

— —

परिच्छेद १२

मौर्य के बाद और गुप्त के पूर्व का काल
(लगभग १८५ ई० पू० से ३२० ई० पू० तक)

इस ५०० वर्ष के बीच भारत भूमि पर अनेक उथल-पुथल हुए। भारत में कोई एकछत्र राज्य ऐसा न था जो बाहरी शक्तियों को रोकता, अतः कुछ अंश में भारतीय तथा शेष अंश में शक, कुषाण आदि पनपते रहे। इसके अतिरिक्त बौद्ध धर्म की कुछ प्रतिक्रिया ऐसी हुईं कि इस काल के प्रारम्भ में वैदिक धर्म पुनः जग गया। अतः इस बीच के कुछ प्रमुख वंशों का संक्षेप में यहाँ उल्लेख आवश्यक है।

(अ) शुंग वंश (१८५-७२ ई० पू०)

अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ का सेना के समक्ष अन्त कर उसके सेनापति पुष्य मित्र शुंग ने इस वंश की स्थापना की। वाण द्वारा लिखित हर्ष चरित्र में इसकी चर्चा इस प्रकार है—

"दुष्ट (अनार्य) सेनानी पुष्यमित्र ने अपनी सारी सेना देखने के बहाने से प्रतिभा दुर्बल अपने स्वामी बृहद्रथ का बध कर दिया"[1]

इसी बात की पुष्टि करते हुए पुराणों का कहना है कि सेनापति पुष्यमित्र बृहद्रथ को राज्यच्युत करके राज्य करेगा। साथ ही पुराणों में मौर्यों का शासन-काल भी दिया है।

"ये नौ मौर्य १३७ वर्ष तक पृथ्वी पर राज्य करेंगे और उनके पश्चात् राज सिंहासन शुंग वंश को चला जायगा"[2]

पर इतिहासकारों में अभी भी इस विषय पर मतभेद है कि यह किस वंश का शिरोमणि था। कुछ इसे पाणिनि के एक सूत्र के[3] आधार पर

१—'प्रतिज्ञा दुर्वलं बल दर्शन व्यपदेश दर्शिता शेष सेन्या सेनानी अनार्यो बृहद्रथं पियेष पुष्यमित्रः स्वानिमभ्''— हर्ष पृष्ठ १९८ निर्णय सागर संस्करण।

२—"इत्येते नव मौर्यास्तु, ये भोक्ष्यन्ति वै वसुन्धराम्।
सप्तत्रिशंच्छतं पूर्णं, तेभ्यः शुंगो गमिश्यति ॥

3 4—1—117—Dynasties of Kali Age, p, 30.

द्वाज (ब्राह्मण) गोत्रीय ब्राह्मण मानते हैं, कुछ क्षत्रिय कहते हैं, जब कि अन्य एक नये वंश शुंग का बतलाते हैं। शुंग शब्द का अर्थ अंजीर होता है। मौर्य-काल में ब्राह्मण शस्त्र और शास्त्र दोनों विद्याओं में निपुण थे, सम्भव है कि पुष्यमित्र भी अपने सैन्य कौशल के कारण इस पद पर प्रतिष्ठित रहा हो, और अपने स्वामी को विलासी तथा कर्त्तव्य विमुख देखकर ही उसने उसका अन्त किया हो। ऐसा प्रतीत होता है कि वह वृहद्रथ को हटाने के लिए विवश हो गया था, क्योंकि उसे मौर्य वंश से इतनी घृणा न थी, जितनी वृहद्रथ जैसे व्यक्ति से इसी लिए बहुत काल तक वह अपने को वृहद्रथ के बाद भी सेनानी कहता है।

पुष्यमित्र से तथा मौर्य मंत्री से परस्पर कुछ वैमनस्य था, और मौर्यवंश के अन्त होने में यह भी एक प्रमुख कारण था। हम देखते हैं कि पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र विदिशा में शासक था।

जब कि मंत्री का बहनोई यज्ञसेन विदर्भ का स्वामी बना। इसका फल यह हुआ कि विदर्भ और विदिशा में भी अनबन रही। कालिदास के नाटक माल विकाग्निमित्र के आधार पर हमें विदित होता है कि विदिशा के शासक अग्निमित्र ने विदर्भ राज को हराया और विदर्भ राज के भाई माधव सेव ने अग्निमित्रकी इस ओर सहायता की तथा अपनी बहन मालविका का विवाह अग्निमित्र से कर दिया।

यवन आक्रमण—पुष्यमित्र ने धीरे-धीरे गिरते हुए मगध साम्राज्य की कड़ियों को इकट्ठा किया। अयोध्या का अभिलेख यह सिद्ध करता है कि यह प्रदेश उसके अधिकार में था। माल विकाग्निमित्र के अनुसार नर्मदा तक का दक्षिणी भाग उसके साम्राज्य में था। यही नहीं उसे एक यवन आक्रमण भी रोकना पड़ा। इस आक्रमण का उल्लेख पतञ्जलि के महाभाष्य, गार्गी संहिता और माल विकाग्निमित्र में मिलता है। पतञ्जनि ने लिखा है कि यवनों ने साकेत और माध्यमिका (चित्तौड़ के निकट नागरी नामक स्थान) को घेरा। गार्गी संहिता से विदित होता है कि साकेत मथुरा और पाञ्चाल को पराजित करने के पश्चात् यवन कुसुमध्वज पहुँच गये। पर वे अधिक दिन तक यहाँ न टिक सके और उन्हें वापस लौटना पड़ा। मालविकाग्नि-मित्र में एक यवन सेना की पुष्यमित्र के पौत्र वसुमित्र द्वारा पराजय हुई है। ऐसे ही एक इसकी चर्चा हथीगुम्फा अभिलेख में भी है। पर ये सभी वृत्त इतने उलझे हुए हैं जिनसे यह निश्चित नहीं कि वह यवन आक्रान्ता मेनाड़र था अथवा डैमैट्रियस। मालविकाग्निमित्र के आधार पर पुष्यमित्र की विजय निश्चित है।

इस विजय के उपलक्ष में पुष्यमित्र ने एक अश्वमेध भी किया था और

जब वह यज्ञ करने बैठता तभी विदिशा में स्थित अपने लड़के को इस प्रकार लिखता है।

तुम्हारा कल्याण हो, मैं यह बताना चाहता हूँ, कि अश्वमेघ की दीक्षा लेकर मैंने एक वर्ष के भीतर लौट आने के नियम के अनुसार जो खुला घोड़ा छोड़ा था और जिसकी रक्षा के लिए सैकड़ों राजपुत्रों के साथ वसुमित्र को भेजा था, वह घोड़ा जब सिन्धु नदी के तट पर चर रहा था, तब घुड़ सेना वाले एक यवन (राजा) ने उसे पकड़ लिया। इस पर दोनों सेनाओं में घमासान लड़ाई हुई। धनुर्धारी वसुमित्र ने शत्रुओं को मार भगाया और छीने हुए घोड़े को लौटा लिया। अतः, मैं, जैसे अंशुमान द्वारा वापस लाये हुए घोड़े से सगर ने यज्ञ किया था, वैसे ही यज्ञ कर रहा हूँ। अतएव तुम प्रसन्न चित्त होकर बंधुओं सहित इसमें आकर भाग लो।"

इससे यह स्पष्ट है कि यवन [१] आक्रमण अवश्य हुआ और पुष्यमित्र की सेना ने देश की रक्षा की।

तिब्बती इतिहासकार तारानाथ का कहना है कि पुष्यमित्र बौद्ध धर्म का शत्रु था; दिव्यावदान में तो यहाँ तक लिखा है कि पुष्यमित्र ने अनेक विहार जलवा दिये और एक बौद्ध के मृत शरीर के लिए १०० दीनार पारितोषिक के रूप में देने की विज्ञप्ति की। यह घोषणा साल में (स्यालकोट) में हुई, अतः बड़ी महत्व पूर्ण है। हो सकता है कि बौद्धधर्मावलम्वी मौर्य सम्राट के बंशजों ने यवनों को सहायता देनी चाही हो, अतः पुष्यमित्र को इस प्रकार का क्रोध उत्पन्न हुआ हो। पर हम देखते हैं कि शुंग काल में ही साँची और भारहुत जैसे स्तूपों का निर्माण होता है, ये दोनों ही उसके साम्राज्य में आते हैं, यदि पुष्यमित्र बौद्धों का कट्टर शत्रु होता तो ये स्तूप बन ही नहीं सकते थे, अतः इनका उल्लेख कुछ अतिरंजित जान पड़ता है।

पुष्यमित्र वैदिक धर्म तथा संस्कृति का संरक्षक और पालक था, इसमें कोई सन्देह नहीं।

पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी—पुष्यमित्र ने १८५ ई० पू० से लेकर १४८ ई० पू० तक ३६ वर्ष राज्य किया। उसके पश्चात् उसका लड़का अग्निमित्र गद्दी पर बैठा। इसके शासन काल की कोई उल्लेखनीय घटना इतिहास को ज्ञात नहीं, अग्निमित्र ने लगभग ८ वर्ष राज्य किया। उसके पश्चात् उसका भाई सुज्येष्ठ अथवा ज्येष्ठमित्र गद्दी पर बैठा। इसके अनन्तर अग्निमित्र का पुत्र वसुमित्र गद्दी पर बैठा। शुंग वंश में कुल दस राजा हुए, जिनके विषय में ऐतिहासिक सामग्री नहीं के बराबर है। इनमें पाँचवा ओद्रक था,

---

१—मालविकाग्निमित्र पृष्ठ २२६—२२७, २२८, पाँचवा अंक।

इसका उल्लेख कौशाम्बी के पास मिले हुए एक उत्कीर्ण लेख में हैं। इसके पुलिन्दक (३ वर्ष) घोष (३ वर्ष) वज्रमित्र (६ वर्ष) तक राज्य किये। इस वंश का नवाँ राजा भागवत था। इसके समय तक शुंगों की शक्ति प्रबल थी, क्योंकि इसके यहाँ १४वें वर्ष में तक्षशिला के यवन राजा अंतलिकिदस (Antial Kidas) के राजदूत दियन के पुत्र हेलियोडोरस ने विदिशा में एक स्तम्भ गढ़वाया था। इस पर जो लेख खुदा है वह ११३ ई० पू० का है। यह दूत वैष्णव था, और उसने विष्णु के नाम पर ही यह स्तम्भ गढ़वाया था।

शुंग वंश का अन्तिम राजा देवभूति था। यह विलासी था। विष्णपुराण के अनुसार वासुदेव नामक मंत्री ने अपने विलासी स्वामी देवभूति को मार डाला और स्वयं स्वामी बन बैठा। हर्षचरित में तो उसके मारने की विधि लिखी है, कि वसुदेव ने उसकी दासी की पुत्री को सम्राज्ञी के वेष में भेजकर उस कामुक (देवभूति) स्वामी की हत्या कर दी। इस प्रकार शुंगवंश का कुल शासन काल ११२ बर्ष रहा, जिसके अनन्तर वसुदेव ने नये वंश की स्थापना की।

(आ) कण्ववंश (७२-२८ ई० पू०)

वसुदेव कण्व वंश का था। यह निश्चय ही एक ब्राह्मण वंश था। उसने अपने राज्य की स्थापना ७२ ई० पू० की थी। इस समय तक उत्तरापथ विदेशियों के हाथ जा चुका था। साथ ही दक्षिण भी अलग हो गया था। इसके अतिरिक्त पंजाब, राज स्थान, अवन्ति आदि भी स्वतन्त्र होने लगे थे। कण्वों के वंश में कुल चार राजा हुए। वसुदेव का ९ वर्ष, भूमिमित्र का १४ वर्ष, नारायण का २ बर्ष और सुशर्मन का १० बर्ष मिलाकर कुल ४५ वर्ष शासन काल रहा। ये राज्य भी वैदिक धर्म के संरक्षक थे। ऐसा विदित होता है कि बौद्ध धर्म के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया शुंगों ने उठायी थी, वह शान्त न हुई थी, इस समय के राजाओं के मंत्री इतने शक्तिशाली होते थे कि राजा के दुराचारी होने पर उसे सिंहासन से अलग कर सकते थे। २८ ई० पू० में आँध्र राजा सिमुक ने जो कण्वों के अधीन कार्य कर रहा था, सुशर्मा को समाप्त कर स्वयं राज्य पर अधिकार कर लिया। कण्वों के राज्य काल में पश्चिमी भारत में अनेक गण स्वतंत्र हो गये थे। यथा मालव, योधेय, शिवि, कुणिंद्र, भद्र आर्जुनायन, वृष्णि, औदुम्बर आदि। इनको शुंगों के समय सर उठाने का समय न मिल सका था, पर अब उन्हें कोई रोकने वाली केन्द्रीय शक्ति न रह गयी थी। इन गणों में मालव और यौधेय शक्तिशाली थे। उनके सिक्कों पर मालवानां जयः, यौधेय गणस्य जयः, वाक्य मिलते हैं। पश्चिमी भारत में शकों के आक्रमण को रोकने वाले ये मालव ही थे। इसी

विजय के उपलक्ष में उन्होंने एक सम्वत भी चलाया था जो मालव सम्वत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

(ई) आन्ध्र वंश

अथवा सातवाहन राज्य

उत्पत्ति—इस जाति का प्राचीनतम उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है। इसके आधार पर विश्वामित्र के कुटुम्बियों ने गोदावरी और कृष्णा के मध्य वाले प्रदेश में जाकर आर्येतर स्त्रियों से विवाह किया, जिनकी सन्तति को आगे चलकर आन्ध्र कहा गया। इस प्रकार यह कार्य द्रविड़ के मिश्रण से उत्पन्न जाति थी। पर निजी उत्कीर्ण अभिलेखों के अनुसार यह अपने को ब्राह्मण घोषित करती है। गौतमी पुत्र शातकर्णि थे। एक अभिलेख में उन्हें अद्वितीय ब्राह्मण कहा गया है। यही नहीं उन्हें परशुराम के समान क्षत्रियों का मानमर्दन करने वाला बतलाया गया है। इस स्थल पर यह कहना कठिन होगा कि इनका राजनीतिक जीवन कब से प्रारम्भ हुआ, पर मौर्य काल में ही ये शक्तिशाली ही चुके होंगे। क्योंकि मेगास्थनीज ने मौर्यों के पश्चात् सबसे बड़ी सेना इन्हीं की बतलाई है। प्लिनी के आधार पर उनके राज्य में तीस नगर थे, और सेना में १००,००० पैदल २००० अश्वारोही, और १००० हाथी थे। बहुत सम्भव है कि विन्दुसार के समय तक ये मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत सामन्त रूप में रहे हों, पर अशोक के पश्चात् वे सर्वथा स्वतन्त्र हो गये। इस समय आन्ध्रों की राजधानी श्रीककुलम थी। धीरे धीरे इनका प्रसार दक्षिण पूर्व से पश्चिम को हुआ और ये महाराष्ट्र तक फैल गये। अतः इनकी राजधानी प्रतिष्ठान, पैठन हुई। इस ओर आकर ये सातबाहन (जिनका बाहन सिंह है) कहे जाने लगे। पुराणों के अनुसार आन्ध्र कण्वों के सेवक थे, और २८ ई० पू० सिमुक नामक आन्ध्र ने अन्तिम कण्व नरेश सुशर्मा को मार डाला और मगध के सिंहासन पर अधिकार कर लिया।

पुराणों के अनुसार (६६–३७)

इस वंश के सम्राट—ई०पू० प्रथम सम्राट सिमुक ने राज्य हस्तगत करते ही शुंगों की बची खुची शक्ति भी नष्ट करदी। जैन अनुश्रुति के अनुसार सिमुक दुराचारी हो गया था, अतः उसके २३ वर्ष शासन करने के उपरान्त वह गद्दी से उतार दिया गया। उसके पश्चात् उसका भाई कान्ह अथवा कृष्ण (३७-२७ ई० पू०) सिंहासन पर बैठा। नासिक के एक शिला लेख में कान्ह के समय में वहाँ की प्रजा द्वारा एक गुहा के निर्माण की चर्चा है। अतः इस समय तक सात बाहनों का साम्राज्य फैल चुका था।

शातकर्णि—इस वंश का तीसरा राजा सिमुक का पुत्र शातकर्णि हुआ। (२७-१७) यह प्रसिद्ध विजेता था। उसने महाराष्ट्र के महारथी की कन्या नागानिका से विवाह करके अपना प्रभुत्व बढ़ा लिया। नानाघाट के अभिलेख के अनुसार इसने दक्षिण के कई प्रदेश जीते और दो बार अश्वमेध किया।

एक अभिलेख में तो उसे सम्पूर्ण दक्षिण का अप्रतिहत सम्राट कहा गया है। उसी समय कलिंग में एक नई शक्ति उठ खड़ी हुई, इसका राजा खारवेल था उसके हाथीगुम्फा अभिलेख से विदित होता है इसने आन्ध्रों की शक्ति को नगण्य समझा, और उनके मूसिक नगर पर आक्रमण कर दिया। पर खारवेल आन्ध्रों का कुछ बिगाड़ न सका।

शक्ति श्री एवं वेद श्री—शातकर्णि के पश्चात् उसके राज्य की प्रतिष्ठा को कुछ धक्का लगा। कारण यह था कि उसके दो अल्पवयस्क पुत्र थे। शक्ति श्री और वेद श्री। अतः इस समय शासन का सूत्र उनकी माँ नायानिका ने अपने हाथ में ले लिया और उनकी संरक्षिका के रूप में कार्य करने लगी। इसके पश्चात् आन्ध्रों की शक्ति कुछ काल के लिए क्षीण हो गयी। ई० पू० ७८ के लगभग शकों का दूसरा आक्रमण भारत पर हुआ, और उन्होंने महाराष्ट्र पर अधिकार कर लिया। महाराष्ट्र में शकों का जो राजवंश स्थापित हुआ उसका नाम क्षहरात था। क्षहरातों और आन्ध्रों से सदा संघर्ष चलता रहा। हम देखते हैं कि भूमक नाम का क्षहरात राजा महाराष्ट्र पर शासन नहीं करता था, किन्तु नहयान का शासन पश्चिमी भारत के विस्तृत भूखण्ड, और पश्चिमी मालवा पर था। उसके राज्य में काठियावाड़, पश्चिमी गुजरात, पश्चिमी मालवा, उत्तरी कोंकन, तथा बम्बई के नासिक और पूना जिले सम्मिलित थे। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सातवाहनों का राज्य वहाँ न रह गया था।

हाल—इस वंश में शातकर्णि और गातमी पुत्र शातकर्णि के बीच एक ही उल्लेखनीय राजा हुआ। इसका नाम हाल था। हाल के समय की राजनीतिक घटना इतनी प्रमुख नहीं है, जितनी साहित्यिक। यह प्राकृत भाषा का विख्यात कवि था। उसका एक काव्य ग्रन्थ गाथा सप्तशती है, जिसमें सात सौ सुन्दर पद हैं। इसकी राजसभा में वृहत्कथा के लेखक गुणाढ्य ने तथा संस्कृत व्याकरण कांतम के लेखक ने आश्रय प्राप्त किया था।

गौतमी पुत्र शातकर्णि। (१०६-१३०)--इस वंश का सबसे प्रतापी सम्राट **गौतमी पुत्र शातकर्णि** था। इसका इतिहास इसकी माता गौतमी बलश्री के नासिक गुहा लेख से प्राप्त होता है। इस लेख में शातकर्णि के दिग्विजय और चरित्र का विस्तृत वर्णन दिया गया है। इसने अपने वंश की प्रतिष्ठा पुनः स्थापित कर दी।

दिग्विजय—"गौतमी पुत्र के वाहनों ने तीन समुद्रों का जल पिया उसका

राज्य ऋषिक, अश्मक, मूलक, सुराष्ट्र, कुकुर, अपरात, अनूप, विदर्भ, आकर, अवन्ति, तक फैला था।" इससे सिद्ध होता है कि उसने अवन्ति, और महाराष्ट्र के शकों को तथा राजपूताने के गण राजाओं को भी पराजित किया।

विदेशियों से संघर्ष—इसकी दिग्विजय में महाराष्ट्र के क्षहरातों की विशेष चर्चा है। इससे विदित होता है कि उसने शकों से अपने पूर्वजों के अपमान का बदला भी ले लिया, और यहीं उसके सिक्कों से जो नासिक जिले में मिले हैं, सिद्ध होता है क्योंकि शक शासक नहयान के बहुत से चाँदी के सिक्के इस ढेर में ऐसे हैं जो गौतमी पुत्र की मुद्रा से पुनः मुद्रित हैं। गौतमी पुत्र दिग्विजयी होने के साथ साथ एक सुयोग्य शासक था। इसके काल में याज्ञवल्क्य स्मृति की रचना हुई अतः इस की शासन पद्धति पर उसकी पूरी छाप है। गौतमी पुत्र नर्म शासक था, और धर्मानुकूल शासन करता था। नासिक की प्रशस्ति में इसे वेदों का आश्रय और पूर्ण ब्राह्मग कहा गया है।

वसिष्ठ श्री पुलोमावी—गौतमी पुत्र शातकर्णि के पश्चात् उसका पुत्र वसिष्ठ श्री पुलोमावी गद्दी पर बैठा। यद्यपि वह अपने पिता की ही भाँति प्रतापी था और उसने आन्ध्र देश की विजय की। पर इसको भी उज्जयिनी के महाक्षत्रप रूद्रदामन ने पराजित किया, और उसके राज्य का कुछ अंश छीन लिया। रुद्रदामन के जूना गढ़ वाले लेख में लिखा है, "दक्षिणा पथ के स्वामी शातकर्णि को दो बार पराजित करके भी उसने उसे निकट का सम्बन्धी होने के कारण न मारा।" यह शातकर्णि पुलोमावी ही था। वसिष्ठ पुत्र पुलोमावी का विवाह कान्हरी लेख के आधार पर रुद्रदामन की लड़की से हुआ था। पर इसके उपरान्त भी दक्षिणा पथ का ईश्वर (दक्षिणपथेश्वर) बना रहा।

पुलोमावी के उत्तराधिकारियों में सबसे प्रसिद्ध यक्ष श्री शातकर्णि था। उसने लगभग १७४-२०३ ई० तक २६ वर्ष राज्य किया।

उसके क्षहरातों की तरह के चलाये गये चाँदी के सिक्कों से प्रकट होता है, कि यज्ञ श्री ने अपने पूर्वजों द्वारा खोई हुई पृथ्वी पुनः प्राप्त कर ली थी। उसके सिक्के बाँदा जिले में प्राप्त हुए हैं। दो मस्तूल वाले जहाज से अंकित सिक्के भी उसी के हैं। वाण ने सात वाहनों को त्रिसमुद्राधिपति (अर्थात् तीन समुद्रों का स्वामी) कहा है, इससे प्रकट होता है कि उसके समय में समुद्री व्यापार आदि खूब बढ़ चुका था।

यक्ष श्री के पश्चात इस वंश में नाम मात्र के राजा हुए। यथा—विजय चन्द्रश्री, चतुर्थ पुलोमावी, आदि। इनमें से केवल श्रीचन्द्र के कुछ सिक्के मिले हैं। यह कहना कठिन है कि किन निश्चित कारणों से इस वंश का पतन हुआ, पर नये वंशों के उत्थान का इनमें एक कारण अवश्य रहा होगा। इनसे महाराष्ट्र तो आभीरों ने छीन लिया और इक्ष्वाकु वंशी तथा पल्लवों ने अलग धावे मारे। अन्ततः एक दिन २२५ ई० में इसका अवसान हो गया।

(ई) (चेदिवंश) खारवेल

अशोक के देहावसान के पश्चात् कलिंग मौर्य साम्राज्य से पृथक् हो गया, इस राज्य का प्रारंभिक विवरण प्राप्त नहीं है पर यह भी एक ब्राह्मण वंश का राज्य था। ई० पू० से कुछ समय पहले इस वंश में महामेघ वाहन श्री खारवेल नाम का राजा हुआ। यद्यपि यह जैन धर्म को मानता था, पर इसको दिग्विजय निषिद्ध न थी। अतः उसने बहुत शीघ्र एक विस्तृत साम्राज्य खड़ा कर लिया। उसके उत्तर और दक्षिण में मौर्य तथा सात वाहन साम्राज्य थे, अतः उसे दोनों से ही संघर्ष करना पड़ा।

उसके पूर्वजों के समय नन्द ने उसके राज्य पर आक्रमण किया था, और वह एक जैन तीर्थंकर की मूर्ति पाटलिपुत्र उठा ले गया था। अतः उसने मगधराज को (शातकर्णि के राज्य में) दो बार पराजित किया, और अपनी खोई हुई मूर्ति तथा प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त कर लिया। उसका एक लेख उड़ीसा के पुरी जिले में उदय गिरि की हाथी गुम्फा नामक गुफा में खुदा हुआ है। इसमें उसके प्रारंभिक १४ वर्षों का इतिहास दिया हुआ है। यद्यपि इस लेख की अनेक पंक्तियाँ मिट-सी गयी हैं (१७ में से केवल चार बची हैं) तथापि जो कुछ बची हैं उससे खारवेल के विषय में पर्याप्त ज्ञान हो जाता है। उसमें लिखा है—

"पंद्रह वर्ष की आयु तक गौर वर्ण वाले उसके सुन्दर शरीर का बाल्य क्रीड़ाओं से विकास हुआ। इसके पश्चात् उसने अपने युवराज पद के नौ वर्ष लेख, मुद्रा, गणना, व्यवहार, विधि आदि विद्याओं के सीखने में बिताया। चौबीसवें वर्ष में उसका राज्याभिषेक हुआ। अपने शासन काल के पहले वर्ष में उसने टूटे हुए गोपुर (राजधानी का प्रमुख द्वार), प्राकार और राजधानी की मरम्मत करायी। इसी में तालाब और बावड़ी खुदवायी, उद्यान लगवाये और कई लाख रुपया व्यय करके प्रजा का मनोरंजन किया। दूसरे वर्ष में आन्ध्र राजा शातकर्णि की चिन्ता न कर पश्चिम दिशा में हाथी, घोड़े, पैदल और रथ युक्त भारी सेना भेजी और कृष्णा नदी के किनारे सेना भेज कर ऋषिक नगर को दुःखी और भयभीत कर दिया। तीसरे वर्ष में उसने मल्लयुद्ध, नृत्य, गीत, वाद्य के प्रदर्शन और उत्सव-समाजों से राजधानी को प्रसन्न किया। चौथे वर्ष में उसने राष्ट्रिक और भोजकों के राजचिन्ह और सम्पत्ति छीन कर उनसे अपने चरणों की बन्दना करायी। पाँचवें वर्ष में वह (नंद संवत ३०० में) खोदी गयी एक नहर को राजधानी के अन्दर तक ले गया। छठे वर्ष में अपने ऐश्वर्य को दिखाते हुए उसने पौर और जन-पद के कल्याण के लिए लाखों मुद्राओं

का दान दिया। आठवें वर्ष में गोरथगिरि को गिराकर राजगृह को सताया। इस युद्ध के भय से यवनराज डिउमेत मथुरा भाग गया। दसवें वर्ष से दण्ड, सन्धि और साम उपायों का अवलम्बन करने वाले खारवेल ने भारत विजय को प्रस्थान किया, ग्यारहवें वर्ष में भागे हुए शत्रुओं का मणि रत्न इत्यादि प्राप्त किया। बारहवें वर्ष में उत्तरापथ में राजाओं में भय उत्पन्न किया, मगधों को त्रस्त करते हुए अपने हाथी और घोड़ों को गंगाजल पिलाया और मगधराज बहसतिमित्र से पाद बन्दना करायी, नन्द राजा द्वारा छीनी गयी कलिंग जिनकी मूर्ति वापस की। मगध और अंग की सम्पत्ति को छीना। तेरहवें वर्ष में पांड्य राज से मुक्तामणि रत्न का अपहरण किया। खारवेल जैन धर्म का अनुयायी था और उदार तथा दानी था। उसने जैन साधुओं में उपयोग के लिए अनेक गुहा, विहार और गुहा-मंदिर बनवाये।"

इस वर्णन में अनेक स्थानों और सम्राटों की चर्चा है, पर अभी भी उनमें से कई एक निश्चित रूप से ज्ञात नहीं कि किसको लक्ष्य करते हैं। यथाराजगृह और मगध के राजाओं की पहचान स्पष्ट नहीं हुई। कुछ इतिहासकार बहसति (बृहस्पति) मित्र से पुष्यमित्र का भान करते हैं और मथुरा भागने वाला यवन आक्रमणकारी डिमैट्रियस बतलाते हैं। फिर इसमें दो स्थानों पर नंद का नाम आया है, जिसमें एक स्थान पर नंद संवत तिवस सत (त्रिवर्ष शत अर्थात् त्रि + बर्ष + शत) लिखा है, इसका अर्थ तीन + तथा सौ वर्ष हो सकता है, और तीन सौ वर्ष हो सकता है, यदि १०३ वर्ष अर्थ किया जाय तो अशोक की विजय के पूर्व कलिंग में नंद नाम के राजा का शासन विदित होता है, और यदि ३०० मान लें तो कलिंग में मागध नंदों का राज्य प्रमाणित होता है और इसी १०३ का अर्थ यदि मौर्य सम्वत् मान लें तो वह चेदि वंश के किसी राजा का नाम है।

इसके पश्चात् चेदि वंश का स्वामी कौन बना यह अभी ज्ञात नहीं। यह निश्चित है कि इस वंश ने उस समय भारत में उथल-पुथल मचादी, पर वह अशान्ति चिरस्थायी न हो सकी, और नित्य नये आक्रमणकारियों ने अपनी जड़ें भारत में जमानी आरम्भ कर दीं।

(उ) पश्चिमोत्तर भारत में विदेशी शासक

कहा जाता है कि सिकन्दर के पश्चात् सैल्यूकस उसके साम्राज्य का स्वामी हुआ, पर वह इसकी प्रतिष्ठा बहुत दिन स्थिर न रख सका। उसे मौर्य साम्राज्य के सामने घुटने टेकने पड़े। सैल्यूकस के पश्चात् उसके पुत्र अन्तियो-

कस प्रथम ने २६३ ई० पू० में उसका उत्तराधिकार पाया और २६१ ई० पू० तक वह बचे-खुचे साम्राज्य पर राज्य करता रहा। उसके पश्चात् उसका भाई अन्तियोकस द्वितीय २६१ ई० पू० में गद्दी पर बैठा। पर कुछ ही समय में इसके सामने उपद्रव खड़े हो गये। क्योंकि यह साम्राज्य भिन्न-भिन्न जातियों तथा संस्कृतियों से बना था। सीरियक साम्राज्य के दो प्रान्तों में विशेष रूप से विद्रोह हुए। (१) वाख्मी, (२) पार्थिया। पार्थियन विद्रोह तो जन विद्रोह था, पर वाख्मी का व्यक्तिगत। वाख्मी विद्रोह का झंडा डायोडोटस ने खड़ा किया (२४६ ई० पू०)। पर वह किसी सत्ता की नींव न डाल सका। किन्तु उसके पुत्र डायोडोटस द्वितीय ने यूनानी बोझ फेंक दिया और पूर्णतया स्वतंत्र सत्ता का स्वामी बन बैठा। वाख्मी की जनता भी अधिकांश यूनानी थी। इन्हें पार्थव विद्रोह तथा यूनानियों की केन्द्रिय शक्ति की क्षीणता ने और वल प्रदान किया। इसी सयय अंतियोकस द्वितीय की मृत्यु हो गयी, अत: उसे दबाने वाला कोई न रहा।

यूथीडैमो—वाख्मी का यह नया हिन्दू ग्रीक वंश कुछ ही काल शासन की बागडोर सम्हाल पाया था कि एक नये वीर ने उसे भी उखाड़ फेंका। यह व्यक्ति यूथीडैमो था। इसने लगभग २३० ई० पू० अपने वंश की सत्ता जमाई। इस समय मौर्य साम्राज्य भी क्षीण हो रहा था और उधर सीरियक साम्राज्य का तो सूर्य अस्त सा ही हो रहा था।

अंतियोकस द्वितीय के पश्चात् सैल्यूकस द्वितीय (२४६-२२६ ई० पू०) और सैल्यूकस तृतीय (२२६-२२३ ई० पू०) सीरियक वंश के दुर्बल शासक हुए। इनके अनन्तर अंतियोकस तृतीय ने पुन: शक्ति का संगठन किया। उसे वाख्मी जैसे सुन्दर प्रदेश का हाथ से जाना सहन न हुआ। इधर यूथीडैमो उसे किसी कीमत पर छोड़ने को प्रस्तुत न था; अत: दोनों में संघर्ष अनिवार्य हो गया।

आखिर अन्तियोकस तृतीय ने २१२ ई० पू० में वाख्मी पर आक्रमण कर दिया। परन्तु बहुत समय के घेरे से भी कोई तत्व न निकला; दूसरे अंतियोकस अपने घर से काफी दूर आ चुका था; फिर उधर पार्थिव विद्रोह भी अभी शान्त न हुआ था; अतः उसे घेरा उठाना पड़ा और सन्धि करनी पड़ी। सीरियक सम्राट ने वाख्मी की स्वतंत्रता स्वीकार की ओर यूथीडैमो के पुत्र डैमेट्रिय से अपनी कन्या का विवाह कर दिया।

इस संघर्ष से अंतियोकस को छुट्टी अवश्य मिल गयी, पर उसे प्रसन्नता न मिल सकी। हार कर अपने देश लौटना उसकी समझ में न आया। अतः उसने अपना रुख और पूर्व की ओर करना चाहा। भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में उस समय सुभाग सेन राज्य कर रहा था, जो वीरसेन का पुत्र था और यह वीरसेन वही था जो अशोक की मृत्यु के पश्चात् गान्धार का स्वतंत्र

शासक बन बैठा था। अंतियोकस तृतीय ने इसके राज्य पर आक्रमण कर कुछ भाग अपने अधीन कर लिया। पर वह आगे न बढ़ सका और एकाएक स्वदेश लौट गया। वह क्यों लौट गया, इसका निश्चित कारण देना सरल नहीं। सम्भव है कि एक ओर वह अपने देश से दूर था और दूसरी ओर उसके घर के समीप कलह तथा विद्रोह था; जो हो, वह स्वयं तो कुछ न कर सका, पर वाख्मी के वीरों को भारत की ओर आने का मार्ग दिखा गया।

डैमेट्रिय—अंतियोकस के भारत से लौटने के पश्चात् यूथीडैमो ने अपने राज्य को सुदृढ़ किया और अफगानिस्तान पर आक्रमण कर दिया। उसकी इच्छा तो और आगे बढ़ने की थी, पर दुर्दैव को यह प्रिय न था। उसकी मृत्यु ने उसके मंसूबे समाप्त कर दिये। उसके पश्चात् उसका यशस्वी पुत्र डैमेट्रिय गद्दी पर बैठा (१९० ई० पू० के कुछ पहिले)। उसने अपने पिता की कामना को पूर्ण करना चाहा। अन्ततः वह एक विशाल वाहिनी लेकर भारत की ओर चल दिया। पंतजलि के महाभाष्य तथा गार्गी संहिता के युग पुराण में जिस यवन आक्रमण-कारी की चर्चा है, वह यही डैमेट्रिय है। हाथी गुफा अभिलेख का दिमित भी वही प्रतीत होता है। उसने हिन्दू कुश को पारकर पंजाब का एक बड़ा भाग जीत लिया। यहाँ से उसने अपनी सेना के दो खण्ड कर दिये। एक भाग को अपने जामाता और सेनापति मैनाण्डर (मिलिन्द) की अध्यक्षता में सीधे मगध की ओर भेजा और दूसरे को स्वयं लेकर राजपूताने के रास्ते से होकर पाटलिपुत्र की ओर चला। इस समय बहुत सम्भव है मगध में शालिशूक अथवा सोमशर्मा राज्य कर रहा था। डैमेट्रिय ने (यदि वह महामाष्य का माना जाय) पांचाल, माध्यमिका (चित्तौड़ के पास नगरी) और साकेत को धर दवाया। भारत के मध्य देश पर यह पहला आक्रमण था। और बहुत सम्भव है कि डैमेट्रिय और मैनेण्डर दोनों की सेनाओं का यह मिला-जुला प्रयास था। टार्न ने भी इसी का समर्थन किया है।[1] पर इसे भी भारत में बहुत दिन टिकने का अवसर न मिला; जैसा कि गार्गी संहिता के युग पुराण और हाथी गुम्फा के अभिलेख से सिद्ध होता है। उसके शीघ्र लौटने का कारण यह था कि एक ग्रीक स्वच्छन्द शासक यूक्रेतिद ने सम्भवतः उसके राज्य पर आक्रमण कर दिया था। यह यूक्रेतिद सम्भवतः सीरियक सम्राट का (अंतियोक ४) भाई और सेनापति था। डैमेट्रिय जब तक लौटकर वहाँ पहुँचा उसके राज्य पर यूक्रेतिद अधिकार कर चुका था और उसके प्रयास करने पर भी फिर वह उसे न मिल सका। अतः उसे अपनी भारतीय विजय के फल-

1. W. W. Tarn, Greeks in Bactria & India **ये ही अभी तक इस विषय के अधिकारी लेखक हैं।**

स्वरूप जो कुछ मिल सका था उसी पर संतोष करना पड़ा। इस प्रकार उसका राज्य सिन्ध और पंजाब में ही सीमित रह गया। यही सर्व प्रथम ग्रीक सम्राट था, जिसने अपने सिक्कों पर, खरोष्ठी लिपि में, ग्रीक और भारतीय दो भाषाओं में लेख खुदवाये। यूथीडेमो का शासन बाख्मी में इस प्रकार १७५ ई० पू० के लगभग समाप्त हो गया।

यूक्रेतिद—इतिहासकार जस्टिन का कथन है कि यूक्रेतिद ने भी भारत की विजय की, और वह यहाँ सहस्र नगरों का स्वामी बन गया। उसने बाख्मी में यूक्रेतीदिया नाम का एक नगर भी बसाया। इस प्रकार ग्रीकों के दो राज-वंश पास-पास (अर्थात बाख्मी और पंजाब में) राज्य करने लगे। इसमें यूथीडेमो का कुल पंजाब और सिन्ध पर (साकल की राजधानी के साथ), और यूक्रेतिद का बेटा बाख्मी तथा काबुल और कन्धार में जम गया। पर यूक्रेतिद भी अपना राज्य सुख बहुत दिन न भोग सका और उसे उसी के पुत्र हेलियोक्लीज़ ने समाप्त कर दिया। स्मिथ की राय में इसका प्राण घातक अपोलो डोटस था। पर टार्न के आधार पर यह यूथीडेमो के किसी राजकुमार द्वारा मारा गया। बहुत सम्भव है कि उसने अपने पूर्वज के अपमान का बदला इससे लिया हो। जो हो हेलियोक्लीज बाख्मी के ग्रीक कुल का अन्तिम राजा था। इसके पश्चात् यह कुल शकों के दबाव में आ गया; फिर भी यह समूल नष्ट न हुआ और इसके कुछ राजा काबुल और भारतीय सीमा पर राज्य करते रहे। इन्ही में से एक एन्टीएलकाइडस था। इसकी चर्चा हम कर चुके हैं, इसके दूत दियन के पुत्र हेलियोदोर को शुंग वंश के राजा काशी पुत्र भागभद्र के दरबार में भेजा गया था, यह हेलियोदोर विष्णु भक्त था। इसने भिलसा के पास एक स्तम्भ गढ़वाया है, जिसमें अंतियलकाईदस को तक्षशिला का राजा कहा है। अंतियलकाईदस के सिक्के भी ग्रीक और भारतीय दोनों भाषाओं में खुदे मिलते हैं। इससे विदित होता है कि यह विजेता भी था। इसके पश्चात् इस सीमा प्रान्त पर हम अन्तिम राजा हरमायऔस देखते हैं।

इसका राज्य पहिली शताब्दी के लगभग रहा होगा। इस वंश की मूल शाखा तो शकों ने बाख्मी में नष्ट कर दी थी और इसका कुषाणों ने अन्त कर दिया।

यूथीडेमो का कुल—यूथीडेमो के पुत्र डेमेट्रिय ने जिस राज्य की नींव पंजाब में डाली थी, उसमें भी अनेक राजा हो गये। इन राजाओं के विषय में हमारा ज्ञान केवल उनके सिक्कों के आधार पर ही है, अतः उनका सुनिश्चित प्रसार व उत्तराधिकार नहीं बताया जा सकता। इस कुल में हमें एगार्थोक्लीज़, पैन्टालियन और एन्टीमेकस के नाम मिलते हैं। सम्भवतः इसी कुल में

एपोलोडोटस और मिनाण्डर अथवा मिनैण्डर (Menander) भी थे जिनमें सबसे प्रसिद्ध मिनैण्डर हुआ।

मिनैण्डर—मिनैण्डर Menander के विषय में स्ट्रैबो लिखता है, '**उसने सिकन्दर से भी अधिक जातियाँ जीतीं**' यह बात उसके अनेक स्थानों में उपलब्ध सिक्कों से भी सिद्ध हो जाती है। उसके सिक्के काबुल से लेकर गाजीपुर और बुन्देलखण्ड तक पाये गये हैं। उसको हम डैमेत्रिय के साथ भारत विजय में देख चुके हैं। अन्त में उसने बौद्धों के बहकावे में आकर पुष्यमित्र के राज्य पर आक्रमण किया, जिसमें सम्भवत: उसने अपने प्राण भी खोये। प्लूतार्क का कथन है कि मिनैण्डर पूर्व गंगा की घाटी में लड़ता हुआ मारा गया।

मिनैण्डर बौद्ध था, उसके कुछ सिक्कों पर धर्मचक्र का चिन्ह बना है। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार उसका नाम मिलिन्द मिलता है और बौद्ध ग्रन्थ मिलिन्द पन्हो में उसकी बड़ी चर्चा है। इस पुस्तक में कुछ ऐसे प्रश्न दिये गये हैं, जिनके लिए कहा जाता है कि उसने थेर नागसेन से उन्हें पूछा था। इस पुस्तक से उसकी राजधानी साकल के विषय में भी कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। उसमें लिखा है कि साकल नगर बड़ी सुन्दरता से बसा हुआ था। शत्रुओं से रक्षा के लिए वह ऊँची प्राचीरों से घिरा हुआ था। सड़कों के किनारे ऊँचे भवनों की पंक्तियाँ थीं। नगर में अनेक उद्यान और सरोवर थे। इसके बाजारों में काशी के रेशमी महीन वस्त्र, रत्न, और अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ मिलती थीं। मैनेण्डर अपने न्याय के लिए प्रसिद्ध था। अत: वह इतना जनप्रिय था कि उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी भस्म के वितरण में आपस में कलह हुआ।

(अ) **पह्लव** (Indo Parthian) हिन्दू-ग्रीक काल के पश्चात् हिन्दू-पार्थिवों का समय प्रारंभ होता है। इस वंश के राजाओं का वृत्त बड़ा ही संदिग्ध है। जो कुछ ज्ञान उपलब्ध होता है वह अभिलेखों या सिक्कों से होता है।

वोनोनैज़—इस कुल का सबसे पहला राजा वोनोनैज़ था। उसने बहुत शीघ्र कन्धार और काबुल के उत्तरी-पश्चिमी प्रदेश पर अधिकार कर लिया; साथ ही महाराजाधिराज की पदवी धारण की। उसके प्रारंभिक सिक्कों पर पहले केवल यूनानी भाषा में ही उसका नाम मिलता है, जिससे विदित होता है कि पहले उसका अधिकार भारत पर न होकर शकस्तान और पूर्वी ईरान पर था और क्रमश: पूर्व को बढ़ा। उसने मद्रदात (Mithradates १२३-८८ ई० पू०) के पश्चात् राज्य किया।

स्फैलिरिसैज—वोनोनैज़ के साथ-साथ उसके भाई स्फैलिरिसैज़ तथा उसके भतीजे स्फलगैडैमीज़ के नाम भी उसके सिक्कों पर मिलते हैं। इससे अनुमान होता है कि ये उसके प्रान्तीय शासक रहे होंगे। वोनोनैज़ के पश्चात् स्फैलिरिसैज़ ने राज्य किया। शकवंश के अयस द्वितीय के कुछ सिक्कों पर सामने की ओर स्फैलिरिसैज़ का नाम ग्रीक भाषा में और पीछे अयस का खरोष्ठी में खुदा है। इससे प्रकट होता है कि स्फैलिरिसैज़ अयस का भी सम्राट है।

गुदुफर—Goudophernes इस वंश का तीसरा राजा गुदुफर था। यही इस वंश का सबसे शक्तिशाली राजा हुआ। इसकी तिथि भी अब १०३ के तख्त वाही के अभिलेख के आधार पर निश्चित हो चुकी है। इस १०३ को जो अभिलेख की तिथि है, फ्लीट महोदय ने विक्रम संवत् मानकर इसकी (गुदुफर की) तिथि ४५ ई० मानी है। चूँकि यह तिथि उसके शासन काल के २६ वें वर्ष को प्रकट करती है; अतः उसका शासन काल १९ ई० से प्रारम्भ होता है। इस लेख के पेशाबर जिले में होने से उसका अधिकार पेशावर जिले तक प्रतीत होता है। साथ ही उसके सिक्कों की विभिन्नता से प्रकट होता है कि वह पूर्वी ईरान और पश्चिमी भारत दोनों के शक पल्लव प्रान्तों का स्वामी बन गया। यह बात भारतीय नरेश अस्पवर्मन के सिक्कों से भी प्रमाणित हो जाती है, क्योंकि इनके आधार पर अस्पवर्मन पहले अयस द्वितीय का सामन्त था, फिर गुदुफर का हो जाता है।

गुदुफर का नाम ईसाई अनुश्रुतियों में अत्यन्त विख्यात है। कहा जाता है कि प्रसिद्ध सेंट टामस ने उसके राज्य में ईसाई मत का प्रचार किया। इस सम्बन्ध में एक किम्बदन्ती है, कि एक बार उस सन्त ने गुदुफर से उसके लिए महल बनाने के हेतु धन माँगा। राजा ने उसे एक लाख मुद्राएँ दीं। पर जब महल न बना तो उसने सन्त को बन्दी बना दिया। एक दिन राजा ने उसे पूछा कि रुपये क्या हुए, तो सन्त ने उत्तर दिया कि उसने उन रुपयों से राजा के लिए महल बनवा दिया है। जब प्रश्न किया कि कहाँ है वह महल? तो उसने स्वर्ग की ओर संकेत कर दिया। वस्तुतः सन्त ने वह धन निर्धनों को बाँट दिया था और कहा था कि वह दान उसे स्वर्ग में महल प्रदान करेगा। यह कथा कहाँ तक सत्य है, यह नहीं कहा जा सकता, पर सन्त टामस निश्चय ही उसका समकालीन था। उसकी समाधि मद्रास प्रान्त में है। इससे विदित होता है कि वह प्रचार के लिए कितना भ्रमण करता था।

गुदुफर का साम्राज्य उसके मरते ही छिन्न-भिन्न हो गया, क्योंकि वह उथल पुथल का था। इसी समय ह्यूची जाति का वेग आ गया था, जिसके समक्ष किसी का टिकना सरल न था।

(ए) शक

पश्चिमोत्तर भारत के रंगमंच पर लगभग दूसरी शताब्दी ई० पू० में आने वाली जाति शकों की थी। इसके आने की पृष्ठ भूमि बड़ी विचित्र रही। बात यह थी कि उत्तर पश्चिम चीन में ह्यूची नाम की एक जाति रहती थी। उसको हियुंगनू जैसी क्रूर जाति ने मार भगाया। ह्यूची विवश होकर दक्षिण पश्चिम की ओर चले और सर नदी के उत्तर में निवास करने वाली शक जाति से टकराये। शकों ने अपने स्थान को छोड़कर दक्षिण पश्चिम के बाख्मी यवन तथा पार्थी राज्यों पर आक्रमण किया। इसमें बाख्मी यवन तो समाप्त हो गये. पर पार्थी राज्यों ने उनसे लोहा लिया। पार्थी राजाओं से पहले फ्रात द्वितीय तथा इसके पाँच वर्ष बाद आर्तवान मारे गये। परन्तु मद्रदात द्वितीय (Mithridates) ने १२३ ८८ ई० पू० शकों को अपनी भूमि पर पैर न रखने दिया। अतः ईरान से लौटकर शक भारत की ओर चले। इधर काबुल में अभी भी यवन राज्य कुछ अवशेष था। अतः वे आगे न बढ़ने दिये गये। फल यह हुआ कि वे यहाँ से दक्षिण की ओर चलकर फैल गये। यह प्रदेश आजकल का पश्चिमी अफगानिस्तान और बलूचिस्तान का है। इस प्रदेश को उनके वहाँ बसने के कारण सिस्तान (शकस्थान) कहने लगे। इस प्रदेश में भी उन्हें बहुत स्वतंत्रता से रहने को न मिला, अतः उन्होंने अब बोलन दर्रा पार कर सिन्धु घाटी में प्रवेश किया।

शक आक्रमण—जैन ग्रन्थ कालकाचार्य कथानक के आधार पर विदित होता है कि उज्जयिनी में एक जैन आचार्य कालक रहते थे। वे उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल के अत्याचार से दुखी थे। उधर शक सरदार अपने प्रदेश में पार्थिया के सम्राट से तंग थे। पार्थियन नरेश ने उनसे कह रखा था कि वे अपना-अपना सर काट कर दे, यदि उसके क्रोध से बचना चाहते हैं। अतः कालकाचार्य ने उन्हें जाकर बचने की युक्ति बतायी और गर्दभिल्ल पर आक्रमण कराया। शकों ने बड़े प्रबल वेग से धावा बोला और सुराष्ट्र के गणों को समाप्त कर दिया। तदनन्तर उन्होंने गर्दभिल्ल को हराया और अवन्ति पर अपना प्रभुत्व जमा लिया। इस घटना के १४ वर्ष पश्चात् गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों को मार भगाया और अपनी विजय के उपलक्ष में एक नये संवत् की नींव डाली (५७ ई० पू०)। किन्तु शक इस पराजय को सैकड़ों वर्ष न भूले। उन्होंने १३५ वर्ष बाद पुनः भारत पर आक्रमण किया और अवन्ति पर अधिकार कर लिया (७८ ई० पू०)। इसी तिथि से उन्होंने भी एक नये संवत् का सूत्रपात किया जिसे शक संवत् कहते हैं। धीरे-धीरे इनका विस्तार बढ़ गया और इनकी कई शाखाएँ हो गयीं, जिन्होंने बहुत

समय तक भूखण्डों पर अलग-अलग शासन किया। इनके कुल पाँच कुल स्थापित हुए जो इस प्रकार थे :—

१. सिन्ध और पश्चिमी पंजाब का शक कुल।
२. पश्चिमोत्तर क्षत्रप।
३. मथुरा के क्षत्रप।
४. महाराष्ट्र का क्षहरात कुल और
५. उज्जैन के क्षत्रप

१ सिन्ध-पंजाब का शक कुल

भारतीय राजाओं में सर्वप्रथम शक शासक मोअ था। ग्रीक इतिहासकारों ने उसे मावेस (Maves) लिखा है। वह एक शक्तिशाली शासक था। तक्षशिला के एक ताम्र पत्र में उसे महाराय कहा गया है। उसकी एक उपाधि महाराजाधिराज से विदित होता है कि उसने बहुत से प्रान्त जीत लिये थे। पंजाब में उसका राज्य बहुत दूर तक न था, क्योंकि पूर्वी पंजाब में अभी तक यवन राज्य का आधिपत्य शेष था। उसका राज्य वस्तुतः काबुल की घाटी और पूर्वी पंजाब के दोनों (वाख्मी और यूक्रेतिद) यवन राज्यों के बीच फैला था। इन्हीं प्रान्तों में उसके सिक्के मिले हैं। उसके शासन की तिथि निश्चित तो नहीं पर सम्भव है कि प्रथम शताब्दी ई० पू० का अन्तिम चरण था। स्तेनकोनों की राय में ६० ई० पू०, डा० राय चौधरी के मत में ३३ ई० पू० के पश्चात् की तिथि बतायी गयी है। क्षत्रपतिक के तक्षशिला ताम्र-पत्र वाले लेख में जिसमें महाराय मोअ की चर्चा है, एक तिथि ७८ दी है, पर इसका संवत आदि नहीं दिया है। अतः किस संवत् की यह तिथि है, यह नहीं कहा जा सकता।

अय, Ayes—मासेस के पश्चात् अय प्रथम शक कुल का राजा हुआ। इसके सिक्कों के विस्तार से सिद्ध होता है कि इसने मोअ के राज्य को स्थिर रखा। यही नहीं बहुत सम्भव है, कुछ पूर्व की ओर बढ़ाया भी। डा० त्रिपाठी का कहना है कि यह कलवान के अभिलेख का अय है, अथवा यह तक्षशिला के रजत लख का अय है। इनमें से पहला लेख १३४ वें साल का और दूसरा १३६ वें का है; पर उनमें किसी संवत् की चर्चा नहीं है। अतः इसकी तिथि का निश्चय नहीं किया जा सकता। वैसे तक्षशिला के समीप के कलवान वाले लेख की तिथि स्तेनकोनो ने विक्रम संवत् मानी है। यदि हम इसको सत्य मान लें तो (१३४-५७) अर्थात ७६ ई० में यह ठहरता है, पर इस रूप से यह मोअ से अधिक दूर पड़ जाता है, अतः इसे पहिली शताब्दी के प्रारम्भ में मानना अधिक युक्ति संगत होगा। कुछ विद्वानों

का कथन है कि विक्रम संवत् का प्रवर्त्तक यही था, पर यह सर्वथा निराधार है।

अजलिसिज तथा अय द्वितीय—अय प्रथम के पश्चात अजलिसिज् राजा हुआ। इसके विषय में हमारा ज्ञान नहीं के तुल्य है। इसके बाद अय द्वितीय इस वंश का शासक हुआ। कुछ लोगों का विचार है कि अय प्रथम और द्वितीय एक ही व्यक्ति हैं, पर यह उचित नहीं। कहा जा चुका है कि अय द्वितीय के समय ही पह्लव शासक गुदुफर ने सब राज्य जीत लिया था।

२—पश्चिमोत्तर के क्षत्रप

तक्षशिला, मथुरा और उज्जैन के शक कुल क्षत्रप अथवा महा क्षत्रप कहे जाते हैं। क्षत्रप का अर्थ प्रान्तीय शासक होता है। ग्रीक सैट्रेप (Satrap) का यह फारसी रूप है। इन कुलों ने किस आधार पर अपने को क्षत्रप कहा। यह कहना सरल नहीं, पर सम्भव है जब ये ईरान में पार्थिवों से हारकर दक्षिण पूर्व को चले, तो अपने को प्रान्तीय शासक कहकर ही बचाया होगा। पर इससे यह अर्थ कभी नहीं निकलता है कि ये स्वतंत्र न होकर किसी भी रूप से ईरान के पार्थिवों के अधीन थे। इन शब्दों का इस रूप से भी प्रयोग हुआ है कि राजा ने अपने को महाक्षत्रप कहा और अपने युवराज को क्षत्रप।

इस स्थल पर यह कहना अत्यन्त आवश्यक है कि तक्षशिला के **लियक कुसुलक** और उसके पुत्र **पतिक महाक्षत्रप और** क्षत्रप थे, पर वे दोनों प्रान्तीय शासक ही थे। गान्धार का प्रान्त, जिसकी राजधानी तक्षशिला थी वस्तुतः सिंध के शक कुल के अधीन था। इसका असली राजा तो मोअ था, जिसका महाराय मोअ नाम ७८ वें वर्ष वाले तक्षशिला के पतिक के ताम्रपत्र में अंकित है। ये पिता-पुत्र (लियक कुसुलक और पतिक) क्षहर और चुक्ष नामक विषयों के मांडलिक थे।

३ मथुरा के क्षत्रप

इस वंश का इतिहास भी बहुत सुनिश्चित नहीं है; फिर भी हमें अनेक क्षत्रपों का ज्ञान है। इस वंश के सबसे पहिले क्षत्रप हगान और हगानस नाम के थे। ये या तो पिता-पुत्र थे अथवा भाई-भाई। दोनों ने कुछ समय तक मिल कर शासन किया। किन्तु इस कुल के सबसे अधिक प्रसिद्ध क्षत्रप रंजुबुल और उसका पुत्र सोडास हैं। इन्होंने हगान के पश्चात् शासन की बाग डोर सम्हाली। मथुरा के पास एक गाँव है—मोरा, इसमें प्राप्त एक अभिलेख में रंजुबुल को महाक्षत्रप कहा गया है। उसके सिक्कों से विदित होता है कि उसने पंजाब के यवन शासक स्मातो प्रथम और द्वितीय के सिक्कों की नकल की थी। पिता की मृत्यु के उपरान्त सोडास महाक्षत्रप बना है।

ब्रिटिश म्यूजियम में रखे मथुरा के सिंह मस्तक के अभिलेख से ज्ञात होता है कि जब तक्षशिला में पतिक महाक्षत्रप था तो मथुरा में सोडास क्षत्रप था। अमोहिनी आयाग पट्ट वाले लेख में सोडास के विरुद्ध महाक्षत्रप आया है। और उसमें ४२ का अंक लिखा है। रैप्सन के अनुसार इसे यदि हम विक्रम संवत मान लें तो ईसवी पूर्व १६-१७ वर्ष में इसके शासन की तिथि निश्चित होती है। इन पिता पुत्र दोनों के काल में अनेक आयागपट्ट बने और अनेक जैन मूर्तियाँ बनीं। उनमें से बहुत सी मथुरा और लखनऊ के अजायब-घरों में हैं।

४ महाराष्ट्र का क्षहरात कुल

शकों का जो वंश महाराष्ट्र में स्थापित हुआ, वह क्षहरात के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह नाम डा० त्रिपाठी के अनुसार क्षहर शब्द से प्राप्त हुआ हैं। जैसा कि हम पश्चिमोत्तर क्षत्रपों के विषय में देख चुके हैं कि लियक कुसुलक एक क्षहर का स्वामी था। अतः सम्भव है कि तक्षशिला के राजकुल की ही एक शाखा महाराष्ट्र में जा बसी हो।

भूमक—इनका पहिला क्षत्रप भूमक था। उसका आधिपत्य महाराष्ट्र पर ही नहीं, सौराष्ट्र पर भी था। इसके सिक्के गुजरात और सुराष्ट्र के समुद्र तटों पर मिलते हैं। इनके ऊपर बाण, चक्र, वज्र, सिंहध्वज और धर्म-चक्र के चिन्ह पाये जाते हैं।

नहपान—भूमक के पश्चात् इस वंश का शासक नहपान हुआ। इसके लेख नासिक, जुनार, और कारले की गुफाओं में मिले हैं, जिनसे उसके राज्य विस्तार का ज्ञान होता है। जोगल थंबी में मिले हुए सिक्कों के ढेर से विदित होता है कि नहपान ने कई प्रकार के सिक्के चलाये थे। वह एक शक्तिशाली शासक था। जिस समय राजस्थान के उत्तम भद्र लोग मालवों से घिर गये थे उस समय नहपान ने अपने जामाता उषवदात को उनकी सहायता के निमित्त भेजा था। उषवदात ने मालवों को भगाकर पुष्कर तीर्थ में (अजमेर में) बहुत सा दान दिया। परन्तु जोगल थंबी के कुछ सिक्के ऐसे भी मिले हैं, जिन्हें गौतमी पुत्र शातकर्णि ने पुनः अंकित किया। इससे यह निष्कर्ष निकलता हैं कि शातकर्णि ने इस राजकुल को अपने अधीन कर लिया था। इनके कुल, नाम और सिक्कों से यह बात निश्चय ही ध्वनित होती है कि वे भारतीय संस्कृत के पोषक थे। इसकी तिथि निश्चित तो नहीं पर उनके लेखों से दो तिथियों और ४१ और ४६वें वर्ष की है। इनमें संवत् की चर्चा नहीं है। पर फ्रेंच विद्वान दुब्रोआ ने इसे विक्रम संवत् के अनुसार अंकित माना है। उस दशा में ये ६६ तथा १०४ ई० हुई। (४१ + ५८) यदि इन्हें शक संवत

मान लें तो नहपान की तिथि (७८+४१) ११९—१२४ ई० ठहरती है। इसके उतराधिकारियों के विषय में हमारा ज्ञान शून्य के बराबर है।

५ उज्जैन के क्षत्रप

चष्टन—शकों का एक राजवंश अवन्ति में स्थापित हुआ। इसकी राजधानी उज्जैन थी। इस कुल का संस्थापक यसामौतिक का पुत्र चष्टन था। इस वंश ने पश्चिमी भारत में सदियों तक राज्य किया। दुब्रोआ का विचार है कि शक संवत् (७८ ई०) का प्रवर्तक चष्टन ही था। यद्यपि बहुत से विद्वान इससे सहमत नहीं हैं, फिर भी वे अन्धाऊ (कच्छ मेंमों) प्राप्त अभिलेख की तिथि ५२ को शक संवत् की ही मानते हैं, इस प्रकार चष्टन की तिथि (७८+५२) १३० ई० हुई। चष्टन ने शक परम्परा के अनुसार पहले क्षत्रप की उपाधि से शासन किया और फिर महाक्षत्रप का विरुद भी धारण किया। चष्टन के सिक्कों पर नहपान के सिक्कों का विशेष प्रभाव पड़ा है। इससे सिद्ध होता है कि चष्टन ने नहपान के पश्चात् राज्य किया। अन्धाऊ लेख के आधार पर डा० भाण्डारकर का कथन है कि चष्टन और रुद्रदामन ने कुछ समय तक साथ-साथ शासन किया, पर दुब्रोआ इसे नहीं मानते, क्योंकि वे इस लेख को रुद्रदामन के शासन काल का मानते हैं।

रुद्रदामन—चष्टन के पश्चात् उसका पुत्र जयदामन क्षत्रप हुआ। पर यह क्षत्रप तक ही सीमित रहा। इसके पश्चात् उसका पुत्र रुदादामन गद्दी पर बैठा। वह न केवल उज्जैन के शककुल में, बलिक अन्य स्थानों के शकराज वंशों में अत्यन्त शक्तिशाली हुआ। उसने अनेक विजएँ कीं। शातकर्णि राजाओं को इसी ने हराया। गिरनार पर्वत पर उसकी एक प्रशस्ति खुदी है। यह लेख ७२ शक संवत अर्थात १५० ई० का है। इस लेख से विदित होता हैं कि उसने महाक्षत्रप का विरुद धारण किया। उसने योधाओं को हराया और अपने निकट सम्बन्धी शातकर्णि को दो बार हराया। उसने उतरी गुजरात सौराष्ट्र, कच्छ, सिन्धु का निचला प्रदेश, उत्तरी कोंकण, पूर्वी तथा पश्चिमी मालवा आदि अनेक प्रान्त अपने अधीन किये। इनमें से बहुत से प्रदेश सातबाहन राजाओं से उसने छीने थे।

रुद्रदामन के शासन की दूसरी प्रसिद्ध घटना सुदर्शन झील का पुनरुद्धार हैं। इसे जैसा कहा जा चुका है चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रान्तीय शासक पुष्यगुप्त ने बनवाया था। अशोक के प्रान्तीय शासक तुषास्य ने इसमें से नहरें निकलवायीं थीं। रुद्रदामन के काल में उसके बाँध टूट गये थे, अतः उसने कुवैष के पुत्र पह्लव शासक सुविशाख द्वारा पुनरुद्धार करवाया। इस बार यह बाँध पहले से तिगुना दृढ़ कर दिया गया। इस लेख से यह भीं विदित होता है कि रुद्रदा-

मन ने इस भारी कार्य के लिए भी अपनी प्रजा पर कोई विशेष कर नहीं लगाया था ।

रुद्रदामन के पश्चात लगभग दो सौ वर्ष तक यह वंश किसी न किसी रूप में शासन करता रहा । गुप्त काल के आरम्भ तक ये पीड़ित तो हुए, पर जीवित रहे । हर्ष-चरित और देवी चन्द्रगुप्तम का शक राजा, जिसे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने मारा था, इस कुल का रुद्रसिंह तृतीय प्रतीत होता है । इसके बहुत से सिक्के प्राप्त हुए हैं । यह निश्चित ही है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने सौराष्ट्र और उज्जैन के शकों को ही विजय करके शकारी की उपाधि धारण की थी (उदयगिरि अभिलेख) ।

(ऐ) कुषाण काल

शकों के विषय में चर्चा करते हुए यह लिखा चुका है कि मध्य एशिया की जातियाँ दूसरी शताब्दी पूर्व से एक दूसरे को खदेड़ती रहीं । इनमें जो भी दल प्रबल हुआ, उसीने अपनी सत्ता जमा ली । इसी प्रकार के प्रचलन में शक भारत तक आ गये थे, और सदियों राज्य करते रहे । इसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि एक हयूगनूँ जाति तुर्किस्तान की ओर बसती थी, उसने अपने पड़ोस में रहने वाली यूहची जाति पर आक्रमण किवा । ये यूहची चीन के कान्सू प्रान्त में रहते थे । हयूगनूँ से पीड़ित होकर यूहची पश्चिम की ओर चल पड़े । इली नदी की घाटी में वूसुन जाति से इनका सामना हुआ । जिसमें वूसुन का राजा मारा गया । इसके अनन्तर यह जाति दो भागों में बँट गयी ।

१—छोती यूहची (सिआव यूची) यह दक्षिण की ओर जाकर तिब्बत में बस गयी । यह आगे बढ़ती चली गयी ।

२—ता यूहची—ता यूहची जाति आगे चलकर सीर, दरिया के किनारे शकों से भिड़ गयी, पर वहाँ भी इस जाति के लोग बहुत दिन तक न टिक सके और अपने पुराने शत्रु हयूगनूँ तथा वूसुव के द्वारा भगाये गये । अतः इन्हें और आगे चलना पड़ा और धीरे धीरे ये वक्षु नद की घाटी में पहुँच गये । यहाँ इन्होंने पहिले तो वाख्यियों को सताया—और उन्हें पराजित कर वहीं जम गये । कुछ काल में इसके पाँच हिस्से हो गये । १ हियूमी २ चुआंग मो, ३ कुएई चुआंग, ४ हिथुन और ५ काओफू । इस विभाजन के लगभग १०० वर्ष पश्चात् कुएईचुआंग की एक शाखा ने शेष चारों को हरा दिया, और एक सम्मिलित रूप खड़ा किया । इसी का नाम कुषाण पड़ गया ।

कुजलू फैडफाइसस—इनका नेता कुजुलू फैडफांइसस था । इसी को

सम्भवत: बाँग वीर कहा गया है। इस राजा के अनेक सिक्के मिले हैं, जिनसे उसकी विजयों पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

इसके कुछ सिक्कों पर खरोष्ठी लिपि में कुजुल कस खुदा है। और कुछ पर हरमाउस के साथ कोलो क्षो कदफिज ग्रीक में खुदा मिलता है। बाद के कुछ सिक्कों पर हरमाउस का नाम नहीं मिलता। ये सिक्के अधिकांश काबुल के आस-पास मिले हैं। इनके एक ओर पार्थव थे, और दूसरी ओर काबुल के ग्रीक। चूँकि पार्थव दोनों के शत्रु थे अत: कुजुल ने काबुल के ग्रीकों से उनके विरुद्ध सन्धि कर ली। इस समय तक यूक्रेतिद वाला राजवंश समाप्त हो गया था, और यूथी डैमो का वंश मृत प्राय था।

कुजुल ने पहले-पहल इतना ही उचित समझा कि अपना नाम ग्रीक राजा के साथ रखे, पर बाद को ग्रीक राजा का नाम मिटा दिया। इस प्रकार यवन राज कुलों की सत्ता भारत से मिट गयी। इसके अनन्तर उसने पार्थिया पर आक्रमण कर उसे भयभीत कर दिया। चूँकि पार्थिव अभी भी शक्तिशाली थे; अत: कुजुल भारत की ओर मुड़ गया। मार्ग में गान्धार और दक्षिणी अफगानिस्तान पड़ते थे। उसने इनको विना प्रयास के ही जीत लिया। उसकी यह विजय गान्धार के पल्लव राजा गुदुफर के पश्चात् हुई होगी, क्योंकि गुदुफर अपने समय में स्वयं शक्तिशाली रहा है। पहिले कहा जा चुका है कि गुदुफर का समय ४५ ई० था, और कुजुल उसके पश्चात् सफलता पाता है अत: उसका ८० वर्ष का दीर्घ कालीन जीवन पहली शताब्दी के अन्त तक बीता होगा। जो हो उसने कुषाण साम्राज्य की नींव डाल दी।

वैमो फैडफाइसस—कुजुल के पश्चात् उसका पुत्र वैमो फैडफाइसस राजा हुआ। इसके बहुत से सिक्के मिलते हैं। उनके बड़े विस्तार से प्रकट होता है कि इसके समय भी कुषाण साम्राज्य बढा। फिर उसके सिक्कों के महाराजाधिराज, जैसे विरुद भी इसी बात को प्रमाणित करते हैं। चीनी लेखकों ने उसे भारत का विजेता लिखा है। भारत तो नहीं, पर उसका पंजाब का भाग तथा उत्तर प्रदेश का कुछ अंश उसने जीत लिया था। भारत के इन प्रान्तों पर उसका कोई प्रतिनिधि राज्य करता था, और उसने अनेक सिक्के चलवाये, जिनमें किसी राजा का नाम ही नहीं हैं। ऐसी स्थिति में इन्हें अज्ञातनामा कहकर पुकारते हैं। इस सिक्कों से एक विचित्र बात ज्ञात होती है, कि उस विजयी पर भी हिन्दू संस्कृति और धर्म की छाप पड़ गयी थी। उसके सिक्कों पर एक ओर माहेश्वर लिखा है और दूसरी ओर उन पर नंदी तथा शिव की आकृति खुदी हुई है। इनसे सिद्ध होता है कि वह शैव हो गया था।

कनिष्क—वैमो फैडफाइसस के पश्चात् कनिष्क का नाम आता है। यह

आज तक निश्चित नहीं हैं कि यह वैमो का पुत्र अथवा उत्तराधिकारी था। कुछ विद्वान तो उसको वैमो व कुजुल के पहिले ही राजा मानते हैं; यथा फ्लीट, व कैन्नेडी। पर यह कहना नितान्त भ्रम पूर्ण है; क्योंकि उनके पाये गये खण्डहर पास-पास मिले हैं, दोनों के सिक्कों की तोल, टैकनीक, उनका आकार, आदि एक सा है; फिर अनेक स्थानों पर दोनों के सिक्के साथ-साथ मिले हैं; यथा काबुल के पास वेग्रय, गोरखपुर में गोपालपुर और बनारस। अतः हमें कुजुल कैडफाइस, वैमोफैडफाइस और कनिष्क यही क्रम रखना होगा।

कनिष्क की तिथि भी विवाद-ग्रस्त है। इसके लिए विद्वानों ने ५८ ई० पू० से लेकर २७८ ई० तक के अटकल लगा डाले है। फ्लीट की राय में ५८ ई० पू० का विक्रम संवत उसी ने चलाया। डा० मजुमदार २४८ ई०, भंडारकर २७८ ई० मानते हैं। पर अधिक इतिहासकार उसे ७८ ई० में शक संवत् का प्रवर्तक मानते हैं। यह निश्चय है कि कनिष्क ने भी एक शाका चलाया; क्योंकि उसी तिथि का क्रम उसके उत्तराधिकारियों ने स्थिर रखा, साथ ही उसको दूसरी शताब्दी में राज्य करने वाला बताने के लिए ऐसा कोई शाका नहीं मिलता और इसके विपरीत चीनी लेखकों के आधार पर कुजुल-फैडफाइसस ८० वर्ष का होकर प्रथम शती के अन्तिम चरण में मरता तो कनिष्क बहुत सम्भव है कि वैमो के अल्पकालीन राज्य के पश्चात् ७८ ई० के लगभग गद्दी पर बैठा हो।

कनिष्क की विजय—कनिष्क एक वीर और लड़ाका बादशाह था। उसे अपने पूर्वजों से काफी विस्तृत राज्य मिला था, जिसे उसने अधिक बढ़ाकर एक साम्राज्य का रूप बना दिया। काश्मीर की घाटी कनिष्क को बहुत प्रिय लगी, इसे उसने अपनी दिग्जिय के प्रारम्भ में ही जीत लिया। इसी समय पार्थिया के राजा ने उस पर आक्रमण किया। सम्भव है कि पार्थियन नरेश कुजुल की चढ़ाई का बदला चाहता था; किन्तु उसे कनिष्क के हाथ भी पराजय ही मिली।

इसके उपरांत कनिष्क ने चीन की ओर दृष्टि डाली। और बहुत जल्द उसने काशगार, खुतन और यारकन्द के प्रान्त ले लिये। उसका चीनी संघर्ष भी एक मनोरंजक घटना है। चीन में २३ ई० के लगभग हान कुल का अन्त हो गया। अतः चीनी प्रभाव उस समय मध्य एशिया में न रहा। किन्तु पचास वर्ष पश्चात् चीनियों का एक वीर सेनापति पान चाऊ विजय के लिए पश्चिम की ओर चला। इधर कनिष्क भी उससे कम न था। अतः दोनों ने अपनी-अपनी शक्ति तौलनी चाही। कनिष्क ने चीनियों की उपाधि देवपुत्र धारण की और चीनी सम्राट से अपने विवाह के लिए एक राजकुमारी माँगी। कनिष्क के इस प्रस्ताव को सुनकर पान चाऊ के क्रोध का ठिकाना न रहा, उसने कनिष्क

के राजदूत को बन्दी बना लिया। कनिष्क को भी इतना कैसे सहन हो सकता था। उसने तुरन्त एक विशाल सेना लेकर चीन पर धावा बोल दिया, पर उसकी आशा एक दुराशा थी, पानचाऊ के सेनापतित्व में किसी प्रकार की दुर्बलता न थी। फल यह हुआ कि कनिष्क को अपने मुँह की खानी पड़ी और वह कर देने को वाध्य हुआ। इस हार का बदला कनिष्क ने एक वर्ष बाद चुकाया। इस समय तक चीन में पानचाऊ मर चुका था, और उसका अयोग्य पुत्र पानयांग अब स्वामी था। कनिष्क ने उसे हरा दिया। इस पर कनिष्क ने चीन एक पड़ोसी राज्य को मध्यस्थ किया और उसकी मध्यस्थता के लिए उसके राजकुमार अपने यहां बुला लिये; साथ ही, कहा जाता है कि, एक हान वंश का राजकुमार भी था। कनिष्क ने इनके निवास के लिए उत्तम प्रबन्ध किया। उनके लिए दो तीन विहार बनवाये गये (१) कपिशा में शैलोक नामक विहार, जिसमें सातवीं शती में ह्यूनसांग ठहरा था। (२) गान्धार और पंजाब के चीनी मुक्त स्थानों के बिहार।

पूर्वोत्तर से निश्चिन्त होकर कनिष्क ने पूर्व में भी अपना साम्राज्य फैलाया। चीनी और तिब्बती ग्रन्थों के आधार पर विदित होता है कि उसने पूर्व में साकेत (अयोध्या) और मगध तक धावा किया। वह पाटलिपुत्र से दार्शनिक अश्वघोष को अपने साथ ले गया। इस प्रकार कनिष्क के साम्राज्य में पश्चिम की ओर अफगानिस्तान, वाख्मी, काशगर, खुतन और यारकन्द थे और पूर्व की ओर पंजाब, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी विहार का प्रान्त था। उसने गद्दी पर बैठते ही विजय करना आरम्भ कर दिया था; क्योंकि उसके सारनाथ वाले लेख में राज्य के तीसरे वर्ष का उल्लेख है।

उसका शासन—कनिष्क के शासन का ज्ञान सारनाथ वाले लेख से हमें मिलता है। उसमें लिखा है कि उसके पूर्वी प्रान्तों के लिए दो क्षत्रप नियुक्त थे। इनमें से एक की राजधानी मथुरा और दूसरे की काशी रही होगी। इसमें मथुरा के महाक्षत्रप का नाम खरपल्लान और काशी के क्षत्रप का नाम वनष्पर था। पूरे साम्राज्य की राजधानी पेशावर थी, जहाँ से वह स्वयं शासन भार देखता था।

उसके सिक्के—उसके सिक्कों पर ग्रीक, ईरानी और हिन्दू देवताओं की आकृतियाँ तथा उनके नाम ग्रीक भाषा में खुदे मिलते हैं; यथा हैरेक्लीज, सेराविज़, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, शिव, इससे स्पष्ट है कि वह धार्मिक विषयों में अत्यन्त उदार था।

उसका धर्म—समस्त बौद्ध साहित्य कनिष्क को बौद्ध धर्मावलम्बी और अपने धर्म का दूसरा अशोक मानता है, पर उसके सिक्कों पर विभिन्न धर्मों की प्रतिमाएँ अंकित हैं। इससे यह प्रकट होता है कि या तो वह धर्म के लिए

विषय में अत्यन्त उदर था, अथवा उसने अपने साम्राज्य के विभिन्न प्रदेशों में जो भी धर्म माने जा रहे थे, उन सभी का अपने शासन में प्रतिनिधित्व रखने के लिए स्थान दे रखा था। उसका व्यक्तिगत धर्म बौद्ध था; पर हो सकता है, वह उसे अपने प्रारंभिक जीवन से न मानता रहा हो, और जब उसे अश्व घोष जैसे दार्शनिक का सम्पर्क मिला तब उसने उसे ग्रहण किया हो। यही नहीं उसके बौद्ध होने के अन्य प्रबल प्रमाण भी हैं।

१. उसके सिक्के पर बुद्ध जी की प्रतिमा बनी है।
२, उसने अनेक स्थानों पर बिहार, स्तूप आदि बनवाये।
३. उसने बौद्ध संगीति बुलाई।

चतुर्थ बौद्ध संगीति—कनिष्क जब बौद्ध हो गया, तो उसके सामने एक समस्या खड़ी हो गयी। उस समय बौद्ध धर्म में भी सांप्रदायिकता फैली हुई थी। एक बौद्ध सम्प्रदाय दूसरे का विरोध करता था। ऐसी स्थिति में कनिष्क को एक उपाय सूझा। इन सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए उसने एक अधिवेशन में ५०० बौद्ध भिक्षु बुलाये। यह अधिवेशन काश्मीर के कुण्डल वन-विहार में हुआ। इसकी अध्यक्षता भिक्षु वसुमित्र ने की थी। वसुमित्र की अनुपस्थिति में अश्वघोष अध्यक्ष का कार्य करते थे। इन संगीति के फलस्वरूप बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया गया और इन भाष्यों को ताम्रपत्रों पर खुदवाकर एक स्तूप में सुरक्षित रूप से रख दिया गया।

हीनयान तथा महायान—इस समय बौद्ध धर्म में एक नया युग का सूत्र-पात हुआ। इसमें पहिले बुद्ध जी की मूर्तियां न बनती थीं, बल्कि उनकी उपयोग की वस्तुओं की पूजा की जाती थी; यथा उनकी पगड़ी, उनका बोधिवृक्ष, उनका छत्र, कमण्डल आदि। पर इस युग से उनकी मूर्तियाँ बनना प्रारम्भ हो गया। इस मूर्ति निर्माण से बुद्ध जी के प्रति श्रद्धा दूसरी ही हो गयी। प्राचीन बौद्ध बुद्ध को केवल मानव गुरु, आचार्य और पथ प्रदर्शक के रूप में मानते थे। वे तब तक देव रूप न थे। इस सिद्धान्त को हिनयान कहते थे। इसमें केवल सिद्धान्तों का परिशीलन था; पर यह परिशीलन केवल विद्वान ही कर सकते थे; जन साधारण नहीं। जब बौद्ध धर्म जन-साधारण तक पहुँच गया, तब उसे इस बात की कमी का अनुभव हुआ। जनसाधारण को धर्म मानने के लिए, अपने सुख-दुःख सुनाने के लिए एक देवता की आवश्यकता होती है। हिन्दू धर्म में इस बात की व्यवस्था है, पर बौद्ध धर्म में इसके पहिले न थी। इसीलिए इस धर्म के इस स्वरूप का जन्म हुआ, इसमें भी अनेक धार्मिक नियम, विधि तथा देवताओं का सृजन हुआ। बुद्ध तथा बोधिसत्वों की अनेक कथाएँ जोड़ दी गयीं। इसी साधारणीकरण को महायान कहते हैं। इसका श्रेय कनिष्क को था।

वासिष्क—कनिष्क ने लगभग २३ वर्ष राज्य किया, उसके लम्बे राज्य काल में उसके बराबर युद्ध करने से प्रजा भी ऊब चुकी थी; अतः एक दिन कहा जाता है कि उसके बीमार पड़ने पर उसी के स्वजनों ने उसे मार डाला। उसके दो पुत्र थे वासिष्क और हुविष्क। ये दोनों ही उसके शासन काल में प्रान्तीय शासक का कार्य करते रहे। डा० राजबलि पाण्डेय का कहना है कि वासिष्क, कनिष्क के जीवन काल में मर गया; पर मथुरा और साँची से २४ वें और २८ वें शक संवत् के दो अभिलेख मिले हैं, इनमें वासिष्क का नाम आता है। इससे ज्ञात होता है कि कनिष्क के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी वासिष्क हुआ। वासिष्क ने थोड़े ही समय तक राज्य किया होगा, क्योंकि १०८ ई० का एक लेख और मिलता है जिसमें हुविष्क का नाम भी मिलता है।

कनिष्क द्वितीय—पेशावर जिले में आरा नामक स्थान से एक लेख मिला है, यह शक संवत् ४१ वें वर्ष का है। इसमें लिखा है कि **"वासिष्क पुत्र महाराज, राजाधिराज, देवपुत्र कैसर कनिष्क के शासन काल में"** यह कौन सा कनिष्क था? यह कनिष्क महान् तो हो नहीं सकता। क्योंकि उसके पश्चात् आने वाले वासिष्क ने २४, व २८ शक संवत् का व्यवहार किया है, जिसका प्रवर्त्तक कनिष्क महान था। फिर वसिष्क के पश्चात् शीघ्र ही हुविष्क आ जाता है। इसकी तिथियाँ उसी शक संवत् से आरम्भ होकर ३१—६० तक चलती हैं। इसके अतिरिक्त वासिष्क और हुविष्क को यदि हम कनिष्क का क्षत्रप मानना चाहें सो भी सम्भव नहीं; क्योंकि उसके क्षत्रपों में खर पल्लान और वनष्पर के अतिरिक्त किसी दूसरे का कहीं उल्लेख नहीं है। इससे यह सम्भव हैं कि वह कनिष्क द्वितीय रहा हो। पर इस विषय में किसी निश्चय पर पहुँचना कठिन है।

हुविष्क भी एक प्रतापी राजा हुआ। उसके सिक्कों के फैलाव से स्पष्ट है कि कनिष्क के साम्राज्य की सीमाएँ उसने यथावत् रखीं। हुविष्क के सिक्के भी अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। उन पर राजा का मनोहर चित्र अंकित है। और कनिष्क के सिक्कों की तरह उसके सिक्कों पर भी अनेक देवताओं के नाम एवं चित्र मिलते हैं। हाँ, उन पर बुद्ध की आकृति तथा नाम नहीं है। वह बौद्ध था; क्योंकि उसने मथुरा में बौद्ध विहार और चैत्य बनवाया। पर, फिर भी उसने अपने सिक्कों से बुद्ध की प्रतिमा क्यों हटा दीं यह नहीं कहा जा सकता। उसने कश्मीर में अपने नाम पर एक नगर भी बसाया। आज इस नगर को जुकुर अथवा जुष्कपुर कहते हैं। उसका शासन (३१–६०) शक अर्थात १०८ से १३८ ई० तक रहा; क्योंकि इसके पहले १०६ वसिष्क के लेख में अन्तिम है और १५२ ई० वासुदेव के लेखों में पहली विवि है।

वासुदेव—हुविष्क के पश्चात् वासुदेव राजा हुआ। यह ७४ वें तथा ९८

शक वर्षों में राज्य कर रहा था, जैसा कि उस समय के अभिलेखों से विदित होता है। अतः उसका राज्य कम से कम (७४+७८)=१५२ से १७६ तक रहा। बहुत सम्भव है कि उसने इन वर्षों के पहिले और बाद को भी राज्य किया हो।

वासुदेव के सिक्के केवल पंजाब और उत्तर प्रदेश प्राप्त हुए हैं, और उसके लेख केवल मथुरा में। इससे स्पष्ट है कि कुषाण साम्राज्य की जड़ें हिलने लगीं थीं उसके एक प्रकार के सिक्कों पर शिव और नन्दी की आकृति मिलती है, इससे सिद्ध होता है कि इस शासक पर हिन्दुत्व की छाप लग चुकी थी, और उसकी बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा कम हो गयी थी। अन्ततः भारत में उठती हुई नाग शक्ति ने कुषाणों का विनाश कर दिया, और अपनी जड़ सुदृढ़ की।

शुंग-सातवाहन तथा शक कुषाण कालीन संस्कृति

मौर्य साम्राज्य के पश्चात् भारत में राजनीतिक विश्रृंखलता (तोड़-फोड़) तथा वैदिक प्रतिक्रिया का काल आता है। इसके बीच यदा कदा बौद्ध धर्म का अनुगमन तथा प्रसार मिलता है, पर जो धारा शुंगों ने प्रवाहित की उसे हम बीज रूप से कभी नष्ट होते नहीं देखते, अन्ततः वही स्रोत अनेक स्वदेशी तथा विदेशी शासकों स्वरूप पर्वत से उतर कर तथा उनके बिछाये अन्य शिला खण्डों के बीच दबे हुए रूप में चलकर गुप्त काल में पुनः उठती और निकलती दिखायी देती है।

राजधर्म—इस काल में पुनः छोटे-छोटे राजतंत्र तथा गणतंत्र स्थापित हो गए। इनके शासन प्रबन्ध दो रूप के हो गए, एक तो पश्चिमोत्तर भारत के प्रदेशों का जिसमें विदेशी शासकों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है, और दूसरा शेष भारत का, जो मौर्यकालीन शासन के समान ही रहा विदेशी शासकों की पदवियों से ऐसा प्रकट होता है कि वे देवताओं की ओर से भेजे हुए शासक थे। उनको दैवी अधिकार प्राप्त थे। उनके प्रान्तीय शासक भी उन्हीं पद चिन्हों पर चलते थे। पर इन विदेशी शासकों का दृष्टिकोण भारतीय होता जा रहा था।

यवन, शक, पह्लव और कुषाण शासकों ने बौद्ध, शैव अथवा वैष्णव धर्म को अपनाने में अपना गौरव समझा; और भारतीय भाषाओं का राजकार्यो तथा अपने व्यक्तिगत जीवन में प्रयोग किया। रुद्रदामन के लिए गिरिनार अभिलेख में कहा गया है कि वह व्याकरण, न्याय, राजनीति और संगीत का अध्ययन करता था।

इस युग में मनुस्मृति का आधार राजत्व के लिए मान्य था। मनुस्मृति

वासिष्क—कनिष्क ने लगभग २३ वर्ष राज्य किया, उसके लम्बे राज्य काल में उसके बराबर युद्ध करने से प्रजा भी ऊब चुकी थी; अतः एक दिन कहा जाता है कि उसके बीमार पड़ने पर उसी के स्वजनों ने उसे मार डाला। उसके दो पुत्र थे वासिष्क और हुविष्क। ये दोनों ही उसके शासन काल में प्रान्तीय शासक का कार्य करते रहे। डा० राजबलि पाण्डेय का कहना है कि वासिष्क, कनिष्क के जीवन काल में मर गया; पर मथुरा और साँची से २४ वें और २८ वें शक संवत् के दो अभिलेख मिले हैं, इनमें वासिष्क का नाम आता है। इससे ज्ञात होता है कि कनिष्क के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी वासिष्क हुआ। वासिष्क ने थोड़े ही समय तक राज्य किया होगा, क्योंकि १०८ ई० का एक लेख और मिलता है जिसमें हुविष्क का नाम भी मिलता है।

कनिष्क द्वितीय—पेशावर जिले में आरा नामक स्थान से एक लेख मिला है, यह शक संवत् ४१ वें वर्ष का है। इसमें लिखा है कि "**वासिष्क पुत्र महाराज, राजाधिराज, देवपुत्र कैसर कनिष्क के शासन काल में**" यह कौन सा कनिष्क था? यह कनिष्क महान् तो हो नहीं सकता। क्योंकि उसके पश्चात् आने वाले वासिष्क ने २४, व २८ शक संवत् का व्यवहार किया है, जिसका प्रवर्त्तक कनिष्क महान था। फिर वसिष्क के पश्चात् शीघ्र ही हुविष्क आ जाता है। इसकी तिथियाँ उसी शक संवत् से आरम्भ होकर ३१—६० तक चलती हैं। इसके अतिरिक्त वासिष्क और हुविष्क को यदि हम कनिष्क का क्षत्रप मानना चाहें सो भी सम्भव नहीं; क्योंकि उसके क्षत्रपों में खर पल्लान और वनष्पर के अतिरिक्त किसी दूसरे का कहीं उल्लेख नहीं है। इससे यह सम्भव हैं कि वह कनिष्क द्वितीय रहा हो। पर इस विषय में किसी निश्चय पर पहुँचना कठिन है।

हुविष्क भी एक प्रतापी राजा हुआ। उसके सिक्कों के फैलाव से स्पष्ट है कि कनिष्क के साम्राज्य की सीमाएँ उसने यथावत् रखीं। हुविष्क के सिक्के भी अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। उन पर राजा का मनोहर चित्र अंकित है। और कनिष्क के सिक्कों की तरह उसके सिक्कों पर भी अनेक देवताओं के नाम एवं चित्र मिलते हैं। हाँ, उन पर बुद्ध की आकृति तथा नाम नहीं है। वह बौद्ध था; क्योंकि उसने मथुरा में बौद्ध बिहार और चैत्य बनवाया। पर, फिर भी उसने अपने सिक्कों से बुद्ध की प्रतिमा क्यों हटा दीं यह नहीं कहा जा सकता। उसने कश्मीर में अपने नाम पर एक नगर भी बसाया। आज इस नगर को जुकुर अथवा जुष्कपुर कहते हैं। उसका शासन (३१–६०) शक अर्थात १०८ से १३८ ई० तक रहा; क्योंकि इसके पहले १०६ वसिष्क के लेख में अन्तिम है और १५२ ई० वासुदेव के लेखों में पहली विधि है।

वासुदेव—हुविष्क के पश्चात् वासुदेव राजा हुआ। यह ७४ वें तथा ९८

शक वर्षों में राज्य कर रहा था, जैसा कि उस समय के अभिलेखों से विदित होता है। अतः उसका राज्य कम से कम (७४ + ७८) = १५२ से १७६ तक रहा। वहुत सम्भव है कि उसने इन वर्षों के पहिले और बाद को भी राज्य किया हो।

वासुदेव के सिक्के केवल पंजाब और उत्तर प्रदेश प्राप्त हुए हैं, और उसके लेख केवल मथुरा में। इससे स्पष्ट है कि कुषाण साम्राज्य की जड़ें हिलने लगीं थीं उसके एक प्रकार के सिक्कों पर शिव और नन्दी की आकृति मिलती है, इससे सिद्ध होता है कि इस शासक पर हिन्दुत्व की छाप लग चुकी थी, और उसकी बौद्ध धर्म के प्रति श्रद्धा कम हो गयी थी। अन्ततः भारत में उठती हुई नाग शक्ति ने कुषाणों का विनाश कर दिया, और अपनी जड़ सुदृढ़ की।

शुंग-सातवाहन तथा शक कुषाण कालीन संस्कृति

मौर्य साम्राज्य के पश्चात् भारत में राजनीतिक विशृंखलता (तोड़-फोड़) तथा वैदिक प्रतिक्रिया का काल आता है। इसके बीच यदा कदा बौद्ध धर्म का अनुगमन तथा प्रसार मिलता है, पर जो धारा शुंगों ने प्रवाहित की उसे हम बीज रूप से कभी नष्ट होते नहीं देखते, अन्ततः वही स्रोत अनेक स्वदेशी तथा विदेशी शासकों स्वरूप पर्वत से उतर कर तथा उनके बिछाये अन्य शिला खण्डों के बीच दबे हुए रूप में चलकर गुप्त काल में पुनः उठती और निकलती दिखायी देती है।

राजधर्म—इस काल में पुनः छोटे-छोटे राजतंत्र तथा गणतंत्र स्थापित हो गए। इनके शासन प्रबन्ध दो रूप के हो गए, एक तो पश्चिमोत्तर भारत के प्रदेशों का जिसमें विदेशी शासकों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है, और दूसरा शेष भारत का, जो मौर्यकालीन शासन के समान ही रहा विदेशी शासकों की पदवियों से ऐसा प्रकट होता है कि वे देवताओं की ओर से भेजे हुए शासक थे। उनको दैवी अधिकार प्राप्त थे। उनके प्रान्तीय शासक भी उन्हीं पद चिन्हों पर चलते थे। पर इन विदेशी शासकों का दृष्टिकोण भारतीय होता जा रहा था।

यवन, शक, पह्लव और कुषाण शासकों ने बौद्ध, शैव अथवा वैष्णव धर्म को अपनाने में अपना गौरव समझा; और भारतीय भाषाओं का राजकार्यों तथा अपने व्यक्तिगत ज़ीवन में प्रयोग किया। रुद्रदामन के लिए गिरिनार अभिलेख में कहा गया है कि वह व्याकरण, न्याय, राजनीति और संगीत का अध्ययन करता था।

इस युग में मनुस्मृति का आधार राजत्व के लिए मान्य था। मनुस्मृति

के अनुसार अराजक दशा में सब ओर से पीड़ा होने के कारण, प्रजा की रक्षा के लिए, ईश्वर ने राजा की सृष्टि की है। उसमें देवता के समान गुण होने चाहिए। यही नहीं, यदि राजा अपने राष्ट्र को सताता है, तो अपने राज्य से गिर जाता है। जिस राजा के देखते हुए पीड़ित प्रजा को दस्यु पकड़ लें, वह मृतक है, जीवित नहीं। हम देखते हैं कि इस समय यदि राजा अनाचार करता है, अथवा कर्त्तव्य से विमुख होता है, तो उसका राज्य भी छिन जाता है। मनुस्मृति के अनुसार यदि राजा ईश्वरीय है, तो दण्ड भी ईश्वरीय है। इस काल में हम वैदिक काल की भाँति सभा और समितियाँ तो नहीं पाते पर राजा को निरंकुश भी नहीं होते देखते। उसके लिए इस युग के धर्माचार्यों ने काफी व्यवस्था कर दी है। उदाहरण के लिए हम वृहद्रथ, देवभूति और सुशर्मा का अन्त इसी दृष्टि से होते देखते हैं। इन उदाहरणों ने मनुस्मृति की व्यवस्था को भलीभाँति कार्यान्वित कर दिखाया।

मंत्रि परिषद्—इस काल में भी राजाओं की सहायता के लिए मंत्रि-परिषद् रहती थी। पतंजलि के महाकाव्य में तो पुष्यमित्र की सभा का भी सकेत है। यही नहीं कालिदास के नाटक मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र की आमात्य परिषद् का उल्लेख है। गिरनार के अभिलेख में मंत्रिसचिव का उल्लेख है।

जनपद—इस समय भी मौर्य्य काल की तरह राजतंत्रों में एक छत्र राज्य था; पर उसमें अनेक जनपद भी होते थे, जिनका शासन विधि-विधान से होता था। कभी-कभी एक सम्राट के अधीन कई छोटे छोटे राज्य भी रहे। ऐसे राजाओं में मथुरा के ब्रह्ममित्र और अहिच्छत्र के इन्द्रमित्र आते हैं, जिनके सिक्के भी मिले हैं। जनपदों में शासन पौर और जनपद सभाओं द्वारा होता था। गिरनार के लेख में ऐसे ही पौर-जनपद का उल्लेख आया है, इसी प्रकार खारवेल ने इनकी चर्चा हाथी गुम्फा अभिलेख में की है। स्मृतियों में तो देशों के संघों का उल्लेख है, जिनका व्यवहार और धर्म राजा को मान्य होना चाहिये था।

गणराज्य—जैसा कहा जा चुका है इस काल में केन्द्रीय सत्ता के अभाव में गणराज्य पुनः जीवित हो उठे; उदाहरणार्थ मालव, योधेय, आर्जुनायन, लिच्छवि, आदि। इन्होंने विदेशियों का सदा सामना किया, चाहे वे अपने अभिमान वश पराजित भले ही हुए हों; जैसा कि हमें रूद्रदामन के अभिलेख से विदित होता है।

आन्ध्र सात वाहन राज्य प्रणाली—इस वंश की राज्य प्रणाली भी एक-तंत्रीय थी, पर निरंकुश नहीं। प्रजापालन और प्रजानुरंजन राजा के मुख्य कर्त्तव्य थे। ये सदा अपने शासन को आमात्यों द्वारा चलाते थे। प्रान्तों तथा राष्ट्रों में शासक महाभोज, महरठीया, महासेनापति कहलाते थे। मुख्य कोषा-

ध्यक्ष भांडागारिक कहा जाता था। अन्य अधिकारी महामात्र अथवा अमान्य के नाम से विख्यात थे।

समाज—इस काल में भारतीयों का विदेशियों से सम्पर्क हुआ। ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर गुप्तकाल के प्रारंभ (३२० ई०) ५०० वर्ष तक यवन, शक, कुषाण में से कोई न कोई उनके साथ रहा। इन विदेशियों ने यहाँ शासन ही नहीं किया, बल्कि यहाँ की संस्कृति स्वयं अपनायी और अपनी संस्कृति भारतीयों को प्रदान की। भारतीयों ने यूनानी आदि भाषाओं का अभ्यास किया। विदेशियों ने यहाँ के रीति रिवाज भी अपनाये। हम देखते हैं कि डैमेट्रियस का हाथी की खोपड़ी का शिरस्त्राण, मैनेण्डर का बुद्ध धर्म में विश्वास, भिलसा में हेजियोदोर द्वारा गरुड स्तम्भ की स्थापना आदि अनेक इस बात की पुष्टि करते हैं। फिर यूनानी शासकों के सिक्कों पर प्राकृत भाषा का प्रयोग, धर्म चक्र का चिह्न भी तो इसी का समर्थन करते हैं।

शक महाक्षत्रप नहपान के जामाता उषवदात का **नासिक गुहा लेख** यहाँ उल्लेखनीय है।

"राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता, दीनाक के पुत्र तीन लाख गायों का दान करने वाले, वर्णासा नदी पर सोने का दान करने तथा तीर्थ बनाने वाले, देवताओं और ब्राह्मणों को सोलह ग्राम देने वाले, पूरे सात लाख ब्राह्मणों को खिलाने वाले, धर्मात्मा उषयदात ने गोवर्धन में त्ररश्मि पर्वत पर एक गुहा बनवाई।"

विदेशियों पर इससे अधिक भारतीय प्रभाव का प्रमाण और क्या हो सकता है।

मथुरा के शक महाक्षत्रप सोडास के समय एक शक महिला ने जन मूर्ति की स्थापना की थी। कुषाण वंश के संस्थापक कुजुल कैडफाइसस के अपने सिक्कों पर "**सच ऋमथितस**" सत्थधर्मस्थि तस्य पद मिलता है। उसका उत्ताराधिकारी वैमो तो स्वयं शैव था; क्योंकि वह माहेश्वर का प्रयोग करता है। कनिष्क बौद्ध धर्म में दूसरा अशोक था। उसके अनंतर हुविष्क बौद्ध रहा, पर वासुदेव को हम शैव पाते हैं।

इसके विपरीत भारतीय विदेशियों से पराजित होकर भी उनकी संस्कृति न अपना सके। भारतीय सदा यवनों को घृणा की दृष्टि से देखते रहे; क्योंकि यवनों में उन्हें विचित्र समाज दिखायी दिया। यवनों में उन्हें विचित्र समाज दिया। यवनों में दो भाग थे, स्वामी और दास। न उनमें ब्राह्मण का पता न क्षत्रिय का। वे लेटकर भोजन करते थे। अतः भारतीय बहुत काल तक उनसे पृथक् रहे। हाँ, समय पाकर उषवदात जैसे दानियों ने ब्राह्मणों को

खिलाकर अवश्य प्रसन्न किया होगा। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि भारतीय ब्राह्मण एवं क्षत्रिय उनके प्रभाव से अछूते ही रहे।

वर्ण व्यवस्था—इस काल में वर्ण व्यवस्था का वैदिक काल वाला स्वरूप न रह गया था; क्योंकि आर्यो के चार वर्गों के अतिरिक्त इस समय विदेशियों का पाँचवाँ वर्ग इनसे आ मिला। उसे जन कहा गया। इसी आधार पर अनेक जनपद बने, नये-नये व्यवसाय करने तथा परस्पर विवाह आदि करने से जातियों की संख्या बढ़ने लगी। इससे आर्यों की चलाई हुई वर्णव्यवस्था ही क्षीण हो गयी। शुंग सातवाहन काल में विशेष रूप से इन विजेताओं को भारतीय समाज का अंग बनाने की समस्या सामने आयी। पर इस समय के नियम निर्माताओं (स्मृतिकार) ने इसका सुन्दर हल निकाला। उन्होंने कहा कि यवन, शक, पह्लव, काम्बोज, द्राविड, आदि जातियाँ मूलरूप से क्षत्रिय थीं, पर उनके आचार विचार गिरने से वे म्लेच्छ हो गये, किन्तु जब उन्होंने वैदिक धर्म को अपना लिया तो उन्हें क्षत्रिय ही माना जाय। इस प्रकार मनुस्मृतिकार ने उन्हें क्षत्रिय घोषित किया। इनमें इनके कुछ पुरोहित ब्राह्मण बन गये। मुलतान के सूर्य मन्दिर में शाक द्वीप के ब्राह्मणों को पुजारी बताना इसे सिद्ध करता है। इस युग में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ और मनु स्मृति ने उसको जन साधारण तक पहुँचाया। मनु ने सभी वर्गों को चार वर्णों में विलीन करने का प्रयास किया। उन्होंने एक स्थल पर यहाँ तक लिख दिया है कि जाति जन्म से नहीं, कर्म से होती है, '**कर्म से ब्राह्मण हो सकता है, ब्राह्मण शूद्र; इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य भी अपने कर्म से ही होते हैं**' †

अतः विदेशियों को और बौद्ध भिक्षुओं को समाज में क्षत्रिय और धर्म गुरुओं का स्थान मिल गया। इससे भारतीय समाज में सांस्कृतिक एकता आने लगी। पर मनु ने एक बंधन भी उपस्थित कर दिया। उन्होंने देखा कि अनेक युवक और युवतियों बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ बनकर समाज को दूषित कर रहे हैं; अतः यह नियम बना दिया कि वर्णाश्रम धर्म का क्रम से पालन करना होगा (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानस्थ सन्यास) जो इस क्रम को न मानेगा, वह वर्णसंकर समझा जायगा।

इसी समय अनेक छोटे-छोटे गण राज्यों ने भी जातियों का स्वरूप धारण कर लिया। ये गण दो तरह के थे। एक तो कृषि, गोपालन, वाणिज्य आदि करते तथा अपनी रक्षा के लिए शस्त्र आदि चलाते थे, इनको वार्ता शस्त्रमोप-

---

† शूद्रों ब्रह्मणतामेति, ब्राह्मश्चैत शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च॥

श्लोक ६५ अध्याय १०

जीवी कहा गया यथा कम्वोज क्षत्री आग्रेय, श्रेणि। दूसरे राज शब्दोपजीवी हुए अर्थात् इस प्रकार के गण में उनका नेता राजा की पदवी से भूषित होता था। ये गण राजनीतिक स्वतंत्रता का उपभोग न करते हुए भी अपने सामाजिक नियमों का स्वतन्त्र रूप से पालन करते रहे। यही कारण है कि धीरे-धीरे जातियों की संख्या बढ़ गयी।

स्त्रियों की दशा—मौर्य काल तक स्त्री को जो कुछ स्वतंत्रता थी, इस काल में मनु ने वह भी छीन ली। मनु का कहना है कि पुरुष स्त्री का त्याग कर सकता है; पर स्त्री नहीं। पुरुष के त्यागने पर भी स्त्री दूसरा विवाह न कर सकेगी। मनु ने विधवा विवाह भी मान्य न समझा। इसका एक विशेष कारण रहा, मनु ने बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों को अपने धर्म से गिरते देख कर ही उनकी स्वच्छन्दता पर यह रोक लगाई होगी। किन्तु सातवहन राजाओं में इनका सम्मान कुछ अधिक था। ये राजा अपने नाम भी स्त्री के रखते थे; यथा गौतमी पुत्रवसिष्ठो, पुत्र आदि। साथ ही इनमें वर्णंतर विवाह भी सम्भव थे; जैसे पुमावी का रुद्रदामन की कन्या से विवाह।

भोजन व्यवस्था—भोजन में जैन तथा बौद्ध धर्म के प्रभाव से पशुहिंसा में कमी आ गयी थी। परन्तु शुंग और सातबाहन काल के अश्वमेधों के कारण अहिंसा का वह महत्व न रह गया था। मनुस्मृति में तो यज्ञ से बचे हुए मांस के खाने का विधान भी हैं। उसमें लिखा है कि मांस के लिए जन साधारण की रुचि अधिक होने के कारण उसके खाने में दोष नहीं है, पर यदि मांस न खाया जाय तो महाफल होगा। मनु ने भी अकारण हिंसा को वर्जित किया। और अशोक की भाँति पशुओं के लड़ाने वाले उत्सव (समाह्वय) मना किये।

आर्थिक व्यवस्था—इस काल में शिल्प, तथा व्यापार के क्षेत्र में श्रेणियों का महत्व अधिक था। उस समय के अभिलेखों से इनके कार्य क्षेत्र का ज्ञान होता है। उषवदात के नासिक अभिलेख से ज्ञात होता है, कि उसने वह गुहा मंदिर चातुर्दिशि संघ को अर्पण किया, और उसमें रहने वालों के वस्त्रों के व्यय और विशेष महीनों में मासिक वृति के लिए अक्षयनीवी के रूप में ३००० कार्षापण गोवर्धन में रहने वाले श्रेणियों के पास जमा कर दिये। कोलिकों थे एक निकाय के पास २००० एक प्रतिशत व्याज पर, और दूसरे निकास १००० पौन प्रतिशत व्याज पर, ये कार्षापण वापस न लिये जायेंगे। केवल उनका व्याज लिया जायगा।

इससे स्पष्ट है कि श्रेणियाँ, निकाय अपने व्यवसायों के लिए संगठन करती थीं। और वैंकों का काम करती थीं। इनकी चर्चा स्मृतिकार भी करते हैं। उस समय हम देखते हैं कि धानिक (अनाज का व्यवसायी) कुंभ

कार, तिलपिषक कासाकर, वंसकर (बाँस का काम करने वाला) गांधिक के निकाय प्रसिद्ध थे। इनके व्यवहार राज्य को मान्य होते थे।

इस समय भारत का देश तथा विदेश दोनों का ही व्यापार उन्नत था। क्योकि इस काल में विदेशियों का आगमन और सम्पर्क बढ़ चुका था। पश्चिमी तट के व्यापारी रोम, अरब, और मिश्र से व्यापार करते थे। लाल सागर और नील नदी के रास्ते में एक भारतीय व्यापारी शोभन का यवन भाषा में लेख उपलब्ध हुआ है। रोम के साथ भारतीय व्यापार इतना अधिक था कि रावलपिंडी, कन्नौज, प्रयाग, मिर्जापुर आदि स्थानों में रोमन सिक्के मिले हैं। भारत से रोम को मोती, मणियाँ, औषध-सामग्री, रेशमी तथा सूती वस्त्र-गर्म मसाले आदि वस्तुएँ जाती थीं उनको एक सेर काली मिर्च की कीमत दो दीनार मिलती थी। केरल तट पर भी अनेक रोमन सिक्के उपलब्ध हुए हैं, जिससे विदित होता है कि रोमन व्यापार का पश्चिमी तट पर केरल ही केन्द्र था। पूर्व की ओर ब्रह्मा, मलाया, जावा, सुमात्रा तथा चीन आदि से भारतीय व्यापार होता था। इस समय भारत में सिक्कों का प्रचार भी पर्याप्त था। सबसे बड़ा सिक्का सोने का था, यह चाँदी के ३५ कर्षापण के बराबर था। सुवर्ण के बाद कुषण नाम का सिक्का था। सामान्य रूप से छोटे चाँदी या ताँबे के सिक्कों को कर्षापण कहते थे।

साहित्य—इस काल के साहित्य में संस्कृत की प्रधानता आ गयी। बौद्ध तथा जैन धार्मिक ग्रन्थों में प्राकृत की जगह संस्कृत लेनी लगी। पर प्राकृत साहित्य भी कम न था। प्राकृत साहित्य विशेष रूप से सातवाहनों के संरक्षण में तैयार किया गया था। राजा हाल की गाथा सप्तशती इस समय की सर्व श्रेष्ठ रचना है। इस काव्य में इस काल का चित्रण बड़ा ही यथार्थ है। यह एक श्रृंगार रस का मुक्तकाव्य है। तीन इस काल की दूसरी प्रसिद्ध रचना प्रतिष्ठान के निवासी और हाल के मंत्री गुणाध्य की शैशाची प्राकृत में वृहस्तकथा है। इस समय उसके संस्कृत अनुवाद उपलब्ध हैं। इस ग्रंथ में कोशाँवी नरेश के लड़के नरवाहन दत्त की जीवनी का वर्णन है।

१—बुद्ध स्वामी कृत—वृहत्कथा श्लोक संग्रह

२—क्षेमेन्द्र कृत—वृहत्कथा मंजरी

३—सोमदेव कृत—कथा स्त्री तन्सागर

संस्कृत व्याकरण—इसी काल में सातवाहन राजाहाल के एक मन्त्री सर्व वर्मन ने राजा को ६ महीने में संस्कृत भाषा सिखाने के अभिप्राय से एक व्याकरण की रचना की। इसका नाम कातंत्र रखा गया। इसी समय महर्षि पतंजलि ने महाभाष्य बनाया। यह गोंडा के निवासी थे और पुष्यमित्र शुंग के राज पुरोहित थे।

कथाएँ--कथा साहित्य में संस्कृति का मुख्य ग्रन्थ पंचतंत्र इसी काल की रचना है। बालमीक की रामायण की उत्तरकाण्ड सहित रचना इसी काल में हुई। इसी प्रकार महाभारत में अनेक कथानक इसी काल में जोड़े गए।

स्मृति ग्रंथ स्मृति ग्रंथों में सबसे प्राचीन मनुस्मृति है। इसकी रचना दूसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य मानी जाती है। इसका संकलन आचार्य सुमति भार्गव ने किया है, मनुस्मृति में उस काल के समाज का अच्छा चित्रण है। इसके पश्चात् विष्णुस्मृति आती है। मनुस्मृति के ३०० वर्ष बाद (लगभग १५० ई०) याज्ञवल्क्य स्मृति की रचना हुई। इसकी रचना दक्षिण में हुई; अतः इससे सातवाहन नरेशों के समाज का अच्छा ज्ञान मिल जाता है। इन स्मृतियों में मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक के सभी व्यापारों के सम्बन्ध में नियम बतलाये गए हैं। और वे नियम प्रत्येक वर्ग के लिए अलग-अलग हैं।

षड दर्शन—भारतीय दर्शन अत्यन्त प्राचीन है। पर इनका आज का स्वरूप बहुत कुछ इसी काल में ठीक किया गया। इनके नाम इस प्रकार हैं। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त।

काव्य और नाटक—महाकवि भास इसी काल का मगध का निवासी था। उसने कण्व वंश के शासन काल में १३ नाटकों की रचना की इनमें स्वप्न वासव दत्तम्, चारुदत्तम्, प्रतिमा नाटकम्, कर्णभारम् उरू भंगम् तथा बाल चरितम् प्रमुख हैं। कनिष्क के समकालीन दार्शनिक अश्वघोष ने संस्कृत में बुद्धचरित नाम के महाकाव्य को लिखा।

सूत्रालंकार तया सौन्दरानन्द भी इसी की रचनाएँ हैं। इसके सूत्रालंकार का केवल चीनी अनुवाद ही उपलब्ध है। इस समय के नरेश अभिनय के बड़े प्रेमी थे। यही नहीं भरत मुनि का प्रसिद्ध नाटयशास्त्र इसी काल में लिखा गया है। इस काल में नाटकों के ऊपर विदेशी सत्ता का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है, यथा हमें उनमें यवनिका (परदे के लिए) स्वामिन्, भद्रमुख, और सुग्रहीत नामन् आदि शब्द क्रम से यवन शथा शक क्षत्रयों से प्राप्त हुए दिखाई देते हैं।

विज्ञान—यह समय वैद्यक और ज्योतिष के लिए भी विश्व विदित है। वैद्यक में प्रसिद्ध ग्रंथ चरक और सुश्रुत, इसी समय लिखे गये। चरक कनिष्क का सम कालीन था। सुश्रुत का ग्रंथ नागार्जुन ने संपादित किया। नागार्जुन एक अत्यन्त कुशल वैद्य तथा रसायन शास्त्री था। उसने बौद्ध होने के नाते अनेक बौद्ध ग्रंथ भी लिखे। ज्योतिष में गार्गी संहिता की रचना भी इसी काल की है।

बौद्ध व जैन ग्रंथ--कनिष्क के समय त्रिपिटक की एक बड़ी व्याख्या महा विभाषा लिखी गयी। पार्श्व, वसुमित्र और अश्वघोष कनिष्क के समकालीन थे। जैन आचार्य भी इस युग में कम नहीं हुए, वज्रस्वामी का समय ७० ई० पू० है। आर्य रक्षिक उसी का शिष्य था। उसने जैन सूत्रों को अंग और उपांगों में विभक्त किया।

धर्म—धार्मिक क्षेत्र में इस काल में बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया रूप वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ; किन्तु इस वैदिक धर्म का वह रूप न था। जिसमें इन्द्र, वरुण और रुद्र की उपासना या कर्म काण्ड ही सब कुछ था। इस युग में जैसे जन और बौद्धधर्म मानने वाले अपने प्रवर्त्तकों (महावीर और बुद्ध) को भगवान न मानकर पूर्ण पुरुष और सर्वज्ञ मानते थे, उसी प्रकार शूरसेन जन पद के लोग कृष्ण को मानने लगे। धर्मों में मूर्ति पूजा का एक विशेष अंग हो गया, जैनी अपने तीर्थ करों की, बौद्ध बुद्ध तथा बोधिसत्वों की और हिन्दू शिव और कृष्ण की मूर्तियाँ बनाकर पूजने लगे। अब यज्ञों की वह प्रतिष्ठा न रह गयी थी, कि जन साधारण जिनमें देवताओं का आवाहन करता; बल्कि वे केवल राजाओं की दिग्विजय और राजाओं की प्रतिष्ठा के चिन्ह मात्र रह गये थे। अब जन साधारण को ब्रह्म का निराकार और निर्गुण रूप रुचिकर न होकर, सगुण और साकार रूप अच्छा लगता था।

पौराणिक धर्म—इस धर्म के भी दो रूप थे। १ भागवत। २ शैव।

१ भागवत—इसकी चर्चा पहिले भी की जा चुकी है। मथुरा के पास वृष्णि लोग कृष्ण की पूजा करने लगे थे। वे उन्हें विष्णु का अवतार मानकर उसकी मूर्ति को पूजने लगे थे। देश-विदेश के विप्लवों से पीड़ित जनता को एक सहारे की आवश्यकता थी। इस धर्म में यज्ञों का विरोध न था, पर उनकी जटिलता वर्जित थी। उनके लिए कृष्ण आदर्श पुरुष, योगी, राजनीतिज्ञ सभी कुछ हो गये थे। उनके सुदर्शन चक्र की शक्ति अमोघ थी, वह सत्पुरुषों की रक्षा और दुष्टों का दमन कर सकती थी। अत: कृष्ण और विष्णु की पूजा के लिए मन्दिर बनने लगे, और जन साधारण में ज्ञान के स्थान पर भक्ति की भावना फैल गयी। किन्तु आज की भांति वे गोपी-कृष्ण न थे; बल्कि योगीराज कृष्ण थे। धर्म के इस स्वरूप ने विदेशियों तक को प्रभावित किया; जैसा कि हल भिलसा के हेवियोदोर के स्तम्भ से देख चुके हैं। हिन्दू धर्म के इस अंक का पोषण करने वाले दो प्राचीन ग्रंथ हैं। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता और भागवत पुराण।

शैवधर्म—शिव जी पूजा तो हमारे यहाँ सिन्धुघाटी की सभ्यता से चली आ रही है। इस धर्म के लोक रूप के प्रवर्तक आचार्य लकुलेश थे। इनको पुराणों में शिव का अवतार कहा गया है। वह गुजरात में भरुकच्छ के समीप उत्पन्न हुए थे और उनकी पुस्तक पंचा ध्यायी कहलाती थी। यह धर्म ई० पू०

दूसरी शताब्दी तक भली भाँति जम चुका था। पतंजलि के महाभाष्य में शिव-भागवतों की चर्चा है, ये लोहे का एक त्रिशूल लिये रहते थे। शैव लोगों ने भागवतों की भाँति शिव और रुद्र को आदिदेव मानकर लकुलेश को उनका अवतार बताया। प्रारम्भ में इनके पुजारी शिवभागवत, लाकुल, माहेश्वर तथा पाशुपत कहे गये। पर बाद को उनमें अनेक नाम आ गये। कापालिक भी इन्हीं में से एक हैं।

इस धर्म को विदेशियों ने भी माना और अपने सिक्कों में स्थान दिया। यही नहीं विद्वानों का विचार है कि इनकी पूजा ईरानियों का अनुकरण था, वे सूर्य की पूजा किया करते थे, उन्हीं के सम्पर्क से शिव, स्कन्द और शक्ति की पूजा का प्रादुर्भाव हुआ।

कला—मौर्य काल में कला की जिस रूपरेखा का प्रारम्भ हुआ था, जिसे अशोक ने पनपाया था, वह मौर्यों के पश्चात् भी वैसी ही चलती रही। अतः इस युग में भी हम इसे विदिशा, भार्हुत, सांची, कार्ले और अमरावती के केन्द्रों में स्तूपों, विहारों, ओर चैत्यों के रूप में हरा-भरा पाते हैं।

स्तूप—यह एक अर्ध अण्डाकार इमारत होती है। यह एक ऊँचे स्तर पर बनी रहती है। इसके भीतर पूज्य महातमा की अस्थियाँ रखी जाती हैं। इसके उच्च स्तर को मेधि कहते हैं, जो परिक्रमा का काम देती है। स्तूप के शिरोभाग पर हर्मिका रहती है और उसके भी ऊपर एक छत्रयष्टि होती है। साँची का स्तूप इसी काल की कृति है। इसकी मेधि के चारों ओर पत्थरों की वेदिका बनी है। (Railing) इसके चारों दिशाओं में चार द्वार हैं। इनके ऊपर पत्थरों में उघेरी हुई मूर्तियाँ तथा अनेक बौद्ध धर्म सम्बन्धी दृश्य बने हैं। शुंग काल में कई एक स्तूपों के तोरण और वेदिकाएँ बनीं। भारहुत स्तूप के कुछ तोरण खण्ड कलकत्ते के अजायबघर में रखे हैं, उनमें से एक पर अंकित है कि वह शुंग काल की कृति है। शुंगों के दो समान्त थे। १ अहिच्छत्र के राजा इन्द्रमित्र, २ मथुरा के राजा ब्रह्ममित्र। इन दोनों की रानियों के नाम बोध गया के मन्दिर की वेदिका पर खुदे हैं। इससे सिद्ध होता है कि वह वेदिका भी इसी समय की है। साँची स्तूप के दक्षिणी तोरण पर सातवाहन राजा शातकर्णि का नाम खुदा है। बहुत सम्भव है कि साँची का स्तूप मौर्य काल में ही बनना प्रारम्भ हो गया हो, पर उसमें बाद को राजा तथा प्रजा दोनों ने सहयोग दिया हो। दक्षिण भारत में कृष्णा नदी के किनारे अमरावती में ई० पू० दूसरी शताब्दी के एक स्तूप के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इसके चारों ओर आन्ध्रों ने वेदिका बनवाई और पहिले से ईंटों के बने हुए स्तूप को पत्थरों

से ढंकवाया। इस सब के लिए संगमरमर का प्रयोग किया गया है, और उस पर तमाम मूर्तियाँ बनी हैं।

बिहार—बिहार बहुधा स्तूपों के समीप ही बनवाये गये। इनमें बौद्ध भिक्षु रहते थे। वे चैत्यों में पूजा करते थे। पहिले कुछ लकड़ी तथा ईटों के बिहार बने, वे अब नष्ट से हैं; पर कुछ पत्थर तथा गुफाओं वाले अभी विद्यमान है। इनमें सबसे पुराना बिहार जो ई० पू० का है, पूना के समीप भाना में हैं। पूर्वी धाट में खण्ड गिरि और उदय गिरि पर सैकड़ों बौद्ध और जैन बिहार हैं। इन्हीं में से एक खारवेल वाला हाथी गुम्फा का विहार है। इसका अभिलेख बहुत महत्व का है। महाराष्ट्र में कार्ले और नासिक में अनेक गुहा बिहार हैं। इसी प्रदेश में अजन्ता वाले बिहार भी हैं। नासिक के एक गुहा बिहार में तो आन्ध्रों के दूसरे राजा कान्ह का लेख भी है। मौर्य कालीन गुहा बिहारों से ये बिहार बहुत बड़े और उपयोगी रहे हैं।

चैत्य—यह बौद्ध पूजा गृह होता है। इसमें भवन में प्रवेश कर पीछे की ओर हम पूज्य वस्तु पाते हैं। उसके चारों ओर प्रदक्षिणा पथ बना होता है। दूसरी शताब्दी ई० पू० के चैत्यों में कार्ले का चैत्य अत्यन्त सुन्दर है। इसका भवन दरवाजे से लेकर पीछे की दीवाल तक १२४ फीट लम्बा, २५ फुट चौड़ा और ४५ फीट ऊँचा है। अन्दर नलाकार स्तूप है और उसमें दो वेदिका मार्ग हैं।भवन के मुख्य भाग और पार्श्व के बरामदों के मध्य कुछ स्तम्भ बने हैं, इनके शिरोभाग ईरान के पर्सिवोलिस के स्तम्भों के मकान हैं। उनके ऊपर छत के गोलाकार पत्थर तक काठ के धरन रखे हैं। दरवाजे के बाहर पहिले दो ध्वज स्तम्भ थे, इनमें से अब एक ही रह गया है। इसके शीर्ष पर चार सिंह हैं, जो कभी धर्मचक्र उठाये थे।

शुंग काल के स्मारकों में कहीं भी बुद्ध की मूर्ति नहीं है। हम देखते है कि साँची तथा भार्हुत के द्वारों पर अनेक पशु पक्षी, पुष्प, पत्र और मूर्तियाँ बनायी गयी हैं, बुद्ध के जीवन और जातक कथाओं के अनेक दृश्य इन पर उभेरे गये हैं, पर बुद्ध की मूर्ति कहीं नहीं है। साँची के स्तूप पर तो बुद्ध के दर्शन के लिए राजगृह से बिम्बिसार का चलना, और बोधि वृक्ष के दर्शन के लिए रानियों के साथ अशोक का चलना तक उसमें बना है, पर बुद्ध की प्रतिमा नहीं है। इससे स्पष्ट है कि अभी तक बुद्ध की प्रतिमा की पूजा प्रारम्भ नहीं हुई थी। यह हमें कुषाण काल में ही प्राप्त होती है।'

मूर्तिकला—शुंग काल की मूर्तिकला द्वारा प्रतीत होता है कि उस कला के कलाकार बड़े सिद्ध हस्त न थे। हो सकता है, इसी समय वे काठ को छोड़कर अपनी कला के लिए पत्थर की ओर मुड़े हों। साँची में यक्ष, यक्षिणी आदि की मूर्तियाँ भारहुत से अधिक सुन्दर हैं।

तत्कालीन भारतीय मूर्ति कला पर हमें यवन प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। यवन कला में मूर्तियाँ बहुत ही सजीव और मनोहर बनायी जाती थीं। उनमें प्रत्येग अंग की बनावट अनोखी थी। चूँकि गांधार प्रदेश में इस समय यवनों का शासन रहा, अत: गान्धार इस कला का केन्द्र हो गया। जब बौद्ध धर्म में महायान युग आया तो इसी केन्द्र से बुद्ध की, बोधिसत्वों की, ध्यान, धर्मचक्र, अभय, और वरद मुद्राओं में (Poses) मूर्तियाँ बनना प्रारम्भ हुआ। ये मूर्तियाँ यूनानी देवी देवताओं के अनुकरण मात्र में बनायी जाने लगीं, किन्तु इनका दृष्टिकोण सदा भारतीय रहा। इसी शैली को हम गान्धार शैली कहते हैं। इस शैली के अनुसार जो मूर्तियाँ बनायी गयीं, उनमें यूनानी वेष भूषा, शृंगार और सजावट खूब प्रयोग किये गये हैं। बोधिसत्वों की मूर्तियों में उनकी मूछें बनाना यूनानी आदर्श की ही नकल है; क्योंकि हमारे देश के देवताओं के मूछें नहीं बनायी जातीं। इसी कारण उस समय सारनाथ और मथुरा में जो मूर्तियाँ बनीं उनमें मूछें नहीं बनायी गयीं। जानमार्शल तथा स्मिथ के अनुसार यवनों ने ही सर्वप्रथम गान्धार में बुद्ध की प्रतिमा बनायी। उन्हीं से भारतीयों ने सीखी। पर हैवैल और कुमार स्वामी इस मत के विरुद्ध हैं। इनका विचार है कि न यवनों ने बुद्ध की मूर्ति पहले बनाई और न उनकी भारतीयों ने नकल ही की, बल्कि भारत में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ पहिले से थीं, जिनका अनुकरण महायान सम्प्रदाय वालों ने किया।

सिक्के—सिक्कों के क्षेत्र में भारतवासियों ने विदेशियों से बहुत कुछ ग्रहण किया। यूनानियों के पहले यहाँ पंचमार्कड (आहत) सिक्के चलते थे। यूनानियों ने लेख और मूर्तियों से अंकित सुन्दर सिक्के बनाये, इन्हीं का अनुकरण शब्द कुषाण और भारतीय राजाओं ने किया।

परिच्छेद १३

गुप्त कालीन भारत

गुप्तों की पृष्ठभूमि—तीसरी शताब्दी में कुषाण तथा सातवाहन साम्राज्यों का अन्त आ गया। इसके पश्चात् गुप्तकाल के पूर्व तक का इतिहास अज्ञात सा है अतः इस काल को इतिहासकार भारतीय इतिहास में अन्धकार-युग (Dark age) कहते हैं। फिर भी एक दो टूटे फटे भारतीय साम्राज्य हमारी दृष्टि में आते हैं।

१. नाग भारशिव–डा० काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार भारशिव नामों ने कुषाणों से सत्ता छीन ली। ये शिव के भक्त थे और अपने ऊपर शिवलिंग धारण करते थे; अतः अपने को भार शिव कहते थे। इनके मुख्य केन्द्र चार स्थानों पर थे। १. विदिशा, २ पद्मावती, ३. कान्तिपुरी ४. मथुरा।

वीरसेन—भारशिवों में वीरसेन एक प्रमुख राजा हुआ। इसी ने कुषाणों से सत्ता छीनी और उनको उत्तर प्रदेश से भगाया। इस कुल के राजाओं से अन्य कुल के राजाओं का विवाह सम्बन्ध भी इस काल में हुआ। मध्य भारत में वाकाटकों का राजकुल और उन्नति कर रहा था। भारशिव नवनाग की पुत्री का विवाह वाकाटक राज प्रवरसेन के पुत्र गौतमी पुत्र से हुआ।

इन्होंने इस विवाह से पहले ही गंगाजल से अपना अभिषेक कराया। और काशी में दश अश्वमेध किये, जिसके आधार पर आज भी दशाश्वमेध घाट बने हैं। इनका वस्तुतः अन्त कैसे हुआ यह नहीं कहा जा सकता, पर गुप्त नरेश समुद्रगुप्त की प्रयाग स्तम्भ की प्रशस्ति में इनके कई नाम आये हैं; यथा नागसेन, गणपति नाग, नागदत्त। ये नाग और शिव के उपासक थे। अतः इन्होंने अनेक शिव मन्दिर बनवाये। उनकी बनवाई शिव मूर्तियाँ आज भी सुरक्षित हैं।

२—**वाकाटक राज**—इस वंश का सम्बन्ध हमें नाग तथा गुप्त दोनों से ही मिलता है। अतः इसके विषय में कुछ जान लेना असंगत न होगा। इनका साम्राज्य नागों के पश्चात् और गुप्तों के कुछ ही पूर्व उठ खड़ा हुआ। इनका पुराना स्थान बुन्देलखंड था। अजन्ता के एक लेख में इस वंश के संस्थापक विन्ध्यशक्ति के सम्बन्ध में द्विज शब्द का प्रयोग हुआ है। वैसे तो द्विज का अभिप्राय ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य लोगों से है, पर ये अन्य प्रमाणों के

आधार पर ब्राह्मण ही थे। विंध्यशक्ति का उदय बीसवीं शताब्दी का अन्तिम चरण था। सम्भव है विंध्य पर्वत के ऊपर राज्य करने से यह नाम या इस प्रकार की पदवी उसने धारण की हो।

प्रवरसेन—विंध्य शक्ति का पुत्र प्रवरसेन हुआ। इसको पुराणों में प्रवीर कहा है। इसने अपने राज्य की सीमाएँ बढ़ायीं। इसने चार अश्वमेध किये। इसी के पुत्र गौतमी पुत्र का विवाह नाग कन्या से हुआ था। पर गौमती पुत्र उसके बाद गद्दी पर न बैठ सका, बल्कि उसका लड़का (प्रवरसेन का पौत्र) रुद्रसेन प्रथम उत्तराधिकारी हुआ रुद्रसेन प्रयाग स्तम्भ का रुद्रदेव है। इसे समुद्रगुप्त ने अपने अधीन किया था। इसकी पराजय के पश्चात् वाकाटक राजा दक्षिण की ओर मुड़ गये और उत्तरी भाग गुप्त वंश के अधीन हो गया। रुद्रसेन का पुत्र पृथ्वीसेन था। पृथ्वीसेन के पश्चात् उसका पुत्र रुद्रसेन द्वितीय राजा बना। इसका विवाह चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता से हुआ था; इससे इस राजवंश की तिथि का भी कुछ ज्ञान हो जाता है। इस वंश में बहुत प्रतापी राजा न हुए। इनका अन्तिम शासक हरिषेण था। इसने कहीं पाँचवीं शताब्दी में राज्य किया। इसने विजयें कीं और अपने साम्राज्य की सीमाएँ बढ़ायी; पर वह बहुत न टिक सका और दक्षिण के कालचुरियों का शिकार बना।

गुप्तवंश—भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग, हमारे ज्ञान-विज्ञान का कोष, यश, समृद्धि और शक्ति का उदयाचल, कला तथा कारीगरी का प्रतीक गुप्त काल चिरस्मरणीय है, इस युग में भारतीयता का पुनरुत्थान हुआ। विदेशियों की शक्ति सर्वथा लुप्त हुई, और ज्ञान का सूर्य उदय हुआ। इसका आदि प्रवर्त्तक निश्चित रूप से कौन था, यह ज्ञात नहीं; पर इस काल के शिला लेखों के आधार पर हमें इनकी वंशावलि मिलती है। इसका पहिला नाम श्रीगुप्त है। शास्त्रीय नियम तथा स्मृति के अनुसार इस गुप्त को वैश्य जाति का बोधक मानना चाहिये, पर हम इतिहास में इसके विपरीत उदाहरण भी पाते हैं यथा ब्रह्मगुप्त ज्योतिषी ब्राह्मण था। भवभूति ब्राह्मण था (ब्राह्मण की उपाधि शर्मा होनी चाहिये थी।) फिर गुप्त तो नाम का अंश है, उसकी उपाधि नहीं है अतः। इस आधार पर कुछ नहीं कहा जा सकता। डा० काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार गुप्त लोग कारस्कर गोत्र के जाट थे, जो प्रारम्भ में पंजाब से आये थे। आपका इस मत का आधार कौमुदी महोत्सव का चण्डसेन है, जिसे आप चन्द्रगुप्त प्रथम मानते हैं। पर यह ठोस आधार नहीं। इसलिए अभी तक इन्हें वैश्य माना जाता है, न जाट; बल्कि इन्हें क्षत्रिय की कोटि में रखते हैं।

इनकी वंशावलि में श्री गुप्त के अनन्तर दूसरा नाम घटोत्कच गुप्त का आता है। इन दोनों राजाओं की पदवी केवल महाराज मिलती है, अतः यह स्पष्ट है कि वे साधारण राज्य के स्वामी रहे। इनका समय २७५ ई० से ३०० ई० और ३००-३२० ई० माना जाता है।

चन्द्रगुप्त प्रथम—इस वंश का सबसे प्रथम सम्राट महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त प्रथम हुआ। इसकी महाराजाधिराज की उपाधि से विदित होता है कि इसका राज्य विस्तृत हो गया था और उसकी प्रतिष्ठा भी थी। हो सकता है इसी ने सबसे पहिले पूर्णतया स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया हो। डा० जायसवाल ने कौमुदी महोत्सव नाटक के आधार पर एक बड़ी मनोरंजक घटना बतायी है। आपका कहना है कि पाटलिपुत्र के कोटकुल के राजा सुन्दरवर्मन ने चन्द्रगुप्त को (चण्डसेन) गोद लिया। इसके कुछ समय पश्चात् उसकी रानी से कल्याण वर्मन नामक पुत्र हुआ, अतः चन्द्रगुप्त का सम्मान न रहा। चन्द्रगुप्त चतुर था। उसने कोटकुल के शत्रु लिच्छवियों की राजकुमारी कुमारदेवी से विवाह किया, और उन्हीं की सहायता से सुन्दरवर्मन को युद्ध में मारकर स्वयं गद्दी पर बैठ गया। कल्याण वर्मन भागकर दक्षिण चला गया। पर चन्द्रगुप्त के इस कार्य से प्रजा असन्तुष्ट हो गयी और एक बार जब वह जंगली जातियों का उपद्रव दबाने विंध्य पर्वत की ओर गया, तब उन्होंने कल्याण वर्मन को पुनः बुलाया और चन्द्रगुप्त को न आने दिया। चन्द्रगुप्त निराश होकर अपने पुराने राज्य को लौट आया। इस घटना में कहाँ तक सत्य है, यह नहीं कहा जा सकता, पर यह निश्चित है कि चन्द्रगुप्त ने लिच्छवियों से विवाह सम्बन्ध किया था। इसी आधार पर उसका लड़का समुद्रगुप्त लिच्छवि दौहित्र कहा जाता है। इस विवाह की पुष्टि उसके सोने के सिक्कों से भी होती है। उसके सिक्कों पर एक ओर (सम्मुख पृष्ठ पर) रानी को कंकड़ देते हुए राजा की आकृति बनी है। दाहिनी और बायीं ओर इसी पर चन्द्रगुप्त और कुमारदेवी के नाम अंकित हैं। सिक्के के पीछे की ओर सिंहवाहिनी दुर्गा की आकृति तथा लिच्छवयः लिखा है।

एलैन का विश्वास तो यह है कि इन सिक्कों को उसके पुत्र समुद्र गुप्त ने अपने माता-पिता की स्मृति में बनवाया, पर अधिक संभव यही है कि चन्द्रगुप्त ने उन्हें स्वयं चलाया।

चन्द्रगुप्त के राज्य की सीमा हमें पुराणों से ठीक-ठीक ज्ञात हो जाती है। उसमें लिखा है कि गुप्तवंशी राजा मगध, प्रयाग, अयोध्या और इसके समीप

के भाग पर राज्य करेंगे।† चन्द्रगुप्त के समय के विषय में भी कुछ मतभेद है, पर यह निश्चित है कि उसने अपने सिंहासन पर बैठने की तिथि से (३२० ई०) एक संवत् चलाया, इसे गुप्त संवत् कहते हैं। इसने कुल अधिक से अधिक १५ वर्ष, अन्यथा २० वर्ष राज्य किया और उसके पश्चात् उसका सुयोग्य पुत्र समुद्रगुप्त राज्य का स्वामी हुआ।

समुद्रगुप्त—(३३०-७५) भारतीय इतिहास में अनेक सम्राट हुए, और उनके बड़े-बड़े कृत्य आज भी उनके स्मारक बने हुए हैं। अधिकाँश सम्राट दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं। (१) जो विजय और आकाँक्षा के प्रतीक, (२) जो धर्म तथा आचरण के पुजारी थे। समुद्रगुप्त हमारे प्राचीन इतिहास में यद्यपि विजय की श्री था, हमारा नैपोलियन था, जो योरुप के नैपोलियन से १५०० वर्ष पूर्व अपना पराक्रम दिखा चुका था; पर साथ ही वह हमारी संस्कृति का परम रक्षक विद्वान और कला प्रिय था। विचित्र सी बात है कि एक ओर वह उस युग की अशान्ति के लिए भय का प्रतीक और तलवार का संचालक है और दूसरी ओर मृदुल वीणावादक, संगीतज्ञ तथा कवि था। वह एक योग्य शासक था, इसका प्रमाण उसके पिता के वचनों से ही चल जाता है, जिसने उसे "पाह्येवुविम कहा अर्थात् उसके अन्य भाइयों (तुल्य कुल जानां) में से उसी को चुना।

कुछ विद्वानों का कथन है कि चन्द्रगुप्त प्रथम के पश्चात समुन्द्रगुप्त से पहिले एक अन्य शासक हुआ, वह भी चन्द्रगुप्त का पुत्र ही था, उसका नाम काच था। समुद्रगुप्त के सिक्कों की भाँति कुछ ऐसे सिक्के हैं जिनपर काच अंकित है, इसका समर्थन करते हैं। पर स्मिथ महोदय के विचार से यह काच नामक व्यक्ति समुन्द्रगुप्त का भाई था, परन्तु इन सिक्कों पर पीछे की ओर (सर्व राजोच्छेत्ता) सब राजाओं का उन्मूलन करने वाला लिखा है, वह केवल समुद्रगुप्त के लिए ही सम्भव है। बहुत सम्भव है कि ससुद्रगुप्त का पहिला नाम काच रहा हो, पश्चात् समुद्रगुप्त हुआ हो। डा० भाण्डारकर ने तो इसे राम पढ़कर रामगुप्त का सिक्का बता डाला है। समुद्रगुप्त अपने पिता का ज्येष्ठ पुत्र तो न था, अतः सम्भव है कि गद्दी पर बैठने के पूर्व कुछ उसे विद्रोह आदि का संकट उठाना पड़ा हो, पर यह निश्चित है कि यह उत्तराधिकार उसी को मिला। समुद्रगुप्त अत्यन्त प्रतिभाशाली सम्राट था।

उसका चरित्र, एक संगीतज्ञ—समुद्रगुप्त के सिक्के ६ प्रकार के हैं।

अनु गङ्गं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्त वंशजाः ॥

भविष्य पुराण

उनमें समुद्रगुप्त लम्बा और सुगठित शरीरधारी तथा विशाल वक्षस्थल-युक्त दिखाया गया है। इनमें से एक सिक्के पर वह पीठिका पर आराम से बैठा वीणा बजाता हुआ अंकित किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रयाग के स्तम्भ लेख में उसके दरबारी कवि हरिषेण ने जो प्रशस्ति लिखी है, उससे विदित होता है कि वह उच्च कोटि का संगीतज्ञ था। उसमें लिखा है—

"निशित विदग्ध मति गान्धर्व ललितै व्रीडित।

त्रिदश पति गुरु तुम्बरु नारदादेः ॥

अर्थात् जिसने अपनी कुशाग्र बुद्धि से, जिसने अपने ललित संगीत से इन्द्र, गुरु, तुम्बरु, नारद, आदि को भी लज्जित कर दिया था। इसी प्रशस्ति में आगे हरिषेण लिखता है कि समुद्रगुप्त एक उच्च कोटि का कवि था। उसने अपनी कवित्व-शक्ति के बल पर अन्य कवियों को अपमानित कर दिया था और अपने लिए कविराज शब्द स्थापित किया था।

"विद्वत्जनोपजीव्यानेक काव्य क्रियाभिः प्रतिष्ठित कविराज शब्दस्य।"

इलाहाबाद प्रशस्ति।

अर्थात् विद्वानों की जीविका के साधन रूप अनेक काव्य की क्रियाओं द्वारा उसने अपने लिए कविराज शब्द स्थापित कर लिया था।

एक वीर सेनानी—समुद्रगुप्त एक वीर सेनानी था। उसने जिस युग में अपनी विजय-पताका फहराई, उस युग में बिना इस गुण के सम्भव न था कि वह इंच भर भी चल पाता। उसने अपने बाहुबल से समस्त उत्तरापथ, दक्षिण और सीमा प्रान्त ध्वस्त कर दिया। इसी का फल था कि उसके इतने विशाल साम्राज्य में कहीं विद्रोह सुनने में नहीं आता। उसके इस विजित साम्राज्य को उसी की बदौलत उसकी सन्तति ने उपभोग किया।

"Brilliant both as general and statesman Samudra Gupta also possessed many qualities of head and heart suited to a life of peaceful pursuits."

The Classical Age—Page 14.

अर्थात् समुद्रगुप्त श्रेष्ठ सेनापति एवं राजनीतिज्ञ दोनों ही होने के साथ-साथ शान्त जीवन चर्या के उपयुक्त मस्तिष्क तथा हृदय की अनेक विशेषताओं से भी विभूषित था।

उसकी विजएँ—समुद्रगुप्त ने अपनी विजय पताका फहराने के लिए बिना योजना के कदम नहीं उठाया, और न कहीं उसे असफलता ही हाथ लगी। उसकी विजयों को चार भागों में बाँटा जा सकता है :—

१. आर्यवर्त,

२. आटविक,

३. दक्षिण पथ और।
४. प्रत्यंत।

१. **आर्यवर्त**—सबसे पहले उसकी शक्ति के शिकार आर्यवर्त के राजा ही हुए; क्योंकि वह राजधानी के समीप किसी विघ्न को छोड़ कर आगे न बढ़ सकता था। अतः उसने कम से-कम नौ राजाओं को हराया, जिनके नाम प्रशस्ति में देने के उपरान्त कवि आदि शब्द का प्रयोग करता है। ये राजा निम्नलिखित थे।

१. रुद्रदेव २. मातिल, ३. चन्द्र वर्मन ४. नागदत्त ५. गणपतिनाग ६ नागसेन ७. अच्युत, ८. नन्दिन ९. बाल वर्मन। इनमें से नागदत्त, गणपति नाग, नागसेन और नन्दिन सम्भवतः नागराजा थे। गणपतिनाग पद्मावती का नागवंशीय राजा था, इसी स्थान पर आजकल मध्य प्रदेश में पद्मपवाया है। रुद्रदेव बहुत सम्भव है कि वाकाटक राजा प्रवरसेन का पौत्र रुद्रसेन प्रथम था। मातिल को बुलन्दशहर में प्राप्त एक मुहर के आधार पर मत्तिल कहा जा सकता है। चन्द्रवर्मन बंगाल में वंकुरा जिले का राजा था। बालवर्मन के विषय में यद्यपि विवाद है, पर वह असम का शासक प्रतीत होता है जो कि भास्कर वर्मन का पूर्वज रहा होगा। अच्युत का भी कोई निश्चित ज्ञान नहीं है, पर इसे इतिहासकारों ने बरेली के जिले में प्राप्त अच्युत से समता दी है। इन सभी राजाओं के राज्य को समुद्रगुप्त ने अपने राज्य में मिला लिया।

२—**आटविक राज्य**—इसके अनन्तर समुद्रगुप्त ने आटविक राजाओं को विजय किया। ये सभी राज्य विंध्य पर्वत के बीच थे, समुद्रगुप्त ने इन सबको अपना सेवक बनाया, पर उनके राज्यों को न छीना। ये राज्य इतने महत्वहीन समझे गये कि उनके नाम स्तम्भ लेख में नहीं दिये गये। सम्भव है कि ये राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण न रहे होंगे।

(३) आटविक राज्यों को दबाकर समुद्रगुप्त ने दक्षिण की ओर प्रयाण किया। दक्षिण में उसने जो राज्य जीते उनके राज्यों को पुनः लौटा दिया। इस प्रकार की विजय को कालिदास ने अपने रघुवंश में धर्म विजय कहा है। सम्भव है इसी आदर्श को समुद्र गुप्त रखना चाहता हो। ये राज्य निम्नलिखित थे।

१. कौशल का महेन्द्र—यह मध्य प्रदेश के विलासपुर, रामपुर, संबलपुर आदि से बना था।

२. महाकान्तार का व्याघ्र राज—आधुनिक उड़ीसा का जैपुर वन प्रदेश।

३. कौशल का मंटराज—कौलेर का झील प्रदेश।

४. पिष्टपुर का महेन्द्रगिरि—गोदावरी जिले में पिठपुरम्।

५. कोट्टूर का स्वामीदत्त—पूर्वी गोदावरी में कोट्टूरा।

६. एरण्डपल्ल (जिला विशाखा पतन) का दमन।

७. काँची (मद्रास के पास कन्जीवरम) का विष्णुगोप।

८. अवमुक्त (यह अभी तक पहचाना नहीं जा सका) का नीलराज।

९. वेंगी (एल्लोर की पेंडु वेंगी) का हस्ति वर्मन।

१०. पलक्का का (सम्भवतः नैल्लूर जिले में पलक्क) उग्रसेन।

११. देवराष्ट्र (विशाखापटम जिले में येल्लमंचिली) का कुबेर।

१२. कुस्थलपुर का (यह अभी ठीक नहीं जाना जा सका, पर इतिहासकार इसे उत्तर अर्काट जिले में मानते हैं) धनञ्जय।

इसके पश्चात् समुद्र गुप्त ने अपनी विजय पताका सीमा प्रान्तों की ओर घुमायी, इनमें पाँच राष्ट्र और नौ गण राज्य आते हैं। पाँच राष्ट्रों में समतट, डवाक, कामरूप, नैपाल और कर्णपुर हैं। इन राज्यों ने आत्म निवेदन किया। अर्थात् समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर, अपनी अपनी भेंट उसकी सेवा में अर्पण की। कुछ ने तो अपनी कन्या का हाथ भी स्वामी को दिया। कन्या का प्रदान कहाँ तक सत्य है, और कहाँ तक कवि की कल्पना यह नहीं कहा जा सकता।

अश्वमेध यज्ञ—इतना विशाल साम्राज्य बटोर कर कोई भी अश्वमेध यज्ञ की सोच सकता था। अतः स्वभावतः समुद्रगुप्त ने अपनी महान् सामरिक सफलता के उपलक्ष में अश्वमेध यज्ञ किया। इस यज्ञ की स्मृति रखने के लिए उसने कुछ सिक्के भी चलाये। इनके चित्रपक्ष पर घोड़े की मूर्ति बनी है, उसी के सामने यज्ञ का यूप भी बना है। पट्ट भाग की ओर चमर धारण किये समुद्र की देवी की प्रतिमा है। सिक्के पर "**अश्वमेध पराक्रम**" लेख अंकित है। इसका अर्थ अश्वमेध की योग्यता वाला है। समुद्रगुप्त ने इस प्रथा को जो बहुत दिन से उठी जा रही थी पुनः जीवित कर दिया, और ब्राह्मणों को बहुत सा दान दिया। इसी आधार पर उसको **चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तु**: कहा गया है। लखनऊ के अजायब घर में उत्तरी अवध से प्राप्त घोड़े की एक पत्थर की मूर्ति जिस पर प्राकृत में '**समुद्रगुप्तस देव धेम्म**" अंकित है, वह भी उसके अश्वमेध का स्मारक है।

उसके सिक्के—समुद्रगुप्त ने छः प्रकार के सिक्के चलाये थे। ये प्राचीन काल की मुद्रणकला के द्योतक हैं। साथ ही ये सिक्के उसके राजनीतिक तथा सांस्कृतिक आदर्श, धार्मिक विश्वास तथा उसके कार्यों पर प्रकाश डालते हैं।

(१) इनमें काच वाले सिक्के की, जिनसे इतिहासकारों को भ्रम होता है कि उसके हैं ही नहीं, चर्चा पीछे की जा चुकी है।

(२) अश्वमेध के घोड़े की आकृति वाले। इसकी चर्चा भी कर चुके हैं।

(३) वीणा वाले सिक्के—इनमें एक पीठिका पर आराम से बैठा हुआ समुद्रगुप्त

अंकित किया गया है। उसके शरीर पर वस्त्र नही हैं। उसकी दायी जाँघ मुड़ी है और पैर का अँगूठा व उँगलियाँ चौकी पर टिकी हुई हैं। इस पर "महाराजाधिराज समुद्रगुप्त" अंकित है।

(४) गरुणध्वजी सिक्के—इनमें समुद्रगुप्त, टोपी, कोट और पाजामा पहिने खड़ा है। उसके अंगों पर आभूषण भी अंकित हैं, इसमें हवनकुंड के पीछे गुप्त सम्राटों का गरुडध्वज बना है।

(५) फरसा वाला सिक्का—इस सिक्के पर समुद्रगुप्त हाथ में परशु लिये खड़ा है। इस पर लिखा है, "कृतान्त परशुर्जयत्यजित राजजेता जितः"। अर्थात् अनेक राजाओं को जीतने वाला और यमपुर पहुँचाने वाले परशु को धारण करने वाला।

(६) व्याघ्र वाला सिक्का—इसमें समुद्रगुप्त को व्याघ्र पर निशाना लगाते हुए दिखाया गया है। उसके सर पर पगड़ी है, और कमर में मेखला से बँधा हुआ वस्त्र है। इसी सिक्के पर पट्ट भाग में मकर पर खड़ी कमल हाथ में लिये गंगा की प्रतिमा बनी है। ये सिक्के समुद्रगुप्त का धार्मिक विश्वास उसकी धन-धान्य अवस्था, और कला का परिचय देते है। अनेक सिक्कों के पट्ट भाग में आसन पर बैठी लक्ष्मी की मूर्ति और कुछ सिक्कों पर गरुड़ की मूर्त्ति से स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त गरुड़वाहन विष्णु का भक्त था। फिर भी वह अन्य धर्मों का सम्मान करता था। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि स्मिथ ने उसके विषय में जो लिखा है वह अक्षरतः सत्य है।

समुद्रगुप्त असाधारण क्षमता, तथा विभिन्न गुणों का आगार था। वह एक सच्चा मनुष्य, एक विद्वान, कवि, गायक तथा वीर सेनानी था" †

समुद्रगुप्त का पारिवारिक जीवन अच्छा कटा, जैसा कि हमें एरण्ड के अभिलेख से विदित होता है। इसमें लिखा है कि वह अपनी कुलवधू तथा पुत्र पौत्रों से सम्पन्न था। इस प्रकार अपार यश प्राप्त कर लगभग (३३०-३७५ ई०) अथवा (३३०-३८० ई०) ५० वर्ष उसने शासन किया। और इसके अनुसार उसकी मृत्यु वृद्धावस्था में ही हुई। इसके पश्चात् उसका उत्तराधिकारी उसका दत्तादेवी से उत्पन्न पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य हुआ।

"Samudragupta was a man of exceptional personal capacity and unusually varied gifts. He stands forth as a real man, a scholar, a poet, a musician, and a warrior.

U. A. Smith

रामगुप्त—विशाखदत्त के नाटक देवीचन्द्रगुप्तम् † के आधार पर समुद्रगुप्त पश्चात् रामगुप्त गद्दी पर बैठा इसकी पत्नी का नाम ध्रुवदेवी था। शकों के विरुद्ध युद्ध में एक बार वह ऐसी स्थिति में आ गया कि अपनी पत्नी शत्रु को देने को सहमत हो गया, पर उसके छोटे भाई चन्द्रगुप्त ने कहा कि ध्रुवदेवी के वेश में मैं जाऊँगा और यह अपमान न सहूँगा। आखिर वह गया और उसने अपने साम्राज्य तथा सम्मान की रक्षा की। इस बड़े भाई का सम्मान लोगों की दृष्टि में गिर गया, और छोटे का स्वभावतः बढ़ गया। बड़े भाई ने बनावटी पागलपन धारण किया। अतः एक दिन चन्द्रगुप्त ने उसका प्राणान्त करा दिया और स्वयं गद्दी का ही नहीं, साम्राज्य का भी स्वामी बन बैठा।

यहाँ पर यह कहना कठिन है कि यह वृत्तान्त कहाँ तक ऐतिहासिक है। गुप्तकाल के अन्य सूत्रों से इस बात का समर्थन नहीं होता। उनके अनुसार समुद्रगुप्त के ठीक बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय ही गद्दी पर बैठा। सिक्कों में तो रामगुप्त का नाम है ही नहीं। दूसरे चन्द्रगुप्त द्वितीय, हो सकता है, अपने भाई को समाप्त कर साम्राज्य छीन लेता, पर उसकी विधवा पत्नी से विवाह करेगा, यह युक्ति संगत नहीं। फिर समुद्र जैसे पराक्रमी का पुत्र, और इतने विशाल साम्राज्य का स्वामी शकों से ऐसा पराजित हुआ होगा, कि सम्मान बचाने का कोई साधन न रहा, यह सम्भव नहीं। दूसरी ओर हर्षचरित, राजशेखर की काव्य मीमांसा और राष्ट्र कूट राजा अमोघ वर्ष का ताम्रपत्र इस घटना का कुछ हेर फेर से समर्थन करते हैं। अतः इस स्थल पर कोई निर्णय लेना सरल नहीं।

चन्द्रगुप्त द्वितीय—समुद्रगुप्त के कई पुत्र और पौत्र थे। पर उसका दत्तादेवी से उत्पन्न पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय उसका उत्तराधिकारी हुआ। चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि भी संदिग्ध है, क्योंकि एक अभिलेख से यह विदित होता है कि वह ३८० ई० में गद्दी पर बैठा पर उसमें एक शब्द **प्रथम** और **पंचम** दो तरह से पढ़ा जा सकता है, अतः उसे यदि हम प्रथम मान लें तब तो ३८० उसका राज्यारोहण काल हुआ और उसे यदि पंचम मान लें तो यह तिथि ३७६ ई० हो जाती है। इसकी मृत्यु का काल ४१३-४१५ के बीच पड़ता है, अतः उसने कम से कम ३३ वर्ष राज्य किया। इस शासन काल में उसने अनेक प्रसिद्धि के कार्य किये, जिनके आधार पर यह काल एक स्वर्णयुग कहलाया, और जिनके कारण यह सम्राट सबसे अधिक लोक प्रिय रहा।

उसकी दिग्विजय—प्राचीन परिपाटी के अनुसार उस समय सम्राट गद्दी पर

---

† मेगास्थनीज की इण्डिका की भाँति यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है, उसके उद्धरणों से हमारा ज्ञान इस विषय में है।

बैठते ही दिग्विजय और राज्य विस्तार की सोचा करते थे। चन्द्रगुप्त जैसे वीर के लिए भी स्वाभाविक ही था। मजुमदार महोदय का कथन है—

"Chandragupta inherited the military genius of his father and launched upon a compaign of conquest towards the west."

अर्थात् "चन्द्रगुप्त में पैतृक सैनिक बुद्धि कौशल था। उसने पश्चिम की ओर अपना विजय का अभियान प्रारम्भ किया।"

वैसे तो चन्द्रगुप्त को एक सुदृढ़ तथा विशाल साम्राज्य का उत्तराधिकार मिला था, जिसमें आर्यावर्त से लेकर दक्षिण तक राजा अधीन कर लिये गये थे, पर अभी भी कुछ सीमाएँ ऐसी थीं जिनका संरक्षण आवश्यक था।

(१) सबसे पहिले उसने गणराज्यों का विनाश किया, पश्चिमोत्तर भारत के कुषाण, और अवन्ति के महाक्षत्रप तथा गुप्त साम्राज्य के बीच कुछ गण-राज्य थे, जो अब भी स्वतन्त्र थे, यथा मद्र व खरपटिक। चन्द्रगुप्त ने सबसे पहिले इन्हीं का अन्त किया।

(२) इसी समय नाग राजाओं के विरोध मेटने के लिये चन्द्रगुप्त ने कुवेर नाग से अपना विवाह कर लिया। पर इससे भी अधिक प्रबल एक ब्राह्मण कुल था, जो वाकाटकों का था, वाकाटक राज्य गुप्त साम्राज्य के दक्षिण और मालवा के बीच था, अतः चन्द्रगुप्त ने नीति से काम लिया। उसने कुवेर नागा से उत्पन्न अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का पृथ्वीसेन के पुत्र वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय से विवाह कर दिया। इस सम्बन्ध से दोनों राजवंश मित्र बन गये। इसके अनन्तर वह शकों को पराजित करने चला। इस समय रुद्रसिंह तृतीय पश्चिमी क्षत्रप था, और मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र पर शासन करता था। युद्ध में रुद्रसिंह की पराजय हुई। इसका सबसे बड़ा प्रमाण उदय-गिरि का लेख है। चन्द्रगुप्त का मंत्री (सन्धि-बिग्रहक) साब वीरसेन उसके साथ था। यह लेख उसी ने लिखवाया है। वह कहता है कि **सम्राट ने सम्पूर्ण पृथ्वी को जीतने की इच्छा से ही इस ओर यात्रा की थी। कृत्स्नपृथ्वी जयार्थेन।** चन्द्रगुप्त की विजय का दूसरा प्रमाण यह है कि इसके पश्चात् रुद्रसिंह ३८८ ई० के सिक्के वहाँ नहीं मिलते।

चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इस विजय के उपलक्ष्य में मालवा में क्षत्रपों की तरह के अपने चाँदी के सिक्के चलवाये।

(३) दिल्ली में मेहरौली के स्तम्भ पर एक नाम चन्द्र खुदा है। इस विषय में इतिहासकारों ने अनेक अटकल लगाये हैं। उनमें से एक अनुमान यह भी

1—Classical Age Page 19.

है कि यह चन्द्र, चन्द्रगुप्त द्वितीय ही था। उसने इस लेख के अनुसार सिन्धु की सात सहायक नदियाँ पार कर बाह्लिकों को हराया। उसने पंजाब और सीमान्त पर अधिकार स्थापित करके भारत के प्राचीन दिग्विजयी सम्राटों के अनुसार शक कुषाणों को बाहर भगा दिया। बहुत सम्भव है इसी विजय के उपलक्ष्य में उसने पहिले विक्रमादित्य की भाँति विक्रमादित्य की उपाधि धारण की हो।

(४) मेहरौली के स्तम्भ से ही यह भी विदित होता है कि चन्द्रगुप्त ने पूर्वी सीमा भी ठीक की। उसमें लिखा है कि उसने बंगाल के आक्रमण के लिए एकत्र शत्रुओं को बलपूर्वक पराजित कर अपनी भुजाओं पर तलवार से अपनी प्रशंसा अंकित की। इस ओर की विजय का एक अन्य प्रमाण भी है। इसके पुत्र कुमारगुप्त प्रथम के लेख और शासक पुण्ड्र वर्द्धन मुक्ति (बंगाल) की चर्चा करते हैं. उसके पिता ने उन्हें समूल नष्ट किया न था, बस, समतट, डवाक आदि को कर देने पर विवश किया था। अतः यह निश्चित है कि चन्द्रगुप्त ने ही उसकी विजय की हो।

(५) इसी लेख के आधार पर यह भी ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त ने दक्षिणापथ के उन लोगों को पुनः अधीन किया, जो समुद्रगुप्त के अभियान के बाद सर उठा रहे थे।

साम्राज्य क्षेत्र—इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय गुप्त साम्राज्य अपने विस्तार की चरम सीमा पर पहुँच गया। उसने पश्चिम में सौराष्ट्र से, पूर्व में बंगाल तक, उत्तर में पंजाब से, दक्षिण में विंध्याचल तक उसे फैला दिया। इसके समुचित शासन के लिए उसने उज्जैन और अयोध्या को भी राजधानियों का रूप दिया।

उसके सिक्के—चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पूर्वजों के विपरीत सोने के अतिरिक्त चाँदी और ताँबे के भी सिक्के चलाये। शकों की नकल में जो सिक्के उसने मालवा में चलाये, उनकी चर्चा की जा चुकी है।

उसके चाँदी के सिक्कों पर विक्रमांक लिखा है, और जहाँ क्षत्रपों का चैत्य था वहाँ उसने गरुड़ बनवाया है। इससे उसकी विष्णु के प्रति भक्ति का पता चलता है इसके ताँबे के सिक्के कुछ नहीं ८ तरह के तो हैं। इन पर सामान्य रूप से गरुड़ और राजा की प्रतिमाएँ हैं। इसके स्वर्ण के सिक्के तो उसके पिता के सिक्कों से भी बढ़कर हैं। इनमें से एक पर वह शेर को मारता हुआ दिखाया गया है। साथ ही व्याघ्र के बजाय उसका विरुद सिंह विक्रम अंकित है। इन सिक्कों से स्पष्टतया उसकी गुजरात विजय लक्षित है जहाँ शेर बहुतायत से पाये जाते हैं। इसके पीठिका के तरह के सिक्कों पर चन्द्रगुप्त को पीठिका पर बैठा दिखाया गया है, पर उसके हाथ में वीणा के स्थान में कमल है। किनारे पर **"परम भागवत महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त"** अंकित

है कि यह चन्द्र, चन्द्रगुप्त द्वितीय ही था। उसने इस लेख के अनुसार सिन्धु की सात सहायक नदियाँ पार कर बाह्लिकों को हराया। उसने पंजाब और सीमान्त पर अधिकार स्थापित करके भारत के प्राचीन दिग्विजयी सम्राटों के अनुसार शक कुषाणों को बाहर भगा दिया। बहुत सम्भव है इसी विजय के उपलक्ष्य में उसने पहिले विक्रमादित्य की भाँति विक्रमादित्य की उपाधि धारण की हो।

(४) मेहरौली के स्तम्भ से ही यह भी विदित होता है कि चन्द्रगुप्त ने पूर्वी सीमा भी ठीक की। उसमें लिखा है कि उसने बंगाल के आक्रमण के लिए एकत्र शत्रुओं को बलपूर्वक पराजित कर अपनी भुजाओं पर तलवार से अपनी प्रशंसा अंकित की। इस ओर की विजय का एक अन्य प्रमाण भी है। इसके पुत्र कुमारगुप्त प्रथम के लेख और शासक पुण्ड्र वर्द्धन मुक्ति (बंगाल) की चर्चा करते हैं. उसके पिता ने उन्हें समूल नष्ट किया न था, बस, समतट, डवाक आदि को कर देने पर विवश किया था। अतः यह निश्चित है कि चन्द्रगुप्त ने ही उसकी विजय की हो।

(५) इसी लेख के आधार पर यह भी ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त ने दक्षिणापथ के उन लोगों को पुनः अधीन किया, जो समुद्रगुप्त के अभियान के बाद सर उठा रहे थे।

साम्राज्य क्षेत्र—इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय गुप्त साम्राज्य अपने विस्तार की चरम सीमा पर पहुँच गया। उसने पश्चिम में सौराष्ट्र से, पूर्व में बंगाल तक, उत्तर में पंजाब से, दक्षिण में विंध्याचल तक उसे फैला दिया। इसके समुचित शासन के लिए उसने उज्जैन और अयोध्या को भी राजधानियों का रूप दिया।

उसके सिक्के—चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने पूर्वजों के विपरीत सोने के अतिरिक्त चाँदी और ताँबे के भी सिक्के चलाये। शकों की नकल में जो सिक्के उसने मालवा में चलाये, उनकी चर्चा की जा चुकी है।

उसके चाँदी के सिक्कों पर विक्रमांक लिखा है, और जहाँ क्षत्रपों का चैत्य था वहाँ उसने गरुड़ बनवाया है। इससे उसकी विष्णु के प्रति भक्ति का पता चलता है इसके ताँबे के सिक्के कुछ नहीं ९ तरह के तो हैं। इन पर सामान्य रूप से गरुड़ और राजा की प्रतिमाएँ हैं। इसके स्वर्ण के सिक्के तो उसके पिता के सिक्कों से भी बढ़कर हैं। इनमें से एक पर वह शेर को मारता हुआ दिखाया गया है। साथ ही व्याघ्र के बजाय उसका विरुद सिंह विक्रम अंकित है। इन सिक्कों से स्पष्टतया उसकी गुजरात विजय लक्षित है जहाँ शेर बहुतायत से पाये जाते हैं। इसके पीठिका के तरह के सिक्कों पर चन्द्रगुप्त को पीठिका पर बैठा दिखाया गया है; पर उसके हाथ में वीणा के स्थान में कमल है। किनारे पर **"परम भागवत महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त"** अंकित

फाह्यान का मार्ग
३९९–४११ ई०
तक्षशिला
लाहौर
सिन्धु
जमुना
कुशीनगर
पाटलीपुत्र
नालन्दा
काशी
गया
नर्मदा
महानदी
गोदावरी
कृष्णा
अरब सागर
खाड़ी बंगाल

(पृष्ठ १७५ के सामने)

है। छत्र वाले सिक्कों पर चित्त भाग पर एक बौना उसके पीछे छत्र लिये खड़ा है। राजा दाहिने हाथ से आहुति दे रहा है। उसका बायां हाथ खण्ड की मुष्टि पर है। हाशिये पर लिखा है, "**विक्रमादित्य पृथ्वी को जीत कर अपने शुभ कर्मों से स्वर्ग जीतता है**" अर्थात् खण्ड से वह अपने राज्य की रक्षा करता है, तथा आहुति से स्वर्ग की प्राप्ति करेगा। अश्वारूढ़ सिक्के पर धनुष धारण किये चन्द्रगुप्त को घोड़े पर सवार दिखाया गया है। चन्द्र विक्रम सिक्के में वह विष्णु भगवान से प्रसाद प्राप्त करता दिखाया गया है।

नवरत्न—चन्द्रगुप्त स्वयं एक विद्वान ही नहीं, विद्वानों का आश्रयदाता भी था। उसके दरबार में नवरत्न थे। ये विभिन्न विषयों के पण्डित थे। इनमें निम्नलिखित नाम लिये जाते हैं।

१. कालिदास २. अमरसिंह ३. धन्वन्तरि. ४. विशाख दत्त ५. सुबन्धु ६. घटखर्पर. ७. क्षपणक. ८. बैताल ९. वीरसेन। इनमें कालिदास के काल को बहुत से विद्वान् इस युग में न मानकर ५७ ई० पू. में मानते हैं। अन्य कई एक का भी समय एक नहीं है। पर प्रसिद्धि ऐसी ही है।

फाह्यान—चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासन काल एक बात के लिए और प्रसिद्ध है। उसके शासन काल में प्रसिद्ध चीनी यात्री फाह्यान आया था। फाह्यान लगभग १५ वर्ष (३९९—४१४ ई०) भारत तथा पड़ोस के देशों में घूमता रहा। वह बौद्ध था और अपने धर्म की पुस्तकें लेने तथा तीर्थ स्थानों का दर्शन करने भारत आया था। फाह्यान अपने देश से (गोबी का मरुस्थल) खुतन और पामीरों पर होता हुआ स्वात और गान्धार के मार्ग से भारत आया। वह पेशावर होकर पंजाब तक आया, और मध्यदेश के नगरों में होता हुआ काशी पहुँचा। मार्ग में उसने मथुरा, संकाश्य, कन्नौज, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वैशाली का भ्रमण किया। इसके अनन्तर पाटलिपुत्र में ३ वर्ष रहकर उसने संस्कृत भाषा का अध्ययन किया। लौटते समय वह जलमार्ग से गया। वह पाटलिपुत्र से चलकर बंगाल पहुँचा, जहाँ से जहाज पर चढ़ा। यहाँ जावा होता हुआ वह चीन गया। उसने भारत में इतना भ्रमण किया, और उसका विशद वर्णन किया, पर कहीं भी राजनीतिक क्षेत्र का विशेष नहीं। इतने बड़े वर्णन में उसने जिस सम्राट के राज्य में रहा, उसका भी नाम नहीं लिया। पर उसके अन्य वर्णन से अन्य विषयों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। यथा—

पाटलिपुत्र—नगर में दो विशाल और सुन्दर विहार थे, जिनमें से एक हीनयान वालों का, और दूसरा महायान मत वालों का। इनमें से प्रत्येक में ६,७ हजार विद्वान भिक्षु निवास करते थे, जो भारत के भिन्न-भिन्न भागों से आये हुये हजारों विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे। अशोक के द्वारा

बनवाया हुआ राजभवन जो उस समय भी वैसा ही बना हुआ था उसको ऐसा लगा जैसे यक्षों की कृतियाँ हैं। इन्होंने ऐसे-ऐसे कार्य कर दिखाये कि कोई मानवी शक्ति नहीं बना सकती। यहाँ के निवासी सार्वजनिक कार्य तथा दान आदि में होड़ लगाये बैठे हैं।"

समाज—बाजारों में मद्य तथा मांस की दूकानें नहीं हैं। लोग सुअर तथा मुर्गी नहीं 'पालते', वे प्याज तथा लहसुन का भी प्रयोग नहीं करते। न वे सुरा पान करते हैं। चांडाल समाज से बहिष्कृत हैं, और ये आखेट कर सकते हैं तथा मांस बेच सकते हैं। पर वे अछूत हैं, और उन्हें नगर से बाहर रहना पड़ता है, जब कभी वे नगर या बाजार में आते हैं उनको लकड़ी बजाकर शब्द करना पड़ता है जिससे उच्च जाति के हिन्दू उनके स्पर्श से बच जाँय।

धर्म—फाह्यान धार्मिक दृष्टिकोण लेकर आया था, अत: उसने बौद्धधर्म को विशेष महत्व दिया है। वह कहता है कि यह धर्म (अच्छा धर्म) बंगाल तथा पंजाब में हरा भरा है, और मथुरा में जहाँ उसने २० बिहार देखे फैल चला था। यह धर्म मध्य देश में लोकप्रिय न था, क्योंकि इसके प्रमुख नगरों में केवल एक ही दो बिहार दिखाई दिये। कहीं-कहीं तो उनका सर्वथा अभाव है। मध्यदेश में ब्राह्मण धर्म का विशेष प्रभाव है जहाँ राजा स्वयं वैष्णव है। पर इन धर्मों के मानने वालों में साधारणत: मेल है। इनमें धार्मिक कट्टरता और असहनशीलता नहीं है।

शासन—गुप्त शासन के विषय में वह लिखता है कि प्रजा समृद्ध तथा सुखी है, और उसे अधिक कर नहीं देना पड़ता। न उसे अपने घरों को रजिस्टर कराना पड़ता है और न मजिस्ट्रेटों के यहाँ हाजिरी ही देनी पड़ती है। प्रजा के आने जाने में भी राजा किसी प्रकार का विरोध नहीं करता। **"यदि वे कहीं जाना चाहें तो जाते हैं, कहीं रुकना चाहें तो रुकते हैं।** दण्ड विधान भी नम्र है। अपराधी अपने अपराधों के अनुसार हलका या भारी आर्थिक दण्ड पाते हैं। शारीरिक यातनाएँ (दु:ख) नहीं दी जातीं। प्राण दण्ड सर्वथा नहीं है, देश द्रोह तक के अपराध में केवल किसी अंग को ही काटने का दण्ड है। आय के लिए भूमि कर लिया जाता है, जो सिक्कों में दिया जाता है। राज कर्मचारी वैतनिक (Paid) हैं।

कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य

चन्द्रगुप्त द्वितीय के पश्चात् ध्रुवदेवी से उसका पुत्र कुमारगुप्त प्रथम महेन्द्रादित्य ४१५ ई० में गद्दी पर बैठा। उसने ४० वर्ष तक शासन किया क्योंकि उसे उत्तराधिकार में एक विशाल तथा संगठित साम्राज्य मिला था। उसने इसे बनाये रखा, जैसा कि मन्दसौर अभिलेख से विदित होता है कि

"वह चारों समुद्रों की चंचल लहरों से घिरी हुई पृथ्वी पर राज्य कर रहा था।" यही बात उसके दूर दूर तक प्रचलित सिक्कों से भी प्रमाणित होती है।

अश्वमेध—कुमारगुप्त ने कोई विजय तो शायद नहीं की, पर उसके अश्वमेध वाले सिक्के से विदित होता है कि उसने भी अश्वमेध यज्ञ किया। इस सिक्के पर घोड़े की आकृति चँवर लिये रानी बनी है तथा अश्वमेध महेन्द्र लिखा है।

पुष्यमित्र से युद्ध—स्कन्दगुप्त के गाजीपुर जिले में भितारी लेख से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त के अन्तिम दिनों में कुछ संकट आ गये। उसे साम्राज्य की रक्षा के लिये शत्रुओं से घोर युद्ध करना पड़ा। पहले इस लेख में विद्वानों ने "**पुष्यमित्रान्**" पढ़ा था और अनुमान किया था कि वे कोई विंध्य प्रदेश के रहने वाले लोग थे जिन्होंने सेना और धन इकट्ठा कर लिया था, पर अब यह निश्चय हो गया है, कि ये भी हूण ही थे जिनको स्कन्दगुप्त ने मार भगाया था।

हूण आक्रमण—इनका पहला आक्रमण लगभग ४५० ई० के हुआ था। इन्होंने गुप्त साम्राज्य को संकट में डाल दिया। इस बार भी स्कन्दगुप्त ने ही उनका सामना किया। वह वीर और लड़ाका था। साथ ही उसने अपना जीवन बहुत कठोर कर लिया था। अतः अपनी तपस्या के बदौलत ही उसने लड़खड़ाते साम्राज्य को टिकाये रखा। सम्भवतः उसकी विजय के पश्चात् तक उसके पिता जीवित नहीं रहे क्योंकि इस लेख से यह स्पष्ट है कि उसने अपनी विजय का सन्देश अपनी माता को सुनाया।

कुमार गुप्त के सिक्के—कुमारगुप्त ने एक नये प्रकार के सोने के सिक्के चलवाये। इनमें उसका मोर वाला सिक्का कला के दृष्टिकोण से सर्वोत्तम माना जाता है। इसके चित्त भाग पर खड़ा हुआ कुमारगुप्त मोर को फल खिला रहा है। पट्ट भाग में मोर पर सवार कार्तिकेय की आकृति बनी है जो बायें हाथ में त्रिशूल लिये हैं और दाहिने हाथ से हवन कुण्ड में आहुति छोड़ रहा है। कुमारगुप्त ने धनुर्धारी, अश्वमेध, अश्वारोही, सिंह विक्रम तथा व्याघ्र-पराक्रम सिक्कों को तो चन्द्रगुप्त के सिक्कों की ही भांति रखा, पर मोर और तलवार वाले नये सिक्के चलाये। एक दूसरा हस्तिवाहन वाला सिक्का भी तौल के अनुसार इसी का कहा जाता है, यद्यपि उस पर का लेख मिट चुका है। इस सिक्के पर चित्त भाग में हाथी पर बैठे राजा की मूर्ति बनायी गयी है, और पट्ट भाग पर कमल पर बैठी लक्ष्मी की आकृति बनी है। यह सिक्का हुगली (बंगाल) प्रान्त से मिला, और इसे लेकर अब तक उसके १४ तरह के सिक्के मिल चुके हैं। इसके चाँदी के सिक्के भी ५ प्रकार के हैं। ये सिक्के

चन्द्रगुप्त द्वितीय के मालवा में चलाये सिक्कों की भाँति हैं, जिन पर तिथि आदि सभी अंकित हैं। इसके अतिरिक्त ताँबे के भी सिक्के मिले हैं।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (४५५-४६७)

स्कन्दगुप्त गद्दी पर भी न बैठने पाया था, कि उसे शत्रुओं का सामना करना पड़ गया। अपने दूसरे बार के युद्ध से तो वह जब लौटकर आया उसके पिता का निधन हो गया था।[1] पुष्यमित्र को हराने के पश्चात् शीघ्र ही उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। उसकी साधारण उपाधि क्रमादित्य थी। बहुधा स्कन्दगुप्त को लोग देवकी का पुत्र बतलाते हैं, पर यह भ्रम की बात है। जिस आधार पर देवकी कहा गया हैं, यह श्लोक भितारी लेख का है।[2] उसका अर्थ है कि जिस प्रकार शत्रु को मारकर अश्रु युक्त अपनी माता देवकी को कृष्ण ने प्रसन्न किया उसी प्रकार स्कन्दगुप्त ने अपनी माता को शत्रु मारने का सुखद समाचार सुनाया। अतः देवकी कृष्ण की माता हुईं स्कन्दगुप्त की नहीं। स्कन्दगुप्त के समय तक गुप्त साम्राज्य की सीमाएँ सुरक्षित रहीं, जैसा कि कहौम अभिलेख से ज्ञात होता है। इसी प्रकार जूनागढ़ वाले लेख से विदित होता है, कि उसने सौराष्ट्र का गोप्ता नियुक्त करने के लिए अनेक शासकों के गुण दोषों को देखा था। इससे स्पष्ट है कि उसकी शासन सीमा दूर दूर तक थी। फिर इसके समय तक मालवा उसी के राज्य में था, और उज्जयिनी उसकी दूसरी राजधानी के रूप में थी।

हूणों का आक्रमण— इस समय हूण उत्तर पश्चिम में बड़े प्रबल थे। उन्होंने अनेक नगर के नगर जला डाले। एक बार नहीं अनेक बार ये गुप्त साम्राज्य की ओर आये, और सम्भव है इन्हीं में से किसी में स्कन्दगुप्त मारा भी गया हो।

सुदर्शन झील—स्कन्दगुप्त के शासन काल की एक महत्वपूर्ण घटना सुदर्शन झील का पुनरुद्धार है। इसकी चर्चा हम रुद्रदामन के काल में कर चुके हैं। वस्तुतः इसे पहिले चन्द्रगुप्त ने बनवाया था, अशोक ने उसमें से नहरें निकाली थीं, इसके टूटने पर रुद्रदामन ने इसे ठीक किया था। गुप्त संवत् १३६=(३२०+१३६)=४५६ ई० में इस झील का बाँध फिर टूट गया, अतः पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित ने अपार धन व्यय करके इसे बनवाया।

१—**पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंश लक्ष्मीम्।**
भुजबल विजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः॥

२—**जितिमित परितोषान्मातरं सास नेत्राम्।**
हतरिपुखिं कृष्णो देवकीमभ्युदेत॥

—भितरी लेख

इसी की स्मृति में चक्रपालित ने गुप्त संवत ४५८ ई० में वहाँ विष्णु का मन्दिर भी बनवा दिया।

धार्मिक नीति—स्कन्द गुप्त स्वयं विष्णु का भक्त था पर अपने पूर्वजों की भाँति वह सदा सहनशील रहा। उसने किसी दूसरे धर्म पर आघात नहीं किया। जैसा कि हमें कहौभ लेख से विदित होता है, कि मद्र नाम के एक व्यक्ति ने "जो ब्राह्मणों, गुरुओं, और परिव्राजकों" के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु था, जैन तीर्थंकरों की पांच मूर्तियाँ स्थापित करायीं। इसी प्रकार इन्दौर लेख से ज्ञात होता है कि किसी ब्राह्मण ने क्षत्रियों द्वारा बनवाये सूर्य के मन्दिर में नित्य दीप जलाने के लिए धन का दान किया था। इस रानी ने एक तैलिक श्रेणी के पास अक्षय नीवी जमा कर दिया था। जिसके ब्याज से ही उसका व्यय भार निकलता रहे।

चरित्र—स्कन्दगुप्त असाधारण योग्यता का व्यक्ति था। उसने अपने युवराज काल से ही राज्य की रक्षा की। वह एक साधारण सैनिक की भांति जीवन व्यतीत करता था। राज्य पर बैठते ही उसे अन्य प्रबल आक्रमणों का सामना करना पड़ा, पर वह अचल रहा। साथ ही इससे उसे कभी कोई गर्व नहीं हुआ। वह सदा एकरस, विष्णु का भक्त रहा। उसने अन्य धर्मों के साथ उदारता दिखायी।

गुप्त काल का स्वर्णयुग

भारतीय इतिहास का गौरव, सुख और समृद्धि का प्रतीक तथा धार्मिक सहिष्णुता का काल होने के नाते हम गुप्त काल को स्वर्णयुग कहते हैं। इसमें सम्राटों ने प्रजाहित को ही सदैव सामने रखा। उन्होंने कभी भी दम्भपूर्ण शासन नहीं किया। इसकी विशेष चर्चा उसके शासन प्रबन्ध, कला कौशल, व शिक्षा आदि के माध्यम से करना अधिक युक्ति संगत होगा।

गुप्तकालीन शासन प्रबन्ध—इस युग के शासन प्रबन्ध का ज्ञान हमें इस समय के अभिलेख, सिक्के, तथा चीनी यात्री के विवरण से प्राप्त होता है। गुप्त साम्राज्य मौर्य की भांति केंद्रित और गठित न था। गुप्तों के अधीनस्थ अनेक सामन्त ही उनके दूर प्रान्तों का शासन करते थे। वे सदा गुप्त सम्राट की आज्ञा में रहते थे और उसे कर आदि दिया करते थे।

राजा—इस समय भी राजा ही सब कुछ था। वही सारी सत्ता का केन्द्र था। साथ ही वह केवल उत्तराधिकार के आधार पर न हो जाता था, बल्कि योग्यतानुकूल पिता के द्वारा चुना जाता था। गुप्त सम्राट बहुत सी उपाधियाँ धारण करते थे। यथा—महाराजाधिराज परममहारक, परम दैवत, चक्रवर्ती, सम्राट, विक्रमादित्य, महेन्द्रादित्य, आदि। राजा के कर्त्तव्यों में सेना, शासन,

तथा न्याय सम्बन्धी तीनों कर्त्तव्य होते थे ये स्वयं खूब युद्ध करते थे और शासन भार भी सम्हालते थे ।

मंत्रिपरिषद्—गुप्त सम्राटों के साथ भी मंत्रिपरिषद् का प्रबन्ध था, पर इसके कर्त्तव्य मन्त्रियों के अनुसार अलग-अलग नहीं मिलते । फिर भी हम देखते हैं कि इनमें सन्धि विग्रहिक (Minister for peace and war) अक्षपटलाधिकृत (Minister for official papers) रणभाण्डागारिक, (Minister for supplies in war) इत्यादि थे । समस्त केन्द्रीय शासन अनेक विभागों में विभक्त था । इसके अध्यक्ष अमात्य, कुमारामात्य आदि थे । इस काल में एक विशेष बात यह थी कि मंत्री का पद वंशानुगत था, जैसा कि हम पर्णदत्त तथा चक्रपालित के विषय में देखते हैं ।

प्रान्तीय शासन—सारा गुप्त साम्राज्य शासन की सुविधा के लिए इकाइयों में बंटा था । सबसे बड़े भाग प्रान्त थे । इनको देश या भुक्ति कहते थे ।

प्रान्तीय शासक भोगिक, भोगपति, गोप्ता, उपरिक महाराज अथवा राज स्थानीय कहलाते थे । प्रान्तों से छोटा भाग प्रदेश कहलाता था । इससे छोटा विषय होता था, जिसका शासक विषय-पति होता था । सबसे छोटी शासन की इकाई ग्राम था जिसका प्रबन्ध पंचायत के हाथ में था । इसके प्रमुख को ग्रामिक योजक या महत्तर कहते थे ।

स्थानीय शासन—नगर शासन के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान दामोदर पुर ताम्रपत्र के आधार पर इस प्रकार है । बिषय की राजधानी में विषयपति की सहायता के लिए एक परिषद् होती थी, जिसके सदस्य निम्नलिखित थे ।

१. नगर श्रेष्ठित (बैंकों का प्रमुख) ।
२. सार्थवाह (मुख्य व्यापारी) ।
३, प्रथम कुलिक (कारीगरों का मुखिया) ।
४. प्रथम कायस्थ (लेखक) ।
५. पुस्तपाल (भूमि के मूल्य का निर्धारण करने वाला) ।

इस परिषद की सारी व्यवस्था तो ज्ञात नहीं पर भूमि का क्रय विक्रय इसी के सहारे होता था ।

शासन के मुख्य अंग—शासन में राजस्व विभाग सदा प्रमुख होता है । इसमें आय के कई साधन थे । भूमि का नियम से नाप होता था, और खेतों के अधिकारी तथा उनकी सीमा का ब्योरा रखा जाता था । भूमि की भी किस्में थीं । यथा—१. खिल—पर्ती २. नालू—खेतिहर ३ वस्तु—वस्ती, ४ अग्रहस्त—(विना जोती हुई) ५ अप्रदा—जिससे सरकार को कोई आय न होती हो । कर उपज का $\frac{1}{6}$ भाग था । इसके अतिरिक्त एक उपरिकर और

भी वसूल किया जाता था। जो राजा के व्यक्तिगत उपयोग में आता था। कुछ अन्य कर भी थे, जैसे धान्य अनाज के रूप में, (हिरण्य) सोने के रूप में शुल्क (व्यापारियों पर) गौभिमक (जंगल कर) फिर न्याय शुल्क, अर्थ दण्ड, मांडलिक राजाओं से कर आदि भी राजस्व में सम्मिलित थे।

न्याय विभाग—इस समय चार प्रकार के न्यायालय होते थे।

१. कुल,
२. श्रेणी,
३. गण

ये तीनों जनता के द्वारा ही न्याय के केन्द्र थे। इसमें साधारण कोटि के मामले, तथा स्थानीय मामले आते थे, जिन्हें वे शान्ति से निपटाते थे।

४. **राजकीय न्यायालय**—यह सर्वोपरि न्यायालय था। इसके नीचे एक अधिकारी रहता था जो वैशाली की मुहर के अनुसार विनय स्थिति स्थापक अर्थात् नियम और व्यवस्था स्थापित करने वाला कहलाता था। व्यवहार (Civil) सम्बन्धी न्याय का नारद स्मृति में विशद वर्णन है। फाह्यान के अनुसार उस समय अपराध कम होते थे, और दण्ड कोमल दिया जाता था। प्राण दण्ड तथा शारीरिक यातनाओं के दण्ड न थे। इससे सिद्ध होता है कि गुप्तकाल में न्याय व्यवस्था अच्छी थी, और लोग जिम्मेवार थे।

लोकोपकारी विभाग—गुप्त शासक आदर्श थे, वे प्रजा का संरक्षण और पालन चाहते थे, शासन नहीं। देश में यातायात की सुविधा भी थी, हम देखते हैं कि फाह्यान ह्यूनसांग की भांति दुःखी नहीं होता। फिर सुराष्ट्र जैसे दूर प्रान्तों में जल का प्रबन्ध किया जा सकता था तो पड़ोस में अवश्य रहा होगा। चिकित्सा के लिए निःशुल्क अस्पताल थे। शिक्षा तथा विद्या के लिए निःशुल्क विद्यालय ही नहीं वरन् ऐसे विश्वविद्यालय थे कि जहाँ भोजन भी निःशुल्क प्राप्त होता था। अनेक स्थान पर दानपत्र, धर्मशाला, मन्दिर आदि की चर्चा बतलाती है कि वे सदा उदारता से प्रजा पालन करते रहे।

सेना तथा सुरक्षा—इतने बड़े विशाल साम्राज्य कहीं बिना सैन्य बल के नहीं टिक सकते। लेखों से हमें उनकी चतुरंगिणी सेना का विवरण मिलता है। सेना का प्रमुख अधिकारी हम देख चुके हैं कि सन्धि विग्रहिक था, उसके अधीन महासेनापति, महादण्डनायक, बलाधिकृत, रणभाण्डागारिक, भटाश्वपति, आदि थे। इसके अतिरिक्त नागरिक सुरक्षा के लिए आरक्षक विभाग था। इसका सबसे बड़ा अधिकारी दण्डपाणधिकारी था। उसके अधीन चोरोद्धरणिक, दाण्डिक, दण्डपाशिक, गुप्तचर आदि होते थे। यही सब देखकर मजुमदार महोदय लिखते हैं।

"The result of the beneficent administration of the Gupta Emperors was revealed in the prosperous con-

dition of the people under their rule" † अर्थात् यह उदार शासन का ही फल था कि गुप्त सम्राटों की प्रजा समृद्ध और सुखी थी।

आर्थिक व्यवस्था---वैसे तो आर्थिक व्यवस्था जानने के लिए इस युग के सोने तथा चाँदी के भारी भारी सिक्के, अथवा आभूषण ही पर्याप्त प्रमाण हैं, पर अन्य बातें भी कम उल्लेखनीय नहीं हैं। शूद्रक प्रारा मृच्छ कटिक में जो वर्णन दिये गये हैं, उनमें अनोखे महल, सोने की चिड़ियां, रत्नजटित गृह के फलक, स्फटिक मणि से बनी हुई खिड़कियाँ, कम महत्व की नहीं हैं।

इस सयय पूर्व में चीन तथा पश्चिम में अफ्रीका व योरपीय देशों से व्यापार होता था। रिज डेविडस ने लिखा है कि स्वदेश तथा विदेश से भारतीय व्यापार दोनों मार्गों से होता था। मसाले वाले द्वीपों में भारतीयों ने अपना उपनिवेष बनाया था।

फाह्यान के विषय में लिखा गया है—

"फिर व्यापारियों के एक बड़े पोत पर चढ़ा, और समुद्र के दक्षिण पश्चिम की ओर चला, व्यापारिक वस्तुओं में कपड़े, मसाला, चाँदी, बहुमूल्य रत्न आदि सामग्री थी।"

और भी

इन संस्कृत प्रतियों को पाकर वह व्यापारी के पोत पर चढ़ा, उसमें दो से अधिक मनुष्य थे, पीछे एक छोटी नाव समुद्र यात्रा में बचने के लिए बड़े पोत से बँधी थी।

इस समय व्यापारिक तथा औद्योगिक संघ बने हुए थे, संघ बैंकों का भी कारबार करते थे। निगम श्रेणी और गणों द्वारा व्यापार का नियंत्रण होता था। इनके विनिमय में दीनार, सुवर्ण, चाँदी के सिक्के, कार्षापण तथा कौड़ियों का प्रयोग होता था। इस समय का मुख्य व्यवसाय खेती था, खेती के लिए कूप, तालाब, और झीलों आदि से सिंचाई का प्रबन्ध था। अन्य व्यवसायों में रंगाई, चित्रकारिता, सुनारी, लोहारी तथा जहाज बनाने के काम में उन्नत अवस्था में थे। इस समय की आर्थिक समृद्धि का सबसे बड़ा प्रमाण स्कन्दगुप्त के जनागढ़ लेख से प्राप्त होता है। उसमें लिखा है कि "कोई भी व्यक्ति साम्राज्य में दुःखी व दरिद्री न था।" †

अमोद प्रमोद के लिए पाँच प्रकार के उत्सव का उल्लेख है।

१. पूजा के लिए सामूहिक यात्रा।

२. समाज गोष्ठी।

३. साथ साथ जलपान

---

1 Classical Age page 347

† आर्तो, दरिद्रो, व्यसनी, कदर्यो, दड्यों न वा भृशपीड़ित स्यात्।

४. उद्यान भ्रमण

५. सामूहिक खेल।

फाह्यान ने लिखा है कि पाटलिपुत्र में तथा अन्य जनपदों में प्रत्येक वर्ष रथयात्रा होती थी। जिनमें कई दिन गाना-बजाना और पूजन होता था। यही नहीं उनके अन्य मनोरंजन के साधन जुआ, पशुओं से युद्ध, चौपड़, शिकार मेले, तमाशे, नाटक आदि थे।

समाज—निस्सन्देह गुप्त कालीन समाज अत्यन्त उन्नत था। मुख्य रूप से चार ही वर्ण थे, पर इस समय तक उनमें अनेक विभाजन हो चुके थे। यही नहीं विदेशी जातियाँ शक, हूण, कुषाण आदि यहीं घुलने मिलने लगीं थीं। इस काल में हम देखते हैं कि अन्तर्जातीय विवाह खूब हुए। यथा—चन्द्रगुप्त द्वितीय का विवाह नाग कन्या से, तथा उसकी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह रुद्रसेन द्वितीय से हुआ। शुंगकाल की भाँति इस काल में भी वैदिक धर्म और संस्कृति का पुनर्जागरण हुआ, अतः समाज का भी संगठन उसी आधार पर हुआ। पर व्यवसाओं के विषय में वर्ण व्यवस्था का कठोरता से व्यवहार नहीं किया गया। ब्राह्मण सैन्य संचालन में, व्यापार करने, तथा भवन निर्माण कला में आगे देखे जाते हैं। इसी प्रकार अनेक क्षत्रिय भी व्यापार करते थे। यही नहीं शूद्र भी व्यापार, शिल्प, कृषि तथा गोपालन के कार्य करते थे। चाण्डाल अवश्य अछूत थे जिनको समाज से दूर रहना पड़ता था।

देश में ब्राह्मण और क्षत्रियों का विशेष सम्मान था। दान प्रथा थी, पर विदेशी यात्री इस विषय में कुछ न कह सका। इससे स्पष्ट है कि उसका स्वरूप बड़ा पवित्र था। संपत्ति विभाजन होने पर विधवा को, तथा पुत्रों को बराबर भाग मिलता था। इस समय स्त्रियों का सम्मान बहुत उच्च न था। यद्यपि वे स्वतन्त्रता से कहीं भी आ-जा सकती थीं, पर उनका उपनयन अथवा वेदादि के पढ़ने का अधिकार कम हो गया था। सती होने का केवल एक उल्लेख है, ५१० ० में गोपराज की पत्नी सती हो गयी थी।

भोजन के विषय में यह निश्चित है कि जनता अधिकांश शाकाहारी थी। चीनी यात्री कहता है "कि समस्त देश में न कोई अधिवासी हिंसा करता था, व मदिरा पीता था और न लहसुन-प्याज ही खाता था" जनता में लोग सुअर व मुर्गी तक न पालते थे। आदि आदि।

वस्त्र-भूषा - इस समय तक भारतीयों पर विदेशियों की वेश-भूषा का काफी प्रभाव पड़ चुका था। शकों के कोट, पाजामें का प्रयोग, हमें गुप्त कालीन सिक्कों में दिखायी देता है। पर धोती, चादर, पगड़ी आदि भारतीय वेष का परित्याग भी न हुआ था। उत्सवों तथा विशेष अवसरों पर लोग

बहुधा प्राचीन ढंग की पोशाक पहनते थे। सामान्य तथा सूती वस्त्रों का प्रयोग अधिक था। उस समय की मूर्तियों, सिक्कों और चित्रों से स्त्रियों के वेष तथा सौन्दर्य का ज्ञान होता है। उनके लिए अनेक प्रकार के आभूषण बनते थे। आभूषण स्त्री पुरुष दोनों ही धारण करते थे। अजन्ता के चित्र तो यह प्रकट करते हैं कि आजकल की भाँति उस समय भी ओठों का रंगना और पाउडर के तरह की वस्तु का प्रयोग होता था।

कला तथा कारीगरी—सर जौन मार्शल का कमान इस स्थल पर युक्ति संगत होगा। वे कहते हैं "गुप्त काल भारतीय बुद्धि का पुनर्जागरण, और सच्चा पुनरुत्थान बतलाता है। और यह बुद्धि कुशलता उस समय की वास्तु कला, निर्माण कला, ज्ञान तथा विचार सभी में परिलक्षित है।

वस्तुतः भारतीय कला के इतिहास में उनकी वास्तुकला तथा मूर्तिकला अपनी बौद्धिक सूक्ष्मता, अपने सर्वांगीण सौन्दर्य और विचार के लिए सर्वोत्तम सिद्ध है, उससे हमें बहुत अंगों में ८०० वर्ष पूर्व प्राचीन ग्रीस की, अथवा हजार वर्ष पश्चात् इटली की कृतियों का स्मरण हो आता है।

ठीक भी है, गुप्तकाल कला की दृष्टि से चरम उन्नति पर था, और इसकी सबसे बडी विशेषता यह थी कि वह पूर्णतया भारतीयता लिये था।

वास्तु कला—गुप्तकालीन सम्राट स्वयं कला प्रेमी थे, अतः उनकी प्रजा पर उसका प्रभाव स्वाभाविक था। सांतवीं शताब्दी में आये चीनी यात्री का कथन है कि गुप्तों के शासनकाल में पांच विद्याओं के साथ साथ शिल्प शास्त्र की भी शिक्षा दी जाती थी। इसके प्रमाण हमें भवन, मन्दिर, गुफा आदि में मिलते हैं। यथा—१. कानपुर जिले का भितरगांव का मन्दिर, यह ईटों का बना है। उसकी छत शिखर युक्त है, तथा बाहर की दीवालों के ताखों में मिट्टी की मूर्तियाँ बनी हैं।

२. झांसी जिले में देवगढ़ का दशावतार मन्दिर है, यह एक ऊँचे चबूतरे पर बना है। उसके चारों ओर छते हैं, जो प्रदक्षिणा मार्ग का संकेत करती

1"Thus the Gupta age marked a reawakening, a true renaissance of the Indian intelletct and the new intellectualism was reflected in the arechitecture and the formative arts as much as in other spheres of knowledge and thought, Indeed it is precisely intheir intellectual qualities in their logical thought and logieal beauty, that the architecture and sculpture of the Gupta Age stand preeminent in the History of Indian Art, and that they remind us in many respects of the creations of Greece of 800 yrsearlier or of Italy a thousand yrs later"

हैं। इस मन्दिर के गर्भ गृह के ऊपर की चोटी ४० फीट ऊँची है। इसमें हिन्दू पद्धति की सभी बातें प्राप्त हैं, यथा गर्भगृह के पत्थर के खम्भे, जिनमें अनेक मूर्तियाँ बनी हैं, चौखट पर कमल की आकृति दर्शनीय है, यही अनन्त शायी विष्णु की प्रतिमा है।

३. **भूभरा का शिव मन्दिर**— यह मध्य प्रदेश में नागौर राज्य में टूटी फूटी अवस्था में शिव का मन्दिर है। इसमें गर्भगृह बचा है। इसके दरवाजे के खम्भे के दाहिनी ओर गंगा जिसमें मगर हैं, और बायीं ओर यमुना हैं जिसमें कछुआ है। ये मूर्तियाँ अब भी दर्शनीय हैं।

४. आज कल हम देखते हैं कि हर विष्णु मन्दिर में चोटी होती है, गुप्त काल में ही इन चोटियों का बनना प्रारम्भ हुआ। दक्षिण में **एक कपोतेश्वर का मन्दिर भी चौथी शताब्दी का है।**

५. गुप्तकालीन दूसरे धर्मों से सम्बन्धित कृतियाँ भी कम उल्लेखनीय नहीं हैं। यथा **राजगिर तथा सारनाथ के स्तूप**। सारनाथ के स्तूप धमेख स्तूप कहलाता है, यह १२८ फीट ऊँचा है। इसके चारों दिशाओं में चार ताख हैं, जिनमें बुद्ध की मूर्ति बनी है। इसके ऊपर के पत्थर वेल बूटों से सजे हैं। उन पर डंठल सहित कमल, तथा रेखाओं की अनेक आकृतियाँ बनी हैं। उस पर जलपक्षी भी बने हैं।

६. इस काल में गुफाओं का निर्माण भी हुआ। **अजन्ता की प्रसिद्ध गुफाएँ** वैसे तो अलग अलग समय में बनी हैं, पर **उसकी १९ वीं गुफा इसी काल की** कही जाती है। डा० त्रिपाठी का कथन है, **"इनमें संदेह नहीं कि वे अधिकतर विविध युगों में ठोस चट्टान काटकर बनाये गये परन्तु यह भी सही है कि इनमें से कुछ गुप्त काल में ही खोदे गये।"** और ये उस युग की असाधारण वास्तु कला प्रमाणित करते हैं। एक विशेषज्ञ की राय में अजन्ता की कला **"कृति में इतनी पूर्ण, परम्परा में इतनी निर्दोष, अभिप्राय में इतनी सजीव, तथा विविध और आकृति तथा वर्ण के सौन्दर्य में इतनी प्रसन्न हैं कि उसे संसार की सर्वोत्तम कृतियों में बरबस गिनना पड़ेगा।"** इसके अतिरिक्त इसी काल की चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा बनायी गयी भिलसा के पास उदयगिरि की गुफाएँ हैं। इन गुफाओं के दरवाजे के खम्भों तथा दीवालों पर अनेक मूर्तियाँ बनी हैं। इसमें चौखट के ऊपरी भाग में गंगा और यमुना की मूर्तियाँ हैं, तथा दीवालों पर विष्णु तथा महर्षि विमर्दिनी दुर्गा की मूर्तियाँ हैं। इस गुफा के बायीं तरफ बाराह अवतार की विष्णु की एक बहुत बड़ी मूर्ति बनी है। जिसमें विष्णु एक बाराह को दबाये हैं। इसके अतिरिक्त इस काल में अनेक स्तम्भ बने जिन पर गुप्त सम्राटों की कीर्ति अंकित है। यथा (दिल्ली का लौह स्तम्भ)

मूर्तिकला—मूर्तिकला भी इस काल में अपने उच्चशिखर पर पहुँच चुकी थी। मूर्तियाँ बनाने वाले न केवल बाहरी स्वरूप का चित्रण करते थे, बल्कि आन्तरिक भावनाओं को सजीव रूप दे देते थे। इस काल की मूर्तियों से सौन्दर्य के साथ गम्भीरता और शांति झलकती है। ये मूर्तियाँ धर्मों से सम्बन्धित हैं अर्थात् वे बौद्ध, जैन अथवा हिन्दू धर्म के लिए बनायी गयी हैं। इस समय तक्षण कला के तीन मुख्य केन्द्र थे। १. सारनाथ २. मथुरा, ३. पाटलिपुत्र। इन केन्द्रों में सर्वोत्तम मूर्तियां बुद्ध की बनी हैं। यथा मथुरा की खड़े हुए बुद्ध की मूर्ति, सारनाथ की धर्म का उपदेश करने की मुद्रा में (Pose) बैठी हुई बुद्ध की मूर्ति, और सुल्तान गंज की ७ फीट ऊँची तांबे की बुद्ध मूर्ति। इनमें आध्यात्मिक भावों का अच्छा प्रकाशन है। इसके अतिरिक्त बुद्ध की मूर्तियाँ गाँधार कला में अनेक बनायी गयीं पर इनमें वस्त्र चिकने और पारदर्शक हैं, तथा इनके केश दायीं ओर घूमे हुये हैं फिर गांधार कला में भौंहों के बीच टीका बना होता था, पर इस काल की मूर्तियों में नहीं रहा। यही नहीं इस काल की मूर्तियों का वक्षस्थल बहुत विशाल और शक्तिशाली दिखायी पड़ता है। गुप्त काल के पहिले इनका प्रभा मंडल (Halo) अलंकार से रहित होता था। गांधार कला के पत्थर से गुप्त काल के पत्थर में भी भिन्नता आ गयी थी। गुप्त काल के पूर्व गांधार में भूरे और मथुरा में लाल पत्थर की मूर्तियाँ बनायी गयीं, पर गुप्त काल में चुनार के सफेद पत्थर का उपयोग किया गया। बुद्धकी एक मूर्ति सारनाथके संग्रहालय में रखी है, यह धर्म चक्र प्रवर्तन (चक्र चलाने के पोज) मुद्रा में है। इसे हैवेल महोदय ने गुप्त काल की शिल्प कला का सर्वोत्तम नमूना माना है। इसमें उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व का प्रकाशन है, साथ ही गुप्त काल की ऊपर कही गयीं (वस्त्रादि की) सभी विशेषताएँ उसमें हैं। इसके अतिरिक्त इस समय की बुद्ध की अनेक मूर्तियाँ उनके अभय (भय से छुड़ाने वाली) वरद (वरदान देने वाली) तथा भूमि स्पर्श मुद्राओं में मिलती है।

(२) **जैन धर्म**—मूर्ति पूजा जैन धर्म में तो और भी पहिले से रही है। और इस काल में भी जैन थे। अतः गुप्त काल में इस धर्म के उपासकों ने अपने धर्म से सम्बन्धित अनेक मूर्तियां बनवायीं। यथा मथुरा की वर्धमान महावीर की मूर्ति, जो पद्मासन लगाये ध्यान मुद्रा में हैं। आसन के बीच एक चक्र बना है। साथ ही इसमें इसके बनाने का समय भी खुदा है।

(३) **हिन्दू धर्म**—इस काल में हिन्दू धर्म की तो प्रधानता थी ही, क्योंकि इस युगके सम्राट स्वयं इस धर्म को मानते थे। अतः हमें हिन्दू देवी देवताओं की मूर्तियां भी बहुत मिलती हैं। यथा—**उदय गिरि की विष्णु की मूर्ति**, जो मुकुट

गुप्त काल की कला का प्रतीक

(पृष्ठ १८७ के सामने)

और अधोवस्त्र पहने है। साथ ही इसके गले में हार शोभित है । देवगढ़ में तो शेषनाग पर सोते हुए विष्णु की मूर्ति बनायी गयी है। इसमें पैरों की तरफ लक्ष्मी बैठी हैं और नाभि से निकले हुए कमल पर ब्रह्मा की मूर्ति है। सामने और नीचे अनेक पुरुष बने हैं। इसके ऊपरी भाग में शिव, इन्द्र आदि देवों की मूर्तियाँ बनी हैं। इसी स्थान में गजेन्द्र मोक्ष और हिमालय में नर नारायण की मूर्तियाँ हैं। उदय गिरि में एक विष्णु के बाराह अवतार की भारी मूर्ति है, जिसका मुख बाराह जैसा है। यह बाराह एक स्त्री की मूर्ति को उठाये है। गुप्त काल में शिव को लिंग रूप में पूजा जाता था। करम दंड (फैजाबाद) के शिवलिंग का ऊपरी भाग गोलाकार और निचला भाग अष्ट-कोण है। नागोद के खोह में मिले एक मुख लिंग में मनुष्य की आकृति बनी है। उस पर रत्नजटित मुकुट है और बालों के जूड़े के ऊपर आधा चन्द्र बना है। उनके ललाट पर तीसरा नेत्र, गले में हार, और कानों में कुण्डल हैं। इनके होठ, इनकी आँखें तथा इनकी नाक कला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर बने हैं। इस काल में पत्थर की ही नहीं मिट्टी की भी अत्यन्त सुन्दर मूर्तियाँ बनीं, जो कहीं कहीं रंगीन भी हैं । ये भी अंग प्रत्यंगों को खूब सजीव दिखाती हैं।

चित्रकला—इस युग की चित्रकला का अनुमान हमें उस समय के साहित्य से हो जाता है। जैसे शूद्रक के मृच्छकटिक में वर्णित भवन कितने सुन्दर सजते थे। उनकी चित्रशाला और चित्रभूमि का वर्णन अनोखा है। वात्स्यायन के कामसूत्र से ज्ञात होता है कि उस समय चित्रकला का कितना वैज्ञानिक अध्ययन होता था। अजन्ता के कुछ चित्र भी इसी समय के हैं। इनमें साधारण जीवन के श्रृंगार, आमोद प्रमोद से लेकर राज सभा तक सभी सजीवता से चित्रित हैं। वस्तुत: यह चित्र नहीं चलचित्र का नमूना उपस्थित करते हैं। इन चित्रों में शारीरिक सौन्दर्य, पशुओं की सुघराई तथा पक्षियों की मनोहरता देखते ही बनती है। गुप्तकाल के चित्रों का दूसरा केन्द्र मध्य प्रदेश के अमझेरा जिले में बाघ नाम का गाँव है। यहाँ की गुफाएँ विन्ध्याचल की पहाड़ियों से काटकर बनायी गयीं है। इनमें से संख्या ४-५ के चित्र अभी भी भले बने हैं, शेष में कुछ मिट गये हैं। इन चित्रों के विषय में जैसा मार्शल महोदय का कहना है कि ये अजन्ता से कम नहीं हैं।

संगीत—जहाँ स्वयं सम्राट कवि और संगीतज्ञ था, वहाँ प्रजा क्यों न इसमें रुचि रखेगी। शूद्रक के मृच्छकटिक में लिखा है कि चारुदत्त संगीत का बहुत प्रेमी था। इसी प्रकार अन्य नाटकों तथा उत्सवों का मुख्य आधार संगीत ही था।

रंगमंच—इस समय के नाटकों से ही रंगमंच का भी अनुमान किया जा सकता है। शायद ही कोई नाटक ऐसा हो जो रंगमंच का अच्छा चित्रण नहीं देता। विशाखदत्त का मुद्राराक्षस भी इस दृष्टि से कम नहीं। इस समय अभिनय कला काफी उन्नति कर चुकी थी।

साहित्य तथा शिक्षा—इस समय के साहित्य का सृजन सम्राटों की संरक्षता में हुआ, और कवि तथा लेखकों को मनचाहा प्रोत्साहन मिला। साथ ही अन्य विषयों पर भी अत्यधिक लिखा गया। पीछे हम चन्द्रगुप्त के नवरत्नों की चर्चा कर चुके हैं। इनमें [1]कालिदास का नाम प्रमुख लिया जाता है। इनके ग्रन्थ भी विश्व विदित हैं, यथा रघुवंश, कुमार सम्भव, शकुन्तला, मेघदूत आदि। इस काल के दूसरे नाटककार शूद्रक हैं, इनका नाटक मृच्छकटिक है। तीसरे विशाख दत्त जिन्होंने मुद्राराक्षस और देवीचन्द्रगुप्तम् की रचना की है, इसी युग की शोभा हैं। इस काल के अन्त में भारवि हुए जिनका कठिन काव्य किरातार्जुनीय है। भट्टिका काव्य का लेखक भट्टि भी इसी समय हुआ। महाकवि भर्तृहरि ने भी इसी युग को अपने नीति वैराग्य के शतकों से अलंकृत किया।

इनके अतिरिक्त कुछ प्रशस्ति लिखने वाले कवि भी उल्लेखनीय हैं जैसे हरिषेण, जिन्होंने समुद्रगुप्त की कीर्ति प्रयाग स्तम्भ पर लिखी। दूसरे वत्स भाई द्वारा मंदसौर प्रशस्ति कुमारगुप्त के शासनकाल में लिखी गयी। तीसरे मालवा के जनेन्द्र यशोवर्मन की प्रशस्ति वासुल ने लिखी। ये प्रशस्तियाँ भी कविता की दृष्टि सें उच्चकोटि की है।

---

१ **कालिदास**—इनके समय के विषय में बड़ा ही विवाद है पर ध्रुव निश्चित है कि यह दूसरी शताब्दी ई० पू० के पश्चात् और छठी के पूर्व हुए, क्योंकि एक ओर अपने मालविकाग्निमित्र नाटक में वह अग्निमित्र को नायक बनाते हैं। और अग्निमित्र की तिथि १४८ से १३६ ई० पू० है। दूसरी ओर बाण भट्ट ने इनकी कविता की प्रशंसा की है। **"निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु प्रीति मधुर सान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते।"** अतः इनका तिथिक्रम इसी बीच पड़ता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मत उल्लेखनीय हैं।

१. सर विलियम जोन्स। आप इन्हें विक्रमादित्य की सभा का सभासद् स्वीकार कर ईसवी सन् से पूर्व का मानते हैं, इसी का समर्थन श्री नंदर्गीकर ने भी किया है।

२. डा० वेवर, जैकोबी, और मानिअर विलियम्स ने इनका समय ईसवी द्वितीय शतक से चतुर्थ शतक के बीच माना है।

३. डा० मैकडोवल के अनुसार कालिदास पाँचवी शती में हुए, क्योंकि

इसी काल में हम देखते हैं कि हमारे पुराणों का अन्तिम संस्करण हुआ क्योंकि हमें चार पुराणों में अर्थात् वायु, (भविष्य, विष्णु और भागवत) गुप्त काल के राजाओं का वर्णन भी मिलता है। इसके अतिरिक्त इसी युग में नारद, वृहस्पति, और कात्यायन स्मृतियाँ बनीं। कहा जाता है कि कामोदक के नीति शास्त्र की रचना इसी युग में हुई। यद्यपि वह निश्चित नहीं है। यह ग्रन्थ नीति के लिए इतना उपयोगी समझा गया कि इसका अनुवाद इंडोनेशिया के वाली द्वीप की भाषा में किया गया जो आज भी उपलब्ध है। सबसे उत्तम रचना इस युग की संस्कृत के अमरकोष की है जिसे अमरसिंह ने बनाया। यही नहीं इस युग में अनेक गणित, विज्ञान आदि के ग्रंथ कर्त्ता भी हुए। गणित

वत्सभट्टि के शिला लेख पर मालव सम्वत ५२९ (ईसवी ४७३) खुदा है, और उसकी भाषा कालिदास की भाषा से मिलती-जुलती है।

४. डा० हार्नले ने कालिदास को गुप्त राजाओं का आश्रित माना है, और स्कन्द, विक्रमादित्य, शिव के भक्त, गुप्त, गोप तथा रघु विजय (हूणों पर) जैसे वर्णन इसका समर्थन करते हैं।

५. ए. सी. चटर्जी का कथन है कि कालिदास मालव नरेश यशोवर्मन के काल में थे, अतः उनका समय ईसा की छठी शताब्दी ठहरता है।

६. पं० रामचन्द्र विनायक पटवर्धन ने **"आशाढस्य प्रथम दिवसे प्रत्यासन्ने नमसि"** के आधार पर ज्योतिष की गणना करके सिद्ध किया है कि कालिदास को उत्पन्न हुए १८०० वर्ष से अधिक हो गये। इस स्थल पर अधिक विवाद में न पड़कर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि दो कालों का प्रमाण अधिक प्राप्त होता है।

१ गुप्त काल
२. ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी

प्रथम मत (गुप्तकाल)

गुप्तकाल के समर्थक कीक महोदय भी हैं। आपके मत का सारांश यह है कि शकों को भारत से निकालकर विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने वाले तथा मालव सम्वत् को सम्वत् के नाम से प्रचलित करनेवाले चन्द्रगुप्त विक्रम द्वितीय (३७५-४१४ ई०) थे। उनके अनुसार कुमार सम्भव की रचना कुमारगुप्त के जन्म को लक्ष्य में रखकर ही गयी। साथ ही कालिदास ने गुप् धातु का बार बार प्रयोग किया है। कालिदास द्वारा रघुवंश के रघुविजय तथा हरिषेण द्वारा प्रयाग पर स्तम्भ समुद्रगुप्त की विजय के वर्णनों में बहुत कुछ समानता है।

में पाटिल पुत्र का निवासी आर्यभट्ट था। इसके ग्रंथ आर्यभट्टीय के दो खण्ड है। १. दशगणिका सूत्र २. आर्याष्ट शत। पहिले खण्ड में अंक के स्थान की चर्चा है, दूसरे में गणित और काल की। आर्य भट्ट ने १-९ तक के अंकों स्थान, शून्य, और पाई (π) का बतलाया। उसने ग्रहण (सूर्य चन्द्र) का पौराणिक आधार छोड़कर उनका वैज्ञानिक समय निकाला, और उनके कारणों

फिर कालिदास के वर्णनों में सुख शान्ति भी गुप्त काल की सूचक है। यही नहीं कालिदास के इन्दुमती के स्वयम्बर वर्णन में इन्दु द्वारा चन्द्र का संकेत, मालविकाग्निमित्र में वर्णित अग्निमित्र के विवाह से रुद्रसेन वाकाटक तथा प्रभावती गुप्ता के विवाह पर दृष्टि, अश्वमेध वर्णन द्वारा समुद्रगुप्त के अश्वमेध की ओर संकेत, आदि से कालिदास को गुप्त कालीन कहा जा सकता है, पर ऐसा मानने में कुछ आपत्तियाँ भी हैं।

(१) यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि चन्द्रगुप्त जैसे पराक्रमी सम्राट ने स्वयं अपना सम्वत् न चलाकर मालव सम्वत् को अपने नाम से प्रचलित किया हो, साथ ही चन्द्रगुप्त प्रथम ने स्वयं गुप्त सम्वत् प्रचलित किया था, अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय अपने पितामह के चलाये हुए सम्वत् को छोड़कर दूसरे के सम्वत् को कैसे अपनायेगा।

(२) कालिदास ने कुमार शब्द का प्रयोग सुत अर्थात् पुत्र के साधारण अर्थ में किया है किसी विशेष प्रयोजन से नहीं।

(३) मालविकाग्नि मित्र में जिस अश्वमेध का वर्णन तथा जिस यवन पराजय का उल्लेख है, उसका वस्तुतः सम्बन्ध पुष्यमित्र शुंग से है। कालिदास कृत रघु का दिग्विजय वर्णन ऐतिहासिक होता हुआ भी एक कवित्व पूर्ण वर्णन है।

(४) किसी गुप्त सम्राट का नाम विक्रमादित्य नहीं था। चन्द्रगुप्त द्वितीय को उपाधि प्रचलित होने के लिए यह आवश्यक है कि उस नाम का कोई लोक प्रसिद्ध व्यक्ति पहिले हो चुका हो।

दूसरा (प्रथम शताब्दी का) मत

यह भारत में लोक प्रसिद्ध है कि कोई महाराज विक्रमादित्य उज्जयिनी के राजा थे, जिन्होंने शकों को पराजित कर अपनी विजय उपलक्ष्य में ५७ ई० पू० के विक्रमी सम्वत् का प्रचलन किया। यही विक्रमादित्य कालिदास के संरक्षक भी थे। जैन ग्रंथों ने इस बात की पर्याप्त पुष्टि की है। मेरुतुंगाचार्य विरचित पद्मावती से विदित होता है कि उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से उज्जयिनी का राज्य लिया था। यह घटना महावीर के निर्वाण के ४७० वर्ष में (५२७-४७० = ५७) ई० पू० में हुई थी। दूसरे अश्वघोष निश्चित रूप से कनिष्क कुषाण के समकालीन थे जो प्रथम शताब्दी

पर प्रकाश डाला। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उसने अपना ग्रंथ चौबीस वर्ष की आयु में लिख डाला था। इस युग का दूसरा विज्ञान वेत्ता (ज्योतिषी) वाराहमिहिर हुआ। यह गणित ज्योतिष में इतना दक्ष न था जितना फलित में। उसके ग्रंथ पंच सिद्धान्तिका में उस समय के रोमन, वसिष्ठ आदि पाँच प्रकार के सिद्धान्तों का वर्णन है। उसके दो ग्रंथ और हैं (१) वृहत जातक (२) लघु जातक। इसके वृहत जातक में ज्ञान भाण्डार है। इसके सुन्दर छन्दों में वास्तु वा तक्षण कला, लौह विद्या, शरीर विद्या, नक्षत्रों की गति, आदि अनेक बातें हैं।

इस काल में आयुर्वेद के विद्वान भी हुए। एक ग्रंथ नवनीतकम् जो पूर्वी तुर्किस्तान में मिला है, अनेक औषधियाँ और रोगों की विवेचना करता है। फिर वाग्भट्ट का अष्टाँग संग्रह इसी युग का है। पालकापय ने हाथियों के विषय का विशेष ज्ञान प्रदर्शित किया है।

दर्शन—हमारे यहाँ का दर्शन शास्त्र शुंगकाल तक बन चुका था, (न्याय, योग आदि) इनमें अनेक पर इस युग में भाष्य, लिखे गये। विशेष-कर हम देखते हैं कि मीमांसा ग्रंथ के २७४५ सूत्रों पर शवर स्वामी ने विशद भाष्य लिखा। इसी काल में ईश्वर कृष्ण ने साँख्य दर्शन पर साँख्य-कारिका लिखी। योग पर व्यास भाष्य, और वैशेषिक पर पदार्थ धर्म संग्रह भी इसी काल की रचनाएँ हैं।

बौद्ध साहित्य—बौद्ध साहित्य की रचना इस युग से बहुत पहिले प्रारम्भ हो चुकी थी, पर उसमें गुप्त काल की शान्ति, समृद्धि तथा धार्मिक उदारता ने और भी प्रोत्साहन दिया। चूंकि इस काल में वैदिक धर्म का प्रचार भी कम न था, अतः सिद्धान्तों के खंडन मण्डन में ही तमाम साहित्य की रचना हो गई। कनिष्क काल में बौद्ध धर्म दो भागों में बँट चुका था। हीनयान तथा महायान। गुप्तकाल इनके भी और विभाग बन गये। हीनयान के थेरवाद और सवस्तिवाद, और महायान के माध्यमिक और योग्याचार।

इसमें योगाचार का जन्म विशेष रूप से इसी काल में हुआ। इसके

ई० के लगभग कभी हुआ। अश्वघोष तथा कालिदास के काव्यों में समानता देखकर श्री क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय का मत है, कि अश्वघोष ने कालिदास का अनुकरण किया होगा। अतः कालिदास का काल प्रथम शताब्दी ई० पू० होना चाहिये। पर यह अनुकरण संदिग्ध है। और कालिदास अपने ग्रंथों में शकों का कहीं उल्लेख नहीं करते और न उनके द्वारा वर्णित समृद्धि पहिली शताब्दी में थी। अतः यह मत भी बहुत ठोस आधारों पर आधारित नहीं है।

जन्मदाता आचार्य मैत्रेय थे। आपका कथन था कि ज्ञान उसी व्यक्ति को प्राप्त हो सकता है, जो योग का अभ्यास करे। आपने संस्कृत में अनेक ग्रंथ लिखे जिनमें अभिसमयालंकारकारिका प्रमुख है। इसी दर्शन के आचार्य असंग भी हुये, आपके रचे ग्रन्थों का चीनी अनुवाद ही उपलब्ध है। आपके छोटे भाई वसुबन्धु थे, जो शास्त्रार्थ में बड़े ही निपुण थे। वसुबन्धु यद्यपि पेशावर में जन्मे थे, पर सारे जीवन अयोध्या में रहे। ये चन्द्रगुप्त के आचार्य थे। आपने हीनयान और महायान पर अनेक ग्रन्थों की रचना की। इस समय के हीनयान के स्थविर सम्प्रदाय के आचार्यों में बुद्धघोष, बुद्ध दत्त और धर्मपाल का नाम प्रसिद्ध है। बुद्धघोष मगध के निवासी थे, आप संस्कृत तथा पाली के प्रकांड पण्डित थे। आपने अपने ग्रन्थों में उस समय का राजनीति आदि का विवरण भी दिया है। आप लंका की यात्रा करने गये थे, वहाँ पर सिंघल भाषा की अट्ठ कथा का अध्ययन कर आपने उसका पाली में अनुवाद किया था। महायान के विद्वानों में वसुबन्धु के शिष्य स्थिरमति ने अपने गुरु के ग्रन्थों की व्याख्या की। आचार्य दिङनाग बौद्ध धर्म के बहुत बड़े विद्वान हुए। आप काञ्ची के निवासी थे। आपके अनेक ग्रन्थों में प्रमाण समुच्चय बहुत महत्वपूर्ण है। आपने ब्राह्मण दार्शनिकों की आलोचना का बड़ी युक्तियों से उत्तर दिया। यह युग वस्तुतः बौद्ध साहित्य के चरम उत्कर्ष का युग था। इसी समय अनेक बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। जो बौद्ध भिक्षु यहाँ से चीन गये थे, उनमें कुमार जीवे परमार्थ, बुद्धभद्र, बुद्धयश, धर्मरक्षा, गुणवर्मन, गुणभद्र, बोधिधर्म, संघपाल, उपशून्य आदि प्रमुख थे।

जैन साहित्य—यह काल जैन साहित्य के लिए भी कम महत्व का नहीं रहा। इस समय मथुरा और वलभी के संघों द्वारा जैन आगमों का अन्तिम

---

१ – **कुमारजीव**—आपके पिता भारत के किसी राजा के मंत्री थे, येची नी तुर्किस्तान के कूचा नगर में जा बसे थे। जब कुमार जी केवल सात वर्ष के थे तो अपनी माता के साथ भिक्षु बन गये। ३८३ ई० में चीनी सेनापति ने कूचा पर आक्रमण किया। और ये चीन ले जाए गए। वहाँ जाकर ये राजगुरु बन गये। वहाँ के राजा ने इनसे संस्कृत ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद करने को कहा और सहायता के लिए ८०० भिक्षु दे दिए। इस मंडल द्वारा सकड़ों संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में किया गया। कुमार जीव ने चीनियों के सामने अपने बौद्ध धर्म के आचार्य अश्वघोस, नागार्जुन, आर्यदेव और वसुबन्धु आदि का जीवन चरित रखा, आपका देहावसान ४१५ ई० में हुआ।

संस्करण किया गया। इस समय इनके आचार्यों ने एक संस्कृत व्याकरण की रचना भी की। यह व्याकरण जैनेन्द्र व्याकरण कहलाता है। जिसे देवनन्दि ने बनाया था। इस काल से पहिले इनका दर्शन शास्त्र अलग न था, पर इसी समय से इनके न्याय ग्रंथ बने। और इनके दर्शन ने स्वतंत्र रूप ग्रहण किया। इनके तर्कशास्त्र के जन्मदाता सिद्धसेन दिवाकर कहे जाते हैं। आपने ३२ ग्रंथों की रचना की जिनमें २१ आज भी उपलब्ध हैं। आपकी सबसे प्रमुख रचना न्यायावतार है।

शिक्षा—जहाँ इतना विशद साहित्य पनप चुका हो। वहाँ के शिक्षा के उच्च स्तर में सन्देह की बात नहीं। इस समय की शिक्षा के प्रारंभिक रूप के लिए कोई अभिलेख तो प्राप्त नहीं हैं। पर स्मृति ग्रंथों से (नारद) इस समय के ब्रह्मचर्य आश्रम में शिक्षा का ज्ञान हमें होता है। इस देश की शिक्षा का महात्म्य इससे और विदित होता है कि यहाँ विदेशों से भी सैकड़ों विद्यार्थी शिक्षा दीक्षा ग्रहण करने आते थे। फाह्यान ने अनेक संथागारों का वर्णन किया है, जिनमें शिक्षा दी जाती थी।

इस समय सबसे पहिले विद्यार्थी को अक्षरों का ज्ञान कराया जाता था, फिर गणित का। **ललित विस्तर** में इस समय की प्रारंभिक पाठशाला के लिए **लिपि शाला** और अध्यापक के लिए दारकाचार्य शब्दों का प्रयोग हुआ है।

इस समय शिल्प शिक्षा का भी बहुत प्रचार था, और यह शिक्षा शिल्पियों के घर ही होती थी। सामान्यरूप से शिक्षा-दीक्षा का कार्य ब्राह्मण करते थे। उन्हें राजाश्रय प्राप्त होता था और इतना पर्याप्त धन दे दिया जाता था, कि वे अपनी जीविका की चिन्ता न करें। पर वे सादा जीवन और उच्च विचार के अनुगामी थे।

इस समय के उच्च शिक्षा के विद्यालय बहुधा राजधानियों और बड़े बड़े नगरों में थे। यथा-पाटलिपुत्र, काशी, मथुरा, बलभी, नासिक, काँची आदि। इस समय तक तक्षशिला विश्वविद्यालय मिट चुका था, क्योंकि फाह्यान उसके विषय में कुछ नहीं कहता। उसके अनुसार उच्च शिक्षा के केन्द्र बौद्ध विहार थे। इस समय नालंदा † और वलभी अधिक प्रसिद्ध थे, जहाँ पुराण, इतिहास,

---

† नालंदा—यह विहार में है, इसमें एक समय १०००० विद्यार्थी रहते थे, यहाँ सैकड़ों अध्यापकों द्वारा अध्यापन कार्य होता था। इस विद्यालय में चीन, जापान, मंगोलिया आदि दूर-देशों के भी विद्यार्थी आते थे, जिनको इसमें प्रवेश पाने के लिए परीक्षा देनी होती थी और १०० प्रार्थियों में कहीं इसमें १५ लिये जाते थे, वह दर्शन का केन्द्र था, और इसके व्यय के लिए राज्य की ओर से कई गाँव लगा दिये गये थे।

स्मृति, व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष, सभी का अध्यापन होता था। इसके अतिरिक्त वे हस्तकला, प्रस्तरकला, आयुर्वेद, और ज्योतिष भी सीखते थे।

इस समय स्त्री शिक्षा में साधारण शिक्षा के साथ उन्हें शिल्प की भी शिक्षा दी जाती थी। नाटकों में हम स्त्रियों को भी सुशिक्षित पाते हैं।

इस समय राजकुमारों को शिक्षा बड़ी सावधानी से दी जाती थी, उन्हें धनुर्वेद, तर्क, दण्डनीति, आदि सभी का ज्ञान होता था। मृच्छकटिक में शूद्रक के द्वारा राजा को वेद, गणित, कला, हस्तिविद्या सभी में निपुण बताया गया है।

धर्मः—इस काल में जनता की दिनचर्या धार्मिक थी। और किसी विशेष धर्म का आरोप न होकर सभी को समान रूप से स्वतंत्रता थी। पर बौद्ध और जैन धर्मों के विरुद्ध जो आन्दोलन शुंग काल में प्रारम्भ हो चुका था, और जो श्रद्धा पौराणिक धर्म में उत्पन्न हो चुकी थी उसकी धारा अब बड़े वेग से बहने लगी थी।

हिन्दू धर्म—इस धर्म के उपासक होने के नाते गुप्त सम्राटों ने अश्वमेध वाजपेय, यज्ञ किये। पर जनता को अब यज्ञों से इतनी रुचि न रह गयी थी। अतः इस समय के आचार्यों ने जनता के सहारे के लिए अनेक देवी, देवताओं की कल्पना की। यथा जापति, विष्णु, शिव। यही नहीं धार्मिक उत्सव, तीर्थ यात्राएँ, मन्दिरों में देव पूजन, रामायण तथा महाभारत की कथाओं का सुनाना आदि में उनको लगा दिया। इस धर्म के आचार्यों को अनेक दान दक्षिणाएँ भी दी जाती थीं, इस प्रकार वैदिक धर्म को कर्मकाण्ड के कठोर रूप से जनप्रिय के सरल रूप में लाकर खड़ा कर दिया गया। गुप्त सम्राटों ने अपनी श्रद्धा का संकेत देवताओं की प्रतिमा को अपने सिक्कों में स्थान देकर दिया है। हिन्दू धर्म के भी इस समय दो अंग थे। (१) शैव (२) वैष्णव, इनमें शैव की अपेक्षा विष्णु के उपासक अधिक थे, क्योंकि हम देखते हैं कि विष्णुपद, विष्णु-ध्वज, (जूनागढ़ लेख में) विष्णु की प्रार्थना, आदि सम्राटों को प्रिय थे। लोगों का विश्वास विष्णु के अवतारों, तथा विष्णु मन्दिरों में दिखाई देता है। उदय गिरि की गुहा में विष्णु बाराह की मूर्त्ति भी इसी का प्रमाण है। सारनाथ के संग्रहालय में गुप्तकाल की बनी गोवर्द्धन-धारी कृष्ण की मूर्ति है। पर शिव की पूजा भी कम न थी। हमें इसके लिए अनेक प्रमाण मिलते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मंत्री वीरसेन ने शिव की पूजा के निमित्त उदयगिरि में एक गुहा मन्दिर बनवाया था। अहिच्छत्र में पार्वती की मिट्टी की मूर्तियाँ तथा शिवलिंग मिले हैं। अजमेर संग्रहालय में उस समय के बने चतुर्मुखी शिवलिंग रखे हैं। शिवलिंग की एक प्रतिमा करमदण्डा में मिली है, जिसे कुमारगुप्त प्रथम के मंत्री एवं सेनापति पृथ्वीसेन ने बनवाया था।

इस समय शिव और विष्णु के अतिरिक्त सूर्य की भी पूजा बहुत प्रचलित थी। इसका प्रमाण हमें कुमारगुप्त के मंदसौर के अभिलेख से, तथा स्कन्दगुप्त के इन्दौर वाले ताम्र पत्र से स्पष्ट मिल जाता है। उदयगिरि और भूमरा में तो दुर्गा की भी प्रतिमाएँ मिली हैं। हिन्दू धर्म में उस समय नागों की भी पूजा होती थी। इसके अतिरिक्त तीन बार संध्या, पंचमहायज्ञ, तथा जन्म, जनेऊ (यज्ञोपवीत—Sacred thread) विवाह आदि अवसरों पर अनुष्ठान होते थे।

जैन धर्म—इस समय **जैन धर्म** अपनी रक्षा जिस किसी प्रकार कर रहा था, क्योंकि उसके नियम पालन करना साधारण जनता का काम न था। साथ ही विदेशी आक्रमणों के कारण यह अब भारत के दक्षिण ओर खिसक रहा था। इस समय जैन धर्म के इतिहास की सबसे बड़ी घटना बलभी की सभा है। इसी के पश्चात जैन धर्म में न्याय दर्शन का जन्म हुआ। इस समय भी दान आदि से इसके प्रचार का प्रमाण मिलता है। फिर उदयगिरि में पार्श्वनाथ की मूर्ति, कहौम (गोरखपुर) में भद्र के द्वारा आदि कर्त्ता की मूर्ति तथा स्तम्भ स्थापना, फाह्यान द्वारा जैन देवताओं का उल्लेख इसके प्रबल प्रमाण हैं। इस समय जैन स्वतन्त्रता से भजन, पूजन, व्रत तथा दान पुण्य द्वारा अपना धर्म पालन करते थे।

बौद्ध धर्म—इस समय बौद्ध धर्म के केन्द्र काश्मीर, अफगानिस्तान और पंजाब थे। बुद्ध घोष के काल में (५ वीं शती) भिक्षुणियों का दमन बन्द हो गया था। बौद्ध मूर्तियों की चर्चा हम कर चुके हैं। साथ इनके अनेक आचार्य दर्शन शास्त्र के पण्डित थे। इस समय धार्मिक स्वतन्त्रता थी, जैसा कि हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सेनापति अम्रकार्दव बौद्ध था। फिर नालंदा में बुद्ध विहार इसी काल में स्थापित हुए। पर अन्त में कहना न होगा कि वैदिक धर्म ने बुद्ध धर्म को दबाना प्रारम्भ कर दिया था।

हूण तथा अन्तिम गुप्त सम्राट्

पुरगुप्त (४६७ ई०) पुरगुप्त स्कन्दगुप्त का सौतेला भाई था जो ४६७ ई० में गद्दी पर बैठा। इसके सिक्कों पर प्रकाशादित्य और विक्रम की उपाधियां मिलती हैं। विक्रम शब्द से प्रकट होता है शायद इसे भी हूणों से लड़ना पड़ा। इसके समय में सुदूर प्रान्त स्वतन्त्र होने लगे थे ऐसा जान पड़ता है। सैदपुर भीतरी में जहां स्कन्द गुप्त का स्तम्भ खड़ा है, एक मुहर मिली है, उस पर गुप्त राजाओं की वंशावलि दी है, पर स्कन्दगुप्त का उसमें नाम नहीं है। इससे कुछ लोगों

अनुमान है कि दोनों भाइयों में मेल न था, और परस्पर कलह के बाद पूर्व में पुरगुप्त तथा पश्चिम में स्कन्दगुप्त का राज्य था।

नरसिंह गुप्त बालादित्य—पुरगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र नरसिंह गुप्त गद्दी पर बैठा। इसका ज्ञान हमें केवल उसके सिक्कों से होता है। इसने केवल चार वर्ष शासन किया। ह्यूनसांग का कथन है कि मगध में राजा बालादित्य ने हूण राज मिहिर कुल को हराया और मालन्दा विश्वविद्यालय में ३०० फीट ऊँचा विशाल मन्दिर बनवाया। पर यह नरसिंह बालादित्य हूण विजेता बालादित्य न था।

कुमार गुप्त द्वितीय—नरसिंह गुप्त के बाद उसका पुत्र कुमारगुप्त द्वितीय राजा हुआ। उसकी माता का नाम महालक्ष्मी था। सारनाथ के एक लेख में उसका नाम है, इस लेख का कुमारगुप्त ही नरसिंह गुप्त का पुत्र कुमार गुप्त द्वितीय है। यह लेख गुप्त संवत १५४ अर्थात् ४७३-४ ई० का है। मन्दसौर का प्रसिद्ध लेख इसी राजा के शासन काल का है। इसके शासन काल में रेशम के जुलाहों की श्रेणी ने दशपुर के सूर्य मन्दिर का पुनरुद्धार कराया। इस मन्दसौर के काव्य लेख का रचयिता कवि वत्सभट्टि था।

बुधगुप्त—कुमार गुप्त द्वितीय के बाद इस वंश का दूसरा राजा बुध गुप्त हुआ, पर कुमार गुप्त द्वितीय और बुध गुप्त के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं। ह्यून साँग के अनुसार वह कुमारगुप्त प्रथम का पुत्र था। उसके अभिलेखों से पता चलता है कि उसने गुप्त वंश की गिरती हुई अवस्था को सम्हाला, और ४७६ से ४६४ ई० तक शासन किया।

भानुगुप्त—बुध गुप्त के पश्चात् भानुगुप्त गद्दी पर बैठा। इनका भी सम्बन्ध नहीं बताया जा सकता। इसके शासन काल में हूणों ने मालवा छीन लिया। इसका प्रमाण यह है कि मातृविष्णु बुधगुप्त का सामन्त था, पर उसका छोटा भाई धन्यविष्णु हूणराज तोरमाण का माण्डलिक था। ५१० ई० के एरण लेख से विदित होता है कि अर्जुन के तुल्य वीर श्रीभानुगुप्त के साथ उसका सेनापति गोपराज एरण में आया और शत्रु से लड़कर वीरगति प्राप्त की। यह युद्ध हूणों का ही युद्ध था। इससे सिद्ध होता है कि मालवा, गुजरात सौराष्ट्र आदि से गुप्त शासन इसी के समय उठा। भानुगुप्त का शासन काल ४६५-५१० ई० रहा।

भानुगुप्त के पश्चात् गुप्त साम्राज्य का सूर्य अस्त सा हो गया। कुछ सिक्के और मुहरों से जिन राजाओं के नाम ज्ञात हुए हैं वे नगरण्य हैं।

गुप्त सम्राटों की वंश सूची
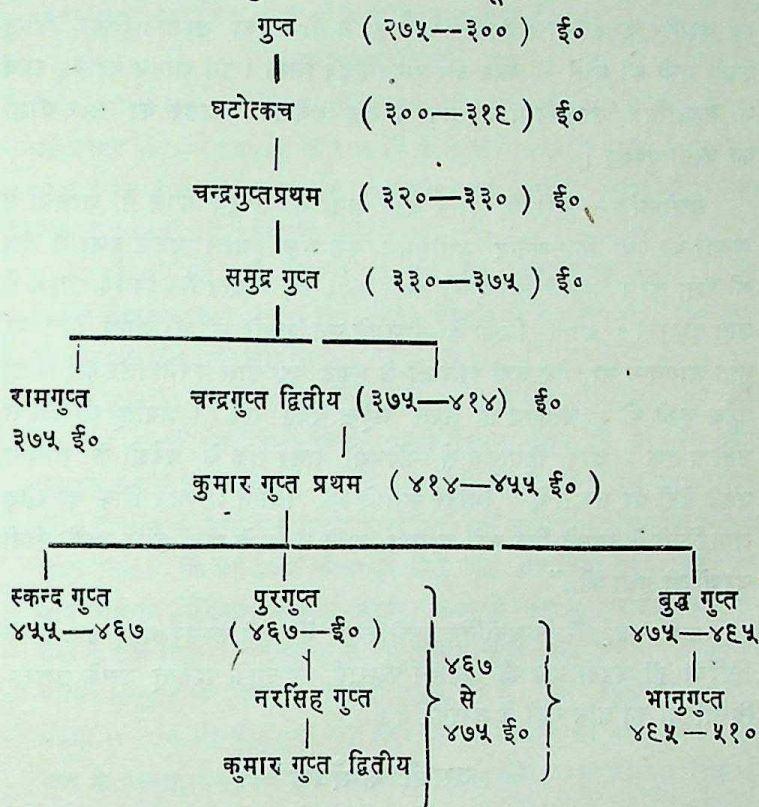
हूण राज्य

तोरमाण—अन्तिम गुप्त सम्राटों के काल में हूणों ने बार-बार आक्रमण किये। और गुप्तों की गिरती हुई शक्ति से लाभ उठाया। उनके एक सरदार तोरमाण ने आखिर ४८५ ई० के लगभग अपना शासन पश्चिमी भारत में जमा दिया। मध्य भारत के भी अनेक भाग उसके शासन में शामिल हो गये। यह उथल-पुथल जैसा कहा जा चुका है भानुगुप्त के समय हुई।

मिहिरकुल—तोरमाण के पश्चात् उसका पुत्र मिहिर कुल गद्दी पर बैठा। वह पिता से अधिक क्रूर था। ह्यू न साँग और कल्हण दोनों ने उसकी निर्दयता का वर्णन किया है। चीनी यात्री के अनुसार वह बौद्धों का वध कराता तथा उनके विहारों को जलवा देता था। यही नहीं वह हाथियों को पहाड़ पर चढ़ा कर नीचे गिरवा देता था।

ह्यन साँग का कथन है कि उसने मगध के राजा बालादित्य पर आक्रमण

किया पर बन्दी बना लिया गया। अन्ततः बालादित्य ने उसे छोड़ दिया, और वह कश्मीर चला गया। कश्मीर के राजा ने तो उसका सम्मान किया, किन्तु उसने उसी को धोखे से मार कर राज्य हड़प लिया। इस शासन का वह स्वयं भी बहुत दिन उपभोग न कर सका। यह शिव का उपासक था और बौद्धों का जानी दुश्मन।

यशोधर्मन—गुप्तों के ह्रास और हूणों के उपद्रव काल में मालवा में जनता का एक नेता जनेन्द्र यशोधर्मन उठ खड़ा हुआ। उसने हूणों से देश की रक्षा की। उसकी विजय का वर्णन ५३३ ई० के मन्दसौर विजय स्तम्भ से ज्ञात होता है। उसमें लिखा है—**"उसने उन प्रान्तों को भी जीता जिन पर गुप्त शासन न था और जहाँ राजाओं के मुकुट को नाश करनेवाली हूण आज्ञा पहुँच चुकी थी। लौहित्य से लेकर महेन्द्र पर्वत तक (अर्थात् आसाम से उड़ीसा तक) और हिमालय से पश्चिमी समुद्र तक के प्रदेशों के सामन्त उसके पैरों पर लोटते थे। मिहिर कुल ने भी, जिसने भगवान शिव को छोड़ अन्य किसी के सामने सिर नहीं झुकाया, अपने मुकुट के पुष्पों द्वारा उसके दोनों चरणों की पूजा की।"**

इस समय की राजनीतिक परिस्थिति में यही सम्भव था। अतः उसने निश्चित ही अपनी यश की पताका फहराई, पर उसके पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों का ज्ञान नहीं के बराबर है।

बलभी के मैत्रक

कहा जा चुका है कि गुप्तों की केन्द्रीय शक्ति क्षीण होने पर कई सामन्तों और सेनापतियों ने दूर-दूर के प्रान्तों में स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली। बलभी (सुराष्ट्र में भावनगर के दास) ४८५ ई० के लगभग सेनापति भटार्थ ने, जो मैत्रक वंश का था, एक राज्य की स्थापना की। बलभी के राजा ध्रुवसेन और द्रोण सेन गुप्तों के सामन्त थे। कुछ समय पश्चात् उन्हें हूणों की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। हूणों के पतन के पश्चात् वे सर्वथा स्वतन्त्र हो गये। यहाँ का ध्रुवसेन द्वितीय हर्ष का समकालीन था। पहले उसका हर्ष से संघर्ष हुआ, और हर्ष ने उसे पराजित भी किया पर बाद को उसने अपनी शक्ति पुनः प्राप्त कर ली और हर्ष की कन्या से विवाह कर लिया। इसके विषय में ह्यूनसाँग लिखता है, **"राजा जन्म से क्षत्रिय था, और मालवा के पूर्ववर्ती राजा शीलादित्य का भतीजा तथा कान्यकुब्ज के शीलादित्य का जामाता था। उसका नाम ध्रुवभट था। उसके विचारों में न गहराई थी, न दूरदर्शिता, पर बौद्ध धर्म में उसकी आस्था गहरी थी।**

वस्तुतः उत्तर में कन्नौज तथा दक्षिण में चालुक्यों के बीच इसका भी महत्त्व था। यह राज्य अरब आक्रमण के समय नष्ट हो गया।

मगध के पिछले गुप्त

गुप्तों के मूल वंश के पतन के पश्चात् इस वंश की एक शाखा ने मगध पर शासन किया। इस वंश के राजाओं के नाम में गुप्त लगा हुआ है। अतः यह स्पष्ट है कि ये गुप्तों के वंशज थे। इस वंश का संस्थापक कृष्णगुप्त था जिसने लगभग ५३० ई० में राज्य की सत्ता सम्हाली।

कृष्ण गुप्त के उत्तराधिकारी हर्ष गुप्त और जीवितगुप्त के काल में गोंडों से इस वंश का संघर्ष चलता रहा। इसने मौखरियों से मैत्री की, और उनकी सहायता से गोंडों को हरा दिया।

कुछ समय पश्चात् कुमार गुप्त गद्दी पर बैठा, उसे मौखरियों की शक्ति भी सहन न हुई, अतः उसने मौखरी राजा ईशान वर्मन को पराजित किया। पर वह प्रयाग तक ही गया था कि उसका भी देहान्त हो गया। कुमार गुप्त के काल में चीन के सम्राट वुती का भेजा हुआ एक प्रतिनिधि मंडल आया। इससे ज्ञात होता है, कि इस समय भी मगध बौद्ध धर्म का केन्द्र था। यह मण्डल बौद्ध धर्म के ग्रंथों का अनुवाद चीनी भाषा में कराना चाहता था, फलतः यहाँ से एक विद्वान परमार्थ अनेक ग्रंथ लेकर चीन गया। चीन जाकर उसने उनका अनुवाद भी किया। परमार्थ ५४६ ई० में चीन पहुँचा था जहां वह अपनी ७० वर्ष की आयु पूरी कर ५६६ ई० में निर्वाण को प्राप्त हुआ। कुमार गुप्त के पश्चात् दामोदर गुप्त, महासेन गुप्त और माधव गुप्त राजा हुए। इनका मोखरियों से विशेष सम्पर्क रहा।। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध राजा माधव गुप्त का पुत्र आदित्य सेन हुआ। हर्ष की मृत्यु के बाद स्वाधीन होकर उसने राजाधिराज की उपाधि धारण की। उसने अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाकर पड़ोसी राज्य जीते, और साम्राज्य को घोषित करने के लिये अश्वमेध यज्ञ किया। उसके राज्य का विस्तार दक्षिण पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक हो गया। आदित्यसेन के पश्चात् गुप्तों का सर्वथा ह्रास हो गया। उनके अन्तिम राजा देवगुप्त, विष्णु गुप्त और जीवित गुप्त द्वितीय हुए।

कन्नौज के मौखरी

यह वंश भी काफी प्राचीन था। हरहा अभिलेख के आधार पर एक राजा अश्वपति ने वैवस्वत यम से सौ पुत्र प्राप्त किये थे। इन्हीं से मौखरियों की उत्पत्ति हुई। इनकी कुछ शाखाओं का उल्लेख राजस्थान और बिहार में मिले लेखों में मिलता है। इनकी दो शाखाएँ थीं, पहली शाखा गया में गुप्तों के सामन्त रूप में थी, दूसरी शाखा उत्तर-प्रदेश के पूर्वी भाग में थी। इसका

स्वतन्त्र राज्य का स्वरूप कन्नौज में हुआ। इनका वैवाहिक सम्बन्ध मगध के गुप्त वंशीय राजाओं से हुआ। दोनों ने मिलकर गोड़ों को हराया। ईशान वर्मन नामक राजा ने इस वंश की शक्ति विशेष रूप से बढ़ायी। उसने आंध्रों को जीता, शूलिकों को पराजित किया, और गोडों को भी घेर लिया। चूंकि इसकी शक्ति बढ़ गयी अतः इसका गुप्तों से संधर्म भी हुआ। इन्होंने दूसरी ओर थानेश्वर के पुष्यभूति वंश से संबंध स्थापित किया! ईशान वर्मन ने के पुत्र सर्ववर्मन ने पुष्य-भूतियों के साथ पश्चिमोत्तर सीमा पर हूणों को जीता। सर्ववर्मन के पश्चात् अवन्तिवर्मन हुआ। इसके विषय में कोई विशेष ज्ञान नहीं है। उसका पुत्र गृहवर्मन हुआ जिससे राज्य श्री का विवाह हुआ था। गौड़ राजा शशांक ने इसे हराकर स्वर्गधाम भेज दिया।

———

परिच्छेद—१४

थानेश्वर का वर्द्धन वंश

गुप्त काल के पश्चात् लगभग ६०० वर्ष भारत के रंगमंच पर बड़ी उथल-पुथल रहती है, हर्ष को छोड़कर कोई ऐसा सम्राट नहीं आता जो भारत को एक सूत्र में बाँधने की कोशिश भी करता। अतः इस बीच राष्ट्रीयता का सर्वथा अभाव हो जाता है। जो भी छोटे-बड़े राज्य उठ खड़े होते हैं, वे अपनी-अपनी ढपली अपना अपना राग गाते हैं। इस युग में मगध की प्रभुता घट जाती है, और वह पश्चिम में थानेश्वर तथा मध्य में कन्नौज को मिल जाती है। हम देखते हैं कि उत्तर कालीन गुप्त सम्राट स्वयं बड़े निर्बल थे, उस पर भी वे मौखरियों तथा अन्य स्वतन्त्र सामन्तों से लड़ते रहे। देश में सामन्तों का महत्व बढ़ जाता है, और जनता के सुख दुःख को देखने वाला न कोई सम्राट रहता है, न उसे अपने स्वत्व को जताने की फ्रांस आदि देशों के समान कोई कचोट होती है। यही कारण है कि जो भारत किसी दिन वृहतर भारत के स्वप्न देखने लगा था, वही गिरते-गिरते दास बन जाता है, और सदियों अपनी दासता की बेड़ियाँ नहीं काट पाता।

पुष्यभूति वंश—मंजुश्री मूलकल्प नामक बौद्ध ग्रंथ के आधार पर पुष्यभूति वंश वैश्य वर्ण[1] का था। ह्यनसांग भी अपने यात्रा वर्णन में कान्यकुब्ज के राजा को वैश्य ही लिखता है, पर गुप्तों की तरह इन्होंने भी क्षत्रिय राजवंशों से सम्बन्ध स्थापित किया और क्षत्रिय कहलाने लगे। हर्ष चरित्र के आधार पर हर्ष के सब पूर्वज श्रीकण्ठ (थानेश्वर) के राजा थे, इसके अनुसार इस वंश का संस्थापक पुष्यभूति नाम का एक राजा था। यह एक मात्र शिव का उपासक था। इसी ने श्रीकंठ (पूर्वी पंजाब) में अपना राज्य स्थापित किया। वहुत सम्भव है कि यह गुप्तों के आधीन कोई सामन्त रहा हो। जो हो इसकी शक्ति का-उदय उस समय हो गया जब हूणों ने गुप्त राज्य की जड़ें हिला दी थीं।

इसके कुछ समय पश्चात् नरवर्धन नाम का राजा छठवीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ। यह सूर्य का उपासक था। इसका उत्तराधिकारी राज्य-

---

१.—आदित्य नामा वैश्यास्तु स्थाणवीश्वर स्वामिनः।

वर्धन हुआ । इसके विषय में कोई ज्ञान नहीं । राज्यवर्धन का पुत्र आदित्यवर्धन हुआ, इसने मगध के राजा दामोदर की पुत्री महासेन गुप्ता से विवाह किया । इस प्रकार इसने अपनी राज्य शक्ति को दृढ़ किया । आदित्य वर्धन का पुत्र प्रभाकरवर्धन हुआ । वस्तुतः प्रभाकर वर्धन ही इस कुल की प्रतिष्ठा को बढ़ाता है ।

प्रभाकर वर्धन--प्रभाकर वर्धन एक वीर और युद्ध प्रिय राजा था । उसका सारा जीवन लड़ते ही बीता । यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसने क्या-क्या विजयें की, पर उसका विशेष संघर्ष हूणों, सैन्धवों, गुर्जरों आदि से हुआ । प्रभाकर वर्धन ने महाराजाधिराज की उपाधि धारण की । उसके साम्राज्य के विषय में यद्यपि ह्यूनसाँग १२०० मील का दायरा बतलाता है, पर बाण हर्ष-चरित्र में उसकी दिग्विजय का बहुत ही अलंकार पूर्ण वर्णन करता है ।

"प्रभाकर वर्धन हूणमयी हिरण के लिए सिंह, सिंधुराज के लिए ज्वर, गान्धार राज रूपी मदगन्धी हाथी के लिए घातक महामारी, गुर्जर देश की निद्रा को भंग करने वाला, लाटों की पटुता को अपहरण करने वाला, और मालव देश रूपी लता की शोभा को नष्ट करने वाला परशु था ।[1]

पर यह निश्चित नहीं कि इन सभी को उसने जीता हो । फिर भी उसकी शक्ति पर्याप्त बढ़ चुकी थी, उसने अपनी पुत्री का विवाह मौखरी राजा ग्रह-वर्मन से किया । ६०५ ई० में प्रभाकर वर्धन का देहान्त हो गया, और उसका बड़ा पुत्र राज्य वर्धन गद्दी पर बैठा ।

राज्यवर्धन—महा कवि बाण ने अपने हर्ष चरित में इस वंश का विशद वर्णन किया है । उसके आधार पर जब प्रभाकरवर्धन बीमार था 'तो राज्य-वर्धन हूणों से युद्ध करने उत्तर पश्चिम की ओर गया था । हूणों से उसे छुट-कारा न मिल पाया था, कि उसके पिता का स्वर्गवास हुआ, आखिर उसे घर लौटना पड़ा । घर आकर उसने राज्य का भार ग्रहण किया ।

राज्य का भार सम्हालते देर न हुई थी, कि उसे एक दुःखद समाचार मिला कि मालव के राजा देव गुप्त ने उसके बहनोई ग्रहवर्मन को मार कर उसके राज्य पर अधिकार कर लिया और उसकी बहिन राज्य श्री को कारा-गार में डाल दिया । राज्यवर्धन ने शीघ्र ही राज्य का भार हर्ष को सौंप दिया और आप देवगुप्त की ओर चला । उसने उसे युद्ध में पराजित ही नहीं किया बल्कि उसे देव लोक पहुँचा दिया । इस पर देवगुप्त के मित्र गौड़ के राजा ने धोखे से राज्य वर्धन को समाप्त कर दिया । हर्षचरित में यही घटना इस

---

१ हर्ष चरित

प्रकार वर्णन है कि शशांक ने राज्यवर्धन को अपनी पुत्री ब्याह देने का लोभ देकर और विश्वास में उसे निरस्त्र पाकर मार डाला।

हर्ष—इन सब का परिणाम हर्ष को भुगतना पड़ा। उसके ऊपर विपत्ति के बाद विपत्ति आती गयी। उसके पिता की मृत्यु, उसके बहनोई की मृत्यु, और उस के भाई की मृत्यु, साथ ही बहन का कारावास उसे निर्जीव सा कर गया। अतः उसने दृढ निश्चय किया कि वह सबसे पहिले शशांक से बदला लेगा। शशांक ने जहाँ यह सुना कि हर्ष उसे दण्ड देने आ रहा है, राज्य श्री को मुक्त कर स्वयं अपने देश को लौट गया। हर्ष को आखिर अपनी प्रतिज्ञा कुछ काल के लिए तोड़नी पड़ी थी, और वह राज्य श्री को खोजने चल दिया। वस्तुतः हर्ष इस प्रतिज्ञा को फिर कभी पूरा न कर सका, क्योंकि, हम देखते हैं कि शशांक कम से कम ६१९ ई० तक जीवित रहा और यह घटना लगभग ६०५ ई० की है। हर्ष विंध्याचल पर्वत के जंगलों में राज्य श्री को खोजता हुआ एक ऐसे स्थल पर पहुँचा जहाँ राज्य श्री चिता में जलने जा रही थी। एक बौद्ध भिक्षु दिवाकर भिक्षु की सहायता से उसे बचा सका, और कन्नौज ले आया। इस बौद्ध भिक्षु के सम्पर्क का राज्य श्री पर भारी प्रभाव पड़ा यहाँ तक कि उसने राज्य का भार भी ग्रहण न किया। अतः कन्नौज के राज्य का भार भी हर्ष पर डाला गया। पहिले तो हर्ष ने मना किया, पर कोई चारा न देखकर उसे स्वीकार करना पड़ा।

हर्ष की विजय—बाण ने हर्ष को **"सकलोत्तर पथ नाथ"** (अर्थात् सारे उत्तरापथ का स्वामी) कहा है, इससे सिद्ध होता है कि उसका अधिकार समस्त उत्तरी भारत पर था। यही नहीं दूसरे स्थान पर उसने लिखा है, कि हर्ष ने तीस साल के पश्चात् तलवार म्यान में की। इन बातों से उसके अधिकार क्षेत्र का सही ज्ञान भले ही न हो, पर यह निश्चय है, कि वह एक पराक्रमी व्यक्ति था। ठीक भी है, उस युग में पराक्रम हीन का राज्य ४० वर्ष बना रहे, यह असम्भव था। फिर उसके राज्य की जड़ ही कितनी थी, कुल एक पीढ़ी भर चला पाया था। हर्ष ने चार प्रमुख युद्ध-यात्राएँ की थीं।

१. ध्रुवभट के विरुद्ध जिसमें उसकी विजय हुई थी।
२. सिन्धु राज्य के विरुद्ध जिसमें पुनः उसकी विजय हुई थी।
३. शशांक के विरुद्ध इसका फल अनिश्चित रहा।
४. पुलकेशिन द्वितीय के विरुद्ध जिसमें हर्ष को निराश लौटना पड़ा।

जो हो हर्ष के विजय करने के लिए चलने के पहले ये शब्द सराहनीय हैं। वह कहता है:—

"मैं आर्य (पिता) के चरण रज का स्पर्श करके शपथ खाता हूं, कि यदि मैं कुछ दिनों के भीतर पृथ्वी को गौड़ों से रहित न करा दूंगा, और सारे उद्धत

राजाओं के पावों की बेड़ियों की झंकार से उसे प्रतिध्वनित न कर दूं, तो मैं पतंग की भाँति जलती अग्नि में अपने को झोंक दूंगा। **—हर्ष चरित**

ह्यूनसांग भी एक स्थान पर लिखता है कि हर्ष पूर्व की ओर बढ़ा, उसने उन राज्यों पर आक्रमण किया, जिन्होंने उसका आधिपत्य अस्वीकार किया था, और लगातार युद्ध करता रहा, जब तक कि छः वर्ष के भीतर उसने पांच† गोड़ों को अपने अधीन नहीं कर लिया।"

पुलिकेशिन और शशांक को न दबा पाया, इसके लिए अनेक कारण उत्तरदायी रहे। उसने गुप्त वंशीय राजाओं का अनुकरण करना चाहा पर अकबर अथवा समुद्रगुप्त की भाँति उसे अनुकूल परिस्थितियाँ न मिलीं। फिर उसकी प्रवृति ही बदल गयी और धर्म-कर्म की चिन्ता उसे अधिक हो गयी।

हर्ष की विद्वता—हर्ष केवल पराक्रमी ही न था। उसमें पाण्डित्य था तथा विद्या के प्रति भी अगाध स्नेह था। तीन सुन्दर नाटकों की रचना का श्रेय उसे दिया जाता है १. प्रियदर्शिक, २. रत्नावलि, ३. नागानन्द। कुछ विद्वानों में इस विषय पर मत भेद है कि ये उसके रचे थे, पर विचारने की बात है, यदि उसे किसी दूसरे की कृति को अपनी बनाना था, तो, बाण जैसे राज कवि की कृति को खोजता। वैसे उसे विद्वानों के प्रति श्रद्धा थी, और वह अनेक विद्वानों का आश्रयदाता रहा। यथा—मयूर, हरिदत्त, जयसेन, मातंग दिवाकर आदि। 'बांस खेड़ा और मधुवन दानपत्रों में' उसके हस्ताक्षर अंकित हैं, कुछ विद्वानों का कथन है कि उन दानपत्रों की रचना स्वयं हर्ष ने की थी। पर इनकी शैली बाण जैसी है। उसने दो बौद्ध काव्य भी लिखे ? अष्टमहा श्रीचैतन्य स्तोत्र, २. सुप्रभातस्तोत्र।

बाण—इसके राजकवि बाण ने मुख्य रूप से दो ग्रन्थ लिखे। हर्ष चरित्र, और कादम्बरी। हर्ष चरित में तो हर्ष का ही जीवन चरित्र है, कादम्बरी एक उपन्यास है, जिसे बाण स्वयं पूरा न कर सका था। उसके उत्तर भाग को उसके पुत्र ने पूरा किया था। इन पुस्तकों ने संस्कृत साहित्य को अमूल्य निधि प्रदान की है। इनमें बाण ने अत्यन्त सरस, अलंकार पूर्ण तथा समास युक्त भाषा का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त चन्डि शतक तथा पार्वती परिणय भी उसी के कहे जाते हैं। बाण ने कादम्बरी में भी हर्ष के समय

---

† ये पांच गौड़ भारत के मण्डल थे। १. सारस्वत मण्डल, (कश्मीर और पंजाब) गौड़ (दिल्ली के आसपास का प्रदेश) कान्य-कुब्ज (पूरा संयुक्त प्रान्त दक्षिण में विंध्य तक और पश्चिमी विहार) (४) पूर्वोत्तर (मिथिला, विहार, बगाल, आसाम) ५ उत्कल (उड़ीसा)

की विद्या, कला, संगीत आदि सभी की चर्चा की है। फिर ह्यूनसाँग का वर्णन इस बात की पुष्ट करता है कि हर्ष ने विद्या की समुन्नति के लिए कितना कार्य किया।

उसका धर्म—हर्ष के पूर्वज सूर्य के उपासक थे और वह स्वयं कम से कम अपने शासन के २५ वें वर्ष तक (६३१ ई०), परम महेश्वर (शिव का भक्त) था। प्रयाग के अधिवेशन में उसने शिव और सूर्य की मूर्तियों की पूजा की। ह्यूनसाँग और राज्य श्री के विचारों के प्रभाव से उसके धार्मिक विचारों में भी परिवर्तन आया और वह बौद्ध हो गया।

उसके नागानन्द नाटक में बौद्धधर्म की प्रशंसा की गयी है। उसने बुद्धधर्म के प्रति अशोक की भाँति तो नहीं, पर फिर भी सराहनीय कार्य किये। उसने कश्मीर से बुद्ध जी का दाँत हरण करके कन्नौज के संघाराम में रखा। प्रति वर्ष बौद्ध सिद्धान्तों के मनन और विश्लेषण के लिए वह बौद्ध भिक्षुओं का अधिवेशन करता था। उसने अनेक बिहार और स्तूप बनवाये। यही नहीं अपने राज्य में उसने मांस खाना, और पशुओं को मारना अपराध और दण्डनीय घोषित किया। उसकी पुण्यशालाएँ बनवाना, दरिद्रों में निःशुल्क भोजन बँट-वाना, तथा औषध वितरण करना सभी सम्भवतः बौद्धधर्म के प्रभाव से ही अनुप्राणित थे। इतना होते हुए भी हर्ष धार्मिक विषयों में असहिष्णु और कट्टर न था। वह हिन्दू देवताओं और ब्राह्मणों आदि का समुचित सम्मान करता था। विशेष कर प्रयाग-अधिवेशन में वह ब्राह्मणों को दान देता था। कन्नौज में आयोजित धर्मसभा का जो वर्णन ह्यूनसांग करता है, उसके अनुसार हर्ष वैदिक, पौराणिक, जैन, बौद्ध सभी धर्मों का आदर करता था। उसमें यह अवश्य है कि बौद्ध धर्म को प्रधानता दी थी। एक स्थल पर वह ह्यूनसांग की रक्षा के लिए इतना उतावला हो जाता है कि एक कठोर घोषणा करता है, **"उसके मेहमान को जो थोड़ी सी भी हानि पहुँचायेगा उसका तुरंत वध कर दिया जायगा।"**

इस पर जनता में उसके विरुद्ध कुछ प्रतिक्रिया भी हुई, और उसका निरा-करण हर्ष को करना पड़ा, पर उसका धार्मिक विश्वास अटल रहा।

अन्य धर्म—कहा जा चुका है कि बौद्ध धर्म का प्राधान्य था, पर केवल राजकीय व्यवस्था में। वस्तुतः बौद्ध धर्म का ह्रास हो रहा था। बौद्ध धर्म के केन्द्र पूर्व की ओर हट चले थे। महायान के प्रचार के कारण पौराणिक धर्म तथा बौद्ध धर्म समीप भी आते जा रहे थे। इस समय बौद्ध बिहारों और संघारामों में विलासिता होने लगी थी, इसी कारण वैदिक धर्म के दार्शनिकों ने इसकी बड़ी बड़ी आलोचना की। इसका फल शंकर का सिद्धान्तवाद था।

जैन धर्म उस समय उत्तर में कुछ ही स्थानों में प्रभावशाली था पर दक्षिण में अधिक था। पुलकेशिन एक जैन था, पर अब जैन धर्म के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर के और छोटे-छोटे भाग हो गये थे। पर इनके साथ वैदिक धर्म कम व्यापक न था। ह्यूनसांग ने इसी धर्म के कारण भारत को ब्राह्मणों का देश लिखा है। इस धर्म में भी अनेक खण्ड थे। यथा—वैष्णव 'शैव' शाल, सौर आदि। इनमें विभिन्न देवताओं की मूर्तियाँ बनती थीं, और मूर्ति पूजा होती थी। इस प्रकार वैदिक धर्म का पौराणिक रूप निखरता जा रहा था। पर भारतीय जनता वैदिक धर्म को भूली न थी। और इस समय भी वैदिक, यज्ञ, संस्कार, पंचमहायज्ञ आदि कर्म काण्ड होते थे।

हर्ष का शासन प्रबन्ध—हर्ष का शासन प्रबन्ध बहुत कुछ गुप्त कालीन पद्धति का अनुकरण मात्र था। इस समय शक्ति का अन्तिम स्रोत राजा होता था। उसके नाम के साथ अनेक पदवियाँ लगायी जाती थीं। यथा परम महारक, परम दैवत, सम्राट, सार्वभौम आदि। इस नाते उसी को साम्राज्य का कण-कण देखना होता था। बड़े-बड़े अधिकारियों की नियुक्ति, प्रमुख घोषणाएँ, न्याय सभी उसके कार्य थे। वही युद्ध के समय सबसे बड़ा सेनानायक और न्याय के निमित्त सबसे बड़ा न्यायाधीश था।

अतः हर्ष ने सभी व्यक्तिगत सुख के साधनों को लात मार कर राज्य का कार्य भार सम्हाला और पूर्ण उत्तरदायित्व का परिचय दिया। चीनी यात्री ह्यूनसाँग हर्ष के शासन से बहुत प्रभावित हुआ था। उसके अनुसार हर्ष का शासन उदार सिद्धातों पर अवलम्बित था। न परिवारों के रजिस्टर्ड कराने का नियम था न किसी से बेगार ली जाती थी। उसका शासन दो भागों में बँटा था। केन्द्र व प्रान्त। केन्द्रीय शासन में उसकी सहायता के लिए एक मन्त्रि परिषद् रहती थी, जिसका उल्लेख बाण और ह्यूनसांग दोनों करते हैं। मुख्य मत्रियों में पुरोहित संधि विग्रहिक, अधिपटलाकृत अर्थ तथा न्यायमंत्री थे। ये क्रमशः प्रधान मंत्री, विदेश मंत्री, राजकीय प्रपत्र मंत्री और धन तथा न्याय मंत्री का कार्य करते थे।

प्रान्तीय शासन—शासन की सुविधा के लिए हर्ष का साम्राज्य भी कई इकाइयों में बँटा था। इन भागों को मुक्ति कहते थे। हमें अहिछत्र, श्रावस्ती, कौशाम्बी पुंड्रवर्धन आदि का इनमें उल्लेख मिला है। मुक्ति पुनः विषयों में विभक्त थे। प्रान्तों के अधिकारी उपरिक महाराज गोप्ता, भोगपति कहलाते थे। इनकी नियुक्ति स्वयं सम्राट करता था। विषय के अधिकारी को विषयपति कहते थे। यद्यपि इस समय के स्थानीय शासन अथवा नगर शासन के विषय में कोई पृथक उल्लेख नहीं मिलता, पर उत्कीर्ण लेखों में ग्राम अधिकारियों की सूची प्राप्त होती है। ग्राम का प्रमुख अधिकारी महत्तर अथवा

ग्रामिक था । इसके अतिरिक्त शौल्किक (शुल्क अथवा चुंगी वसूल करने वाला) अग्रहारिक (ब्राह्मणों को दिये गये गाँवों की देखभाल करने वाला) ध्रुवाधिकरण (भूमि कर का अध्यक्ष) तलवाटक (गाँव का लेखा जोखा रखने वाला) करणिन् (रजिस्ट्रार) अधिकारी होते थे । इससे सिद्ध होता है, कि हर्ष की शासन शृंखला सुसंगठित थी ।

सैन्य प्रबन्ध—समस्त उत्तर भारत की विजय के लिए एक विशाल वाहिनी आवश्यक थी । अतः हर्ष ने भी गुप्त और मौर्यों का आदर्श अपनाया । उसकी सेना के चार अंग थे, जिसमें पहले ५०,००० पदाति, २०,००० सवार, ५,००० हाथी थे । इसे उसने ६०,००० हाथी, १०,०००० घोड़ों तक बढ़ा दिया था । रथों का प्रयोग प्रायः उठ सा गया था । परन्तु समस्त साहित्यिक वर्णनों में चतुरंगिनी सेना की चर्चा है । कुछ उत्कीर्ण लेखों में नौ सेना का भी उल्लेख पाया जाता है । इसके अतिरिक्त स्कन्धावार, अस्त्र शस्त्र सैन्य संचालन आदि के विशद वर्णन मिलते हैं । हर्ष ने पुलकेशिन द्वितीय के विरुद्ध हाथियों का विशेष प्रयोग किया था । उसी समय वस्तुतः उनकी संख्या ६०,००० तक बढ़ा दी गयी थी । इस प्रकार की सुसज्जित सेना के लिए हाथी या तो भेंट स्वरूप प्राप्त होते थे अथवा वे जंगल से पकड़ मँगाये जाते थे । घोड़ों की अच्छी नसल रखने के लिए घोड़े काम्बोज, सिन्ध और फारस से आते थे । हर्ष जब भी किसी आक्रमण के लिए चला है तो उसकी सेना धूमकेतु के समान सारी धरती को कँपाती चली है । इस प्रकार के वर्णन बाण द्वारा बहुत किये गये हैं ।

भूमि व्यवस्था तथा कर—राज्य की सबसे बड़ी आय भूमि से होती थी । सारी भूमि का नाप और निरीक्षण होता था । राजकीय भूमि के चार भाग थे । एक भाग की आय धार्मिक कृत्यों तथा सरकारी कार्यों में खर्च होती थी । दूसरे भाग की आय बड़े-बड़े सार्वजनिक अधिकारियों पर खर्च होती थी । तीसरे भाग से विद्वानों को पुरस्कार और वृत्तियाँ दी जाती थीं । चौथा भाग दान पुण्य आदि में खर्च होता था । इसके (भूमि कर) अतिरिक्त अन्य कर बहुत कम थे । बेगारी की प्रथा ही न थी । प्रजा सुखी तथा सम्पन्न थी । व्यापार की वस्तुओं पर स्थान-स्थान पर चुंगी लगती थी । सामान्य रूप से भूमिकर, उपरिकर, (उन कृषकों से लगता था जिनका भूमि पर स्वामित्व न होता था ।) धान्य (अनाज विशेष पर लगाया हुआ कर) और हिरण्य (खनिज पदार्थों पर कर) का प्रचलन था जो करको द्रव्य या अनाज के रूप में नहीं दे पाते थे उनसे शारीरिक श्रम निश्चित ढंग से लिया जाता था । सरकार को न्यायालयों से शुल्क तथा आर्थिक दण्ड से भी आय होती थी ।

न्याय व्यवस्था—हर्ष के समय गुप्त काल की भाँति शान्ति अधिक न थी। हम देखते हैं कि हर्ष के समय ह्यूनसांग की इतनी रक्षा होते हुए भी उसे कई बार लूटा गया, जब कि फाह्यान गुप्त काल में बिना किसी विशेष यत्न के सुरक्षित रहा। पर ह्व् नसांग ने स्वयं एक स्थल पर लिखा है—

"चूँकि सरकारी शासन ईमानदारी से होता है और प्रजा का पारस्परिक सम्बन्ध है, अतः अपराधी वर्ग बहुत थोड़ा है।

इससे विदित होता है, कि सरकारी कर्म-चारियों में पक्षपात की भावना न थी, और न्याय निष्पक्ष होता था। यही नहीं वह आगे लिखता है,— **"राज द्रोह के लिए आजीवन कारागार का दण्ड था, पर इसके लिए शारीरिक दण्ड न था। सामाजिक नीति के विरुद्ध अपराधों के लिए अपराधी को अंग भंग कर देश निकाला अथवा वनवास का दण्ड मिलता था। फौजदारी के अपराधों के लिए दण्ड कठोर था, और बन्दी गृह में अपराधियों के साथ कड़ाई का व्यवहार किया जाता था, न्याय मीमांसा शास्त्र के अनुसार होती थी। अभियोगों में सत्य-असत्य का निर्णय करने के लिए अन्य प्रमाणों के साथ चार प्रकार के दिव्य प्रमाण भी काम आते थे।** १ जल, २, अग्नि, ३ तुला ४. विष। हर्ष चरित का कथन है कि विशेष अवसरों पर बन्दियों को कारावास से मुक्त भी किया जाता था।

हर्ष की यात्राएँ—इतना सब करते हुए भी हर्ष की आत्मा को संतोष न था। अतः उसने स्वयं प्रजा के हित को देखने की चेष्टा की। उसने अशोक की भाँति साम्राज्य में यात्राएँ करना प्रारम्भ कीं। इन यात्राओं में वह अपराधियों को दण्ड देता था और पुण्यवानों को पुरस्कार देता था। ये यात्राएँ उसके शासन नीति की एक विशेष अंग थीं।

हर्ष के सार्वजनिक हित के कार्य—उसने प्रजा के कल्याण के लिए अनेक परोपकारी और धार्मिक संस्थाओं का निर्माण किया। उसने वैदिक धर्म तथा बौद्ध धर्म के लिए मन्दिर, चैत्य, अनेक विहार व स्तूप बनाये। सड़कों के किनारे यात्रियों की सुविधा के लिए पथ शालाएँ बनवायीं। इसके अतिरिक्त शिक्षा संस्थाओं और विद्वानों का उसने विशेष आदर किया। हर्ष दान आदि कार्यों में राज्य का प्रर्याप्त भाग व्यय करता था। प्रति पाँचवे वर्ष वह प्रयाग में धार्मिक अधिवेशन करता था, और ऐसे अधिवेशनों से सदा नंगे वदन होकर लौटता था। इस प्रकार हर्ष ने ६०६ से लेकर ६४७ तक राज्य किया।

हर्ष का चरित्र—यदि अशोक धर्म की धुरी था, समुद्रगुप्त विजय की श्री था, तो यह कहना असंगत न होगा, कि हर्ष विजय श्रीयुक्त धर्म की धुरी था। हर्ष का चरित्र आँकने के पूर्व हमें उसकी उन समस्त परिस्थितियों को

समक्ष रखना होगा, जिनके योग से वह पला, अथवा जिनके संघर्ष में उसे जीवन की नौका खेनी पड़ी। बाण के हर्ष चरित्र के आधार पर हमें ज्ञात होता है कि वह अपने प्रारंभिक जीवन से ही साधु प्रकृति का तथा पराक्रमी था। पर दुर्दैव को यह वांछित न था कि वह अपने श्रम तथा पराक्रम का फल भोग पाता। प्रारम्भ में ही जब वह अपने भाई के साथ गया हुआ था, उसके पिता देव लोक को चल बसे, उसके बहनोई का प्राणान्त हुआ, और उसकी स्नेह-मयी भगिनी को कारावास। पर ऐसी विषम परिस्थितियों में भी हर्ष ने कभी अपना धैर्य नहीं खोया।

हर्ष वस्तुतः हर्ष ही था। उसकी पिता के प्रति भक्ति, उसकी बड़े भाई के प्रति श्रद्धा, तथा भगिनी के प्रति उसका स्नेह किसी से छिपा नहीं। अपने कर्त्तव्य से वह कभी भी विमुख न हुआ। फिर कार्य करने में वह सदा आगे, पर फल की इच्छा में बहुत संकोची था। इसका प्रमाण हमें उस समय मिल जाता है, जब वह अपने भाई की मृत्यु के पश्चात् भी राज्य स्वेच्छा से नहीं वरन् विवश होकर ही ग्रहण करता है। **एक राजा के रूप में उसने अपनी प्रजा का हित रञ्जन, शासक के रूप में अपराधियों को दण्ड, एक विद्या व्यसनी के रूप में विद्वत समाज का समादर, तथा धार्मिक के रूप में अतिशय दान पुण्य और अर्चना की।**

उसमें सूझ थी, कल्पना थी, उसमें सौहार्द व न्याय था, उसमें भक्ति थी, शक्ति थी, पर दम्भ न था, उसमें समता थी, शान्ति थी, पर आडम्बर न था, उसमें सहिष्णुता थी, विवेक था, पर पक्षपात न था। वह अपने अतिथि का सम्मान करना तथा विदेशी की रक्षा करना, भली भाँति जानता था। उसमें अपूर्व त्याग तथा कोमल स्वभाव था। यही कारण है कि यह सहज सम्मान पा सका।

ह्वेनसांग की यात्रा—चीनी यात्री ह्वेनसांग बौद्ध धर्म के ग्रंथ खोजने, तथा अध्ययन करने ६२९ ई० में भारत आया था। वह अपने देश से चल कर पहिले कपिशा की ओर आया, कपिशा से वह कश्मीर गया। कश्मीर में वह दो वर्ष रहा। यहाँ से पंजाब, पंजाब से सिन्धु, जहाँ १०००० भिक्षु निवास करते थे। सबसे अधिक वह नालन्दा में रहा और बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन कर ६४५ ई० में लौट गया। लौटते समय हर्ष ने उसे पहुँचाने के लिए एक सामंत को (उधित, नियुक्त कर दिया। ह्वेनसांग अपने साथ अनेक पुस्तकें व मूर्तियाँ स्वदेश ले गया।

कन्नौज का धर्म सम्मेलन—इस समय तक कन्नौज एक समृद्ध नगर बन चुका था। इसके विषय में चीनी यात्री ने बहुत कुछ लिखा है। वह कहता है, **इस नगर में ब्राह्मण और बौद्ध दोनों रहते थे।** हीनयान और महायान सम्प्-

हाथों के सौ बिहारों में लगभग दस हजार भिक्षु रहते थे, वैदिक मंदिरों की संख्या भी लगभग दो सौ थी, इस नगर के बगीचों और स्वच्छ जल वाले तालाबों की शोभा वर्णन नहीं की जा सकती। नागरिकों के भवन साधारण और स्वच्छ थे। उनके वस्त्र चिकने और रेशमी होते थे।

उनकी वाणी स्पष्ट और शुद्ध है, उनके वाक्य देवताओं की भाँति प्रिय और सुन्दर हैं, उनके उच्चारण दूसरों के लिए आदर्श उपस्थित करते हैं। यहां पर हर्ष ने महायान सम्प्रदान के सिद्धान्तों के प्रचार के लिए एक अधिवेशन बुलाया। हर्ष चीनी यात्री तथा आसाम के राजा भास्कर वर्मन के साथ चलकर तीन महीनों में वहाँ पहुँचा। (६४३ ई०) वलभी का राजा ध्रुव भट तथा अनेक विद्वान वहां पहले ही पहुँच चुके थे। इस प्रकार वहाँ बीस सामन्त राजा, नालन्दा के १००० भिक्षु लेकर चार हजार बौद्ध भिक्षु और तीन हजार जैन व हिन्दू पण्डित उपस्थित हुए। इस अधिवेशन के लिए गंगानदी के किनारे एक विशाल मण्डप और १०० फीट ऊँचा चैत्य बनाया गया। इस चैत्य में हर्ष की ऊँचाई के बराबर बुद्ध की एक सोने की मूर्ति स्थापित की गयी। प्रति दिन प्रातः बुद्ध की ३ फीट ऊँची एक सोने की मूर्ति को हाथी पर बिठाकर जलूस निकाला जाता था। इस समय इन्द्र के वेश में हर्ष और ब्रह्मा के वेश में भास्कर वर्मा उसके साथ चलते थे। उनके पीछे तीन सौ हाथियों पर उसके सामंत, उच्च राज कर्मचारी, सम्मानित अतिथि, भिक्षु तथा पण्डित चलते थे। सौ हाथियों पर तो केवल अनेक तरह के बाजे बजाने वाले रहते थे। इस जुलूस के मार्ग में हर्ष मोती और सोने के फूल बरसाता था। चैत्य के समीप तो वह अनेक वस्त्र और मणियाँ लुटा देता था। इसके अनन्तर मूर्ति पूजन तथा प्रीतिभोज होता था।

प्रीतिभोज के अनन्तर अधिवेशन का कार्यक्रम प्रारम्भ होता था। इसका प्रधान ह्येनसांग बनाया जाता था। एक महीने तक यही कार्यक्रम चलता। ह्येनसाँग ने ५ दिन तक अपने धर्म का प्रतिपादन किया। साथ ही उसने विरोधियों को चुनौती दी, इस पर कुछ लोगों ने उसकी जीवन लीला ही समाप्त करनी चाही, किसी ने चैत्य में आग लगा दी। इस पर हर्ष ने एक कड़ी घोषणा निकाली, **"जो उसके अतिथि को थोड़ी भी हानि पहुँचायगा, उसे प्राण दण्ड मिलेगा"**। अतः १८ दिन और ह्येनसांग अपना प्रवचन देता रहा।

इस समय कुछ लोगों ने तो हर्ष के ही प्राण लेने चाहे, पर वह बच गया, और अपराधियों को प्राण दण्ड हुआ। अन्ततः किसी ने फिर इसके विरुद्ध आवाज न उठाई और अधिवेशन सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ। सियुकी का कथन है कि इसमें हर्ष को सैकड़ों ब्राह्मणों को दण्ड देना पड़ा। जो यह निश्चित

है कि हर्ष के द्वारा बौद्ध धर्म का प्रतिपादन बलपूर्वक था और उस समय ब्राह्मण धर्म इतना बढ़ चुका था कि उसे यह सह्य न हुआ।

प्रयाग की महामोक्ष परिषद—हर्ष ने इस अधिवेशन के अतिरिक्त अन्य धार्मिक कृत्य भी किये। उसने प्रति पाँचवें वर्ष प्रयाग में दान महोत्सव किया। चीनी यात्री लिखता है कि इस प्रकार का दान महोत्सव (६४३ ई०) में छठा महोत्सव था। इसमें हर्ष के सभी सामंत और उच्च अधिकारी एकत्र होते थे। इस महोत्सव का कार्यक्रम ७५ दिन तक चलता रहता था। इसमें हर्ष पहिले दिन बुद्ध की प्रतिमा स्थापित करता था, और बहुमूल्य रत्न और वस्त्र दान करता था। दूसरे दिन सूर्य की प्रतिमा स्थापित करता था और पहले दिन के आधे मूल्य का दान होता था। तीसरे दिन शिव की मूर्ति का सम्मान करता था, और दान आदि देता था।

चौथे दिन वह १०००० बौद्ध भिक्षुओं को भेंट देता और इनमें से प्रत्येक को १०० सुवर्ण सिक्के, १ मोती, १ सूती वस्त्र तथा अनेक भोजन व पेय मिलते थे। इसके अगले २० दिन तक ब्राह्मणों को उपहार देता था। इसके उपरान्त १० दिन दूर देशों से आये हुए लोगों को दान दिया जाता। उसके अनन्तर भी अनाथ, असहाय आदि सभी को दान दिये जाते थे। कहा जाता है कि हर्ष तब तक दान देता था जब तक उसके पास कुछ भी रहता, यहाँ तक कि कपड़े तक दे डालता और अपनी बहन से माँग कर अपना तन ढकता था।

नालन्दा विश्वविद्यालय—हर्ष के समय सबसे अधिक प्रसिद्ध विद्या का केन्द्र यही था। यह बिहार राज्य के पटना जिला में राजगृह से ८ मील दूर आज के बड़गाँव नामक स्थान के पास स्थित था। यहाँ पर छः विद्यालयों के भवन बने थे। इसके एक भाग में एक भारी पुस्तकालय बना था। रत्नसागर, रत्नदधि और रत्न नाम के तीन भवन इसमें सम्मिलित थे।

इस विद्यालय में दूर देशों से विद्यार्थी आते थे। इसके व्यापार के लिए १०० गाँवों की आय लगी हुई थी। इसमें लगभग १००० अध्यापक और १०००० विद्यार्थी रहते थे। इसके पाठ्यक्रम में व्याकरण, न्याय, आध्यात्म, योग, तंत्र, चिकित्सा, शिल्प, रसायन और दर्शन थे। शिक्षण में प्रणाली व्याख्यान, वाद-विवाद का सहारा लिया जाता था। वहाँ के कर्मचारियों में द्वार पण्डित (विद्यार्थियों को प्रवेश करने का अधिकारी) धर्म कोष (आधुनिक चांसलर) कर्मदान (प्रोचांसलर) स्थविर (कुलपति) आदि थे। ह्वेसांग ने इस महाविहार की बड़ी प्रशंसा की है।

हर्ष का अन्त—हर्ष का देहावसान लगभग ६४७ में हुआ था। उसके कोई उत्तराधिकारी न था। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके मंत्री अरुणाश्व ने उसके

बचे-खुचे राज्य पर अधिकार कर लिया। अरुणाश्व का चीन से सम्बन्ध अच्छा न रहा। उसने एक चीनी राजदूत को तंग किया था, कहते हैं कि इससे क्रुद्ध होकर उनके नेता ने उसे नेपाल के राजा की सहायता से बन्दी बना लिया, और चीन सम्राट के सुपुर्द कर दिया। अतः हर्ष के पश्चात् उसके साम्राज्य का कोई नाम व निशान ही न रहा। इसका प्रभाव भारत की राजनीतिक परस्थिति पर बहुत बुरा पड़ा, और नये नये छोटे छोटे राज्य बन गये।

परिच्छेद—१५

हर्ष के पश्चात् का भारत

(६४७—१२०० ई०)

पिछले परिच्छेद में यह संकेत किया जा चुका है कि हर्ष के पश्चात् भारत का साम्राज्य तंत्र समाप्त हो गया। और छोटे-छोटे राज्य उठ खड़े हुए जिनमें से किसी में न राष्ट्रीयता की भावना जगी, न उनमें इतनी शक्ति तथा क्षमता ही आयी कि वे सारे देश को एक कड़ी में बांध सकें। सुविधा की दृष्टि से इन राज्यों को उत्तर तथा दक्षिण भारत के दो वर्गों में बांटा जा सकता है, क्योंकि ये भिन्न-भिन्न समाज व संस्कृतियों की देन थे। इन दोनों वर्गों में पुनः कई खण्ड होंगे क्योंकि उत्तर तथा दक्षिण दोनों ही प्रांतों में बंटे थे, और प्रत्येक प्रांत में एक नया वंश उठ खड़ा हुआ था।

(अ) उत्तर भारत

(१) कन्नौज का राज्य

कन्नौज में हर्ष के पश्चात् लगभग ७५ वर्ष तो एक दम अनिश्चित अवस्था रही पर लगभग ७३० ई० के एक राजा इस रंगमंच पर आ जाता है। यह यशोवर्मन था। इसकी वर्मन उपाधि संकेत करती है कि यह यहां के मौखरी वंश का कोई वंशज रहा होगा। इसका राज कवि वाक्पति राज था। उसने अपनी पुस्तक गौडवहो† में यशोवर्मन की बड़ी प्रशंसा की है। यद्यपि इस वर्णन में बहुत कुछ कवि की कल्पना है, पर इससे भी उसका ऐतिहासिक वृत्त मिल जाता है। वह लिखता है कि—

वर्षा ऋतु के पश्चात यशोवर्मन ने सोन नदी की ओर प्रस्थान किया। उसने विंध्यवासिनी के मंदिर पर मानव बलि दी। उसके आने का समाचार पाकर बंगाल का राजा भाग खड़ा हुआ। इसके उपरांत उसने मगध, मलय, महाराष्ट्र, पंजाब आदि की विजय की। उसकी मगध विजय का प्रमाण हमें उसके नालंदा अभिलेख से मिल जाता है। वह सदा विजयी ही नहीं रहा, ७३३ ई०

---

† गौडवहो, यह पुस्तक प्राकृत भाषा में लिखी गयी है।

में उसे काश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड ने हरा दिया था। यशोवर्मन साहित्य और कला का प्रेमी तथा आश्रयदाता था। उसकी सभा में भवभूति जैसे नाटककार हुए। भवभूति ने उत्तर में रामचरित, महावीरचरित तथा मालती माधव की रचनाएँ की थीं जिनमें उत्तर में रामचरित करुणा के लिए विश्व विख्यात है। यशोवर्मन ने चीन के सम्राट तक अपना राजदूत भेजा था, और अपने युग में गौरव से रहा। उसका उत्तराधिकारी कौन था यह निश्चय नहीं।

आयुध कुल—यशोवर्मन के पश्चात् तीन राजा कन्नौज में दिखाई पड़ते हैं। इनके नाम के अन्त में आयुध शब्द जुड़ा है, अर्थात् वज्रायुध, इन्द्रायुध तथा चक्रायुध। वज्रायुध के समय में कश्मीर के राजा जयापीड ने कन्नौज पर आक्रमण किया। इन्द्रायुध के समय राष्ट्रकूटों के आक्रमण हुए। इन्द्रायुध को हम ७८३ ई० में शासन करते देखते हैं। इसे ८१० ई० में बंगाल के राजा धर्मपाल ने पराजित कर गद्दी से उतार दिया और अपने अधीन चक्रायुध को राजा बनाया। ८१६ ई० में मालवा के प्रतीहार राजा नागभट्ट द्वितीय ने चक्रायुध को भी हराकर राज्य अपने अधीन कर लिया।

(२) प्रतिहार (गुर्जर-प्रतिहार)

गुर्जरों की चर्चा हमें सर्वप्रथम वाण के हर्ष चरित तथा पुलकेशिन ि तीय के ऐहोल शिला लेख में मिलती है। राजपूत † बंशों के उत्पत्ति के अनेक विवाद हैं। जिसे देखिये वही अपना नाता सीधा रामचन्द्र, अथवा अग्नि से जोड़ता है। इसी प्रकार प्रतिहार वंश वालों का कथन है कि वे रामचन्द्र के प्रतिहारी थे (ड्योढ़ी के रक्षक) उनकी सबसे पुरानी राजधानी आबू पर्वत के ५० मील दक्षिण पश्चिम में भिन्नमाल थी। कुछ इतिहासकारों का मत है, कि ये विदेशी थे, जो चलते चलते राजपूताना और गुजरात में आ बसे। गुजरात शब्द हमें बाण के हर्ष चरित से पहिले नहीं मिलता, इससे सिद्ध होता है कि इन्हीं के बसने के कारण इस प्रदेश को गुजरात कहा गया होगा। इन्होंने एक और विशेष कार्य किया कि अरबों को सिन्ध के आगे बढ़ने से रोका अतः ये इस दृष्टि से देश के प्रतिहारी भी बने।

---

† राजपूत—राजपूत शब्द राजपुत्र का बिगड़ा हुआ रूप है। इनका मूल सूर्य और चन्द्र वंशी राजाओं में अधिकतर मिलता है, कुछ विदेशी भी इन्हीं में आकर मिल गये, उन्होंने अपने को अग्निवंशी बतलाया है, पर यह अग्नि से उत्पत्ति इसीलिए कही जाती है कि इसके बिना वे समाज में न आ सकते थे। उन्हें कुछ अग्नि संस्कार करने पड़ते थे। कुछ समय पश्चात् इनके भेद प्रान्तीयता के कारण हो गये। इनमें कुल मूल भेद ३६ दिये जाते हैं।

नाग भट—इनका प्रमुख राजा जिसने अरबों को रोका था, नागभट था (७५६ ई०) सम्भवतः इस कुल का यही पहला राजा था ।

वत्स राज ७७५—८० ई०—इस वंश का दूसरा राजा वत्सराज हुआ जो नागभट का प्रपौत्र था । इसने बंगाल के राजा धर्मपाल को हराया था, किन्तु स्वयं राष्ट्रकूट राजा ध्रुव से हार गया था । फिर भी इसने अपने वंश की कीर्ति कई युद्ध जीत कर पर्याप्त फैला दी थी ।

नागभटद्वितीय ८००-३३ ई०—नागभटद्वितीय वत्स राज का पुत्र था । इसने भी गद्दी पर बैठते ही पड़ोसियों से संघर्ष मोल ले लिया । इसका पिता राष्ट्रकूट राजा ध्रुव से हार गया था, इसने उसका बदला ध्रुव के उतराधिकारी गोविन्द तृतीय से लेना चाहा पर स्वयं भी हार गया । पर इसने चक्रायुध को कन्नौज से निकाल दिया था (८१६ई०) साथ ही अपनी राजधानी कन्नौज बना ली । नागभट के ग्वालियर वाले अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने उत्तरी काठिया-वाड़, मालवा, कोशाम्बी जीती तथा सिन्धु के अरबों को भी पराजित किया । इसके पश्चात् कन्नौज की गद्दी पर रामभद्र बैठा । यह अपने वंश की प्रतिष्ठा को स्थिर न रख पाया । इसके राज्य काल में कोई विशेष घटना भी नहीं हुई ।

मिहिर भोज ८३६-८८५—इसके बाद मिहिर भोज गद्दी पर बैठ (८३६ ई०) । इसने अपने वंश की गिरती हुई अवस्था को पुनः दृढ़ किया । उसने अपने राज्य की सीमा हिमालय तक पहुँचा दी । उसके दान पत्रों से विदित होता है कि वह मध्यदेश का एक प्रसिद्ध शासक था । उसके राज्य में पूर्वी पंजाब, राज-स्थान, आज का उत्तर प्रदेश, मालवा और सौराष्ट्र सम्मिलित थे । दक्षिण में उसकी सीमा नर्मदा नदी तक पहुँच गयी थी, इस प्रकार यह एक छोटा-मोटा साम्राज्य बन गया था । अपने पूर्व में गौड़ शासक देवपाल से मुड़भेड़ की थी, पर सफलता न देख नीति से काम लिया और दक्षिण की ओर मुड़ गया । उसका राष्ट्रकूट राजाओं से संघर्ष आ, इसमें भी उसे उनकी गुजरात शाखा के कारण आगे बढ़ने को न मिला, क्योंकि वहाँ ध्रुव द्वितीय अपनी विशाल सेना लिये खड़ा था । कहा जाता है उसने भी मिहिर भोज को पराजित किया । इस पर राष्ट्र कूटों की मुख्य शाखा भी जग गयी । और उनका राजा कृष्ण द्वितीय उसे रोकने के लिए सचेष्ट हुआ । ये दोनों कुछ समय तक युद्ध में लगे रहे पर कोई निष्कर्ष न निकला । अन्ततः मिहिरभोज की विजय पताका सौराष्ट्रतक फहर गयी । एक अरब यात्री सुलेमान ने उसके शासन की बड़ी प्रशंसा की है । इस यात्री ने बताया है कि भोज अरबों के प्रति निर्दय था, और वही उनका सबसे बड़ा शत्रु था ।

महेन्द्रपाल ८८५-९०८—मिहिरभोज का पुत्र और उत्तराधिकारी महेन्द्र-पाल था । उसने अपने पैतृक साम्राज्य की रक्षा की । उसके अभिलेख पंजाब,

गया, काठियावाड़, ग्वालियर तथा श्रावस्ती में मिले हैं। उसकी राज्य सीमा पश्चिम में कुछ संकुचित हो गयी थी, जैसा कि राज तरंगिनी से ज्ञात होता है राज तरंगिनी का कथन है कि मिहिर भोज द्वारा विजित प्रदेश को काशी नरेश ने पुनः छीन लिया। इसके अतिरिक्त इसके शासन की कोई घटना नहीं है। यह विद्वानों का आश्रय दाता था। इसके दरबार में सुप्रसिद्ध कवि राज शेखर हुआ। उसने कपूरमंजरी, काव्य मीमांसा, बाल रामायण, और बाल भारत की रचनाएँ की थीं। महेन्द्रपाल का देहावसान लगभग ९०८ ई० के हुआ।

महेन्द्रपाल के पश्चात् उसका पुत्र भोज द्वितीय गद्दी पर बैठा, पर उसके गद्दी पर बैठते ही उसके सौतेले भाई महीपाल ने उससे राजदंड छीनना चाहा। भोज ने लगभग एक वर्ष राज्य सम्हाल पाया था कि महीपाल ने उसे चन्देल राज्य हर्षदेव की सहायता से कन्नौज पर अधिकार कर लिया।

महीपाल (९१२-९४० ई०)—महीपाल सूर्य का उपासक था। उसको अरब लेखक मसऊदी ने बहुत धनी और शक्तिशाली बतलाया है। उसके शासन काल में भी राष्ट्रकूटों के आक्रमण होते रहे और ९१६ ई० में इन्द्र तृतीय ने तो कन्नौज को नष्ट भ्रष्ट कर दिया था। उसका आश्रित कवि क्षेमेश्वर लिखता है कि उसने कर्नाटों को विजय किया था। राजशेखर तो उसको पूरे आर्यावर्त का स्वामी लिखता है। पर ये वर्णन अतिरंजित है, इसके समय प्रतिहारों की श्री क्षीण होने लगी थी। महीपाल का देहान्त लगभग ९४४ ई० के हुआ, और उसके बाद महेन्द्रपाल द्वितीय राजा हुआ। उसका शासन किसी प्रकार दो तीन वर्ष चला कि महीपाल के छोटे पुत्र देवपाल ने ले लिया।

देवपाल (९४६-९६०)—देवपाल के समय की कोई विशेष घटना नहीं है, उसने चंदेल राजा यशोवर्मन को अपने पिता की सहायता के उपलक्ष्य में विष्णु की एक मूर्ति भेंट की थी जो खजुराहों के मंदिर में स्थापित की गयी थी। इसके बाद उसका भाई विजयपाल (९६०-९९१ ई०) राजा हुआ। उसके समय अनेक सामन्त स्वतन्त्र हो गये। साथ ही मुसलमानों के आक्रमण अधिक होने लगे। विजयपाल के पश्चात् राज्यपाल गद्दी पर बैठा। यह बहुत ही दुर्बल शासक सिद्ध हुआ। इसके समय महमूद ने १०१८ ई० में कन्नौज पर आक्रमण किये, उसके पहले वह सुबुक्तगीन को लौटा सका था, पर महमूद ने उसे भागने को विवश किया। इस घटना से उसके पड़ोसी चन्देल राजा गण्ड उससे क्रुद्ध हो गया। राज्यपाल पर आक्रमण कर उसे हरा दिया। युद्ध में राज्यपाल मारा गया, और उसका पुत्र त्रिलोचन पाल गद्दी पर बैठा। इसके अतन्तर इस वंश का अन्त हो गया। यहां विचारने की बात है कि गण्ड ने उसका साथ न देकर उसी को सताया। विदेशी आक्रमणकारी का (महमूद)

वह भी कुछ न कर सका । भारतीय राजवंशों के पतन का यही कारण हुआ ।

(३) गाहड़वाल

वंश की उत्पत्ति—गुर्जर प्रतिहारों का अन्त होने पर राजपूतों के सात वंश अलग अलग उठ खड़े हुए । इनमें **चालुक्य, चन्देल, कच्छपघात, परमार,** चेदि, गुहिल और चौहान थे । इनके अतिरिक्त एक आठवां वंश गाहड़वालों का बना । गाहड़वालों के मूल के विषय में कोई निश्चित ज्ञान नहीं है । कुछ इतिहासकार इनको राष्ट्रकूट वंश का बतलाते हैं । ख्याति से ये ययाति वंशी कहे जाते हैं, पर इन्होंने अपने अभिलेखों में कभी किसी वंश की चर्चा ही नहीं की ।

चन्द्रदेव (१०८५-११०० ई०)—इनके उदय काल का बस यह ज्ञान है कि एक राजा चन्द्रदेव ने १०८०-८५ ई० के बीच गोपाल नामक व्यक्ति को हराकर इस राज वंश की नींव डाली । इसकी भी राजधानी कन्नौज थी । उसने अपने अभिलेखों में अपने को काशी, अयोध्या, कन्नौज और दिल्ली का रक्षक कहा है । इसने लगभग १५ वर्ष शासन किया और लगभग ११०० ई० में उसका पुत्र मदनपाल राजा हुआ । मदनपाल तो एक दुर्बल शासक था पर उसका पुत्र गोविन्द चन्द्र बहुत शक्तिशाली राजा हुआ ।

गोविन्द चन्द्र ११०४-११५५ ई०—गोविन्द चन्द्र लगभग ११०४ ई० के गद्दी पर बैठा । जब वह युवराज था तभी उसे विदेशी आक्रमणों का सामना करना पड़ा था । अतः वह निर्भीक हो गया था । राज्य का स्वामी बनते ही उसने मालवा और मगध जीत लिया । इन विजयों से उसकी प्रसिद्धि और बढ़ गयी । दूर देश के राजा उसकी मित्रता की कामना करने लगे । यथा काश्मीर के जयसिंह और गुजरात के सिद्धराज उसके मित्र थे । पूर्व में सेनों से अवश्य उसका संघर्ष रहा, कन्नौज और गौड़ का संघर्ष तो पुराना है, बस राजवंश बदल गये थे । सन् ११२८ ई० के उसके एक शासन पत्र से उसकी धार्मिकता का ज्ञान होता है, उसमें लिखा है कि राजा ने गंगा-स्नान करके देवताओं, और पितरों को खिला करके, सूर्य, शिव और वासुदेव की पूजा करके, तथा अग्नि को पिंड चढ़ाकर, जेतवन के निवासी शाक्य भिक्षुओं के संघ को छः गाँव दान दिये । गोविन्द चन्द्र की रानी कुमार देवी बौद्ध थी । उसने सारनाथ में एक विहार और मूर्ति का पुनरुद्धार कराया । गोविन्द चन्द्र धार्मिक ही नहीं स्वयं विद्वान था । और विद्वानों का आश्रय-दाता था । उसकी राजधानी कन्नौज थी पर वह अधिकतर काशी में रहता था । काशी की नगरी विद्या का केन्द्र तो सदा से ही है, इसके राजत्व काल

में विद्वानों को शान्ति और शरण मिली। उसका देहान्त लगभग ११५४ ई० में हुआ और उसके पश्चात उसका पुत्र राजा हुआ।

विजय चन्द्र (११५५-७०)—इसने भी अपने पिता की भाँति देश की मुसलमानी आक्रमणों से रक्षा की। पृथ्वीराज रासो में तो उसकी विजयों की एक सूची दी हुई है। यह सूची कहाँ तक ऐतिहासिक और कहाँ तक काल्पनिक है यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसके विरुद्ध चाहमानों ने उससे दिल्ली छीन ली थी।

जयचन्द्र (११७०-६४) इसके उपरान्त उसका पुत्र जयचन्द्र (प्रसिद्ध देशद्रोही जयचन्द्र) ११७० ई० में सिंहासन पर बैठा। जयचन्द्र वीर और दानी कहा गया है, उसके पास एक विशाल सेना थी।

उसने देवगिरि के यादवों, गुजरात के सोलंकियों और तुर्कों को कई बार हराया था। पूर्व में उसका राज्य गया तक था। उसने एक राज सूर्य यज्ञ किया, और उसी समय अपनी पुत्री संयोगिता का स्वयम्वर। उसका चौहानों से वैर था और यह पृथ्वीराज द्वारा उसकी पुत्री के अपहरण से और बढ़ गया। इसका फल यह हुआ कि ११६३ ई० में जब शाहबुद्दीन गौरी ने पृथ्वीराज पर चढ़ाई की तो जयचन्द्र ने आक्रमणकारी का साथ दिया और देश द्रोह का अपयश कमाया। दूसरे ही वर्ष गौरी ने कन्नौज पर भी आक्रमण किया और जयचन्द्र को यमपुर पहुँचा दिया। तदनन्तर उसने काशी को लूटा और सिर्फ १४०० ऊंटों पर यहाँ की अतुल सम्पत्ति लादकर अपने देश को ले गया।

जयचन्द्र की राजसभा में एक महाकवि श्री हर्ष हुआ है। उसने अपने समय के सभी विद्वानों को जीत लिया था। उसके अमूल्य तथा कठिन ग्रन्थ नैषध चरित तथा खण्डन खण्ड खाद्य हैं। जयचन्द्र के पश्चात उसका पुत्र हरीश्चन्द्र गद्दी पर बैठा जिसे दासवंश के इतुतमिश ने हराया और कन्नौज राज को समाप्त कर दिया।

(४) चौहान या चाहमान वंश

हम्मीर महाकाव्य तथा पृथ्वीराज विजय के आधार पर सूर्य के पुत्र चाहमान नाम के अपने पूर्वज के वंश के वंशज हुये। अनुश्रुति के आधार पर यह चार अग्निकुलों में से एक था। इसने अजमेर के उत्तर में (शाकम्भरी) साँभर झील के समीप लगभग ७०० ई० के अपने राजवंश की स्थापना की। इस वंश की और शाखाएँ दूसरे प्रदेशों पर शासन करती रहीं। यथा धौलपुर, रणथम्भौर आदि। वस्तुतः गुर्जर प्रतिहारों के दुर्बल होने पर इन्हें उठने का अवसर मिला। एक राजा अजयराज के नाम पर ही (अजय मेरु) अजमेर बसा। यह घटना बारहवीं शताब्दी की है।

विग्रहराज ११५३ चतुर्थ—इस वंश का एक बहुत प्रतापी राजविग्रह राजा हुआ। मेवाड़ के विजोला नामक स्थान से प्राप्त लेख से ज्ञात होता है कि इसने गाहड़वालों से दिल्ली छीन ली थी। यही नहीं उसने हिमालय और विंध्याचल के बीच के सभी प्रदेश जीत लिये थे। वस्तुतः यह कहना तो अत्युक्ति है, पर दिल्ली छीनने का अर्थ यह हुआ कि गाहड़वालों के पश्चिमी प्रदेशों पर इसी का अधिकार हो गया होगा।

विग्रहराज विद्वानों का आदर करता था, और स्वयं भी कवि था, उसने हरिकेलि नाटक की रचना की है। यह नाटक पूरा नहीं मिला, बल्कि इसके अंश अजमेर के समीप एक चट्टान पर खुदे मिले हैं। ११६४ ई० में विग्रहराज का देहावसान हो गया।

पृथ्वीराज तृतीय (११७९-९२)—इसके पश्चात विग्रहराज का भतीजा पृथ्वीराज तृतीय इस राज्य का प्रसिद्ध शासक हुआ। इसका जीवन वृत्त हमें पृथ्वीराज रासो तथा पृथ्वी विजय से मिल जाता है। यह संकेत किया जा चुका है कि इसकी गाहड़वाल वंशी जयचन्द्र से नहीं बनी। यह उसकी पुत्री उठा लाया था। उसका फल भी उसे ही नहीं सारे देश को भोगना पड़ा। पृथ्वीराज निस्सन्देह एक बहुत बड़ा वीर था। उसने वाण विद्या में भारी निपुणता प्राप्त कर ली थी। वह शब्द भेदी वाण चला सकता था। उसने चन्देल राजा परमाल को हरा कर उसकी राजधानी महोबा पर अधिकार कर लिया था। ११८२ ई० उसी ने शाहबुद्दीन गौरी को तालवाड़ी के प्रसिद्ध मैदान में ११९१ में हराया था। यही नही उसने गौरी का ४० मील तक पीछा न छोड़ा था। इसके अतिरिक्त सम्भवतः उसने चालुक्य राजा भीम द्वितीय को भी पराजित किया था।

पर इस सब के होते हुये भी उसमें दो-एक भारी दुर्बलताएँ थीं। एक तो वह विलासी था। उसे एक नहीं अनेक बार स्त्रियों के पीछे ही युद्ध करने पड़े, दूसरे वह अभिमानी तथा अदूरदर्शी था। वह भारत की प्रतिष्ठा बचा सकता था। उसने ११९१ ई० के युद्ध के लिए अनेक राजाओं का संघ बना लिया था, और विजयी हुआ था, पर शत्रु के भागने पर वह निश्चिन्त हो गया, उसने अपने अभिमान वश जयचन्द्र जैसे देशद्रोही की शत्रुत्रा मोल ले ली, और अपना तथा देश दोनों का विनाश किया।

(५) पाल तथा सेन वंश

बंगाल का प्रान्त भी प्राचीन समय से आज तक बड़ी क्रियाशीलता का प्रान्त रहा है। यह चौथी शताब्दी ई० पू० में नन्द और मौर्य साम्राज्यों में रहा। कुषाण इसके पश्चिमी भाग तक ही पहुंच सके। गुप्त काल में पुनः यह मगध साम्राज्य का अंग बन गया। हम देखते हैं कि समुद्रगुप्त का प्रत्यंत

राज्य समतट डवाक उसके अधीन थे। चन्द्रगुप्त के लौहस्तम्भ में बंभ विजय है। इसी काल के अभिलेखों में उसके एक खण्ड पुंड्रवर्धन की चर्चा है, तथा उसके अधिकारी उपरिक महाराज का उल्लेख है। हर्ष के समय यहाँ का शासक शशांक था। हर्ष के पश्चात इसका एक अंग उत्तर कालीन गुप्त राजाओं के अधिकार में आ गया। ७३०-४० के बीच कन्नौज के राजा यशोवर्मन ने गौड के राजा को हराया। इस प्रकार बंगाल में एक नहीं अनेक शासकों का अधिकार रहा। ऐसी दुर्व्यवस्था देखकर लगभग ७५० ई० के यहाँ की जनता ने राजा चुना जिसका नाम गोपाल था।

गोपाल (७५०-७० ई०)—पालवंश बहुत प्राचीन न था। इनके खलीमपुर में मिले एक लेख से ज्ञात होता है कि उनका पूर्वज कय्यट का पिता दयित विष्णु था। इनमें से किसी भी नाम से इनका वंश परिचय नहीं मिलता, हो सकता है कि यह कोई उच्च वंश ही न रहा हो, और वंश के राजाओं के नाम में पाल होने सें ही यह पालवंश कहा गया हो। गोपाल ने मगध, मिथिला और बंगाल पर अधिकार कर इस राज्य की नींव डाली। यद्यपि गुर्जर राजा वत्सराज ने इसे हरा दिया, पर उसके राज्य पर आँच न आई थी। गोपाल ने आदेन्तपुरी में (पटना के पास विहार) एक बड़े विहार का निर्माण कराया। इससे स्पष्ट है कि यह बौद्ध धर्म को मानता था।

धर्मपाल ७७०-८१० ई०—गोपाल का उतराधिकारी उसका पुत्र धर्मपाल हुआ। उसने ४० वर्ष राज्य किया। इस लम्वे काल में उसने अपनी शक्ति का परिचय दिया। कन्नौज के राजा इन्द्रायुध को गद्दी से उतार दिया और उसके स्थान पर चक्रायुध को बिठाया। उसके इस कृत्य का समर्थन भोज, मत्स्य, मद्र, कुरु, यदु, यवन, गान्धार आदि सभी ने किया। पर उसे वत्सराज प्रतिहार और ध्रुव राष्ट्रकूट दोनों के हाथ मुँह की खानी पड़ी।

धर्मपाल धार्मिक प्रवृति का राजा था। उसने बिहार में सागलपुर के समीप गंगा के किनारे विक्रमशिला नामक बिहार बनवाया जो विद्या का एक प्रसिद्ध केन्द्र बना। तारा नाथ के कथन के अनुसार उसका राज्य ६४ वर्ष था। पर खलीमपुर के अभिलेख के अनुसार केवल ३२ वर्ष। इसमें खलीमपुर की गणना सम्भवतः सही है। क्योंकि वह ८१५ ई० के लगभग परलोक सिधार गया।

देवपाल ८१०-८५० ई०—धर्मपाल के लम्वे शासन के उपरान्त उसका पुत्र देवपाल गद्दी पर बैठा। अपने पूर्वजों की तरह वह भी बौद्ध धर्म को मानता था। उसने भी बौद्ध विहार और संघाराम बनवाये। उसके दान पत्र हमें मुंगेर में मिलते हैं, बहुत सम्भव है यह उसकी राजधानी रही हो। देवपाल ने अपने सेनापति लवसेन की सहायता से आसाम ओर उड़ीसा को

विजय किया। इसका गुर्जर शत्रु उस समय मिहिर भोज (८३३-८५) रहा होगा। मिहिर भोज ने अपनी शक्ति पूर्व की ओर बढ़ानी चाही थी, पर देवपाल उसे रोक सका, और अन्ततः उसके शत्रु को अपना मार्ग मोड़ना पड़ा था। नालंदा में प्राप्त एक ताम्रपत्र से ज्ञात होता है, कि सुवर्ण भूमि और यव भूमि के राजा वालपुत्र देव के द्वारा बनाये गये बौद्ध बिहार के खर्च, धर्मरत्नों के लिखने, तथा भिक्षुओं के अन्य सुख साधनों के लिए देवपाल ने चार गाँव राजगृह विषय से और एक गया से दान में दिये। यदि सुवर्ण भूमि सुमात्रा, और यव भूमि जावा मान लें (जैसा इतिहासकारों का विचार है।) तो यह निश्चित है कि देवपाल का सम्पर्क इन पूर्वी द्वीपों से था।

नारायणपाल (८५०-९१२)—इस वंश का दूसरा शक्तिशाली राजा नारायणपाल हुआ। भागलपुर लेख से ज्ञात होता है कि उसने मुंगेर में शिव के मन्दिर के लिए एक गाँव दान किया। यह घटना उसके शासन की सत्रहवें वर्ष की है। अतः तब तक बिहार प्रान्त उसके अधिकार में सिद्ध होता है, पर महेन्द्रपाल के लेखों से ज्ञात होता है कि मगध और पश्चिमी बंगाल दोनों उसके अधिकार में थे। इसका अर्थ यह हुआ कि नारायण पाल अपने साम्राज्य को अन्त तक स्थिर रख सका, किन्तु भोज द्वितीय और महीपाल के परस्पर वैमनस्य से इसने लाभ उठाया, और अपना खोया हुआ भाग पुनः प्राप्त कर लिया।

महीपाल—नारायण पाल के अनन्तर उसका महीपाल राजा हुआ। महीपाल ने साम्राज्य की गिरती दशा को पुनः सम्हाला। उसके शासनकाल में चोल राजा राजेन्द्र ने बिहार और बंगाल पर आक्रमण किया, पर उसे सफलता न मिली। यही नहीं महीपाल ने उत्तरी जातियों को भी अपने अधिकार में किया। यह धार्मिक प्रवृत्ति का राजा था, अतः उसने सारनाथ में कई चैत्य बनवाये, ओर मूलगंध कुटी, धर्मराजिका स्तूप और धर्मचन्द्र की मरम्मत करायी। उसके समय में आचार्य धर्मपाल तिब्बत को गये जहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार किया। अतः महीपाल बहुत लोकप्रिय हुआ, और पाल राज्य का दूसरा संस्थापक माना जाता है।

महीपाल के पश्चात् उसका पुत्र जयपाल राजा हुआ। इसके शासनकाल में गया का गदाधर वाला प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया गया। इसका संघर्ष चेदि के राजा के साथ हुआ और कई वर्ष के बाद भी जब किसी को विजय न हुई, तो महाबोधि बिहार के दीपंकर श्री ज्ञान ने समझौता करा दिया। इसके लड़के विग्रहपाल का विवाह भी चेदि कन्या यौवन श्री से हो गया। विग्रहपाल के समय विक्रम शिला महाबिहार से अतीक्ष की अध्यक्षता में बौद्ध भिक्षु तिब्बत गये, जिन्होंने धर्मपाल के कार्य में योग दिया। इसका संघर्ष भी चेदि राजा

से हुआ, और १०८६ ई० के लगभग उसका देहान्त हो गया। इसके तीन पुत्रों में परस्पर राज्य के लिए कलह हुई। ज्येष्ठ महीपाल रत्न ने अन्य दो को पहले बन्दी किया, पर उनमें से एक रामपाल निकल भागा, और राष्ट्रकूटों की सहायता से अपने पैतृक राज्य पर अधिकार कर लिया। रामपाल के समय में भी बौद्ध धर्म फूला फला। तिब्बती लेखक तारानाथ इसी पालवंश का अन्तिम शासक कहलाता है, यद्यपि अभिलेखों से उसके भी पांच उत्तराधिकारियों का ज्ञान होता है पर वे अत्यन्त दुर्बल रहे। इस प्रकार पाल नरेशों ने लगभग ४०० वर्ष राज्य किया।

सेन

सेनों ने ही पाल वंश की शक्ति का अन्त कर दिया। ये सेन दक्षिण में कर्नाटक के निवासी थे। इनको ब्रह्मक्षत्रिय कहा गया है, इससे सिद्ध होता है कि ये ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए होंगे, पर शुद्ध आदि करने से इन्होंने क्षत्रियत्व को अपना लिया। एक मत यह भी है, कि चंद्रवंशी थे, क्योंकि इनका सामन्त सेन चन्द्रवंश में उत्पन्न वीरसेन का वंशज कहा गया है। यह वीरसेन कर्णाट क्षत्रियों में शिरोमणि था।

विजयसेन (१०६५-११५८) सामन्त सेन के पश्चात् उसका पौत्र विजयसेन (हेमन्तसेन का पुत्र) महत्वशाली शासक हुआ। इसने लगभग ६२ वर्ष शासन किया। उसने अनेक प्रान्त जीते और गौड राजा को बलपूर्वक दबा लिया। उसने अपनी राजधानी विक्रमपुर में बनायी। विजयसेन शिव का उपासक था। उसने एक कृत्रिम झील खुदवायी और देवपाड़ा में शिव का मन्दिर बनवाया।

वल्लालसेन ११०८—१६ ई०—विजयसेन के बाद उसका पुत्र वल्लालसेन गद्दी पर बैठा। उसने अपने पैतृक राज्य को यथावत रखा। यह भी शैव था। उसने अपने गुरु की सहायता से दो ग्रंथों की भी रचना की, दानसागर और अद्भुतसागर। इसने कोई विजय नहीं की। इसका सबसे महत्वपूर्ण कार्य वर्णव्यवस्था को पुनः स्थापित करना था। उसने कुलीन वर्ण की रक्षा के लिए कुलीन प्रथा चलाई। इससे ब्राह्मण, वैश्य और कायस्थ को कुलीन माना गया।

लक्ष्मणसेन १११६ ई०—वल्लालसेन के पश्चात् उसका लड़का लक्ष्मण सेन राजा हुआ। उसने एक सम्वत् चलाया। लक्ष्मणसेन स्वयं विद्वान था तथा विद्वानों का सम्मान करता था। गीत गोविन्द का रचयिता जयदेव इसी की राजसभा का कवि था। एक कवि धोयिक भी उसी की सभा में था। धोयिक ने प्रसिद्ध ग्रंथ पवनदूत की रचना की है।

लक्ष्मणसेन के पश्चात् सेनवंश का ह्रास आरंभ हो गया। उसके तीन पुत्र थे, माधवसेन, विश्वरूप सेन और केशवसेन। केशवसेन के लेखों से ज्ञात

होता है कि उसके पिता ने प्रयाग, बनारस, और पुरी में विजय स्तम्भ गढ़वाये। ये विजय स्तम्भ उसकी तीर्थ यात्रा के सूचक हैं न कि उसकी विजय के। सम्भवतः इनकी राजधानी नदिया थी, इसी के राजा लक्ष्मणसेन द्वितीय के विषय में कहा जाता है कि मुट्ठी भर तुर्कों (१८) के भय से पीछे की खिड़की से भाग गया था। सत्य जो हो, पर इसके पश्चात यह निश्चित है कि बंगाल पर तुर्कों का आधिपत्य हो गया था।

(६) धुर उत्तर के राज्य

कश्मीर†—भारत के इतिहास के साथ इस प्रदेश का सदा से घना सम्बन्ध रहा है। साथ ही केसर की सुन्दर भूमि तथा प्रकृति का क्रीड़ास्थल होने के नाते न जाने किस किस की लिप्सा का लक्ष्य रहा है, पर इसकी संस्कृति तथा सामाजिक अवस्था सदा भारतीयता लिये रही। जिस समय भारत में प्राचीन साम्राज्य नष्ट हो गये उस समय यहां भी नये राजवंश की स्थापना हुई। कहना न होगा कि इसके पूर्व यह अशोक, कनिष्क और मिहिरकुल के अधीन रह चुका था।

७ वीं शताब्दी में यहाँ कर्कोटक वंश का उदय हुआ। इसका संस्थापक दुर्लभ वर्धन था। यह हर्ष का समकालीन था। उसने हर्ष को बुद्ध का दाँत कन्नौज में रखने के लिए देकर उससे मित्रता की थी। ह्येनसांग इसी के राज्य में (६३१–३३) कश्मीर गया था। उसका कहना है कि उस समय इस राज्य में सिंहपुर, उरशा व राजपुर सम्मिलित थे। उसको राज्य की ओर से बौद्ध ग्रन्थों की प्रतिलिपि के लिए १६ लेखक मिले थे।

ललितादित्य मुक्तापीड (७२४–७६०)—इस वंश का सबसे प्रतापी राजा ललितादित्य मुक्तापीड था। यह दुर्लभ वर्धन का पौत्र था। मुक्तापीड ने बहुत सी दिग्विजय कीं, इसमें कुछ तो अत्युक्ति जान पड़ती है, पर उसका पंजाब जीतना, उसकी वक्षु नदी की घाटी की विजय, ७३३ ई० में कन्नौज के यशोवर्मन की उसके द्वारा पराजय सच्ची ही घटनाएँ हैं। यही नहीं उसने तिब्बतियों, भोटियों और सिन्धु के किनारे तुर्कों को हराया। इस तरह वह एक बड़े साम्राज्य का स्वामी बन गया। मुक्तापीड केवल विजेता ही न था बल्कि एक कला प्रेमी और धार्मिक प्रवृत्ति का था। उसने अनेक बौद्ध विहार, शिव, विष्णु और सूर्य के मन्दिर बनवाये। यहाँ का सुप्रसिद्ध मार्तण्ड मन्दिर उसी का बनवाया था।

† इस प्रदेश का क्रम बद्ध इतिहास हमें कल्हण की राजतरंगिनी से प्राप्त होता है। उसने इस इतिहास को ११५० ई० में लिखा था किन्तु वह भी सातवीं शताब्दी से प्रारम्भ कर पाता है।

जयापीड (७७९–८१०)—मुक्तापीड के पश्चात् महत्वपूर्ण शासक उसका पौत्र जयापीड हुआ। उसने कन्नौज के राजा वज्रायुध को पराजित किया। कल्हण की राजतरंगिणी के अनुसार इसने नैपाल तथा पुंड्रवर्धन के राजा जयन्त के विरुद्ध भी आक्रमण किये, पर ये काल्पनिक प्रतीत होते हैं। इतना निश्चित है कि इसने इधर उधर हाथ फैलाये, और बहुत सा धन बर्बाद किया, जिसके कारण इसे अनुचित रीति से भी धन इकट्ठा करना पड़ा। इसके आश्रय में कुछ विद्वान भी थे, यथा वामन, और दामोदर गुप्त। इसके शासनकाल से पहिले ही इस वंश का पतन प्रारम्भ हो चला था, और यह उसे रोक न सका।

उत्पल वंश—कर्कोटक वंश के अनन्तर काश्मीर में एक नये राज्यवंश ने अधिकार प्राप्त किया। यह उत्पल था। चूँकि इसके संस्थापक अवन्ति वमन के पिता का नाम उत्पल था, अतः यह उत्पल कहलाया।

अवन्ति वर्मा ८५५-८८३ ई०—अवन्ति वर्मा ने देश में शान्ति तथा सुव्यवस्था की, और प्रजा का हित चाहा। उसने अपने नाम से एक नगर बसाया जिसे अवन्तिपुर कहते हैं। उसने झेलम नदी का बाँध बँधवाकर उसमें से नहर निकालने का प्रबन्ध किया। इससे कश्मीर की उपज में पर्याप्त वृद्धि हुई। उसके कर्म सचिव सुय्य ने भी एक नगर बसाया, जिसे आज सुय्यपुर अथवा गोपुर कहते हैं। अवन्ति वर्मा वैष्णव था। उसने कई एक मन्दिर भी बनवाये। कल्हण के अनुसार अवन्ति वर्मा गीता सुनते-सुनते परलोक सिधार गया। यह भी विद्वानों का आश्रयदाता था और ध्वन्यालोक का रचयिता आनन्द वर्धन इसी की राज सभा का विद्वान था।

शंकर वर्मन ८८३-९०२ ई०—अवन्ति वर्मा के पश्चात उसका पुत्र शंकर-वर्मन गद्दी पर बैठा। यह एक क्रूरकर्मा राजा था। पहिले तो यह गृह कलह में उलझा रहा फिर बाहर के युद्धों में, इसने मिहिर भोज द्वारा जीते हुए प्रदेश को छीन कर थक्किय राजा को दे दिये। उसने और भी अनेक युद्धों में भाग लेकर अतुल धन का व्यय किया। अतः उसको राजकोष की पूर्ति के लिये अनुचित कर लगाने पड़े। यहां तक कि उसने मन्दिरों और धार्मिक उत्सवों तक को न छोड़ा। इसका फल यह हुआ कि जनता उसके विरुद्ध हो गयी और जब वह पंजाब के युद्धों से लौट रहा था तो पुरुसा में मार डाला गया। इसके बाद उत्पल राज्य का बंश गिरता ही गया। इसमें राजाओं की हत्यायें हुई यहां तक कि मंत्री और सेनापतियों ने भी उसमें भाग लिया। राजाओं को गद्दी पर बैठाना और उतार देना उनके लिये नित्य का खेल हो गया। उदाहरण के लिये एक राजा पार्थ के राज्य काल में (९१७-९१८ ई०) काश्मीर में एक भयानक अकाल पड़ा। इस समय राज्य ने प्रजा का कोई ख्याल न किया। कल्हण का कहना है कि एक ओर तो असंख्य प्रजा भूख से मर रही

थी दूसरी ओर राजा अपनी विलासिताओं में डूबा था और उसके मंत्री चोरी से चावल अधिक मूल्य पर बेचकर धन इकट्ठा कर रहे थे। इसी प्रकार का एक राजा उम्मत्तावन्ति (९३७-६३९ ई०) जो राज पार्थ का पुत्र था, अत्यन्त निर्दयी सिद्ध हुआ, उसने अपने पिता की ही हत्या कर डाली और अपने सौतेले भाइयों को भूखों मार डाला। यही नहीं उसको तो गर्भवती स्त्रियों के गर्भ गिराने में भी आनन्द आता था। पर भाग्य से इसका शीघ्र ही अन्त हो गया। इसके पश्चात् कुछ समय तक उसका पुत्र शूर वर्मन गद्दी पर बैठा पर इसे शीघ्र ही हटना भी पड़ा क्योंकि उसके पश्चात् ब्राह्मणों की एक सभा द्वारा चुनाव करके यशस्कर राजा चुना गया। इसका उत्पल वंश से कोई सम्बन्ध न था। इसने थोड़े समय के लिये शान्ति स्थापित की पर ६४८ ई० में इसका देहान्त हो गया। चूंकि उसका पुत्र अभी छोटा था अत: उसके मंत्री पर्व गुप्त ने उसे मार कर अपना अधिकार कर लिया। वह भी एक विलासी और अत्याचारी राजा सिद्ध हुआ और इसकी मृत्यु के बाद उसकी रानी दिद्दा ने अपने लड़के के नाम से राज्य किया। यह विलक्षण स्त्री थी। इसने अपने पुत्र और पौत्रों को शीघ्र ही समाप्त कर स्वयम् राज्य करना प्रारम्भ किया किन्तु धीरे-धीरे प्रजा उसके विरुद्ध हो गयी और उसी के साथ उत्पल वंश का राज्य नष्ट हो गया।

लोहर वंश—दिद्दा की मृत्यु के बाद उसका उत्तराधिकारी एक लोहर के सामन्त का लड़का था। इसी कारण इस वंश को लोहर वंश कहते हैं। इस वंश के एक राजा हर्ष ने (१०८९-११०१ ई०) अपने पिता को ही गद्दी से उतार दिया और स्वयं राजा बन बैठा। इसने अत्याचार की सीमा पार कर दी। उसने अनुचित कर लगाये, मन्दिर तुड़वाये, मूर्तियां तुड़वाईं, अतुल धन बरबाद किया। इसका फल यह हुआ कि प्रजा ने विद्रोह किया और उसका राज्य समाप्त हो गया।

कश्मीर में संस्कृत साहित्य—कश्मीर का इन दिनों का राजनीतिक इतिहास बड़ा सुखमय न रहा, पर इसमें धर्म और साहित्य के नाम पर कार्य होता रहा। एक से एक विद्वान यहाँ पैदा हुए, जिन्होंने संस्कृत साहित्य को सबसे अधिक योग दान दिया। यथा—

१—७ वीं शताब्दी में भीमक द्वारा पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या।

२—अवन्ति वर्मा के समय आनंद वर्धन द्वारा ध्वन्यालोक की रचना।

३—क्षेमेन्द्र द्वारा (११ वीं शती में) गुणाढ्य की वृहत्कथा का पद्यानुवाद जो वृहत्कथा मंजरी के नाम से ज्ञात है।

४—उसी ने बौद्ध कथाएँ अवदान कल्पलता में लिखी।

५—सोमदेव (१०६३-८१ ई०) ने कथासरितसागर की रचना की।

६ -- विल्हण कृत विक्रमांक देव चरित्र।

७ – कल्हण कृत राजतरंगिणी।

नैपाल राज्य—कश्मीर की ही भाँति नैपाल भी भारत का सदा से सुःख दुःख में साथी रहा है यद्यपि कश्मीर की तरह यहाँ की समृद्धि इतनी आकर्षक न रही, पर यहाँ के निवासी वीर और धार्मिक रहे। साथ ही वे सदा स्वतन्त्रता-प्रिय भी रहे। नैपाल का अर्थ है घाटी, और काठमांडू की घाटी ही इसका मुख्य प्रदेश है। यहाँ भी अशोक के समय से बौद्ध धर्म का प्रचार प्रारम्भ हो गया था। फिर समुद्रगुप्त की इलाहाबाद प्रशस्ति में इसका प्रत्यंत राज्यों में उल्लेख है। हर्ष के काल में यहाँ लिच्छवि वंश का एक राजा अंशुवर्मन राज्य करता था। इसने नैपाल में ठाकुरी वंश की स्थापना की। उसने ५९५ ई० में ठाकुरी सम्वत् का प्रवर्त्तन भी किया। इसका सम्बन्ध तिब्बत तथा चीन से भी रहा। तिब्बत के राजा, साँग-सैन-गैम्पो को तो उसने अपनी पुत्री विवाह दी थी।

हर्ष की मृत्यु के पश्चात् चीनी राजदूत की सहायता के लिए एक नैपाली सेना भारत आई थी, उसने तिरहुत के राजा अर्जुन को बन्दी बनाकर चीन भेज दिया था। अतः यहाँ तक नैपाल का प्रभुत्व रहा, पर यह सब तिब्बत की सहायता पर निर्भर था, और उसके ह्रास होने से नैपाल की प्रभुता में भी कमी आ गयी। हमारे यहाँ से धर्मपाल आदि यहाँ बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए गये। जिनकी चर्चा पीछे की जा चुकी है।

(७) मध्य देश राज्य

अनहिल वाड के चालुक्य (मूलराज ९७४-९९६)—आज के गुजरात के पलन को अनहिल्र वाड़ कहते थे। यहाँ लगभग ९७४ ई० में मूलराज नामक एक राजा ने चालुक्य राज्य की नींव डाली। यह सोलंकी कुल-भूषण भी था। वस्तुतः इसके वंश का मूल ठीक-ठीक ज्ञात नहीं। कुछ इतिहासकार इसे मध्य एशिया के शूलकों से जोड़ देते हैं, कुछ दक्षिण के अथवा सौराष्ट्र के चालुक्यों से। इसके पिता कल्याण कटक का (कन्नौज के पास) स्वामी था। उसकी माता गुजरात के चावड़ कुल की थी। मूलराज अपने मामा को मारकर गद्दी पर बैठा। मूलराज एक वीर लड़ाका था। उसने अपने बाहुबल से सौराष्ट्र को विजय किया। यह शैव था, और इसने अनेक मन्दिर बनवाये। कुछ काल पश्चात् चौहान राजा विग्रहराज के हाथों वह मारा गया। (९९६ ई०)। इसके पश्चात् इसका पुत्र चामुंडराज गद्दी पर बैठा। इसने धारा के परमार सिंधुराज को पराजित किया।

भीम (१०२२-६३)—कुछ समय इस वंश में दुर्बल शासक रहे, और लगभग १०२२ ई० में भीम प्रथम (चामुंड राज का पौत्र) राजा हुआ। इसी

ने महमूद द्वारा नष्ट किये गये सोमनाथ मन्दिर का पुर्ननिमाण कराया। पर सोमनाथ के टूटने का कलंक भी उसी के सर था। क्योंकि जब १०२५ ई० में महमूद ने सोमनाथ पर आक्रमण किया तो यह भाग खड़ा हुआ, और एक दिन किसी प्रकार वहाँ के नगर निवासियों ने गजनवी को रोककर अन्त में आत्म समर्मण किया, जिसमें असंख्य हिन्दुओं का वध हुआ। आखिर यह अपने राज्य की प्रतिष्ठा को न बचा पाया।

कर्ण १०६३-९३ ई०—इसके पश्चात् उसका पुत्र कर्ण गद्दी पर बैठा। इसने भी इस दीर्घ कालीन शासन में कोई महत्वपूर्ण कार्य न किया। इसके समय में भी परमारों की शक्ति बढ़ गई। कर्ण ने गोआ के कदंब कुल के राजा जय केशी द्वितीय की कन्या से विवाह कर अपना नाता दूर तक फैलाया। अपने शासनकाल में उसने कुछ मन्दिर, तालाब आदि के निर्माण कार्य भी कराये।

जयसिंह सिद्धराज १०९३-११४३ ई०—कर्ण के पश्चात् उसका लड़का जयसिंह सिद्धराज गद्दी पर बैठा। यह एक असाधारण व्यक्ति था। उसने लगभग ५० वर्ष राज्य किया। जिस समय वह गद्दी पर बैठा था तो अल्पायु था, अतः इसकी माता ने ही राज्यभार सम्हाला पर वयस्क (वालिग) होते ही इसने विजय करना प्रारम्भ कर दिया। उसने चौहानों को हराया, सौराष्ट्र के चूड़ा राज का राज्य छीन लिया। परमार राजाओं से उसका बहुत समय तक संघर्ष चलता रहा। अन्त में धारा पर अधिकार करके उसने इस विजय के उपलक्ष्य से अवन्तिनाथ की उपाधि धारण की। केवल बुन्देलखण्ड के मदन वर्मन के विरुद्ध वह असफल हुआ। जयसिंह ने मन्दिर आदि के निर्माण कार्य भी किये। यद्यपि वह शैव था, पर अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णु रहा। वह विद्वानों का आश्रय दाता भीं था। जैन आचार्य हेमचन्द्र इसी के संरक्षण में पले। उसके काई पुत्र न था, अतः उसके अनन्तर उसके दूर के सम्बन्धी कुमार पाल ने राज्य का भार सम्हाला।

कुमारपाल ११४३-७३ ई०—कहते हैं कि यह एक वेश्या पुत्र था, पर गुणवान होने के नाते, उसे जयसिंह के दरबार में सम्मान मिल गया था। जैन आचार्य हेमचन्द्र के सम्पर्क से वह जैन धर्म का अनुयायी हो गया और हेमचन्द्र के पथ प्रदर्शन पर शासन करने लगा। कुमारपाल एक सच्चा अहिंसक बना, उसने ३२ जैन मन्दिर बनवाये। उसने मांस की दूकानें बन्द करा दीं। यही नहीं उसने शराब पीना, जुआ खेलना, पशु लड़ाना, सभी हिंसा वाले कार्यों पर रोक लगा दी।

उसने सोमनाथ के मन्दिर में जाकर शिव की भी अर्चना की, और मन्दिर का सुधार कराया इसीलिए जयसिंह नामक कवि ने कुमारपाल चरित्र लिखकर उसको अमर बना दिया। इसके पश्चात् इस राज्य में गड़बड़ी होने

लगी। इसका कारण था धर्म । जैनों ने उसके भानजे को बिठाना चाहा और शैवों ने भतीजे को। अन्त में उसका भतीजा अजयपाल गद्दी पर बैठा। और उसने शैव धर्म का पक्ष किया। अतः जनता में कुछ असन्तोष हो गया। इसके फलस्वरूप अजयपाल की हत्या कर दी गयी। अजयपाल के पश्चात् उसका पुत्र भीमदेव द्वितीय गद्दी पर बैठा। भीमदेव के कई लेख प्राप्त हुए हैं। उसके शासनकाल में गौरी का आक्रमण हुआ, पर उसे इसके विरुद्ध सफलता न मिली। यहाँ तक कहा जाता है कि गौरी की सेना के स्त्री, बच्चे उसने बन्दी कर लिये थे, इसी का बदला लेने गोरी के पश्चात् उसका सेनापति ऐवक ११९५ में आया था। जो हो उसने अपने पूर्वजों से अधिक अपने राज्य का सम्मान बचाया।

धारा के परमार

यह वंश भारतीय इतिहास में साहित्य व संस्कृति का आश्रयदाता रहा है। इसका मूल कहाँ था यह निश्चित नहीं। यह भी प्रतिहारों की तरह अग्निवंश के कहे जाते हैं एक अनुश्रुति के आधार पर ये वशिष्ठ के द्वारा गाय की रक्षा के लिए छोड़े गये थे। इस प्रकार इनको अग्निकुल का ही यदि माना जाय तो ये भी विदेशी ठहरते हैं, जो अपने को अग्नि संस्कार के पश्चात ही क्षत्रिय घोषित कर सके। पर अहमदाबाद जिले के हरसोलो नामक स्थान में एक अभिलेख मिला है जिसके अनुसार ये राष्ट्रकूट वंश के सिद्ध होते हैं, और इनका मूल स्थान दक्षिण था। १० वीं शताब्दी में जब मालवा में प्रतिहारों की शक्ति क्षीण हो गयी, तो परमारों के नेता उपेन्द्र या कृष्णराज ने वहाँ अपनी सत्ता जमाई। पहिले वह वहीं राष्ट्रकूटों के सामंत के रूप में रह चुका था।

इनका सबसे पहिला स्वतन्त्र शासक सीयक अथवा हर्ष हुआ। इसके राज्य की दो तिथियाँ ६४९, ९७२ ज्ञात हैं। इसी समय प्रतिहारों का अन्त भी रहा था, अतः उसे अपनी शक्ति सम्हालने का सुअवसर मिला। उदेपुर के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने खोहिम से राज्य छीन लिया था। राष्ट्रकूट खोहिम की तिथि ९५५-९७० है, अतः सीयक की उपर्युक्त तिथियां सही जान पड़ती हैं। इसने हूणों पर भी विजय पायी थी। ९७२ ई० के लगभग यह परलोक सिधार गया।

मुञ्ज—सीयक के पश्चात् उसका प्रतापी पुत्र वाक्पति मुञ्ज गद्दी पर बैठा। उसकी लोक प्रियता उसकी अनेक उपाधियों से सिद्ध होती है। यथा उत्पल राज, अमोघ वर्ष, श्री वल्लभ, पृथ्वी वल्लभ आदि। वह लगभग ९७३ ई० के सिंहासन पर बैठा। उदेपुर अभिलेख में उसकी विजयों की सूची मिलती है। इसमें लाटों, कर्णाटों, चोडों और केरलों के नाम हैं। इसका विशेष युद्ध

तो चालुक्य राज तैलप द्वितीय से हुआ उसने तैलप को छः बार पराजित किया। कहा जाता है कि सातवीं बार वह पुनः उसीसे युद्ध करने गया। इस बार वह मंत्रियों के रोकने पर भी उनके देश में घुसता चला गया। इसका फल यह हुआ कि वह स्वयं पराजित हुआ, और तैलप के हाथों ही मारा गया। इस युद्ध की तिथि कहीं ६६३-६६८ ई० के बीच ठहरती है।

मुञ्ज विजेता ही नहीं निर्माता भी था। उसने विशाल मन्दिर बनवाये। धारा में उसकी बनवायी हुई एक झील मुञ्ज सागर के नाम से आज भी मिलती है। इसके अतिरिक्त वह एक विद्वान था, और अनेक विद्वानों का आश्रयदाता। नव साहसांक चरित का रचयिता पद्म गुप्त, दशरूपक का रचयिता धनंजय, दशरूपावलोक का लेखक धनिक (धनंजय का भाई) अभिदान रत्नमाला और मृत संजीवनी के रचयिता भट्ट हलायुध सब उसी के संरक्षण में रहे।

सिन्धुराज—वाक्पति के पश्चात् उसका भाई सिन्धुराज गद्दी पर बैठा। इसी का दूसरा नाम नव साहसाँक भी था। इसी के कथानक को लेकर पद्म गुप्त ने नव साहसाँक चरित लिखा। इससे विदित होता है कि उसने हूणों, कालाचुरियों और चालुक्यों को पराजित किया। उसका शासन थोड़े ही समय तक रहा। वस्तुतः मुञ्ज अपने बाद अपने पुत्र भोज को राजा नियुक्त कर गया था, पर भोज अभी बालक था, अतः उसके वयस्क होने तक उसके चाचा ने राज्य किया। एक अनुश्रुति यह भी है कि सिन्धुराज भोज को मरवा डालना चाहता था। पर उसका यत्न सफल न हुआ अतः कुछ ही काल पश्चात् भोज राज्य का स्वामी बन गया।

भोज—(१०१८-१०६०ई०) राजा भोज न जाने कितनी अनुश्रुतियों का नायक है। न जाने कितने काव्यों में आया है। यह सचमुच बहुत ही लोकप्रिय शासक हुआ। इसने ४० वर्ष तक राज्य किया। यह एक आदर्श शासक माना जाता है। उसे हूणों, कल्याणी के चालुक्यों तथा महमूद गजनवी की सेनाओं से युद्ध करना पड़ा। अन्त में लगभग १०६० ई० में कलचुरियों और चालुक्यों ने मिलकर उसकी श्री छीन ली और उसी के साथ परमार राज्य का अन्त आ गया।

भोज स्वयं पण्डित था। उसने ज्योतिष, अलंकार, योग तथा वास्तुकला पर ग्रंथ लिखे। उसके वास्तु कला पर ग्रंथ **समरांगण सूत्रधार**, अलंकार पर **सरस्वती कंठाभरण**, ज्योतिष पर **राजमृगाँक करण**, व्याकरण पर **शब्दानुशासन** और वैद्यक पर आयुर्वेद सर्वस्व अभी भी प्रमाणिक ग्रंथ माने जाते हैं। उसने धारा में एक विद्यापीठ की स्थापना की। जिसे मुसलमानों ने तोड़कर मस्जिद बना दिया। इसके अतिरिक्त उसने भोजसर नाम से भोपाल के समीप पहा-

ड़ियों में बाँध बाँध कर लगभग २५० वर्गमील की एक झील बनवाई थी। इस झील से बहुत लाभ थे, पर होशंगशाह के समय (१४०५-३५ ई०) में इसके बाँध तोड़ डाले गये, और इसे समाप्त कर दिया गया। भोज का इतिहास हमें अनेक ताम्रपत्र, और शिलालेखों से प्राप्त होता है। वह एक कवि था और संस्कृत कवियों का बड़ा सम्मान करता था। उसके युग में कहा जाता है साधारण से साधारण मनुष्य (कहार) आदि भी कविता के प्रेमी थे और रचनाएँ करते थे।

बुन्देल खण्ड के चन्देल

(जैजाक भुक्ति)

चन्देलों के मूल के विषय में भी हमारा ज्ञान अनिश्चित है। एक अनुश्रुति उन्हें चन्द्रमा से उत्पन्न बतलाती है, एक किसी ब्राह्मण की कन्या के संयोग से, पर इनके आधार नितान्त भ्रममूलक हैं। स्मिथ महोदय का कहना है कि ये यहीं के आदि वासी हैं– और गौड तथा तथा भरों की जाति से उत्पन्न हुए। साथ ही इनका मूल स्थान छतरपुर रियासत में केन नदी के किनारे मनियागढ़ था।

शक्ति का उदय—९ वीं शताब्दी के आरम्भ में नन्नुक नामक चन्देल ने इस वंश की नींव डाली। इसका पौत्र जयशक्ति अथवा जैजा था, जिसके नाम पर इस प्रदेश का नाम जैजाक भुक्ति पड़ा। अभिलेखों से ज्ञात होता है कि इस कुल के राजा पहिले प्रतिहारों के सामन्त थे। हर्ष देव चन्देल ने प्रतिहारों की ग्रह कला से लाभ उठाया। उसने भोज द्वितीय के विरुद्ध उसके सौतेले भाई महीपाल की सहायता की तथा उसको सफल बनाकर स्वयं भी शक्ति सम्पन्न हो गया। फिर यशोवर्मन के राज्य काल में उनकी स्वतन्त्रता और बढ़ गई। इन्होंने चेदियों, मालवों और कोशलों के प्रदेश भी छीन लिये। खजुराहो के एक अभिलेख के आधार पर यशोवर्मन गुर्जरों के लिए अग्नि के समान था। उसने कालन्जर का किला बहुत ही आसानी से जीत लिया था। यही नहीं उसने देवपाल प्रतिहार से बैकुन्ठ की विष्णुमूर्ति बलपूर्वक लेकर खजुराहो के मन्दिर में स्थापित की थी।

धंग—(९५०—१००२ ई०) यशोवर्मन के पश्चात् उसका पुत्र धंग गद्दी पर बैठा। धंग प्रतीहार राजा को (विनायकपाल द्वितीय) ही अपना स्वामी मानता है, इससे स्पष्ट है कि चन्देलों ने बहुत समय तक स्वतन्त्र होते हुए भी अपना नाता प्रतिहारों से न तोड़ा था। धंग के समय चन्देलों की पर्याप्त उन्नति हुई। मऊ के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने कन्नौज के राजा को पराजित कर दिया था। इसी का समर्थन खजुराहो का लेख भी करता है। धंग ने ग्वालियर का दुर्ग ले लिया था, जो उनकी शक्ति का गढ़

बना। उसके अधिकार में काशी तक का प्रदेश आ गया था जैसा कि उसके एक दान से विदित होता है जिसमें उसने काशी में एक ब्राह्मण को एक गाँव दिया था। उसने जयपाल की सहायता के लिए हिन्दू संघ का साथ दिया जो उसने सुबुक्तगीन के विरुद्ध बनाया था।

गंड—धंग के पश्चात् उसका पुत्र गंड गद्दी पर बैठा। उसने भी १००८ ई० में महमूद के आक्रमण को रोकने के लिए आनन्द पाल के संघ की सहायता की। इसी ने कन्नौज के राज्यपाल को दंड देना चाहा, क्योंकि उसने महमूद के सामने आत्म सर्मपण कर दिया था। इसके लड़के विद्याधर ने आखिर प्रतीहार राजा (राज्य पाल) को मार डाला। जब महमूद को इसकी सूचना मिली तो उसने १०१६ में उस (गंड) पर एक भारी सेना के साथ चढ़ाई कर दी। गंड इतने बड़े आक्रमण को न रोक सकता था अतः स्वयं भाग खड़ा हुआ। महमूद ने १०२२ में चन्देलों पर पुनः आक्रमण किया और १०२३ में ग्वालियर ले लिया। इसके अनन्तर कालिंजर का घेरा डाला। इस पर गंड ने भी आत्म समर्पण कर दिया। (इसीके लिए दूसरे को दंड देने चला था।) अन्ततः महमूद बहुत सा धन धान्य लेकर चला गया।

गंड के पश्चात् चन्देलों का प्रमुख राजा कीर्ति वर्मा हुआ। उसने चन्देलों की खोई हुई शक्ति लौटा ली। इसने अपनी प्रारम्भिक हारों का चेदियों से बदला भी ले लिया। पहले यह लक्ष्मी कर्ण से हार गया था पर कृष्ण मिश्र रचित प्रबोध चन्द्रोदय से ज्ञात होता है कि उसने चेदि राजा को पराजित किया। इस कुल का दूसरा समर्थ राजा मदन वर्मन हुआ। इसने सम्भवतः गुर्जर राज सिद्धराज जयसिंह को पराजित किया था। मऊ के एक लेख से तो उसकी चेदियों पर विजय का पता लगता है। यही नहीं उसने मालवा के परमारों को भी तंग किया। इस कुल का अन्तिम प्रसिद्ध राजा परमार्दि था। इसने लगभग ११६५ से १२०३ ई० तक राज्य किया। मदनपुर के लेख तथा पृथ्वीराज रासो से विदित होता है कि ११८३ ई० में पृथ्वीराज ने उसे हराया था। चूंकि हम देखते हैं कि वह परमार्दि १२०३ ई० में कुतुबुद्दीन का कालिंजर के घेरे के समय मुक़ाबला करता है, अतः यह सिद्ध है कि पृथ्वीराज ने उसका अन्त न किया था, पर उसका अन्त आ गया था और ऐबक के हाथ उसे आत्म सर्मपण करना पड़ा।

चेदि राज्य

चेदि राज्य बुन्देलखण्ड के दक्षिण में स्थित था। इसके दो भाग थे—उत्तरी तथा दक्षिणी। उत्तरी भाग में जबलपुर, रीवा, पन्ना आदि प्रदेश थे। इसकी राजधानी त्रिपुरी थी। दक्षिणी भाग में कोसल का भाग था जिसकी राजधानी रतनपुर थी।

त्रिपुरी में कलचुरि राजवंश का राज्य था। इसमें एक सम्वत् चलता था जिसे त्रैकूटक सम्वत् कहते थे। यही आगे चलकर कलचुरि सम्वत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नवीं शताब्दी के अन्त में हम देखते हैं कि ये गुर्जर प्रतिहारों के सामन्त थे। उनका सबसे पहला राजा कोक्कल प्रथम हुआ। उसने चन्देल राजकुमारी नट्टदेवी से विवाह किया। उसका सम्बन्ध राष्ट्रकूटों से भी निकट का था, क्योंकि उसने अपनी कन्या कृष्ण द्वितीय राष्ट्रकूट को विवाह दी थी। धीरे-धीरे वह इतना प्रबल हो गया कि राष्ट्रकूट और प्रतिहार उसकी सहायता और मैत्री की कामना करने लगे।

१०१९ ई० के लगभग इस वंश का राजा गांगेय देव हुआ। महोबा के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उसने उत्तर भारत में काँगड़ा तक धावा किया। साथ ही प्रयाग तथा काशी पर अपना आधिपत्य जमा लिया। नैपाल के एक हस्तलिखित लेख में उसे तीरभुक्ति (तिरहुत) का स्वामी बतलाया गया है। गांगेय देव ने उत्कल भी जीता और एक विस्तृत साम्राज्य खड़ा कर लिया। उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। इसी समय मालवा के भोज ने भी अपनी दिग्विजय प्रारम्भ की थी, गांगेय देव को बहुत आगे बढ़ने का अवसर हाथ न लगा।

कर्णदेव १०४१-७०—गांगेय देव के पश्चात् उसका पुत्र कर्णदेव राजा हुआ। इसका विवाह हूण राजकन्या आवल्ल देवी से हुआ। उसने अपने पिता की तरह उत्तर में दूर दूर तक विजय की। उसने सोलंकी राजा भीम की सहायता से मालवा के परमार राजा भोज को हराया। इधर वह स्वयं मगध के पाल राजा को पराजित कर चुका था। यही नहीं उसने चंदेल राजा को भी परास्त किया। उससे धुर दक्षिण के चोल और पांड्य भी डरने लगे थे। अपनी विजयों के उपलक्ष में उसने त्रिकलिंगाधिपति की उपाधि धारण की। इसका फल यह हुआ कि उसके शासन के अन्तिम दिनों में उसे परमार तथा चन्देल दोनों ने सताया और अन्ततः उसे चन्देल राजा कीर्त्तिवर्मा के हाथ हार खानी पड़ी।

यशःकर्ण १०७१-११२५—कर्णदेव का पुत्र यशःकर्ण उसके पश्चात् गद्दी पर बैठा। उसने राज्य की गिरती दशा को सम्हालने का प्रयत्न किया। उसने चालुक्यों तथा पालों को पराजित भी किया। पर उसे कन्नौज के गाहड़वाल और बुन्देल खण्ड के चन्देलों के सामने दबना पड़ा। उसका उत्तराधिकारी गया कर्ण था। (११२५-११५४ ई०) इस समय तक इसकी रतनपुर की शाखा मूल से अलग हो चुकी थी, अतः कलचुरी राज्य छोटा रह गया। इसका फल यह हुआ कि फिर गाहड़वालों और चन्देलों का सामना करने की

सामर्थ्य ही न रह गयी। इस वंश का अन्तिम राजा विजयसिंह देव था, पर उसके बाद इस वंश का अंत कैसे हुआ यह ज्ञात नहीं।

इस प्रकार इस काल में भारत के उत्तरी भाग ने कश्मीर से लेकर विंध्याचल तथा बंगाल से सौराष्ट्र तक अनेक राजवंश देखे जो कभी भी किसी राष्ट्रीय भावना को लेकर खड़े न हो सके, बल्कि एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी रहे और विदेशियों के एक एक करके शिकार बनते गये।

राजपूत काल की संस्कृति

वस्तुतः आश्चर्य की बात है कि हर्ष के पश्चात् भारत में लगभग ६०० वर्ष तक राजनीतिक एकता का नाम न रहा, पर सभ्यता व संस्कृति की उन्नति में कमी न आयी। अनेक राजपूत राजा एक ओर युद्ध करते रहे, दूसरी ओर निर्माण कार्य। अनेक स्वयं कवि तथा विद्वान हुए और लगभग सभी ने बड़े-बड़े विद्वानों को आश्रय दिया। भारतीय संस्कृति विशेष कर हिन्दू संस्कृति के लिए यह युग अमूल्य कार्य कर गया। इस बीच संस्कृति पर आघात भी कम न हुए पर किसी न किसी प्रकार प्राचीन दीवाल खड़ी रही, इसके अनन्तर उसका धराशायी होना स्वाभाविक था जब कि आक्रमणकारी यहाँ बसने की सोचने लगे। जब तक वे आक्रमणकारी रहे, तब तक या तो वे स्वयं लौट गये अथवा हमने पचा लिये। इस युग में काव्य, कारीगरी, विद्या सभी की उन्नति के प्रयत्न हुए, उसका एक ही मूल कारण था कि राजा चाहे जितने छोटे या बड़े रहे, पर उन्हें हृदय से चाह रही कि वे इस ओर भी प्रोत्साहन दें। इस युग की संस्कृति की चर्चा करते हुए हम कभी भी मालवा के मुञ्ज, भोज, अजमेर के वीसलदेव, कन्नौज के यशोवर्मन और राष्ट्रकूट अमोघ वर्मा आदि को भुला ही नहीं सकते।

सामाजिक अवस्था—इस काल में भी समाज जातीय आधार पर बना हुआ था। जातीय बंधन कठोर हो चले थे, पर अधिक नहीं। मुसलमान आये और राजपूत पराजित हुए, पर उन्होंने अपने सामाजिक नियम ज्यों के त्यों रखे। कहीं कहीं तो हमारे प्राचीन नियमों में भी उदारता का अंश आ गया। जैसे प्रतीहार वंश के सम्राट मिहिरभोज तथा उसके पुत्र पौत्रों में से ही किसी एक के समकालीन विद्वान मेधातिथि थे। उन्होंने मनुस्मृति पर भाष्य लिखा। उसमें उन्होंने लिखा है कि एक ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य की कन्या से विवाह कर सकता है।

दत्तक पुत्र के लिये एक ही वर्ण का होना आवश्यक नहीं। सारांश यह कि उन्होंने जन्म को अधिक प्रधानता न देकर कर्म को दी। उनका दृष्टिकोण शूद्रों के प्रति भी उदारता पूर्ण रहा। मेधातिथि के अनुसार एक शूद्र भी अग्नि

को आहुति दे सकता था। शूद्र कुछ धर्म यज्ञ भी कर सकता था। मेधातिथि के अनुसार शूद्र भी द्विजों के समान ही था।

इसके अतिरिक्त हमें इस काल का ज्ञान अरब लेखकों तथा देवल स्मृति से भी होता है। एक अरब लेखक का कथन है कि हिन्दू समाज में अनुलोभ विवाहों का प्रचलन था। कथा सरित्सागर भी इसी का समर्थन करती है। विभिन्न जातियों में खान-पान सम्भव था, साथ ही ब्राह्मण अन्य व्यवसाय भी कर सकते थे।

इस युग में एक विचित्र बात और भी हुई। ८००--९०० ई० के बीच देवल स्मृति की रचना हुई। उसमें जो लोग मुसलमान बना लिये जाते थे उनको समाज में पुनः लाने की विधि भी दी है। देवल के अनुसार सिन्ध, काठियावाड़, कोंकण, उड़ीसा और बंगाल में शुद्धीकरण की प्रथा चल चुकी थी। शुद्धीकरण के लिए उसने कुछ साधारण क्रियाएँ बतायीं हैं और छोटी आयु के बच्चों के लिए ये क्रियाएँ उनके माँ बाप ो करनी पड़ती थीं। भगायी गयी स्त्रियों को तीन दिन रात भोजन और सम्भोग से परहेज करना पड़ता था, जिसके पश्चात् वह परिवार वालों में मिल सकती थीं। साथ ही माता पिता के मुसलमान होने पर यह आवश्यक न था कि उनका पुत्र भी मुसलमान हो जाय। मुसलमान लेखकों ने इस बात का उल्लेख किया है कि हिन्दू न केवल अपने परिवार वालों को ही शुद्ध कर लेते थे, वरन् मुसलमान स्त्रियों को भी शुद्ध कर लेते थे। पर यह अवस्था राजपूत युग के प्रारम्भ की है। इसके उत्तर काल में हम देखते हैं कि अलबरूनी का वर्णन इससे कुछ भिन्न है। वह लिखता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय एक वर्ग में संगठित थे। वैश्य और शूद्र दूसरे में। परन्तु यह वर्णन प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर आधारित नहीं है। वस्तुतः उसके समय में भी चारों वर्णों में उपजातियां बन चुकी थीं। इस युग में सबसे बड़ी बात यही हुई कि सभी ब्राह्मण एक न रहे, इसी तरह सभी क्षत्रिय एक क्षत्रिय न रहे और इनके खान-पान भी कम होने लगे थे।

कहना न होगा कि जो हिन्दू समाज एक दिन अपनी उदारता के लिए विख्यात था, वही अब संकीर्णता के लिए हो गया। विदेशियों के प्रति तो उन्हें घृणा हो गयी थी और ज्ञान विज्ञान तक के आदान-प्रदान को वे बुरा समझते थे। वे उन्हें म्लेच्छ कह कर पुकारने लगे थे। उनमें इसी काल में एक मिथ्या अभिमान आ गया था कि उनके देश के तुल्य अन्यत्र ज्ञान, विज्ञान, धर्म कुछ भी नहीं है। और वे उसे किसी गैर को देने भी नहीं जा रहे।

स्त्रियों की दशा—इस काल में स्त्रियों की दशा सुधार की ओर न चल कर पतन की ओर चली। दक्षिण तथा कश्मीर में तो सती प्रथा का प्रचलन

था । मुसलमानों के आने के पश्चात हिन्दुओं में भी पर्दे को प्रोत्साहन मिला । अभी तक उनकी शिक्षा में विशेष कमी न आने पायी थी । हम देखते हैं कि मण्डल मिश्र की स्त्री भारती शास्त्रार्थ का निर्णय कर सकती थी । राजशेखर की पत्नी अवन्ति सुन्दरी एक उच्चकोटि की कवियित्री भी थी । एकाध स्थल पर उन्होंने राज्य भार भी सम्हाला तथा—कश्मीर में दिद्धा, बारंगल में रुद्राम्बा ।

समाज का स्तर—भारतीयों का परस्पर जो भी भाव बन गया था पर चरित्र का पतन न आया था । उनके लिए अलइद्रिसी लिखता है, **"भारतीय स्वभाव से न्याय प्रिय हैं तथा अपने कार्यों में वे कभी भी इससे विमुख नहीं होते । उनके श्रेष्ठ विश्वास, ईमानदारी, और उनकी वचन बद्धता को हम सभी जानते हैं । अपने इन गुणों के कारण वे इतने प्रसिद्ध है कि हर ओर से लोग उनकी ओर आते हैं । उनके देश की स्थिति सम्पन्न है ।"**

आर्थिक जीवन—भारत का आर्थिक जीवन सदा से कृषि पर निर्भर रहा है । इसकी कभी उन्नति हुई, कभी अवनति । अधिकांश राजाओं ने कृषि का $\frac{1}{6}$ अंश कर के रूप में लिया, पर कभी कभी कुछ अलग कर भी किसानों को देने पड़े । इस काल में भी वही प्राचीन ढर्रा चला आ रहा था । कृषि के साथ अन्य व्यवसाय भी चल रहे थे । इस समय भी व्यापारिक श्रेणियाँ बनी थीं, जो बैंकों का कार्य करती थीं । हमारे यहां की महीन बुनाई की प्रसिद्धि दूर दूर तक थी, एक अरब यात्री सुलेमान ने लिखा है—

"जैसे कपड़े यहाँ बुने जाते हैं, वैसे अन्यत्र नहीं, वे इतने बारीक होते हैं, कि पूरा थान एक अँगूठी से होकर निकल सकता है ।"

भारत वासी जहाज बनाने में भी बड़े निपुण रहे । वे इतने बड़े जहाज उस समय भी बना लेते थे कि एक जहाज में १००० मनुष्य आ सकें । एक ग्रन्थ युक्ति कल्पतरु इस समय के जहाज निर्माण का बड़ा ही स्पष्ट ज्ञान प्रदान करता है । उसमें लिखा है कि जहाज में लोहे की कील न लगानी चाहिये । क्योंकि समुद्र में कहीं कहीं चुम्बक पत्थर होते हैं और उनके कारण जहाज को चलने में कठिनाई हो सकती हैं । भारतीय व्यापार तो युगों से विदेशों के साथ रहा और इस काल में भी कम न हुआ । व्यापार स्थल तथा जल दोनों ही मार्गों से होता था । इस काल में व्यापारिक क्षेत्र में अरब वाले बढ़े-चढ़े थे । वे मिश्र, भारत, चीन सभी ओर चलते थे । व्यापारिक वस्तुओं में आवनूस, वेत, कपूर, गर्म मसाले, चन्दन आदि वस्तुएँ थीं । एक बार कहते हैं कि हजरत उमर ने एक यात्री से भारत की समृद्धि के विषय में पूछा, तो उसका उत्तर यह था, **"भारत की नदियां मोती हैं, पर्वत लाल हैं और वहाँ के वृक्ष**

ध्न हैं। पश्चिमी देशों से ही नहीं पूर्वी देशों से भी उतना ही अधिक भारतीय व्यापार हुआ करता था, पूर्व में तो हमारे उपनिवेश बस चुके थे।

राजनीतिक संगठन—इस युग की शासन पद्धति का कुछ ज्ञान हमें गुर्जर प्रतिहारों के अभिलेखों से होता है। थोड़े बहुत अन्तर के साथ यही पद्धति इस युग के राजाओं ने अपनायी। इस समय सम्राट निरंकुशता की ओर बढ़ चले थे, क्योंकि अशान्ति को दूर करने के लिए यही एक उपाय था। अत: स्थानीय संस्थाओं के प्रबन्ध के विषय में कुछ करना न रह गया था। इन राजाओं में फिर भी एक अच्छाई थी, कि वे प्रजा के हित का सदा ध्यान रखते थे।

इन राजाओं के सलाहकार उन्हें सलाह देते थे, पर उनकी सलाह मानने को राजा बाध्य न था। इनकी सहायता इनके सामंत करते थे जो अपने क्षेत्र में आन्तरिक स्वतन्त्रता का अनुभव करते हुए भी अपने स्वामी की सेवा और आज्ञा के बाहर न जाते थे, पर यह सामन्तशाही ही अनेक वंशों के उत्थान पतन का मूल कारण रही, जहाँ किसी सामन्त को मौका मिला कि वह स्वतन्त्र-हो गया। सामन्तों के ऊपर केन्द्रीय शासन कठोर होता था। राजा का पद वंशानुगत था। जब कभी इसमें व्यतिक्रम हुआ तो नियम को भंग करके तथा अनुचित रीति से। राजा बहुधा अपने जीवनकाल में ज्येष्ठ राजकुमार को राजा घोषित कर देता था। राजा इस समय अनेक उपाधियाँ धारण करते थे। यथा पृथ्वीवल्लभ, परमेश्वर, महराजाधिराज, परम भट्टारक। यह न्याय, प्रबन्ध और सेना तीनों का सर्वोच्च अधिकारी होता था। वही सदा घोषणाओं को निकालता, उच्च पदाधिकारी नियुक्त करता तथा आय-व्यय को देखता था। कभी-कभी युद्धों में अधिक व्यय होने के कारण कर भी लगाता था।

प्रान्तीय शासन—इस समय प्रान्तों को भुक्ति या भूमि कहते थे। भुक्ति का शासक बहुधा उपरिक महाराज अथवा राजस्थानीय कहा जाता था। प्रान्तों की रक्षा के लिए छोटी-छोटी सेनाएँ प्रान्तों में भी रहती थी। भुक्ति विषयों में बटे होते थे। और विषयों को अग्रहारों में बाँटा जाता था। यह आज की तहसील के बराबर होता था। इसमें अनेक ग्राम रहते थे। इस प्रकार शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम ही था। इसका अध्यक्ष गुप्तकाल की भाँति अब भी ग्रामिक था। इसकी सहायता के लिए ग्रामवृद्धों की एक सभा रहती थी।

नगरों का शासन कहीं-कहीं नगरपालिका की भाँति एक सभा देखती थी, इसे पञ्ज कुल कहते थे, जैसा कि सियादोनी अभिलेख से ज्ञात हुआ है, पर यह मौर्यकाल की भाँति सुव्यवस्थित न थी। आये दिन नगरों में विशेष कर

राजधानी वाले उत्पात, आक्रमण आदि होते रहते थे। उनकी रक्षा के लिए दुर्गों का प्रबन्ध सदा रहता था।

इस समय दण्डनीति मृदु कही गयी है। अलवरूनी इसे देखकर दंग रह गया था। उसने लिखा है, "**इस विषय में हिन्दुओं के आचरण और रिवाज ईसाइयों के आचरणों तथा रिवाजों से मिलते-जुलते हैं। क्योंकि वे गुण के सिद्धान्त पर आधारित हैं।**"

धार्मिक जीवन – इस समय बौद्ध तथा जैन धर्म अपनी सत्ता लगभग खो से चुके थे और पौराणिक हिन्दू धर्म का प्रचार था। हिन्दू धर्म में विष्णु के विभिन्न अवतार माने जाने लगे थे। परलोक तथा इस लोक के कल्याण के लिए लोग मन्दिर बनवाते तथा मूर्तियों की स्थापना करते थे। विष्णु के बाद शिव की उपासना का महत्व था। इस समय के अभिलेखों में भी शिव की चर्चा बहुत है। शिव की उपासना मूर्ति पूजा तथा ब्रह्म दोनों रूपों में होती थी। शंकर ने शिव के लिए चारों दिशाओं में चार मठ स्थापित किये, जो आज भी उन्हीं के नाम पर चले आ रहे हैं, ये मठ द्वारिका, बद्रीनाथ, पुरी और रामेश्वरम् में बनवाये गये थे। वस्तुतः शंकर ने हिन्दू धर्म की जड़ें पुनः हरी कर दीं, और बौद्ध धर्म को भारत से बाहर कर दिया, उन्होंने अपने थोड़े ही जीवन में सदियों का कार्य कर दिखाया। शिव के अतिरिक्त सूर्य की पूजा की जाती थी। हम देखते हैं कि सूर्य के लिए भी मन्दिर बनवाये गये। यथा चौहान राजकुमार इन्द्रराज का सूर्य मन्दिर। इसके अतिरिक्त कार्त्तिकेय, दुर्गा आदि की पूजा की चर्चा भी इस समय मिलती है। इन देवी देवताओं की मूर्त्ति बनाना ही पुण्य समझा जाने लगा था। विभिन्न देवी देवताओं के मन्दिरों में पुजारी रहने लगे थे।

धार्मिक सहिष्णुता फिर भी इस युग में थी। एक ही कुटुम्ब के लोग अलग अलग देवताओं के उपासक थे। यथा वत्सराज और महेन्द्रपाल द्वितीय शिव के भक्त थे। जब कि नागभट्ट द्वितीय, मिहिरभोज, भगवती के उपासक थे। रायभट्ट और महीपाल सूर्य के भक्त थे। सहिष्णुता का दूसरा प्रमाण हमें गाहड़वान राजा गोविन्द चन्द्र की घोषणा से मिलता है। वह कहता है कि उसने काशी में गङ्गा स्नान करके देवताओं, ऋषियों और पूर्वजों की तृप्ति की। इसके पश्चात् उसने सूर्य, शिव और वासुदेव की पूजा करके अग्नि में चावल समर्पित किया और इनके पश्चात उसने जेतवन में रहने वाले शाक्य भिक्षुओं को छः ग्राम दान में दिये। इस काल में हम देखते हैं कि वैदिक कर्मकाण्ड, शैव तथा वैष्णव सभी का एक समन्वित रूप बन गया था। अभी भी होम और यज्ञ मिट न गये थे। इनकी चर्चा अलवरूनी ने की है। अलबरूनी ने बलि चढ़ाने का भी उल्लेख किया है। वह लिखता है, कि दुर्गा,

क्षेत्रपाल और विनायक आदि के उपासक भेड़ और भैंसों को काट कर चढ़ाते हैं। ब्राह्मणों में तीन बार (त्रिकाल) संध्या करने का प्रचलन हो गया था। इसके अतिरिक्त आत्मिक शुद्धता के लिए व्रत आदि रखना अच्छा समझा जाने लगा था। ग्रहण के समय स्नान, दान और तीर्थ यात्रा होने लगी थी।

धर्म में विकार—इस समय धार्मिक जीवन के व्यवहारिक रूप में कहीं कहीं विकार भी आ गये थे। यथा राधाकृष्ण के पूजन में श्रृंगार का समावेश, विहार, उड़ीसा, और बंगाल में तन्त्रवाद। यद्यपि इस समय ऐसे अनेक महात्मा भी इस युग में हुए जिन्होंने इस विकार को दूर करना चाहा पर वे उस प्रवृत्ति को सर्वथा न रोक सके। इन सन्तों की चर्चा अगले परिच्छेद में होगी।

साहित्यिक प्रगति—इस युग में साहित्य की कल्पना तो सम्भव न थी। पर तथ्य यह है कि हुई। इस समय के सम्राट् स्वयं विद्वान हुए। और उन्होंने सदा विद्या का सम्मान किया। इस समय के साहित्य में हमें माघ का शिशुपाल वध, श्री हर्ष का नैषध, भवभूति के उत्तर राम चरित, महाबीर चरित और मालती माधव, राजशेर की कर्पूर मञ्जरी, कृष्णमिश्र का प्रबोध चन्द्रोदय, विग्रहराज का हरिकेलि, क्षेमेन्द्र की वृहत्कथामञ्जरी, सोमदेव की कथा सरित्सागर, कल्हण की राजतरंगिणी, विल्हण का विक्रमांक चरित, अभिनव गुप्त का ध्वनि काव्य, आनन्द वर्धन का ध्वन्यालोक, जयदेव का गीत गोविन्द आदि अनेक ग्रंथ देखने को मिलते हैं। इन ग्रंथों में गीति गोविन्द जैसे गीतिकाव्य, उत्तर राम चरित जैसे नाटक, शिशुपाल वध जैसे महाकाव्व, नैषध जैसे आलांकारिक ग्रंथ, ध्वन्यालोक जैसे मीमांसा ग्रंथ, राज तरंगिणी जैसे इतिहास परक काव्य, वृहत्कथा मंजरी जैसे कथा साहित्य आयुर्वेद सर्वस्व जैसे आयुर्वेद ग्रंथ, सभी की अनुपम छटा देखते हैं। इस युग में क्या नही बना। ज्योतिष के प्रामाणिक ग्रन्थ बने, वास्तुकला पर तथा जहाज़-रानी पर ग्रंथ बने जिनकी चर्चा हम यथा स्थान कर चुके हैं। एक विशेष बात इस स्थल पर उल्लेखनीय है कि कविता के क्षेत्र में हमें कालिदास जैसी सरसता और प्रसाद गुण पूर्ण रचनाओं के इतने दर्शन नहीं होते जितने आलांकारिक ग्रंथों के। उसका कारण यह था कि पहले ग्रंथ नायक की प्रसन्नता के लिए न लिखे जाते थे, इस समय नायक की प्रसन्नता तथा उसका प्रशंसात्मक विवरण मुख्य लक्ष्य था। इस युग में कहना न होगा कि शंकर जैसे अद्वैत वेदांती हुए, रामानुज और मध्वाचार्य हुए जिनके दार्शनिक ग्रंथों के काव्य मूल ग्रंथों में जीवन फूंक देते हैं। इनके साथ हम निम्वार्क और हेमचन्द्र को नहीं भुला सकते जिन्होंने अपने अपने क्षेत्रों में अद्वितीय कार्य किये। (निम्वार्क की टीका ब्रह्म सूत्रों पर है और हेमचन्द्र की जैन सिद्धान्तों पर)

कला—कला के क्षेत्र में भी इस युग में कम कार्य नहीं हुआ। राजपूत राजा युद्ध प्रिय ही नहीं, निर्माण प्रिय भी थे। उनके मन्दिर, घाट, सिचाई के साधन, भवन, दुर्ग सभी में हमें कला और कारीगरी के दर्शन होते हैं। फर्ग्यूसन लिखता है कि—**"हिन्दू शिल्पी ने जिस धैर्य पूर्ण छैनी के सहारे सफेद संगमरमर को काटकर अपनी आकृतियों को ढाला है, वे बिल्कुल रेशम से कढ़ी हुई जान पड़ती हैं।"**

इसका एक बहुत बड़ा कारण रहा, कि देशी विदेशी सभी के उत्पात और अत्याचारों से पीड़ित जनता को देव मन्दिरों में ही शरण दिखायी दी। फिर राजा और सामन्त अपना यश तथा गौरव इसी बात में समझते थे कि उनके नाम की कोई कृति खड़ी रहे। इस कला का इसके अतिरिक्त कलाकार के लिए एक अन्य उद्देश्य भी रहा। कलाकार ने सदा आध्यात्मिकता (Spiritualism) की ओर संकेत किया। उसने अनन्त और निराकार को सांत (अन्त सहित) और साकार रूप में बिठान की चेष्टा की। कुछ उदाहरण इसको सिद्ध कर देंगे।

१. खजुराहो—झांसी से लगभग १०० मील दक्षिण पूर्व बुन्देल खण्ड में चन्देलों की राजधानी खजुराहो रही। इसमें एक तालाब के किनारे १ मील के क्षेत्र में २५ जैन तथा हिन्दू मन्दिरों का समूह है। ये ६५० तथा १०५० ई० के बीच की कृतियाँ हैं। ये सभी आर्यावर्त शैली में बने हैं। प्रत्येक मन्दिर एक ऊँचे चबूतरे पर खड़ा है। हरएक में तीन कक्ष हैं जिनमें प्रत्येक की ऊँचाई क्रमशः बढ़ती गयी है। और सबसे अधिक ऊँचाई पीछे के कक्ष की है जिसके नीचे गर्भ गृह है, जहाँ मूर्ति की स्थापना होती है। कक्षों की छतें स्तूपाकार हैं। ये स्तूप ऊपर की ओर छोटे होते गये हैं। गर्भ गृह पर वर्तुलाकार का एक शिखर है, जो बहुत से छोटे-छोटे शिखरों से मिलकर बना है। शिखर के ऊपर आमलक, उसके ऊपर कलश और अन्त में ध्वज दंड है। मूर्ति प्रकोष्ठ के चारों ओर प्रदक्षिणा मार्ग और उसके सम्मुख भाग में सभामण्डप है। इस पर अनेक प्रकार की सजावट की चीजें तथा मूर्तियाँ बनी हैं। इन मंदिरों में सर्वोत्तम मंदिर कंडारिया महादेव का मंदिर है जो लगभग १००० ई० में बना है। यह कैलाश पर्वत का चित्र उपस्थित करता है। यहाँ का वैष्णव चतुर्भुज तथा आदिनाथ का जैन मन्दिर भी इसी रूपरेखा का है पर मूर्ति की भिन्नता है। इनकी मूर्तियाँ भी बड़ी ही सजीव हैं।

२. राजस्थान और भारत—राजस्थान के मन्दिरों की कथा बड़ी करुणाजनक है, क्योंकि इनको तोड़कर मुसलमानों ने या तो दिल्ली की कुब्बुतुल इस्लाम की अथवा अजमेर की मस्जिद बना डाली। कहा जाता है कि अजमेर की मस्जिद में तो कम से कम ५० मंदिरों की सामग्री काम आई। यही नहीं

यहाँ के मन्दिरों की सामग्री तो विदेशी मस्जिदों में पावदान बनी। फिर भी कुछ स्मारक अब भी बचे हैं। यथा उदयपुर का उदयेश्वर मंदिर जो ११ वीं शताब्दी में बना और खजुराहो के नमूने पर ही है।

३. जोधपुर से पश्चिम उत्तर में लगभग ३२ मील पर ओसिया गाँव में १६ मंदिर हैं। इनमें से ११ मंदिर आठवीं व नवी शती के हैं। ये मंदिर छोटे हैं, पर कला की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं! सबसे सुन्दर इनमें सूर्य मन्दिर बना है। महावीर का मन्दिर भी इन्हीं में है और अपनी अच्छी दशा में है चूंकि इसका जीर्णोद्धार बीच में एक बार हो चुका है। गुहा मंदिरों के उदाहरण हमें झलरा पाटन से ५० मील दूर दमनर में, तथा कांगड़ा के मसरूर में मिलते हैं।

४. उड़ीसा के मन्दिरों में भी अच्छा कला का ज्ञान प्रदर्शित है। उड़ीसा में भुवनेश्वर के मन्दिर सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें मुक्तेश्वर, राजरानी, और लिंगराज के मंदिर यहां के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। लिंगराज के मंदिर का शिखर १६० फ़ीट है। कोणार्क का सूर्य मन्दिर अपनी प्रतिभा में अलग है। इस मन्दिर में सूर्य देव अपने सात घोड़ों के रथ पर बैठे दिखाये गये हैं। पूरा मंदिर रथ की शक्ल का बना है, जिसमें १२ पहिये हैं। मंदिर का सबसे नीचे का भाग पहिये की तरह बना है और इसके घोड़े बड़े ही सजीव हैं। इसके अतिरिक्त जगन्नाथपुरी का प्रसिद्ध मंदिर भी अत्यन्त चित्ताकर्षक है।

५. सोलंकी कला—राजाओं में जैन धर्म को मानने वाले भी थे, अतः इनके मन्दिरों में जैन मन्दिर भी बहुत हैं। इनका सबसे पुराना मंदिर अनहिल वाड के समीप का है, इनमें से सुनक का नीलकंठ का मंदिर अभी अच्छी दशा में है। इस युग का बड़ौदा का सूर्य मन्दिर भी अत्यन्तसुन्दर है। ११ वीं शताब्दी में आबू पर्वत पर सफेद पूरा संगमरमर का विमलशाह का जैन मंदिर है। मुख्य मंदिर ऋषभदेव का है जो ९८ फीट लम्बा और ४३ फीट चौड़ा है। कारीगरी इसके बाहरी भाग पर न होकर भीतर है! इसके अन्दर अनेक पतले स्तंभ उनके ऊपर सूँड़ के आकार की छत और अनेक मूर्तियाँ हैं। इसी शैली के मंदिर मारवाड़ के मल्लानी जिले में हैं। इनमें से एक विष्णु का तथा दूसरा सोमेश्वर का है।

ग्वालियर के किले में एक विष्णु मंदिर है जिसे सासबहू का (सहस्त्रबाहु का बिगड़ा रूप) मंदिर कहते हैं। एक तेली का मंदिर है, यह ८० फीट ऊँचा है। वस्तुतः यह ड्योढ़ी मात्र रह गया है, पर कला की दृष्टि से न्यून नहीं है।

कश्मीर—कश्मीर की शैली अन्य शैलियों से भिन्न है। यहाँ के मन्दिर आकार में विशेष रूप से बड़े हैं। इनमें भारी भारी पत्थरों को एकसा करके ऐसे चुनाई की गई है कि जोड़ का ज्ञान ही नहीं होता। इनका प्रणेता

ललितादित्य था। इस शैली में गुप्त शैली के साथ-साथ गान्धार शैली का भी सम्मिश्रण रहा है। यहाँ अनेक स्मारक बौद्ध धर्म से सम्बन्धित हैं। परिहासपुर का स्तूप ललितादित्य के समय का है। यहाँ के हिन्दू मंदिरों में शिखर और मण्डप कुछ भी नहीं रहता, केवल गर्भ-गृह रहता है। उनमें दोहरी कोणाकार छत, त्रिकोण द्वार और ताक बने हैं। इन मंदिरों में ललितादित्य का बनवाया मार्तण्ड मंदिर बहुत ही रमणीय है। अवंति वर्मा के बनाये हुये अवंति ईश्वर (अवन्तेश्वर) नामक शिव मंदिर, अवंति स्वामी नामक शिव मंदिर, विष्णु मंदिर अभी भी उसके बसाये नगर अवंतिपुर में बने हैं।

इन मन्दिरों को देखकर मुसलमान आक्रमणकारी महमूद गज़नवी के ये शब्द उल्लेखनीय हैं **''यदि कोई इसके समान दूसरी इमारत बनाना चाहे, तो वह बिना सौ सहस्त्र लाल दीनार व्यय किए इस कार्य में सफल न हो सकेगा और इसमें दो सौ वर्ष लग जावेंगे। चाहें इनको करने के लिए कितने ही अनुभवी और योग्य श्रमिक क्यों न लगाये जायें।''** अलवरुनी लिखता है **''हमारे देश के लोग जब उन्हें देखते हैं, तो उन पर आश्चर्य प्रकट करते हैं। वे उनका वर्णन करने में भी असमर्थ हैं। उनका निर्माण करना तो दूर है।''**

अन्य कृतियाँ—इस समय मंदिर ही नहीं, अन्य कृतियाँ भी बनी। जैसे चित्तौड़ का विजय स्तम्भ, नगर द्वार, बुर्ज और मूर्तियाँ गुजरात के वदनगर के दो स्तम्भ इसके साक्षी हैं। बंगाल में तो पत्थर के स्थान पर ईंटों और लकड़ी का प्रयोग कमाल का है। १० वीं शताब्दी के पाल राजाओं के चार मन्दिर वर्दवान जिले के वाराकर स्थान में पाये जाते हैं। इनमें गुप्त काल के तथा उड़ीसा के मन्दिरों की कला प्रदर्शित है।

परिच्छेद—१६

दक्षिण भारत के राज्य

(१) **वातापी के चालुक्य**—गुप्त काल के पश्चात् जिस प्रकार उत्तर भारत में छोटे छोटे राज्य बन गए, उसी प्रकार दक्षिण में भी बने। दक्षिण को भी चालुक्यों ने एक सूत्र में बाँधने की चेष्टा की पर उनकी गद्दी बहुत दूर न चली। चालुक्यों के तीन घराने थे (१) अन्हिलवाड़ के चालुक्य (जिनकी चर्चा की जा चुकी है।) (२) वातापी के चालुक्य और (३) कल्याण के चालुक्य ५४३ ई० में पुलकेशी प्रथम ने चालुक्य वंश की स्थापना की। उसने वातापी में अपनी राजधानी बनायी और एक दुर्ग बनवाया। आज कल यहाँ जिला बीजापुर का वादामी बसा हुआ है। पुलकेशी अपने पिता रणराज और पितामह जयसिंह से भी महान् हुआ। उसने अपनी शक्ति का परिचय देने के लिए अश्वमेध किया।

कीर्ति वर्मन (५६७-६७ ई०)—पुलकेशी प्रथम का उत्तराधिकारी कीर्ति-वर्मन हुआ। उसने कदम्बों और नलों को पराजित किया। यही नहीं दक्षिण में कोंकण के मौर्यों को भी दबाया। उसके अधिकार में गोआ का बन्दरगाह आ गया। वह लगभग ५६७ ई० में गद्दी पर बैठा था और उसने ५६७ ई० तक तक राज्य किया। उसके पश्चात् उसका भाई मंगलराज कुछ ही दिनों राजा रह सका।

पुलकेशिन द्वितीय—उसके भतीजे पुलकेशिन द्वितीय ने उसे चैन से न बैठने दिया। और ६०६ ई० में उसने अपना राज्य हस्तगत कर लिया। यह हर्ष का समकालीन था। हर्ष ने उत्तर में अपना यश फैला रखा था। वह दक्षिण की ओर भी बढ़ा, पर पुलकेशिन ने उसे नर्मदा को पार न करने दिया, और हर्ष को अपना सा मुँह लेकर वापस लौटना पड़ा। धीरे-धीरे पुलकेशिन ने एक विस्तृत साम्राज्य बना लिया। उसने दक्षिण से कदंब, उत्तर में लाट, गुर्जर और मालव जीते। हर्ष की विजय के पश्चात् पुलकेशिन ने परमेश्वर और दक्षिण पथेश्वर के विरुद धारण किये। पूर्व की ओर उसने दक्षिण कोसल, कलिंग और पिष्टपुर को जीता। जब उसकी साम्राज्य सीमा पर्याप्त फैल गयी, तो उसने ६१५ ई० के लगभग अपने भाई

विषमसिद्धि को पूर्व की ओर शासन के लिए भेजा। इसका फल यह हुआ कि विषम सिद्धि के पश्चात् उसका पुत्र स्वतन्त्र शासक बन गया। इस प्रकार इनका एक घराना अलग हो गया जो वेंगी के चालुक्यों के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पुलकेशी ने दक्षिण में पल्लव राज महेन्द्र वर्मन को भी पराजित किया। इसका फल चालुक्यों के लिए अनर्थकारी सिद्ध हुआ। नरसिंह वर्मन पल्लव ने पांड्यों, चोडो और केरलों का एक संघ बनाकर उसपर आक्रमण किये। ६४२ में उन्होंने वातापी पर अधिकार कर लिया, क्योंकि पुलकेशी पहले ही रणभूमि में मारा जा चुका था। पुलकेशी द्वितीय के शासन काल में हयूनसांग ने उसके प्रदेश का पर्यटन किया था। वह उसके विषय में लिखता है, "पुलकेशी जाति से क्षत्रिय और गम्भीर विचार वाला है। उसके पड़ोसी राजा उससे आतंकित हैं, पर उसकी प्रजा पूरी भक्ति से उसकी सेवा करती है, यहाँ के निवासी युद्ध प्रिय और बदला लेने वाले होते हैं; पर वे अतिथि का सम्मान करते हैं। वे आपत्ति में पड़े हुए की सहायता करते हैं। उनमें कृतज्ञता कूट-कूट कर भरी है।"

पुलकेशी के पश्चात् लगभग १२ वर्ष तक इस वंश की अवस्था हीन रही। पुलकेशिन द्वितीय के पुत्र विक्रमादित्य ने शक्ति संचय की और पल्लवों को हराकर अपना राज्य हस्तगत कर लिया। इसके पश्चात् उसने तीन पल्लव राजाओं को पराजित किया और उनसे कांची छीन ली। इसके पश्चात् उसका राज्य भाई बन्धुओं में बँट गया, यथा उसका एक भाई चन्द्रादित्य दूर के प्रान्तों का शासक था, और दूसरा जयसिंह लाट का। उनके पश्चात् फिर उनके पुत्रों में राज्य बंटता गया और आठवीं शती में समाप्त हो गया।

(२) **कल्याण के चालुक्य**—डा० आर०जी. भाण्डारकर के अनुसार कल्याण के चालुक्य वातापी कुल के थे। इसके संस्थापक तैलप का कीर्तिवर्मन द्वितीय का वंशज होना भी इनके अभिलेखों से स्पष्ट है, अतः थह भी मूल शाखा से ही निकले थे।

तैलप ९७३—९९७—तैलप कल्याण में राष्ट्रकूटों का सामन्त था। उसने अवसर पाकर अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। यह अवसर उसे विशेष कर इसलिए मिल गया था कि परमारों ने राष्ट्रकूटों पर आक्रमण किया और उनकी राजधानी मान्यखेट लूट कर चले गये। इसके पश्चात् राष्ट्रकूट परस्पर कलह में पड़ गये। इनमें कर्क द्वितीय राज्य का स्वामी बना; अतः तैलप ने उसकी चिन्ता न की और अपनी स्वाधीन सत्ता बना ली। कुछ ही सयय में उसने दिग्विजय प्रारम्भ की। इसमें उसने पहले लाट को हराया, फिर चेदि और चोलों से संघर्ष मोल लिया। मालवा के राजा मुंज का तो उसी के साथ संघर्ष

में प्राणांत हुआ। तैलप ने कुंतल तथा कन्नड पर भी अपना अधिकार कर लिया। २४ वर्ष शासन करने के पश्चात् उसका प्राणांत हो गया।

सत्याश्रय—(९९७-१००८ ई०) तैलप के पश्चात् उसका पुत्र सत्याश्रय गद्दी पर बैठा। उसे राजराज प्रथम चोल ने आतंकित किया, पर वह अपना राज्य किसी प्रकार सम्हाले रहा। उसके पश्चात् उसका भतीजा विक्रमादित्य पंचम गद्दी पर बैठा। इसे भी चोलों के हाथ क्षति उठानी पड़ी। भोज परमार ने भी उसे पराजित किया। पर उसके पश्चात् जयसिंह द्वितीय (१०१६-४२) जगदेकमल्ल ने अपनी राज्य श्री बचा ली।

सोमेश्वर आहवमल्ल (१०४२-६८ ई०)—जगदेक मल्ल के पश्चात् उसका पुत्र सोमेश्वर गद्दी का स्वामी बना। उसकी उपाधियाँ ही विचित्र थीं यथा **आहव मल्ल** और **त्रैलोक्य मल्ल**। उसने जपने पूर्वजों के शत्रु परमारों पर आक्रमण किया और धारा तथा उज्जैन को लूटा। सोमेश्वर एक वीर और युद्ध प्रिय ही न था, बल्कि राजनीतिज्ञ भी था। उसने परमार राजा जयसिंह को उसके उतराधिकार में सहायता दी; क्योंकि वह जानता था यदि वह उसका सहायक न बनेगा तो गुजराती अथवा कलचुरी उसको ही खा जायेंगे, इस प्रकार सोमेश्वर को उत्तर की ओर आक्रमण करने की सुविधा भी मिल गई। इसी बीच उसको चोलों से संघर्ष करना पड़ा। चोलों के अभिलेखों के अनुसार तो चालुक्यों को इस संघर्ष में हानि हुई, पर विल्हण के विक्रमांकदेव चरित के आधार पर यह ज्ञात होता है कि सोमेश्वर प्रथम ने चोलों की शक्ति के केन्द्र काञ्ची पर आक्रमण किया था। इसके पश्चात् वह उत्तर की ओर बढ़ा। वह चन्देलों और कच्छप घातों को उखाड़ता हुआ कन्नौज तक आया। सम्भवत: कोई राष्ट्रकूट राजा इस समय कन्नौज का शासक था जो भयभीत होकर भाग गया था। यही नहीं उसका ओजस्वी पुत्र विक्रमादित्य षष्ठ उसका बड़ा सहायक हुआ, उसने मिथिला, मगध, अंग, वंग, गौड सभी को रौंद डाला। अत: चालुक्यों की शक्ति इस समय अत्यन्त प्रबल हो गयी। इसी समय कल्याणी इसकी राजधानी अधिक समृद्धिशाली हुई। उसने १०६८ ई० में ज्वर से आक्रान्त होकर तुंगभद्रा में प्रवेश कर प्राण त्याग दिये।

सोमेश्वर के पश्चात् उसके दो पुत्रों में उत्तराधिकार का झगड़ा उठ खड़ा हुआ। सोमेश्वर द्वितीय पहिले राजा बना पर विक्रमादित्य जो बाहर गया हुआ था शीघ्र वापस आया और उसने भाई की हत्या कर राज्य हस्तगत कर लिया।

विक्रमादित्य षष्ठम् (१०७६-११२६ ई०)– विक्रमादित्य भी इस वंश का बड़ा प्रतापी राजा हुआ है। उसके अभिलेखों के स्थानों से यह सिद्ध होता है

कि उसने भी अनेक प्रदेशों पर विजय प्राप्त की थी। वह तो अपने युवराज काल में ही इसलिए शिक्षा ले चुका था। उसने कुलोतुंग चोल से वेंगी का प्रदेश छीन लिया। यही नहीं उसने उन्हें नीलम्बाडी प्रदेश से निकाल बाहर किया। उसका साम्राज्य नर्मदा से लेकर तुंगभद्रा तक फैल गया। इसके अतिरिक्त उसने शान्ति तथा सुव्यवस्था का कार्य किया। वह विद्वानों का भी आश्रयदाता रहा। वह बिल्हण का संरक्षक था। उसी की सभा में विज्ञानेश्वर रहता था। उसने बीच बीच में उत्पन्न आपत्तियों का सामना करते हुए भी निर्माण कार्य किये। जैसे उसे अपने भाइयों के विद्रोह का तथा अन्हिलवाड़ के चालुक्यों से संघर्ष का सामना करना पड़ा था। उसने अनेक मन्दिर बनवाये, दान दिये, और विद्यालयों की स्थापना की।

उसके उत्तराधिकारी सोमेश्वर तृतीय ने (११२७—११३८ ई०) तक राज्य किया और अपने पूर्वज की भाँति विद्या तथा विद्वता का सम्मान किया; पर वह अपना स्वत्व बहुत दिन न रख सका। प्रान्तीय शासक उसी के समय स्वतन्त्र होने लगे थे। साथ ही आन्तरिक उपद्रव उठ खड़े हुए थे। उसके उत्तराधिकारी उससे भी दुर्बल हुए और चालुक्य-राज्य का बारहवीं शती के अन्त में समाप्त हो गया।

(३) **मान्यखेट का राष्ट्रकूट वंश**—राष्ट्रकूटों के मूल के विषय में भी विवाद है। कोई उनको उत्तर के राठौरों का वंशज, कोई दक्षिण के रेड्डियो का सम्बन्धी बतलाता है। उनके पिछले अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वे यदु थे, तथा रट्ट के वंशज थे, पर इनमें से किसी का आधार बहुत ठोस नहीं है वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि वे अशोक के शिला लेख में गिनाये गये रष्टिक हैं। डा० अल्तेकर के अनुसार ये कर्णाटक के रहने वाले थे और उनकी मातृभाषा कन्नड़ थी। वे लट्टलूर के स्वामी थे। जो आज भी मध्य प्रदेश में (Page 358 in Bhagawat Saran) लाटूर नाम से प्रसिद्ध है। बहुत सम्भव है कि वे कन्नड़ से चलकर वरार में आकर बस गये हों। इनके वंश की सत्ता का प्रारम्भ दन्ति दुर्ग से होता है। उसकी माता चालुक्य राजकुमारी भवनागा थी। जिसे उसके पिता इन्द्रराज बल पूर्वक ले आये थे। इसने ७४१ ई० में महाराष्ट्र की चालुक्य शक्ति नष्ट कर दी जैसा कि एलोरा के अभिलेख से विदित होता है। इसके अनन्तर इसने अनेक प्रदेश जीते। यथा—काँची, कोशल, कलिंग, मालवा तथा लाट। दन्ति दुर्ग निःसन्तान मर गया, अतः उसके पश्चात् उसका चचा कृष्ण प्रथम गद्दी पर बैठा। कृष्णराज ने कीर्ति वर्मन द्वितीय चालुक्य को कर्नाटक से भगा दिया। उसने राहप्प को हरा कर राजाधिराज परमेश्वर की उपाधि धारण की। यही नहीं उसने कोंकण, गंगवाडी

तथा वेंगी के राजाओं को भी पराजित किया। वह शैव था, अतः उसने एलोरा में पहाड़ी को काट कर शिव मन्दिर बनवाया।

कृष्ण के पश्चात् लगभग ७७२ ई० में गोविन्द द्वितीय प्रभूत वर्ष राजा हुआ। चूंकि गोविन्द विलासप्रिय था और राजकाज उसका भाई ध्रुव देखता था, अतः एक दिन उसने पूरी शक्ति ही अपने अधीन कर ली। वह लगभग ७७६ ई० में गद्दी पर बैठा। उसने काँची के पल्लव राजा को हराया। इसके बाद उसने वत्सराज प्रतीहार, कन्नौज के इन्द्रायुध तथा पालनरेश धर्मपाल पर आक्रमण किये। इन्हें सभी को उसने मुँह की खिलायी। अतः ध्रुव के शासन काल में राष्ट्रकूट सशक्त हो गये।

ध्रुव के पश्चात् उसका छोटा पुत्र गोविन्द तृतीय गद्दी पर बैठा। उसने कांची के दंतिग और वेंगी के विजयादित्य को हराया। लगभग ८०७ ई० में उसने नागभट द्वितीय को भी पराजित किया। इधर दक्षिण में चोड, पाँड्य तथा केरलों ने उसके विरुद्ध संघ बना रखा था, पर उसने यह सुनते ही अपना रुख बदल दिया और आकर उनका संघ समाप्त कर दिया। गोविन्द तृतीय के पश्चात् उसका पुत्र अमोघ वर्ष प्रथम राज्य का स्वामी बना। वह अभी अल्पायु था। अतः आन्तरिक विद्रोह और बाह्य आक्रमण सभी ने उसे तंग किया, फल यह हुआ कि वह गद्दी से उतार दिया गया, पर करक राज ने उसे पुनः बिठाया। इसे देख कर चालुक्यों ने उसे फिर लूटा। इसी समय मिहिर भोज प्रतीहार ने उज्जैन के आस पास वाला क्षेत्र अपने अधीन कर लिया। अमोघवर्ष युद्ध क्षेत्र में तो सफल न हुआ पर वह विद्या का सम्मान करता था। वह जितसेन जैन आचार्य के सम्पर्क से जैन धर्म की ओर झुक गया था। संजन ताम्रपत्र में तो उसकी तुलना विक्रमादित्य से की गयी है। उसने कविराज मार्ग और प्रश्नोत्तर मालिका ग्रंथ लिखे। उसीने वस्तुतः मान्यखेट की राजधानी को बनाया। उसका ६४ वर्ष शासन रहा और वह ८७८ ई० में परलोकवासी हुआ। अमोघवर्ष के पश्चात् उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय राजा हुआ। उसका विवाह कलचुरी कोकल्ल प्रथम की कन्या से हुआ था। उसने अपने पूर्वजों के शत्रुओं से संघर्ष जारी रखा। उसका युद्ध मिहिर भोज प्रतीहार से भी हुआ। अन्हिलवाड़ और वेंगी के चालुक्यों से तो चल ही रहा था। ६१४ ई० के लगभग उसका देहान्त हो गया। उसके पश्चात उसका पौत्र इन्द्र तृतीय राज्य का स्वामी बना। यह बहुत पराक्रम शाली शासक था। उसने कन्नौज तथा मालवा पर धावे किये। उसकी विजय पताका प्रयाग तक बढ़ी। पर उसके अल्पकालीन शासन के बाद गोविन्द चतुर्थ गद्दी पर बैठा जो बिलासिता में ही डूबा रहा।

अतः उसके समय राष्ट्रकूटों की शक्ति को धक्का पहुँचा। उसी की भाँति उसका उत्तराधिकारी अमोघ वर्ष तृतीय हुआ पर राष्ट्रकूट सत्ता को किसी प्रकार कृष्ण तृतीय ने बचाया। उसने ९४० ई० के लगभग प्रतीहारों से लोहा लिया और उनसे कालिंजर तथा चित्रकूट छीन लिये। उसने महाराजाधिराज परम भट्टारक की उपाधि धारण की। दक्षिण में भी उसने तंजौर जीत लिया। पांड्य और केरल राजा भी उसके सामने झुक गये। पर ९६८ में उसके प्राणान्त के साथ ही राष्ट्रकूटों का गौरव भी समाप्त हो गया। उसके पश्चात् दो एक दुर्बल शासक रहे पर उसके पूर्व शत्रुओं ने इस अबसर से पूर्ण लाभ उठाया।

(३) राष्ट्र कूटों का महत्व—अरब यात्री सुलेमान ने राष्ट्रकूटों की प्रशंसा करते हुए अमोघ वर्ष प्रथम को बगदाद के ख़लीफा, कुस्तुनतुनिया और चीन के सम्राट के समान बताया है। इनके समय अरबों को व्यापारिक सुविधाएं मिली हुई थीं। ये राजे अधिक तर वैदिक धर्म के अनुयायी थे, और इनके चौदह राजाओं में, दो तीन को छोड़कर शेष सभी सफल शासक हुए। इन्होंने विद्या तथा धर्म की उन्नति के किए अनेक कृत्य किये। जैन लेखकों ने कन्नड साहित्य को समृद्ध करने में महत्वपूर्ण योग दिया। कला के क्षेत्र में एलोरा का कैलाश मन्दिर राष्ट्रकूटों की अनुपम देन है। स्मिथ का कथन है। **"भारत की वस्तु कला के आश्चर्य जनक नमूनों में कैलाश मन्दिर सबसे अधिक विस्मय जनक है। वह एक ऐसी अद्वितीय भारतीय कृति है जिसके लिए कोई भी देश गर्व कर सकता है, और जिस राजा के संरक्षण में यह बना वह श्रेय और गौरव का अधिकारी है।**

(४) चोल वंश—अन्य राज्य वंशों के विपरीत चोल (चोड) वंश बहुत प्राचीन है। इसका उल्लेख हम अशोक के शिला लेखों में पाते हैं। वैयाकरण कात्यायन (लगभग चौथी शताब्दी ई० पू०) ने भी इनकी चर्चा की है। महावंश में भी इनका उल्लेख है। चोड शब्द का अर्थ मडराने वाला बताया जाता है, यह तामिल की चूड धातु से बना है। कुछ इतिहासकार इसे तामिल के चोलम से बना हुआ बतलाते हैं, जिससे काले रंग के प्राचीन निवासियों का बोध होता है। इससे कोई अन्य निर्णय हो न हो, पर इतना निश्चित है कि ये दक्षिण भारत के प्राचीन निवासी थे।

इनका राज्य पेन्नार और वेल्लार नदियों के बीच फैला था। इसमें आज कल के तंजौर और त्रिचनापली के जिले भी सम्मिलित थे। इस प्रान्त में अपनी शक्ति को उन्होंने अनेक आपत्तियों का सामना करते हुए कभी हाथ से न जाने दिया। ९ वीं शताब्दी में पल्लव राज के पतन होने पर इन्हें विशेष रूप से उठने का मौका मिला।

इनकी सत्ता को सुदृढ़ कर प्रकाश में लाने का कार्य विजयालय ने किया। बहुत सम्भव है कि वह पहले पल्लवों का सामन्त था। उसने शीघ्र ही अपनी शक्ति बढ़ायी और तंजौर पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् उसका पुत्र **आदित्य प्रथम** ८७५ ई० में गद्दी पर बैठा। उसने पल्लव अपराजित वर्मन को पराजित किया और लगभग ८९० ई० के तोड़मंडलम् पर अधिकार कर लिया। इसके अतिरिक्त उसने गंगो से युद्ध कर उनकी राजधानी तलकाड छीन ली। यह शिव का भक्त था, अतः इसने शिव के अनेक मन्दिर बनवाये।

आदित्य प्रथम के पुत्र परान्तक प्रथम के शासनकाल में कावेरी से लेकर मद्रास तक का सारा प्रान्त चोड के अन्तर्गत आ चुका था। फिर उसका शासन काल बहुत दिन चला (९०७ ई० से ९५६ ई०)। उसने पांड्य राजा राजसिंह को सिंहल की ओर मार भगाया। उसने पल्लव शक्ति के तो चिह्न ही मिटा दिये और उत्तर में वैलार तक अपनी सीमा बढ़ा ली। पर उसके शासन के अन्तिम समय में उसे राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीय से युद्ध करना पड़ा। चोड अभिलेख तो उसे इसमें भी सफल मानते हैं, पर यह तथ्य नहीं प्रतीत होता। बल्कि उसके विपरीत आक्रमणकारी ने तंजौर पर अपना अधिकार कर लिया और इस युद्ध में परान्तक के बड़े लड़के को खेत रहना पड़ा। यही नहीं, कहा जाता है कि कृष्ण तृतीय तो रामेश्वरम् तक चला गया था। जो हो इससे चोडों को हानि तो हुई ही। परान्तक ने अनेक यज्ञ किये। वह भी शैव था। उसने अनेक मन्दिर बनवाये जिसमें चिदम्बरम् के मन्दिर को उसने स्वर्ण से जड़ दिया। इसके पश्चात् चोडों का इतिहास लगभग ३० वर्ष अन्धकारमय रहा। बहुत सम्भव है कि कुछ दुर्बल उत्तराधिकारी शान्तचित्त हो बैठे रहे हों अथवा गृह कलह के शिकार बने रहे हों।

राजराज प्रथम (९८५-१०१४ ई०)—ई० ९८५ में सुन्दर चोड के राजराज **प्रथम** के साथ पुनः चोडों का गौरव बढ़ता है। इसको हम जयगोंड़ और चोड मार्तण्ड आदि नामों से भी जानते हैं। उसको एक अत्यन्य असंगठित राज्य का उत्तराधिकार प्राप्त हुआ था; पर उसने अपनी वीरता तथा कार्य कुशलता से उसे खूब विस्तृत और समृद्ध बनाया। उसने चेरों और पांड्यों को विजय कर सिंहल की ओर अपना रुख किया। सिंहल के उत्तर का भी कुछ भाग उसने ले लिया। इधर मैसूर का कुछ भाग जीत लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसे चालुक्य राजा तैलप से जूझना पड़ा, उसका फल तो निश्चित नहीं; क्योंकि तैलप ९९२ ई० के अभिलेख के आधार पर घोषित विजयी किया गया है; पर राजराज ने उसके उत्तराधिकारी सत्याश्रय को तो पराजित किया ही।

इसके अनन्तर उसे शक्ति वर्मन ने रोकना चाहा ? पर उसके भाई विमलादित्य को उसका आधिपत्य मानना पड़ा। इस प्रकार राजराज प्रथम का अधिकार मद्रास, कुर्ग, मैसूर और सिंहल के कुछ भागों तक हो गया। इसने केवल विजय ही नहीं की बल्कि निर्माण कार्य भी किये। उसका बनवाया हुआ राज राजेश्वर नाम से तंजौर का शिव मन्दिर आज भी उसकी स्मृति दिलाता है। यह मन्दिर अपनी सुन्दर बनावट, सजीव मूर्तियों तथा सजावट के लिए प्रसिद्ध है। इसकी एक दीवाल पर राजराज की विजयों का विवरण भी दिया है। इसके साथ राजराज प्रथम इतना उदार था कि उसने विष्णु मन्दिर भी बनवाये तथा बौद्ध बिहारों को दान दिये।

राजेन्द्र प्रथम (१०१४-१०४४ ई०)—राजराज के पश्चात् उसका पुत्र राजेन्द्र प्रथम राज्य का स्वामी बना। इसके समय में चोल साम्राज्य अपनी उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। वह अपने पिता के काल में ही युद्धों में भाग लेने लगा था। १०१७ ई० में उसने समस्त सिंहल को अधीन कर लिया। पिता की भाँति उसका अधिकार अनेक द्वीपों पर भी रहा। उसका भीषण संघर्ष चालुक्य राज जयसिंह द्वितीय से हुआ, इसका परिणाम बताना कठिन है, पर उसके अनन्तर वह गौड़ देश तक गया और महिपाल से लड़ा। इस दौड़ में उसने अनेक प्रदेश जीते; यथा उड़ीसा, गौड़, दक्षिण कोसल आदि। यह यात्रा १०२५ के पहिले हो चुकी थी। इसके पश्चात् उसने गंगै-कोण्ड की उपाधि धारण की। उसके पास स्थल सेना के साथ नौसेना भी थी। इसी की बदौलत वह द्वीप आदि को सुरक्षित रख सका।

राजाधिराज प्रथम (१०४४-५२ ई०)—राजेन्द्र का उत्तराधिकारी उसका पुत्र राजाधिराज प्रथम हुआ। उसके समय में उसके पिता के शत्रुओं ने विद्रोह किया पर वह उन्हें दबा सका। उसने एक अश्वमेध किया। उसका युद्ध चालुक्य राज सोमेश्वर से हुआ, जिसके प्रारम्भ में वह विजयी हुआ; पर अन्त में १०५२ ई० में उसने अपने प्राण भी खो दिये। उसके पश्चात् उसके भाई राजेन्द्र द्वितीय ने राज्य की बागडोर सम्हाली। इसने १०५२-६३ ई० तक शासन किया। उसके पश्चात् उसका भाई वीर राजेन्द्र १०६३ ई० में गद्दी पर बैठा। उसने सोमेश्वर प्रथम को कृष्ण और तुंगभद्रा के संगम पर पराजित किया। इसके पश्चात् वह वेंगी के चालुक्यों की ओर गया। उधर उसने सोमेश्वर के पुत्र विक्रमादित्य को हराया और कलिंग पर धावा किया। यही नहीं उसने विद्रोही पांड्यों और केरलों को भी अधीन रहने को विवश किया। इसके अनन्तर उसने विक्रमादित्य से जो अपने भाई सोमेश्वर से बैर रखता था वैवाहिक सम्बन्ध करके अपनी जड़ें दृढ़ कीं। उसके मरने के पश्चात् उसका

पुत्र अधिराजेन्द्र गद्दी पर बैठा पर वह साम्राज्य को सम्हाल न सका और एक वर्ष के भीतर ही मार डाला गया।

अधिराजेन्द्र के पश्चात् चोड राज्य का स्वामी राजेन्द्र द्वितीय हुआ। कहा जा चुका है कि वेंगी के **विक्रमादित्य ने राजराज प्रथम की कन्या से** विवाह किया था, इस दम्पति से जो पुत्र हुआ उसका नाम विष्णु वर्धन रखा गया। विष्णु वर्धन का विवाह पुनः राजेन्द्र प्रथम की कन्या से हुआ, इस दम्पति का पुत्र राजेन्द्र द्वितीय था। अतः अधिराजेन्द्र के सन्तान हीन होने के कारण उसे १०७० ई० में राज्य का अधिकार मिला। इसी का नाम कुलोतुंग प्रथम रखा गया। कुलोतुंग ने केरलों और पांड्यों को हराया, परमारों को दबाया और दो बार कलिंग जीता परन्तु उसका अधिकार द्वीपों तक न रह सका। कुलोत्तुंग शैव था पर बौद्धों के प्रति सहिष्णु रहा। वैष्णवाचार्य रामानुज से उसकी न बनी, अतः उस आचार्य को ही होयसल राजा विष्णुवर्धन की शरण लेनी पड़ी। लगभग ५० वर्ष के शासन के पश्चात् ११२२ ई० में उसका प्राणान्त हुआ। उसके उत्तराधिकारी अत्यन्त दुर्बल हुए। अतः चोड शक्ति क्षीण होने लगी। वे धीरे धीरे इस अवस्था पर आ गये कि पांड्यों ने तंजौर लूट लिया। तदन्तर होयसलों और काकातीयों ने कुछ प्रान्त दबा लिये, और चोडों का अन्त हो गया।

चोल शासन प्रणाली

दक्षिण के इस युग के राजवंशों में चोड ही ऐसा वंश था जिसने अपने शासन को अनुकरणीय बनाया। उनके अभिलेखों से हमें इस बात का ज्ञान होता है कि उनका शासन सुव्यवथित था। इस युग में होने के नाते सम्राट ही राज्य का स्वामी और शासन का अध्यक्ष होता था। फिर भी वह अपनी प्रजा के हित में ही कार्य करता था तथा अपनी सहायता के लिए मंत्री तथा अन्य अधिकारी नियुक्त करता था। उसकी मौखिक आज्ञाओं को उसका निजी मंत्री लिख लिया करता था। केन्द्रीय शासन कई विभागों में बँटा था जिसके लिए पृथक पृथक अधिकारी रहते थे। राजराज प्रथम के समय हम देखते हैं कि औल नायकं (प्रधान मंत्री) तथा परुंदरम् (अन्य अधिकारी) को किसी समाचार को सही स्थान पर भेजने के पहिले अपनी अनुमति विडैयाधिकारी (क्लर्क) को देनी पड़ती थी।

प्रान्तीय शासन—चोल अपने पूरे राज्य को राष्ट्रम कहते थे। राष्ट्रम कई प्रान्तों (मंडलम्) में बँटा होता था। प्रत्येक मंडल के लिए एक शासक नियुक्त किया जाता था। यह शासक अधिकतर राजकुमार अथवा राजवंश का ही कोई व्यक्ति होता था। मंडलम् पुनः कोट्टम में बँटा होता था। कोट्टम को

वाडु में बाँट देते थे। सबसे छोटी शासन की इकाई कुर्रम् (तहसील) अथवा ग्रायम ही थी। नगरों के लिए स्वायत्त शासन की सभाएँ होती थीं।

सभाएँ—उनके शासन में अनेक सभाओं से काम लिया जाता था। पहली सभा सम्पूर्ण मण्डल की जनता की होती थी जिसकी चर्चा एक अभिलेख में, कर की छट देने के सम्बन्ध में है। नाडु की जनसभा को नाहर कहते थे और व्यापारियों के सँघ को नगरत्तार कहते थे। इन सभाओं के कार्यों की रूपरेखा का ज्ञान नहीं है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य व्यवसाओं के अनुसार संघ बने होते थे जो पूग और श्रेणी कहलाते थे। कुछ गाँवों में सभी ग्रामवासियों की एक सभा होती थी जिसे ऊर कहते थे। ब्राह्मण गाँवों की एक विशिष्ट संस्था थी जिसे सभा या महासभा कहते थे।

मद्रास के समीप उत्तर मेसूर पर कुछ अभिलेख मिले हैं, जिनसे महासभा के कार्य क्षेत्र का ज्ञान होता है। ये प्रायः स्वतन्त्र सभाएँ थीं। इन्हीं के हाथ ग्राम की भूमि का अधिकार रहता था। ये सभाएँ नयी भूमि भी तैयार कराती थीं और उनकी रक्षा करती थीं। यही उस समय बैंकों का काम करती थीं। इन्हीं को दानी अपना दान देते थे और ये धर्म के कार्यों में उसे लगा देती थीं। इसका एक कार्य न्याय सम्बन्धी भी होता था। यही मठों के द्वारा पढ़ाने-लिखाने का प्रबन्ध करती थीं। इनके सदस्यों की संख्या निश्चित ज्ञात नहीं, पर बहुत सम्भव है कि वे जन संख्या के अनुपात से होते थे। गांव के अलग-अलग कार्यों के लिये कुछ उपसमितियाँ नियुक्त कर दी जाती थीं; यथा उद्यान, सरोवर तथा मन्दिर समिति। साथ ही इनका निर्वाचन भी बहुत अच्छे ढंग से होता था। इनका लेखा-जोखा बहुत ईमानदारी से रखा जाता था। सार्वजनिक धन की चोरी के लिए कठोर दण्ड था।

भूमि प्रबन्ध तथा कर—अभी संकेत किया जा चुका है कि इसका प्रबन्ध सभाओं के हाथ था। पर समय-समय पर राज्य की ओर से उसका नाप होता था। इसका उचित लेखा रक्खा जाता था। राज्य की आय मुख्य रूप से खेती से ही थी। इसकी उपज का छठा भाग कर रूप से लिया जाता था। दुर्भिक्ष आदि के समय इसमें भी छूट दे दी जाती थी। ग्राम सभाएँ ही राजकीय लगान इकट्ठा करती थीं और यह द्रव्य तथा सिक्के दोनों में दिया जा सकता था। एक अभिलेख में अनेक करों की चर्चा है, जो व्यवसाओं पर लगते थे। उदाहरणार्थ—कर, तरि इरिय (करघे पर) से हिरयी (व्यापार पर) तत्तार पाहम (सुनारों पर) बलि आयम् (चुँगी) उप्पायम् (नमक पर) आदि।

सैन्य प्रबन्ध—इनकी सेना का प्रबन्ध भी सुचारु था। इसमें कई समूह

होते थे, यथा १ चुने हुए धनुषधारियों का वर्ग (विल्लिगड़), २ शरीर रक्षक पदाति, ३ चुने हुए अश्वारोही ४ गजदल और ५ दाहिनी ओर चलने वाले पदाति। इनके सेनापति ब्राह्मण होते थे, जिनको ब्रह्माधिराज कहते थे।

सिंचाई का प्रबन्ध—पल्लवों की तरह चोडों ने भी सिंचाई का सुन्दर प्रबन्ध किया। कुएँ और तालाबों के अतिरिक्त नदियों में भी बाँध बँधवाये, राजेन्द्र प्रथम ने तो अपनी राजधानी के पास ही एक बड़ी झील खुदवाकर उसे कोलेकन और वेल्लोर नदियों के जल से भरवा दिया। इसका बांध १६ मील लम्बा था। इसी से पश्चात् नहरें निकाली गयीं।

सड़कें व मन्दिर—चोडों ने सुन्दर मार्गों का भी प्रबन्ध किया, इससे यातायात की विशेष सुविधा हो गयी। इसके अतिरिक्त इन्होंने अनेक मन्दिर बनवाये। ये मन्दिर वस्तुतः उनके आध्यात्मिक जीवन के केन्द्र थे। यही नृत्य, गान आदि के भी केन्द्र थे।

दण्ड नीति—इनकी दण्ड नीति कठोर न थी। प्रायः हत्या के अपराध में प्राण दण्ड की व्यवस्था नहीं थी। व्यभिचार, चोरी, डकैती घोर अपराध समझे जाते थे, किन्तु इनका अपराधी भी प्राण दण्ड न पाता था। इस प्रकार हम देखते हैं इनके शासन प्रबन्ध में हमें केन्द्र से लेकर ग्राम तक के सभी अंगों का सुव्यवस्थित रूप मिलता है। इसका फल यह था कि इनके समय में प्रजा सुखी थी और कला तथा कारीगरी की दशा समुन्नत थी[1]।

(५) पल्लव वंश

पल्लवों का मूल भी विवाद ग्रस्त है। कुछ विद्वान इन्हें उत्तर पश्चिम के पल्लव कह देते हैं, पर वह सर्वथा भूल है; क्योंकि उनके दक्षिण तक पहुँचने की कोई स्थिति ज्ञात नहीं होती। डा० आयंगर ने इन्हें संगम साहित्य के आधार पर तोण्डेयर कहा है। सम्भव है कि वे नाग सामन्तों के वंशज और आन्ध्र सातवाहनों के वंशज थे। डा० जायसवाल ने उन्हें वाकाटक शाखा से उत्पन्न माना है। इस बात का समर्थन उनके प्राकृत में लिखे लेख तथा उनका अपने को द्रोणाचार्य का वंशज कहने से भी होता है। पतालगुण्ड के अभिलेख में उनको क्षत्रिय कहा गया है, अतः कोई निश्चित मत ठहरना सम्भव नहीं। कदाचित् जन्म से ब्राह्मण रहे हों पर कर्म (युद्ध इत्यादि) से क्षत्रिय बन गये हों; पर ऐसा कम होता है।

इनकी शक्ति का प्रारम्भ सातवाहन साम्राज्य के पतन होने पर होता है। कुछ ताम्र पत्रों से हमें सिंहवर्मन और शिवस्कन्दवर्मन के नाम मिले है। इन राजाओं का आधिपत्य प्रायद्वीप के उत्तरी भाग पर था, साथ ही उनका राज्य

---

१ इस युग की कला एक पृथक परिच्छेद में दी गयी है।

समुद्र से समुद्र तक विस्तृत था। इससे स्पष्ट है कि वे शक्ति सम्पन्न थे। यही नहीं उन्होंने वैदिक अनुष्ठान भी किये। इन दो राजाओं के पश्चात् आठ राजाओं के नाम संस्कृत में मिले हैं। पर इनके विषय में अधिक ज्ञान नहीं। हम इनका उल्खेख समुद्र गुप्त के प्रयाग स्तम्भ पर भी पाते हैं जिसमें विष्णु गोप काञ्ची का राजा पल्लव राजा ही था।

इनका इतिहास सिंह विष्णु के समय से अधिक निश्चित सा है। उसने नये राज्य की नींव डाली और चोलों के प्रान्तों को अपने अधीन कर लिया। एक अभिलेख के आधार पर उसने तीन तामिल राजाओं को पराजित किया। उसका पुत्र तथा उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्मन प्रथम ६०६ ई० में गद्दी पर बैठा।

महेन्द्रवर्मन प्रथम—ऐहोल अभिलेख के आधार पर पुलकेशिन द्वितीय ने पल्लवों को हराया था, और यह निश्चित है कि उसने उन्हीं से वेंगी छीना था, जहाँ उसका एक भाई शासक बना और नये वंश का संस्थापक हुआ। पर कसक्कुडी का ताम्रपत्र एक दूसरा ही वृत उपस्थित करता है। उसका कहना है कि महेन्द्रवर्मन ने पल्लूर के युद्ध में विजय पायी, यह विजय किस पर पायी यह नहीं दिया। सम्भव है चालुक्यों से ही कोई दूसरा छोटा मोटा संघर्ष हुआ हो।

महेन्द्रवर्मन पहले जैन था, पर कुछ काल के पश्चात् वह कट्टर शैव हो गया। उसके शैव होने से जैनियों को यह सम्मान न मिला। महेन्द्रवर्मन ने अर्काट में अपने नाम की झील के तट पर विष्णु का एक गुहा मन्दिर बनवाया। यही नहीं उसने अन्य मन्दिर भी कहा जाता है कि बिना ईंट, चूने और लकड़ी के बनवाये। इसका अर्थ है दरीगृह की भाँति ही उसके ब्रह्मा और विष्णु के मन्दिर बने। उसका इसीलिए एक विरुद चैत्यकार पड़ गया। ये मन्दिर दलवनुर, पल्ववरम्, सिच्यमंगलम् तथा वल्लम् आदि स्थानों में मिलते हैं।

उसने गान, नृत्य आदि कलाओं को भी प्रोत्साहन दिया। उसी ने मत्त-विलास प्रहसन की रचना भी की।

नरसिंहवर्मन—महेन्द्रवर्मन के पश्चात् उसका पुत्र नरसिंहवर्मन प्रथम गद्दी पर बैठा। यह भी एक शक्तिशाली सम्राट हुआ। उसने पुलकेशिन के आक्रमण को रोका। इसके अनन्तर उसने एक सेना लेकर वातापी पर आक्रमण किया। इसमें पुलकेशिन को पीछे हटना पड़ा। कहा जाता है पुलकेशी इसी में मारा भी गया। इसी विजय के उपलक्ष्य में नरसिंहवर्मन ने **"वातापी कोण्ड"** की उपाधि ग्रहण की। इसने दो बार मानवम्म की सहायता के लिए नौ सेना भेजी।

इसने अपने पिता की तरह अनेक गुहा मन्दिरों का निर्माण कराया। ये मन्दिर पुछ्छु कोट्टा और त्रिचना पली में हैं। उसने एक नगर बसाया जिसका नाम महा मल्लपुरम् रखा। ह्यूनसांग ने इसी के शासन काल में कांची का भ्रमण किया था।

महेन्द्रवर्मन द्वितीय—नर्रसिहवर्मन प्रथम के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्मन द्वितीय हुआ। उसके शासनकाल में कोई उल्लेखनीय घटना ही नहीं हुई। इसके पश्चात परमेश्वरवर्मन प्रथम गद्दी पर बैठा। इसके शासन काल में चालुक्यों से संघर्ष पुनः प्रारम्भ हो गया। गडवल लेख के आधार पर विक्रमादित्य प्रथम ने काञ्ची पर अधिकार कर लिया। पर पल्लवों के लेख इसका विरोध करते हैं। उनके अनुसार विक्रमादित्य को मार भगाया गया। परमेश्वर वर्मन भी शैव था तथा उसने भी अनेक मन्दिर बनवाये। उसके पश्चात् उनका पुत्र **नर्रसिह वर्मन प्रथम** गद्दी पर बैठा। यह शान्ति प्रिय राजा था। उसने प्रसिद्ध कैलाश नाथ की मन्दिर बनवाया। वह विद्वानों का भी संरक्षक था। प्रसिद्ध दंडी उसी का सभा की सभासद था। उसका उत्तराधिकारी परमेश्वरवमंन द्वितीय था। उसके मरते ही ग्रह कलह आरम्भ हो गया। अन्त में नन्दिवर्मन राजा चुना गया। नन्दिवर्मन ने विक्रमादित्य को भी लौटा दिया था। पर उसे राष्ट्रकूट राजा दन्ति दुर्ग के हाथों हारना पड़ा था। उसने लगभग ६५ वर्ष शासन किया और अनेक मन्दिर बनवाये। पर इसके सभी उत्तराधिकारी दुर्बल हुए और पल्लवों की सत्ता समाप्त हो गयी।

पांडच व चेर राज्य

पांडच—पांडच के मूल का भी वही वृत्त है, जो चोडों का था। इनके विषय में अनुश्रुतियाँ परस्पर विरोधी हैं। कोई तो उन्हें कोरकै के तीन भाइयों में एक बतला देते हैं, कोई उनका नाता पाण्डवों अथवा चन्द्रमा से जोड़ देते हैं। सम्भव यह है कि ये द्रविड़ जाति के रहे हों और उत्तर भारत की संस्कृति के फैलने पर उन्होंने उसे अपनाकर किसी से अपना नाता जोड़ा हो। पांड्य राज्य मदुरा तथा त्रिनेवली के जिलों से मिलकर बना था। इसकी राजधानी मदुरा थी और उनका प्रसिद्ध बन्दरगाह कौरकै था। इनका उल्लेख बहुत से प्राचीन ग्रंथों में हुआ है, यथा कात्यायन की टीका तथा बालमीकि रामायण। इनकी चर्चा कौटिल्य और मेगस्थनीज ने भी की है, जिसमें मेगास्थनीज का कहना है कि इनके यहाँ स्त्रियाँ ही राज्य करती थीं और उनके ६ वर्ष में सन्तान हो जाती थी। इसके अनन्तर हम अशोक के दूसरे और तेहरवें शिला लेख में उन्हें पाते हैं। खारवेल के हथी गुम्फा अभिलेख में भी उनका उल्लेख है; पर सातवीं शताब्दी तक इनका वृत्त महत्वहीन रहा। सातवीं शताब्दी

में ये काञ्ची के पल्लवों के अधीन थे। कुछ राजाओं के नाम संगम साहित्य में मिलते हैं पर उनका तिथि-क्रम निश्चित नहीं है।

इनका प्रथम महत्वपूर्ण शासक नेडुन्जेडियन था। इसने तंजौर में किसी विरोधी को पराजित कर अपना राज्य फैलाया था। पर इसके उपरान्त भी ये पल्लवों से दबे रहे और उनसे छुटकारा दिलाने वाला राजा कडुंगौन था। इसी को इस वंश के वास्तविक प्रवर्त्तक के रूप में मानना उचित होगा।

इस वंश का दूसरा राजा अरिकेशरी मार वर्मन हुआ। यह प्रारम्भ में जैन था। पश्चात् वह शैव हो गया। जिस समय ह्यूनसांग पांड्य राज्य में आया था, यही अरिकेशरी राज्य कर रहा था। इसके पश्चात् **राजसिंह प्रथम** (७४०-७६५ ई०) एक अन्य शक्ति सम्पन्न राजा हुआ। इसके शासनकाल में पांड्य राज्य ने उन्नति प्रारम्भ की। उसने पल्लवों से लोहा लिया। उसके अनन्तर वरगुण प्रथम (७६५-८१५ ई०) बहुत यशस्वी शासक हुआ। उसने अपने राज्य में त्रावणकोर, सलेम, कोयम्बटूर, तंजौर और त्रिचनापली तक का प्रान्त सम्मिलित कर लिया। उसने अपने समकालीन पलव शासक दन्ति वर्मन को हराया। उसने विष्णु और शिव के मन्दिर बनवाये। पर जब चोडों की शक्ति का अभ्युदय हुआ तो इनको दबना पड़ा। इनको चोल राजाओं का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा।

यद्यपि चोल के पंजे से इन्होंने कई बार छूटने का प्रयत्न किया, पर वे सदा दबा दिये गये। ११६० ई० में जटावर्मन कुल शेखर पांड्य गद्दी पर बैठा। उसने पुनः शक्ति का संचय करना प्रारम्भ किया। यह पांड्यों का दूसरा जीवन था। उन्होंने पुनः १०० वर्ष तक शासन किया, जिसमें मार वर्मन सुन्दर ने तो चोलों को भी तंग किया और १२१६-३८ ई० तक राज्य किया। उसने राजराज तृतीय को दो बार पराजित किया।

इसके अनन्तर जटावर्मन सुन्दर (१२५१-७२ ई०) इनका अन्य शक्तिशाली राजा हुआ। उसने कांची तक पर अपना अधिकार कर लिया। उसने होयसल, काकातीय और पलव राजाओं को पराजित किया। उसने पांड्य राज्य काफी विस्तृत हो गया। उसने महाराजाधिराज श्री परमेश्वर की उपाधि धारण की। उसने अनेक यज्ञ किये। जटावर्मन के पश्चात् कुछ समय तक मारवर्मन कुल शेखर ने भी राज्य किया। उसने भी मन्दिर बनवाये। १२९३ ई० में जब इटली का यात्री मार्कोपोलो आता है, तब वह पांड्य देश का वर्णन करता है। उसने उसे समृद्ध और शान्त देश कहा है। यह राज्य अलाउद्दीन खिलजी के समय नष्ट हो गया। हम देखते हैं कि मलिक काफूर मदुरा लूटता है।

चेर राज्य

चेर अथवा केरल आजकल के त्रावनकोर, कोचीन के प्रान्त में राज्य करते थे। ये भी द्रविड़ जातियों में से एक थे। ये लोग भी युद्ध प्रिय रहे। साथ ही इनका नाता पश्चिम से रहा और व्यापार में ये रोम तक गये। आधुनिक कंगयूर के स्थान पर रोमन भी आकर बस गये थे और उन्होंने वहाँ आगस्टस का मन्दिर भी बनवाया। इनका सर्वप्रथम उल्लेख हमें अशोक के शिला लेख में मिलता है। इनके राजनीतिक वृत्त का बहुत थोड़ा ज्ञान उपलब्ध हुआ है। उनका राजा सेंगुत्तवन हमारे समक्ष सबसे पहले आता है। यह नेडन्जलियन पांड्य का समकालीन था। उसने अपने पड़ोसी राज्यों से युद्ध किया। उसके उत्तराधिकारी को भी चोडों और पांड्यों से युद्ध करने पड़े। एक बार तो पांड्यों ने उसे बन्दी कर लिया था, पर वह किसी प्रकार निकल कर भाग आया था। कुछ समय के लिए इनका इतिहास फिर अन्धकार के गर्त में पड़ जाता है और जब यह आठवीं शताब्दी में पुनः उठता है तो पल्लव परमेश्वर वर्मन से संघर्ष करता है। अन्य वंशों की अपेक्षा चोडों के साथ इनका सम्बन्ध अच्छा रहा। चोड राजाओं ने इनसे वैवाहिक सम्बन्ध भी किये। पर दसवीं शताब्दी में इनका सम्बन्ध बिगड़ गया और राजराज प्रथम ने इनको नष्ट करना चाहा। यही नहीं, चोडों ने इन पर अपना अधिपत्य राजेन्द्र प्रथम के पश्चात् बराबर बनाये रखा। १३ वीं शताब्दी ई० में जटा सुन्दर पांड्य भी इन्हें दबाने लगा। धीरे-धीरे शासक अपनी सत्ता खो बैठे।

इस युग का साँस्कृतिक जीवन

उत्तर भारत की भांति दक्षिण में भी कितने ही छोटे-छोटे राज्य बने, उनके साँस्कृतिक जीवन का विकास हुआ, उनमें परस्पर आदान-प्रदान और विचार विनिमय भी हुआ तथा किसी-किसी क्षेत्र में तो इन्होंने आशातीत कार्य किया। अतः इनके सांस्कृतिक जीवन पर दृष्टि डालना भी परम आवश्यक है।

समाज—इस समाज का एक बड़ा अंश सेवा कार्य में अपना जीवन व्यतीत करता था, किन्तु इनमें स्वतन्त्र व्यवसाय करने वालों का सम्मान अधिक था। इस युग में राजवंश के लोग तो आनन्द का जीवन व्यतीत करते थे, पर उनके मुकाबले में अन्य लोगों का जीवन सामान्य था। उत्तर भारत की तरह इनका समाज संगठित न था। उत्तर भारत के समाज में वर्ण व्यवस्था का रूप बढ़ चुका था, फिर भी उसमें एकता का दुर्बल रूप था और वैदेशिक आने वालों से या तो सदा अलग रहा अथवा उनको अपने में पचा लिया। दक्षिण में वर्ण भेद सामूहिक या, अर्थात् एक जन समूह एक विशिष्ट वर्ण का था, न कि एक वर्ण के अनेक समूह। इनमें छोटे अथवा बड़े सभी विद्या और

कला का आदर करते थे। उनकी स्त्रियों का स्थान भी उच्च था। हम देखते हैं, कि राष्ट्रकूट राजा अमोघ वर्ष इनको राजदूत बना कर भेजता था। अनेक स्त्रियों ने तो युद्ध और राज्य के संचालन का कार्य किया। उदाहरणार्थ चालुक्य जयसिंह द्वितीय की बहन उल्कादेवी ने एक प्रान्त का राज्य भार सम्हाला था। होयसल वल्लाल प्रथम की रानियाँ संगीत में निपुण थीं। इस समय सेनाएँ राजा के अभिषेक के अवसर पर उसके साथ भोजन करती थीं और उसका साथ देने की शपथ लेती थीं। इन सेनाओं के अलग अलग राज्य में अलग नाम थे; यथा चालुक्य में सहवासी और होयसल में गरुड़।

दक्षिण में दो वर्गों के लोग थे। १ सभ्य, २ कम सभ्य। दूसरे वर्ग वाले आज भी भारत की पिछड़ी जातियों में हैं। आर्यों के दक्षिण में जाने से उनके अनक तत्व दक्षिण जातियों में मिल गये, इसी प्रकार उनके बहुत से काम आर्यों ने भी अपनाये। यह समाज मुख्य रूप से दो भागों में बँटा रहा। एक राजवंश और दूसरा श्रमिक वर्ग। पर इनमें कोई कभी भी उन्नति करके शक्ति हाथ में कर सकता था।

आर्थिक जीवन—इस बात का संकेत किया जा चुका है कि आर्थिक दृष्टि से ये दुर्बल न थे। इनका व्यापार स्वदेश ही नहीं, विदेश में भी होता था। अधिकाँश लोग स्थानीय पूर्ति के लिए उद्योग धंधे करते थे। वारंगल में हम देखते हैं, कि सुन्दर कालीन और दरियाँ बनती थीं। पलनद में लोहे का सामान बनता था। मनार की खाड़ी में मोती निकालने का काम खूब होता होता था। धुर दक्षिण की ओर नमक भी समुद्र से बनाया जाता था।

इस समय कृषि की दशा भी अच्छी थी और उसके लिए सिंचाई की समुचित व्यवस्था की जाती थी। इसी के आधार पर राज्य की आय निर्भर रहती थी। नदियों के बाँध इसी युग में बाँधे गये, जिनसे कृषि कार्य में विशेष उन्नति हुई। फिर कृषि में संलग्न अनेक व्यवसाय थे जो इस प्रदेश में प्राचीन काल से चलते आये थे। इनका आर्थिक जीवन भी बहुत समय से सुव्यवस्थित था। बस इस युग की विभिन्न कड़ियों को कोई मिला न सका। चीनी तथा अरब यात्रियों को यहाँ का जीवन सम्पन्न मिला।

शिक्षा साहित्य—इनकी शिक्षा का कार्य महासभाओं द्वारा संचालित किया जाता था। ग्राम की ये महासभाएँ अपने सहयोग के लिए मठों अथवा मन्दिरों से सहायता लेती थीं। इस समय अध्यापकों के जीवन निर्वाह के लिए भूमि लगी रहती थी, तथा उन्हें विशेष अवसरों पर पुरस्कार दिये जाते थे। शिल्प कला की शिक्षा शिल्पियों के घरों में ही होती थी। साथ ही बहुधा शिल्प की शिक्षा पैतृक आधार पर होती थी। प्रौढ़ों के लिए मन्दिर आदि स्थानों में व्याख्यानों की समुचित व्यवस्था की जाती थी। संस्कृत शिक्षा का महत्व

विशेष था तथा उसकी शिक्षा के लिए इय समय बड़े बड़े दान दिये गये। इस समय वेल वेलगाँव में ब्रह्मपुरी और काँची में घटिका शिक्षा के बड़े केन्द्र थे। नागइ का विद्यालय २०० वेद विद्यार्थियों और ५० शास्त्र विद्यार्थियों को शिक्षा तथा आवास प्रदान करता था। अर्काट के एण्णायिरम स्थान में राजेन्द्र प्रथम कोल ने २७० प्राथमिक तथा ५० उच्च वर्ग के विद्यार्थियों का प्रबन्ध किया था। उसी के समीप त्रिभुवनी में एक महाविद्यालय में २६० विद्यार्थियों का प्रबन्ध था। इसके अतिरिक्त तिरवाहु तुडई में वैद्यक तथा व्याकरण की शिक्षा का प्रबन्ध था।

साहित्य—इस समय साहित्य की भी पर्याप्त रचना हुई। संस्कृत साहित्य में वैंकट माधव द्वारा परान्तक प्रथम के राजत्व काल में ऋगर्थ दीपिका, पुराणों में भागवत पुराण, लौकिक साहित्य में सुन्दर पाँड्य का राजनीति का ग्रंथ नीति द्विषष्टिका, कुमार दास का लिखा जानकी हरण, महेन्द्र वर्मा पल्लव द्वारा भक्त विलास, भगवदज्जुक, दण्डी द्वारा काव्यादर्श, तथा दशकुमार चरित त्रिविक्रम का नलचंपू, कुलशेखर द्वारा सुभद्रा-धनंजय नाटक, आदि अनेक ग्रंथ लिखे गये। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि जैन विद्वान सोमदेव शूरी ने यशस्तिकल चम्पू तथा नीति काव्यामाला लिखी। कदंब राना कामदेव के आश्रय में माधव भट्ट ने राघव पाँडवीय की रचना की। यह विचित्र पुस्तक है, इसके श्लोकों के दो-दो अर्थ हैं, एक अर्थ राम पर घटित होता है और दूसरा पाँडवों पर। देशिक का कालिदास के मेघदूत की भांति हंस संदेश, कुमार विभट्ट द्वारा जैमिनि शास्त्र का स्पष्टीकरण, शंकराचार्य द्वारा वेदान्त दर्शन, विशिष्टाद्वैत के प्रतिपादक नाथमुनि, यामुनाचार्य और रामानुज का ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य विशेष उल्लेखनीय ग्रंथ हैं। इसमें नाथमुनि द्वारा योग रहस्य तथा न्याय तत्व, यामुनाचार्य द्वारा गीतार्थ संग्रह तथा सिद्धित्रय, तथा आगम प्रामाण्यम विशेष हैं। इस समय के विधि शास्त्र में याज्ञवल्क्य स्मृति के तीन भाष्य हुए। अर्थात् विश्व रूप का बालक्रीड़ा, विज्ञानेश्वर का मितक्षरा तथा शिलाहार राज अपरार्ध का भाष्य। कोश साहित्य में रामानुज के गुरु यादव प्रकाश का वैजयन्ती, धनंजय का नाम माला तथा व्याकरण में अष्टाध्यायी की काशिका वृत्ति पर हरिदत्त द्वारा पदमंजरी ग्रंथ लिखे गये। संगीत में जगदेक मल्ल का संगीत, चूड़ामणि और चालुक्य राजकुमार का संगीत सुधाकर भुलाये नहीं जा सकते।

तामिल साहित्य—संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त दक्षिण में तामिल, तैलगू तथा कन्नड साहित्य की भी रचना हुई। तामिल साहित्य में शील घटिकारम्, मणिमेक्लै, तिरूमंदिरम् तथा पेरुंग दे प्रमुख ग्रन्थ हैं। इस साहित्य का स्वर्ण युग चोडों का काल है। इस युग में तिरुत्तक देव ने जीविका-चिन्तामणि,

चोलराजकवि जय गोंडार का कलिगत्तुपरणि लिखे गये, इनमें से कलिगत्तुपरणि में कुलोत्तुंग प्रथम के कलिंग युद्धों का वर्णन है। व्याकरण ग्रंथों में याष्प रूंगलम् तथा याष्प रुंगलक कारिकै की रचना हुई। इसी समय दिवाकरम् कोश की रचना हुई। धार्मिक साहित्य में शैव सिद्धान्तों पर अनेक ग्रंथ लिखे गये। इसी समय शिवज्ञान सित्तिय्यार में पौराणिक, बौद्ध तथा जैन धर्मों के १४ सम्प्रदायों की विवेचना की गयी।

कन्नड़ साहित्य—तामिल साहित्य के कन्नड साहित्य ही अन्य द्राविड़ भाषाओं में प्राचीन है। इस भाषा का प्राचीनतम ग्रंथ अमोघ वर्मा प्रथम का कविराज मार्ग है। यह दण्डी के काव्यादर्श पर आधारित है। इस साहित्य का दूसरा अमूल्य ग्रंथ चंपा का लिखा आदि पुराण है। ९४१ ई०) इसमें पहले तीर्थंकर की कथा है। इसी कवि का लिखा विक्रमार्जुन विजय भी है; जो महाभ रत की कथा पर आधारित है। तीसरा महत्वपूर्ण लेखक रन्न हुआ है, इसने चालुक्य तैल द्वितीय के समय तथा उसके पश्चात् भी अपने ग्रंथों की रचना की। उसने अजित पुराण में लिखा जिसमें दूसरे तीर्थंकर की कथा है। इसी का दूसरा ग्रंथ साहस भीम विजय है, जिसमें महाभारत की एक कथा का अंश है। इसी युग का लेखक चामुंड राय भी है, जिसने चामुंडराय पुराण लिखा है। इसमें जैन तीर्थंकर तथा अन्य महातमाओं का चरित्र चित्रण है। चामुंडराय के आश्रय में नाग वर्मा प्रथम रहता था, उसने छंदोऽम्बुधि तथा कर्नाटक कादम्बरी दो ग्रंथ लिखे हैं। इसी समय जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल के मंत्री दुर्गासिंह ने पंचतंत्र की पुस्तक लिखी। इस भाषा में जैन लेखकों का काफी योग है। यथा नागचन्द्र का रामचन्द्रचरितपुराण, जिसमें राम की कथा का जैन दृष्टिकोण से वर्णन है। नागवर्मा द्वितीय की पुस्तक काव्यावलोकन, व्याकरण और अलंकार के लिए उपयोगी पुस्तक है। इसी ने एक कन्नड भाषा पर्यायवाची शब्दों का ग्रंथ बनाया है, जिसका नाम वस्तु कोश है। कुछ पुस्तकें इस साहित्य में लिंगायत संप्रदाय के अनुयायियों द्वारा लिखी गयीं। ये पुस्तकें गद्य में हैं और वचन कहलाती हैं। इस प्रकार के लगभग दो सौ लेखकों के वचन उपलब्ध हैं। एक तैलगू लेखक सोमनाथ ने भी कन्नड़ भाषा में वैष्णव धर्म पर लिखा है यथा शीलसम्पादने, सहस्रगणनाम तथा पंचराम।

तैलगू साहित्य—इस साहित्य का सबसे प्रमुख लेखक नन्नय हुआ और उसने महाभारत के आदि तथा सभा, पहिले दो पर्वों का रूपान्तर तैलगू में किया है। उसीने तैलगू भाषा का व्याकरण ग्रंथ आंध्र शब्द चिंतामणि लिखा है। इस भाषा के कवि जो ब्रह्म कवि के नाम से विख्यात हुए हैं, तिक्कल थे। आपने विराट पर्व से लेकर अन्त तक महाभारत का रूपान्तर तैलगू में कर

डाला। येरप्रिण्ड ने वनपर्व का रूपान्तर किया। ये तीनों कवि कवित्रय के नाम से प्रसिद्ध रहे हैं। इनमें से येरपिण्ड को तो प्रबंध परमेश्वर कहा जाता है। इसने दो अन्य ग्रंथ भी लिखे हैं, हरिवंश रामायण तथा लक्ष्मी नृसिंह पुराण।

कला—इस युग की कला के नमूने भी हमें अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में मिलते हैं। राजा तथा प्रजा दोनों में ही अपने उपास्य देवों के प्रति श्रद्धा थी, अतः दोनों ने मन्दिर तथा मूर्तियों का प्रचुरता से निर्माण कराया। इस प्रायद्वीप के मन्दिर उत्तर के मन्दिरों से भिन्न थे, इसमें गुहा मन्दिर जो चट्टानों को कोल कर बनाये जाते थे, इनकी विशेष कृति थी। ऐलोरा के बिहार तो जगतप्रसिद्ध ही हैं। इनका विवरण विभिन्न राजवंशों के अनुसार देना अधिक (श्रेयस्कर) अच्छा होगा।

चालुक्य वंश—हिन्दू मन्दिरों का प्रारम्भ दक्षिण में ऐहोल तथा उसके समीपस्थ मन्दिरों से होता है। ऐहोल का मन्दिर सपाट है तथा एक छत सहित मंडप भर है, दुर्गा का मन्दिर इससे भिन्न है, यह बौद्धों के चैत्यों की तरह बनाया गया है। एक विष्णु गुहा मन्दिर वातापी में चट्टानों को काटकर बनाया गया है, इसकी विष्णु तथा नरसिंह की मूर्तियाँ अत्यन्त सुन्दर हैं। इनसे भी उत्तम नमूने हमें वातापी से दस मील दूर पट्टदकल में मिलते हैं, जहाँ उत्तर भारत की शैली में पामनाथ मन्दिर तथा दक्षिण शैली में विरूपाक्ष मन्दिर बने हैं। इनमें अनेक मूर्तियाँ बनी हैं। ये मूर्तियाँ रामायण के दृश्यों की, सिंह, नाग अथवा नगीनों की हैं। ऐलोरा का कैलाश मंदिर इस प्रकार की कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना है। यह मन्दिर एक चट्टान को कोलकर निकाला गया है। इसमें कई मंजिल हैं और इसकी दीवालों पर पौराणिक गाथाएँ खुदी हुई हैं, जिनमें सर्वोत्तम रावण को कैलाश पर्वत उठाना है। इसी स्थान पर पाँच जैन गुहा मंदिर भी बने हैं और इनमें एक छोटा कैलाश कहलाता है; क्योंकि यह कैलाश मन्दिर के नमूने पर बनाया गया है। बम्बई से ६ मील दूरी पर एलीफेण्टा द्वीप है, उसके गुहा मन्दिर भी इसी युग की कृति हैं। एलीफेण्टा की गुहा १३० फीट लम्बी और १२९ फीट चौड़ी है। इसको पिछली दीवाल पर शिव जी की एक त्रिमूर्ति बनी है, इसकी गणना संसार की सर्वोत्तम मूर्तियों में की जाती है।

पल्लव कला—इस वंश के राजाओं ने भी कला के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है। इसके मन्दिर दो तरह के हैं, (१) पूर्णतया पत्थर से काट कर बनाये गये और (२) पत्थर तथा ईंटों से बनाये गये। पहिले वर्ग में एक तो सीधे-सादे मंडप हैं, जिनको महेन्द्र वर्मन प्रथम ने बिना ईंट, गारा या लकड़ी के

बनवाया। दूसरे अधिक बड़े मण्डप तथा एक ही चट्टान से कीले हुए रथ हैं, जिसको नरसिंह वर्मन प्रथम तथा उसके उत्तराधिकारियों ने बनवाया है। महेन्द्र वर्मन के वर्ग में स्तम्भ तथा शीर्ष अच्छे बने हैं, पर नरसिंह की शैली में यही सजे अधिक हैं। इनके उदाहरण हमें मद्रास से ३२ मील की दूरी पर मामल्लपुर में दिखाई देते हैं, ये सप्तरथ के नाम से प्रसिद्ध हैं।

इनमें से कुछ मन्दिरों में पल्लव राजा और रानियों की पूरे आकार की बड़ी ही सजीव मूर्तियाँ बनी हैं। इनमें से एक दृश्य गंगा के लाने का भी है। इसे गंगावतरण (गंगा+अवतरण) कहते हैं। प्रसिद्ध कथा, जिसमें राजा भगीरथ बड़ी तपस्या के पश्चात् गंगा जी को ला पाये थे, यहाँ उत्कीर्ण की गई है। एक चट्टान को कोल कर ९० फीट लम्बी और ६६ फीट चौड़ा गंगावतरण का दृश्य बनाया गया है। इसमें एक ओर राजा भगीरथ की मूर्ति है जिसमें वह तप के कारण कंकाल रूप में शेष दिखाये गये हैं। दूसरीओर उनकी तपस्या से संसार आश्चर्य चकित है। इस विश्व के दृश्य में हाथी, बिल्ली, चूहे आदि पशुओं की मूर्तियाँ भी बड़ी ही मनोहर बनायी गयी हैं।

इस शैली के दूसरे वर्ग में भी दो भाग हैं। पहले (७००-८०० ई०) भाग में राजसिंह शैली के ६ मन्दिर हैं जिनमें से तीन मामल्लपुर में एक पनमलै में और शेष दो काँची में हैं। काँची के मन्दिर ही इस शैली के सर्वोत्तम नमूने हैं। इसके दूसरे भाग में (८००-६०० ई०) नन्दि वर्मन शैली के मन्दिर हैं। पर ये कला की दृष्टि में उतने अच्छे नहीं बन पड़े। इससे सिद्ध होता है कि इस समय तक पल्लव कला में अवनति होने लगी थी।

चोल कला—चोल राजाओं ने तो पल्लवों की कला को ही जीवित रखा। इनके युग में सुन्दर महलों तथा देवताओं की धातु और पत्थर की मूर्तियों का निर्माण अधिकता से हुआ। इनके मन्दिरों में हमें बड़े बड़े विमान तथा विस्कृत आँगन मिलते हैं। इनके कुछ मन्दिरों के मुख्य द्वार बहुत ही ऊँचे बनने लगे, जो मीलों से दिखाई पड़ते हैं। इन मन्दिरों का प्रयोग वे विद्याध्ययन, सभाओं और आमोद-प्रमोद के लिए करते थे। इनमें कुम्भ कोनम के नागेश्वर मन्दिर में पुरुषों व स्त्रियों की पूरे आधार की मूर्तियाँ गर्भ गृह के बाहर ताकों में बनी हैं, ये अत्यन्त सराहनीय हैं तथा भारत की उत्तम मूर्तियों में गिनी जाती हैं। किन्तु इस काल के सबसे उत्तम मंदिर तंजौर के राज राजेश्वर और गंगौकोंड चोलपुरम् के गंगैकोंड चोलेश्वर के मन्दिर हैं। ये क्रमशः राज राज प्रथम तथा राजेन्द्र प्रथम के समय में बनाये गये थे। राजराजेश्वर प्रथम का मन्दिर ५०० फीट लम्बे तथा २५० फीट चौड़े परकोटे में बना है, यह १००९ ई० में पूरा हुआ था, इसका मुख्य द्वार पूर्व को है। इसका विशाल विमान ८२ फ़ीट

लम्बी भुजा के वर्ग पर बना है तथा १६० फीट ऊँचा है। इसमें ऊपर १३ तल हैं। इसके शीर्ष पर एक २५ फीट ऊँचा गुम्बज है।

गंगैकोंड कोलेश्वर का मन्दिर भी राजेश्वर के ही समान बना है। इसकी स्थापत्य कला तथा मूर्तियाँ और भी सजीव हैं। इसके अतिरिक्त चोल कला के नमूने हमें राज राज द्वितीय के राज्यकाल के दारा शुरम् में बनाये गये एरावतेश्वर तथा कुलोत्तुंग तृतीय के ससय में निर्मित कुंभकोनम के पास कंपहरेश्वर के मन्दिरों में देखने को मिलते हैं। इस समय के देवताओं की मूर्तियाँ भी अद्वितीय हैं। कांसे की नटराज की मूर्ति इसी काल की है। इसके अतिरिक्त हमें इस युग की शिव, विष्णु, लक्ष्मी, राम, सीता, कालियनाग के फन पर नाचते हुए कृष्ण आदि की मूर्तियां प्राप्त होती हैं।

अन्य वंशों की कृतियाँ—इन राजवंशों के अतिरिक्त हम देखते हैं कि जो वंश थोड़े ही काल रहे, उन्होंने भी इस ओर कुछ न कुछ कार्य किया। यथा पांड्यों के समय श्रीरंगम् द्वीप में जंवुकेश्वर के मंदिर का विशाल गोपुर तथा चिदम्वरम् में पूर्वीय गोपुर। कल्याणी के चालुक्यों की कला के नमूने मैसूर में होयसल मन्दिरों में मिलते हैं। इन्होंने मूर्तियों में बारीकी लाने के लिए कलोंस पत्थर का प्रयोग किया है। इनके मन्दिर ऊँचे मंच पर बने हैं। इनकी दीवालों पर ऊपर नीचे पड़ी पट्टियों में मूर्तियाँ खुदी हैं। इन मूर्तियों में से बहुतों पर वनाने वाले ने अपने नाम अंकित कर दिये हैं। इन मंदिरों के स्तम्भ और शीर्ष विशेष रूप से सजे हैं। इस समय की कला में धातु की तरह की ही बारीकी पत्थर पर दिखायी देती है। इसके अतिरिक्त हमारा ध्यान कलिंग के मंदिर आकर्षित करते हैं। इसकी चर्चा की जा चुकी है। इनमें भुवनेश्वर के तीस मन्दिर, पुरी का जगन्नाथ मन्दिर तथा कोणार्क का सूर्यदेव मंदिर आते हैं। इनमें भुवनेश्वर का मन्दिर पूर्व कालीन तथा जगन्नाथ का मंदिर बाद का मंदिर है। जगन्नाथ का मंदिर अनन्त वर्मन चोड गंग के राज्य काल में बना था। कोणार्क का सूर्य मंदिर राजा नरसिंह देव ने (१२३८-६४ ई०) में बनवाया था। इसके रथ और पहियों का सारा तल भाँति-भाँति के सुन्दर अलंकारों से सजा हुआ है। एक मंदिर हमें थाना जिले में अंबरनाथ में मिलता है, यह चालुक्य सोमेश्वर प्रथम के सामन्त द्वारा बनवाया गया का। इस मंदिर की छत, गुंबज की छत और मंडप के स्तंभों की सजावट सभी अद्वितीय है।

धार्मिक जीवन

भक्ति आन्दोलन—भारतवर्ष की जनता सदा से धर्म प्राण रही है। धर्म का

उत्कृष्ट स्वरूप ही उसके मस्तक को सदा ऊँचा उठाये रहा है। उसे धर्म में ही सच्चा सुख और सच्ची शान्ति मिलती रही है। कहाँ तक कहा जाय उसने न जाने कितने अन्य वर्गों को अपनी इस व्यापकता और उदारता के फलस्वरूप अपने में पचा लिया, परन्तु ग्यारहवीं व बारहवीं शती में उसमें नैराश्य, क्षोभ, आपत्ति व संकट के ऐसे बादल उमड़े कि उसे अपने निर्गुण स्वरूप ब्रह्म में यथा तप और व्रत में अधिक निष्ठा नहीं रही। अतः इस अवसर पर उसने अन्धे की लकड़ी की खोज की और यह खोज भक्ति के मार्ग पर की थी। भक्ति और ज्ञान में यही भारी अन्तर रहा कि—

"ज्ञान का पन्थ कृपाण की धारा।
परत खगेश होय नहि बारा।।" —**तुलसी**

के अनुसार ज्ञान कठिन मार्ग का प्रदर्शन करता था और भक्ति **"सर्व धर्मान् परित्यज्यं मामेकं शरणं व्रज"** (अर्थात् सब कुछ छोड़कर एक मेरी शरण में आओ।)—**गीता**

के अनुसार सब कुछ भला बुरा परमात्मा पर डालने से मनुष्य को संतोष तथा सुख हुआ। साथ ही यह मार्ग सरल और सुगम हुआ। पर इसके लिए केवल यही एक कारण उत्तरदायी न था बल्कि अन्य अनेक कारण थे। यथा—

(१) मध्य कालीन भारत में समाज धार्मिक कट्टरता का शिकार बन चुका था। जाति-पाँति, खान-पान, आदि से एक मनुष्य दूसरे से कोसों दूर हो गया था।

(२) महमूद गजनवी तथा मुहम्मद गोरी जैसे विदेशी शासकों ने मृत्यु का भय दिखाकर हिन्दुओं का बलपूर्वक धर्म परिवर्तन किया।

(३) सरकारी पदों के लालच में अनेक हिन्दू मुसलमान हो गये, साथ ही धर्म के अनेक प्रचारकों और फकीरों ने हिन्दुओं का धर्म परिवर्तन किया।

(४) सवर्ण हिन्दुओं के अत्याचारों ने निम्न वर्ग को क्षुब्ध कर रखा था। अतः वे भी धर्म परिवर्तन के लिए उद्यत हो गये।

(५) अनेक मुसलमानों ने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करके भी अपने धर्म के अनुयायियों की संख्या बढ़ा ली थी। यही नहीं ऐसे परिवर्तित धर्म वालों की सन्तान और अधिक कट्टर सिद्ध हुई, और उस धर्म को मानने तथा मनवाने के लिए प्रयत्नशील हुई।

(५) फिर बहुत समय तक दोनों वर्गों के एक साथ रहने से जन साधारण की एक नई धारणा बन गयी थी, मुसलमान सोचने लगे कि हिन्दू नष्ट नहीं किये जा सकते, और हिन्दुओं का विचार हुआ कि मुसलमान भारत से अब निकाले नहीं जा सकते।

(७) यही नहीं, एक दूसरे का अनेक क्षेत्रों से सम्पर्क हुआ, यथा भवन-निर्माण, संगीत, साहित्य, युद्ध आदि । इससे एक दूसरे की कटुता में कमी आयी और सहानुभूति तथा सहिष्णुता में भी वृद्धि हुई ।

(८) इसके अतिरिक्त हिन्दू धर्म की व्यापकता, विभिन्नता तथा जटिलता के सामने इस्लाम की स्पष्टता, सरलता और जाति हीनता से हिन्दू दलित वर्ग को मुसलमानों ने अपनी ओर आकर्षित किया ।

(९) अन्त में कहना न होगा कि कुछ धर्म सुधारक तथा महात्माओं का जन्म इसी काल में हुआ, जिन्होंने धर्म की रूढ़ियों को तोड़कर एक दूसरे की अच्छाई और समता को समीप रखकर दोनों दलों को समीप लाने की चेष्टा की, अतः इस विचार धारा ने एक आन्दोलन का स्वरूप धारण कर लिया जिसे भक्ति आन्दोलन ही कहना उचित होगा । इसका सबसे अधिक श्रेय **शंकराचार्य, रामानुज, बिम्बकाचार्य, बल्लभाचार्य, माधवाचार्य, रामानन्द, ज्ञानदेव, चैतन्य—महाप्रभु, कबीर तथा नानक** को है । इन सबों ने यद्यपि पृथक् पृथक् स्थानों और पद्धतियों से अपने अपने उपदेश दिये, पर सभी ने जनता में एक जागृति उत्पन्न कर दी, उसमें प्राण फूँक दिये और उसे पुनः एक बार कर्मण्य बना दिया । इन धर्म सुधारकों ने उस समय क्या किया, इसके लिए उनका थोड़ा सा पृथक् परिचय आवश्यक है, अतः उसे नीचे दिया जाता है ।

१. **शंकराचार्य**—यह शब्द थोड़ा भ्रम उत्पन्न करता है । आज भी हम शंकराचार्य की पदवी धारण करने वाले महात्माओं को अपने बीच पाते हैं, और ८ शताब्दी में भी वे थे । इसका कारण यह है कि आदि शंकराचार्य तो इस काल के आरंभ में हुए । उनका जन्म ७८८ में हुआ था । वह उत्तर तिखांकुर में एक नंबदिरि ब्राह्मण परिवार में पैदा हुए थे । बाल्य काल में ही उनके पिता का देहान्त हो गया । वह सन्यासी हो गये और गौडवाद के शिष्य गोविन्द स्वामी से वेदान्त पढ़ने लगे । अपने थोड़े ही जीवन काल से शंकर ने समस्त देश का भ्रमण किया और अद्वैत वाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर यह सिद्ध किया कि जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है । अपने भारत के चारों कोनों में चार मठ स्थापित किये थे, ये चारों मठ आज भी विद्यमान हैं, अर्थात् उत्तर में बद्रीनाथ, दक्षिण में रामेश्वरम्, पूर्व में जगन्नाथ पुरी तथा पश्चिम में द्वारिका । अतः उनके बाद जितने भी महात्मा इन मठों की गद्दी पर बैठते हैं वे सभी शंकराचार्य कहलाते हैं ।

इन मठाधीशों द्वारा हिन्दू धर्म में सुधार का युग प्रारम्भ होता है । आदि शंकराचार्य एक महान् विद्वान और दर्शन के (philosophy) पण्डित थे ।

इन्होंने प्रचलित वैदिक धर्म के एक ऊँचे ज्ञान वेदान्त को अद्वैत का रूप दिया। उन्होंने सिद्ध किया सत्य और एकमात्र सत्ता केवल ब्रह्म की है, समस्त प्राणी उसी ब्रह्म के अंश मात्र हैं। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि यह जगत असत्य है, यह जैसा दिखाई देता है वैसा वस्तुत: है नहीं। केवल ब्रह्म सत्य है। इन्होंने अपने सभी प्रतिद्वन्दियों को पराजित किया और अपने मत को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध कर दिखाया। सच तो यह है कि बौद्ध और इस्लाम के आवेग में जो हिन्दू धर्म दब कर निष्प्राण हो गया था उसको उन्होंने प्राणित कर दिया। इन्होंने ही बौद्ध धर्म को भारत की सीमाओं से बाहर कर दिया। यही परिपाटी उनके पश्चात् उनके गद्दीदारों ने चलायी और हिन्दू जनता के वे उपास्य देव बन गये। समस्त भारत की जनता आज भी इन चारों मठों को चारधाम कहकर पुकारती है, और वहाँ का पर्यटन व वर्णन करके अपने को मुक्त मानती है। इससे शुद्ध वैष्णव वाद को भी धक्का लगा। इसका कारण यह है, कि जीव और ब्रह्म में जब कोई विभेद नहीं रहा तो किसकी भक्ति और कौन भक्त। इसका फल यह हुआ कि अनेक धर्म प्रचारक ऐसे उठ खड़े हुए जिन्होंने वैष्णव धर्म का प्रतिपादन किया। इस युग में आन्धी और निराश जनता की डोर बँधायी। इन प्रचारकों ने समझ लिया था कि जनसाधारण ब्रह्म के सिद्धान्त को नहीं समझ सकता। अत: उसके लिए एक आधार परम आवश्यक है।

(२) भक्ति आन्दोलन के सच्चे प्रवर्त्तक श्री रामानुजाचार्य थे। इनका जन्म मद्रास के समीप बेरुबुदुर में हुआ था। ये बारहवीं शती के प्रारम्भ में हुए थे। इन्होंने शंकर के मत को मानने वाले काँची के यादव प्रकाश से दर्शनों को पढ़ा, पर इनका अपने गुरु से ही मतैक्य न हुआ और वे यमुनाचार्य के विचारों की ओर मुड़े तथा श्रीरंगम के मठ में उनके उत्तराधिकारी अध्यक्ष बन गये। आपने शंकर के मत का खंडन किया और एक नवीन धारा बहाई। इसी को बिशिष्टाद्वैत कहते हैं। इसके अनुसार जीव ब्रह्म का एक विशिष्ट रूप है और उससे भिन्न हैं। आपने मन्दिरों के अनुष्ठानों का सुधार किया और उन्हें वर्ष में एक दिन निम्न वर्ग के लिए भी खोल दिया। इसी से वैष्णब धर्म का प्रचार हुआ। आपका कहना था कि परमात्मा निराकार नहीं है, वह सद्गुणों की खान है, वह विष्णु का स्वरूप है, समाज में स्त्री पुरुष की चाहे जो दशा हो, परमात्मा के समीप सभी समान हैं बशर्ते कि अच्छा जीवन पालन करे।

(३) **स्वामी निम्बकाचार्य**—यह रामानुजाचार्य के ही समकालीन थे और वैष्णवधर्म की कृष्ण मार्गी शाखा के प्रवर्तक थे। आपका जन्म एक ब्राह्मण वंश में हुआ था। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा वैदिक धर्म के आधार पर हुई थी। रामानुज की भाँति आपने भी शंकर के अद्वैतवाद का खंडन किया। फिर भी

दोनों आचार्यों के उपदेशों में कुछ अन्तर था। रामानुज ने अद्वैतवाद के स्थान पर विशिष्टाद्वैत का प्रचार किया किन्तु निम्बकाचार्य ने दोनों के मेल का प्रयत्न किया। रामानुज राम को भी कृष्ण का ही अवतार मानते थे। निम्बकाचार्य के मतानुसार कृष्ण ही सारे जगत के आश्रयदाता थे। उन्हीं के चरणों में लगे रहने से सच्चा आनन्द प्राप्त हो सकता है। इसी से मुक्ति मिल सकती है। आपके मत का प्रचार मथुरा तथा उसके समीप अधिक हुआ।

(४) **माधवाचार्य**—आपका जन्म शृंगेरी के समीप हुआ था। आप भगवान विष्णु के उपासक थे। आप भक्ति के द्वारा ही भगवत् प्राप्ति का उपदेश देते थे। वाल्यकाल से ही आप सन्यासी जीवन को अच्छा समझने लगे थे। आपने गहन अध्ययन किया और अपने विरोधी मत वालों को शास्त्रार्थ करके पराजित करने का निश्चय किया। इस ओर आपको पर्याप्त सफलता भी मिली। आपका प्रचार केन्द्र हरिद्वार था। आपने यहीं वेदान्त सूत्रों पर अपना भाष्य प्रकाशित किया। आपका भी अन्तिम मोक्ष प्राप्ति ही था। जो कि भक्ति मार्ग से सम्भव था।

रामानन्दाचार्य—आपका उदय तुगलक शासनकाल में उत्तर भारत में हुआ था। आपने भी वैष्णव धर्म का प्रचार किया—और राम तथा सीता को अपना इष्ट चुना। आपके सिद्धान्तों में बड़ी भारी विशेषता यह थी कि जाति पाँति का बन्धन न था। आपका कहना था, कि रामनाथ जपने से ही जाति पाँति बन्घन छूट जाता है। अपने तीर्थ स्थानों में जाकर सीताराम की पूजा पर जोर दिया। आपने द्विजेतर जातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के अलावा) को भी अपना शिष्य बनाया, उन्हें एक भाव से दीक्षा दी। आपने अपना उपदेश भी अत्यन्त साधारण भाषा में दिया। सम्पूर्ण देश का भ्रमण करके आपने अपना केन्द्र स्थान काशी को चुना। यहीं आपको एक प्रमुख शिष्य कबीर मिले, जिन्होंने आपके मत का जोरों से प्रचार किया, साथ ही आशातीत सफलतापायी।

(६) **कबीर**—आपका जन्म १४५६ में काशी में हुआ था। आपकी आयु १२० वर्ष मानी जाती है, आप अपने विचारों में बड़े दृढ़ थे और अपने दृढ़ विचारों के कारण ही आपने मगहर में जाकर शरीर त्याग किया था, क्योंकि लोगों का यह विश्वास है कि वहाँ मरने से नरक अवश्य मिलता है। आपने कहा है।

क्या काशी क्या असर भगहर रामहृदय बस मोरा।
जो काशी तन तजै कबीरा रामै कौन निहोरा।

आपके वंश का ठीक ज्ञान नहीं है, पर यह निश्चित है कि आप जुलाहे के घर पाले पोषे गये थे। कुछ लोमों का विचार है, कि ये एक विधवा ब्राह्मणी

के गर्भ से, जिसे स्वामी रामानन्द ने पुत्रवती होने का आशीर्वाद दिया था, उत्पन्न हुए थे। इनको इनके माता पिता ने लहर तारा तालाब के किनारे छोड़ दिया था जहाँ से नीरू और नीमा नाम के जुलाहे पति पत्नी उठा लाये थे। आपने रामानन्द जी को अपना पथ प्रदर्शक चुना और उन्हीं की शिक्षाओं का भरसक पालन किया।

सबसे बड़ी बात जो कबीर ने की वह यह थी कि हिन्दू और मुसलमान दोनों की संकीर्णता को मिटाने की चेष्टा की। आप हिन्दू मुसलिम एकता के पक्षपाती थे। आपका साहित्य आज भी अमर है। आपने एक ओर हिन्दुओं की पूजा का खण्डन किया दूसरी ओर मुसललानों की हिंसा का। मूर्ति पूजा के विषय में आपने लिखा है "भारी कहूँ तो बहु डरूँ हल्का कहूँ तो झूठ।
मैं का जानूँ राम को नैनन कबहुँ न रीठ।"

और भी "दुनिया ऐसी बावरी, पत्थर पूजन जाय।"
घर की चक्की कोई न पूजै जाको पीसो खाय॥

आपने प्रेम को सबसे बड़ा धर्म बतलाया, और अहिंसा की सदा सराहना की। किसी को उसकी बुराई के लिए आपने छोड़ा नहीं'। आप लिखते हैं—

कांकर पाथर जोड़ कै, मस्जिद लई चुनाय।
ता चढ़ मुल्ला बांग दै, क्या बहिरा हुआ खुदाय॥

(७) **वल्लभाचार्य**—आपका जन्म १४७१ में हुआ था। आपने रामानन्द की राम भक्ति के स्थान पर कृष्ण भक्ति का उपदेश किया। वस्तुतः आप ही वैष्णव धर्म की कृष्ण मार्गी शाखा के प्रधान पोषक हुए। आप तैलगू ब्राह्मण थे। अपने बाल्यकाल से ही आप अपनी भक्ति के लिए प्रसिद्ध हो गये थे। आपकी योग्यता के कारण ही आपको अनेक भक्त मिले। अपनी शिक्षा के पश्चात् आपने तीर्थ स्थानों की यात्रा की तथा अन्त में बनारस को अपना केन्द्र चुना। मार्ग में आपने विजय नगर के राजा कृष्ण देव राय की राजसभा में अपने विरोधी शैव मत वाले आचार्यों को शास्त्रार्थ में परास्तकिया। आपने बनारस में रहकर १७ पुस्तकें लिखीं। इनके द्वारा आपने शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की। भक्ति मार्गी होने के नाते आपने इसी मार्ग को सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। इसका एक परिणाम अच्छा न हुआ, कि आपके अनुयायियों ने विलासी जीवन बिताना प्रारंभ किया। अतः इस संप्रदाय का पतन भी शीघ्र हुआ।

(८) **चैतन्य महाप्रभु**—चैतन्य का जन्म सन् १४८५ में ब्राह्मण कुल में हुआ था। आपने २५ वर्ष की अवस्था से ही वैष्णव धर्म का प्रचार आरम्भ किया। आप शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान थे। आपने जातीय बन्धन तथा छुआछूत का परित्याग किया। आप भ्रातृ भाव, प्रेम तथा कृष्ण भक्ति की

शिक्षा के समर्थक थे। उनके कुछ भक्त तो उनको आश्चर्यजनक कृत्यों का भी श्रेय देते हैं। आपके मतानुसार कृष्ण ही त्रिभुवन के स्वामी थे। जीवात्मा को कृष्ण की भक्ति में लगा रहना ही सबसे अधिक कल्याण कारक है। जीवात्मा ही कृष्ण की राधा है। चैतन्य का हृदय अत्यन्त कोमल था, वे कभी भी किसी को दु:खी नहीं देखना चाहते थे। सभी को एक दृष्टि से देखते थे। आपकी दृष्टि में कोई ऊँच-नीच अथवा छोटा-बड़ा न था।

(९) **नामदेव**—दक्षिण भारत में १३ वीं शताब्दी के अन्त में नामदेव का जन्म हुआ। आपने भी भक्ति द्वारा ही भगवत् प्राप्ति बतलायी। आपने भी जाँति पाँति पर ध्यान नहीं दिया, जिसका फल यह हुआ कि हिन्दू मुसलमान दोनों ने ही आपको गुरु माना। आपने भी ईश्वर की एकता पर जोर दिया और उसी से मोक्ष प्राप्ति का मार्ग बतलाया।

(१०) **नानक**—सिक्ख धर्म के प्रवर्त्तक नानक का जन्म लाहौर के तालबन्दी नामक गाँव में १४६९ ई० में हुआ था। बचपन से ही ये सन्यास प्रवृत्ति के थे तथा कबीर के अनन्य भक्त थे। इन्होंने बहुदेव वाद, मूर्तिपूजा और कर्मकाण्ड की कड़ी आलोचना की। साथ ही इन्होंने सच्चरित्रता पर तथा परमात्मा की भक्ति पर जोर दिया। ये मुल्लाओं और पुजारियों के आडम्बरों से जलते थे, इनकी दृष्टि में ईश्वर की प्राप्ति के लिए संसार का परित्याग अनुचित था। इन्होंने सिक्ख धर्म को जन्म दिया जो आज भी पल्लवित और पुष्पित है। यह अल्लाह और राम को एक ही शक्ति के दो रूप मानते थे।

इन साधु-सन्तों के उपदेश में शासकों का तो योग इतना न था, पर कुछ लेखक तथा पर्यटकों का अवश्य रहा। पहले पहल तो आक्रमणकारी आये और गये पर जब वे यहाँ बसने लगे तो उन्होंने यहाँ के धर्म कर्म में भी कुछ अच्छाइयाँ देखीं और उनका उन पर बहुत प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि अलबरूनी जैसा संस्कृत का पण्डित हमारे सामने आता है, उसने हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के लिए अनेक मुसलमानों में स्नेह पैदा कर दिया। इसके अतिरिक्त अमीर खुसरो को कौन नहीं जानता जिसने हिन्दी में अपनी रचनाएँ कीं। फिर शासकों ने हिन्दू धर्म ग्रंथों का फारसी में अनुवाद कराया। यथा—कश्मीर के राजा जैनुल आब्दीन और बंगाल के शासक हुसेन शाह।

इस आन्दोलन में अनेक छोटे छोटे सम्प्रदाय भी उठ खड़े हुए, जैसे लिंगायत, कापालिक आदि। अनेक धर्म प्रचारक निजी धर्म को मानने लगे और उसी का प्रचार करने लगे। इनमें दादू, एकनाथ आदि के उपदेशों से जनता में चेतना फैल गयी। इस समय बौद्ध व जैन धर्मों के आचार्य भी रहे, पर इस

नयी धारा के सामने वे टिक न सके। इस युग में छोटे छोटे राजा थे और जिस धर्म के प्रति उनकी निष्ठा होती थी उसी पथ पर वे प्रजा को भी चलाते थे। अतः इसके प्रसार में दिन प्रति दिन उन्नति होती गयी।

इसका फल—इन महात्माओं के उपदेशों से सामाजिक जीवन पर अधिक प्रभाव पड़ा। यह प्रयत्न हिन्दू मुसलिम एकता के प्रति था। यद्यपि इस उद्देश्य की पूर्ति में सफलता अधिक न मिल सकी क्योंकि दोनों की संस्कृतियों में भारी और आधारभूत अन्तर रहे, पर परस्पर कटुता में इसके कारण कुछ कमी आ गयी। धर्म आडम्बर और धर्म के अन्ध विश्वासों को भी एक भारी धक्का लगा। जन साधारण में सहिष्णुता का उदय हुआ। दर्शन और साहित्य में रचनाओं की अभिवृद्धि हुई। इससे राष्ट्रीय भावना को भी प्रकाश मिला। इसीसे देश की प्रादेशिक भाषाओं को प्रोत्साहन मिला।

इससे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि हमारे समाज में जो वर्ग दलित और हेय समझा जाता था, उसे भी चेतना आयी और उसमें भी उत्साह उत्पन्न हुआ। जब उसने देखा कि जुलाहे, चमार, नाई जाति में उत्पन्न संतों की ब्राह्मण वर्ग के लोग पूजा करते हैं, तो उसके हर्ष का पार न रहा। इस आन्दोलन ने स्त्रियों की दशा में भी कुछ सुधार किया क्योंकि भक्ति के लिए स्त्री पुरुष का भेदभाव होना असम्भव था। इससे मन्दिरों की मूर्तियाँ देवताओं की केवल प्रतीक न बनकर, जीती-जागती वरद शक्तियाँ हो गयीं।

परिच्छेद—१७

वृहत्तर भारत

भारत का पूर्वी द्वीप समूहों से बहुत प्राचीन नाता है। इन द्वीपों में मसाले तथा अन्य अनेक ऐसी चीजें पैदा होती हैं जो व्यापारिक काम की हैं, अतः भारतीय वहां गये और बस भी गये। चूंकि भारतीय सभ्यता उन द्वीपों की सभ्यता से कहीं आगे थी, अतः उनका सारा व्यापार भारतीयों के हाथ में आ गया। धीरे-धीरे भारतीयों ने वहीं अपने उपनिवेष भी बनाये और शासन करना प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि राजनीतिक रूप से इनका भारत से घना सम्बन्ध नहीं रहा, पर जिन्होंने भी वहाँ राज्य फैलाया, उनके लेखों से तथा उनकी प्रसारित सभ्यता से यह सिद्ध होता है कि वे भारतीय थे। उनके अभिलेख संस्कृत में पाये जाते हैं। वे आज भी हिन्दू तथा बौद्ध धर्म के उपासक हैं। इनमें से जावा के निवासियों ने यद्यपि इस्लाम ग्रहण कर लिया है, पर वे आज भी कट्टर इस्लामी नहीं हैं, उनका सम्बन्ध भारत से अच्छा है, पाकिस्तान से नहीं। इनके अनेक मनोरंजन के विषय नृत्य, गीत आदि रामायण तथा महाभारत की कथाओं के आधार पर हैं। यही नहीं इनके भौगोलिक नाम भी यही सिद्ध करते हैं कि भारतीय यहाँ बहुत पहिले से आकर बस गये थे। यथा कर्पूर द्वीप, कनक पुरी, स्वर्ण द्वीप आदि। अतः भारत के इतिहास के साथ इनका भी थोड़ा ज्ञान आवश्यक है।

हिन्दचीन कम्बोडिया—अभी संकेत किया जा चुका है कि दक्षिण पूर्व के द्वीपों का व्यापार भारतीयों नें बहुत कुछ अपने हाथ कर लिया था। जातकों में इस प्रकार की व्यापारिक यात्राओं के वर्णन मिलते हैं। ये प्रदेश स्वर्णभूमि के नाम से पुकारे जाते थे। इस स्वर्णभूमि में राज्य स्थापित करने के उल्लेख भी जातक कथाओं में हैं। ईसा की दूसरी शताब्दी में हमें इस बात के उल्लेख मिलने लगते हैं, कि यहाँ भारतीय लोग राज्य करने लगे थे। सबसे प्राचीन भारतीय उपनिवेष इन्डोचीन में लगभग पहली शती में स्थापित हुआ। इस उपनिवेश को बसाने वाले दक्षिण भारत से वहाँ गये थे। यह राज्य छठी शती ई० तक बना रहा। इसकी स्थापना **कम्बोडिया** (कम्बुज) में की गयी थी। कुछ काल के उपरान्त उसमें कोचीन चीन को भी मिला लिया गया।
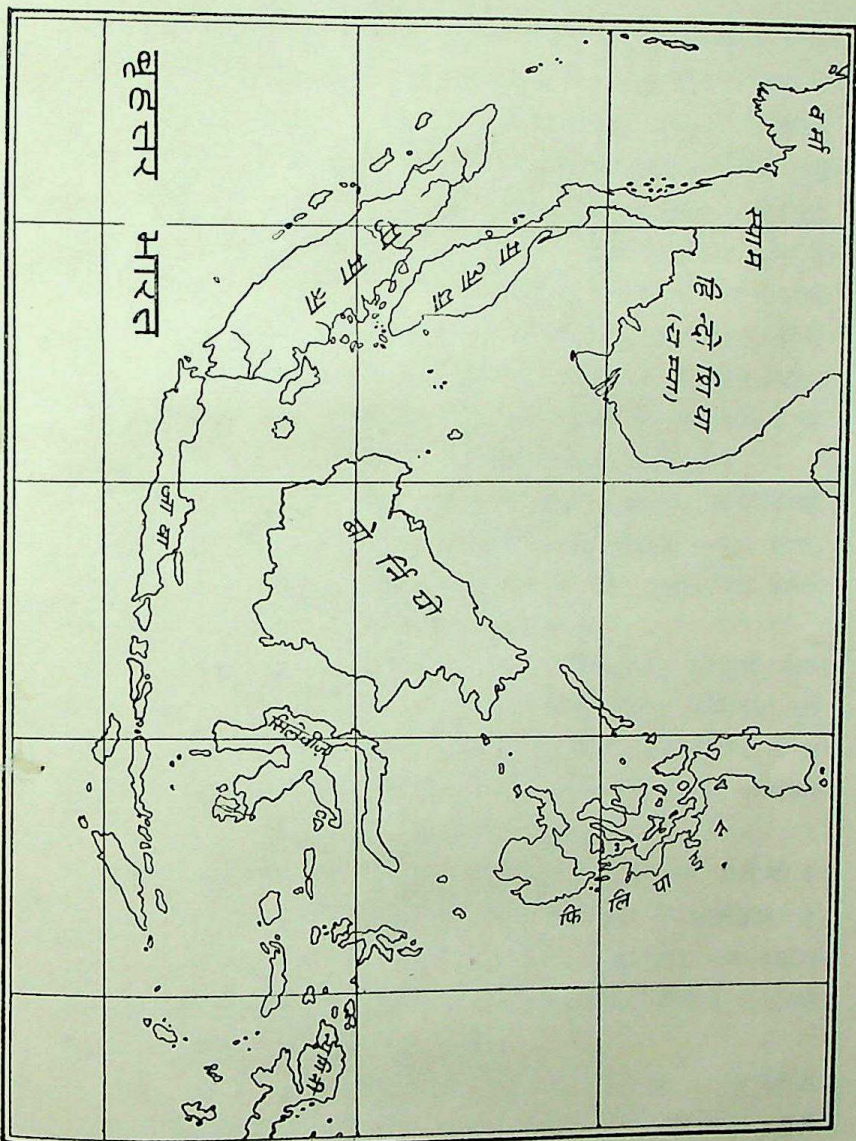
(पृष्ठ २७० के सामने)
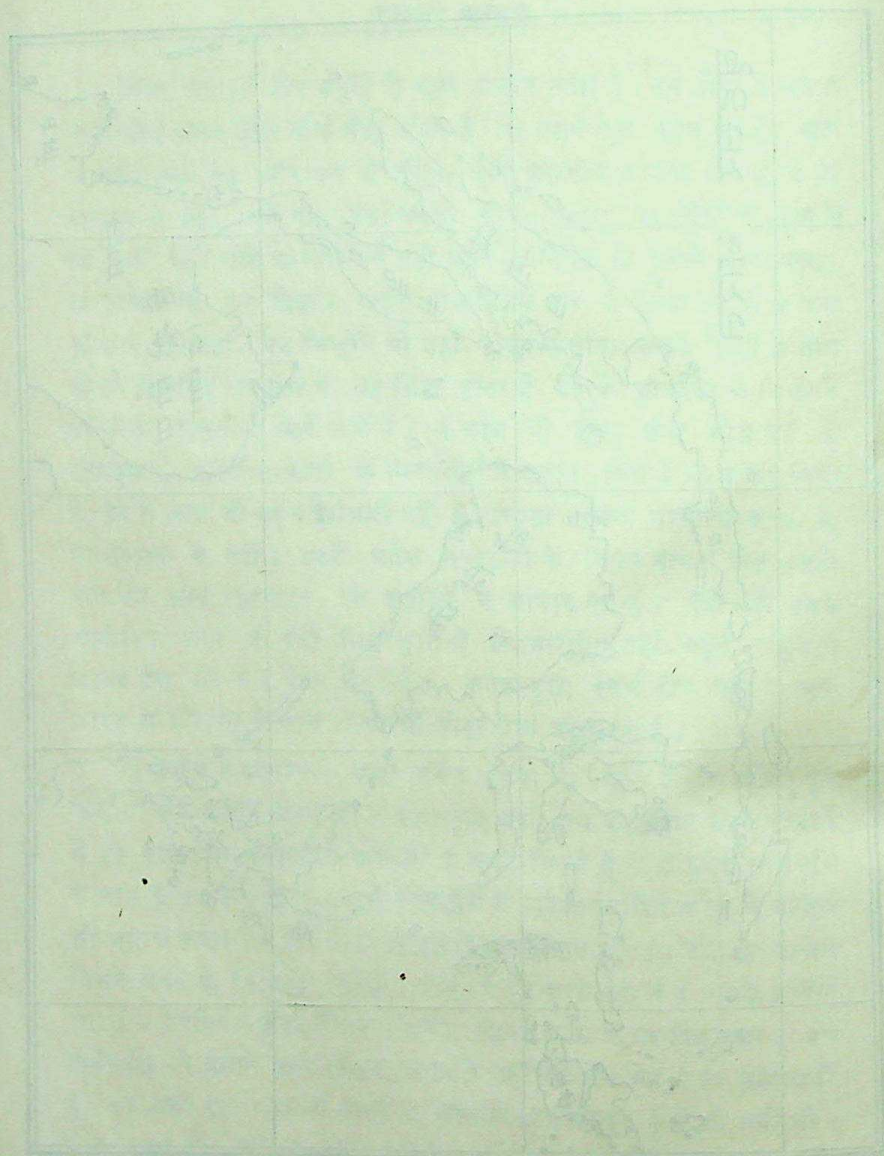
इसी को फुनान कहते थे। फुनान के विषय में कहा जाता है कि चौथी शताब्दी के प्रथम अर्द्धक में यह अनेक संकटों में पड़ गया। राज्य के सिंहासन के लिए कई उत्तराधिकारी उठ खड़े हुए। उनमें से एक ने, जिसे चीनियों ने चन्तन कहा है, राज्य हस्तगत कर लिया और ३५७ ई० में उसने चीन देश को अपना राजदूत भी भेजा। इसे भारतीय कहा गया है और उसके नाम का भारतीय रूप चन्दन अथवा चन्द्र रहा होगा।

पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में फुनान वासियों ने दूसरा राजा चुना जिसका नाम कौडिन्य था। यह एक ब्राह्मण था तथा सीधा भारत से गया था। चीनी अनुश्रुति के आधार पर हमें दूसरे राजा जयवर्मन के विषय में बहुत सा वृत्त मिलता है यह कौडित्य का उत्तराधिकारी था। इसी ने कुछ व्यापारी कैण्टन तक भेजे थे। वहीं उन्हें भारतीय भिक्षु नागसेन से भेंट हुई थी। ये लोग जब लौट रहे थे, तो उनको एक तूफान के कारण चम्पा में उतरना पड़ा था। चम्पा वालों ने उनका सब-कुछ लूट लिया, पर नागसेन फुनान तक सुरक्षित रूप से चला आया। जयवर्मन की तो चम्पा वालों से और भी शिकायत थी। अतः उसने चीन को चम्पा की शिकायत भेजी। नागसेन इसे लेकर ४८४ ई० में चीन पहुँचा था। उसने वहां एक कविता का पाठ किया जिसमें महादेव, बुद्ध और चीन के सम्राट की प्रशंसा थी।

चीन के सम्राट ने चम्पा राजा को बुरा-भला तो कहा पर उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही न की। इसी प्रकार जयवर्मन ने कई बार (५०३, ५११, ५१४ ई०) चीन सम्राट के समीप अपने राजदून भेजे, उसके लिए अनेक उपहार भेजे, पर उनका कोई विशेष फल न निकला।

जयवर्मन की रानी कुल प्रभावती थी, उससे उत्पन्न पुत्र का नाम गुण-वर्मन रखा गया। गुणवर्मन तथा उसकी माता के दो संस्कृत अभिलेख हमें मिलते हैं। गुणवर्मन अपने पिता के पश्चात् राज्य का उतराधिकार न पा सका, क्योंकि उससे बड़ा भाई रुद्रवर्मन जो एक उपपत्नी से उत्पन्न था उसने उसको मारकर स्वयं राज्य पर अधिकार कर लिया।

रुद्रवर्मन का भी संस्कृत अभिलेख उपलब्ध है। उसने कुछ नहीं तो ६ राजदूत (५१७-५३६ ई० के बीच) चीन भेजे थे। इसी के राज्यकाल में अथवा ठीक इसके पश्चात् फुनान राज्य पर कम्बोज ने आक्रमण कर दिया। कम्बोज पहिले उसी का एक अधीन राज्य था। कुछ काल तक तो इनका संघर्ष चला, पर अन्त में फुनान ही जीत लिया गया।

कम्बोज का राज्य उत्तरी पूर्वी कम्बोडिया में स्थित था। अनुश्रुति के अनुसार इसका संस्थापक आर्य देश (भारत) का कम्बु स्वायम्भव था। इसके पहले दो राजा श्रुतवर्मन तथा श्रेष्ठवर्मन हुए। इनमें से श्रेष्ठवर्मन

फुनान के आधिपत्य से निकल भागा था और अपने नाम पर उसने इसकी राजधानी श्रेष्ठपुर बसायी थी। यह नगर लाओस में वसाक के समीप बनफू पहाड़ी से लगा हुआ था। इस पहाड़ी को लिंग पर्वत भी कहते थे, इसकी चोटी पर इस वंश के पूज्य देव भद्रेश्वर शिव का मन्दिर था।

इसी राज्य में एक नये वंश की नींव डालने वाला भववर्मन हुआ। उसने इसकी राजधानी भवपुर बनायी। वह बड़ा विजेता था। उसने राज्य का खूब विस्तार किया। उसका एक भाई चित्रसेन उसके पश्चात महेन्द्रवर्मन के नाम से गद्दी पर बैठा। उसने लगभग सारा फुनान जीत लिया। महेन्द्रवर्मन का देहावसान लगभग ६१६ ई० में हुआ, जिसके पश्चात् उसका लड़का ईशानवर्मन के नाम से गद्दी पर बैठा। इसने भी भुनान से युद्ध जारी रखा।

उसने लगभग ६३० ई० में पूरा फुनान राज्य पुनः जीत लिया। इस प्रकार उसके राज्य में कम्बोडिया, कोचीन, चीन और मून नदी की घाटी थी। उसने भी एक नई राजधानी बनायी और उसका नाम ईशानपुर रखा। उसके राजनीतिक सम्बन्ध चीन तथा भारत दोनों से ही रहे। ईशानवर्मन का लगभग ६३५ ई० के प्राणान्त हो गया। इसके पश्चात् भववर्मन द्वितीय और जयवर्मन प्रथम दो राजा इस वंश में और हुए, पर इनके विषय में हमारा ज्ञान शून्य के बराबर है। बस जयवर्मन ही इस वंश का अन्तिम शासक था। अङ्करथाम और अङ्करवाट आदि स्थानों के आश्चर्य जनक मन्दिर और भवन कम्बुज की समृद्धि और महत्व का परिचय देते हैं। अङ्करवाट के मन्दिर की दीवालों पर रामायण की पूरी कहानी मूर्तियों में अंकित है। कम्बुज का राजवंश शैव था। यह सैकड़ों वर्ष टिका रहा। यहाँ का एक हिन्दू शासक यशोवर्मन वीर, विजेता, पण्डित और निर्माता था। उसने पतंजलि के महाभाष्य पर एक टीका लिखी थी। अपने राज्य में उसने अनेक मन्दिर और आश्रम बनवाये थे। कम्बुज का शासक वैदिक यज्ञ तथा अनुष्ठान भी करते थे। पन्द्रहवीं शताब्दी में यह राज्य पूर्व से अनामियों और पश्चिम से कई लोगों के आक्रमण के कारण अत्यन्त क्षीण हो गया था। इसी का अवशेष रूप आज फ्रांसीसी अधिकार में है।

चम्पा—यह राज्य पहिले फान यी का था, ३३६ ई० में जब उसकी मृत्यु हुई तो उसके सेनापति फानवैन ने इस पर अधिकार कर लिया। इस सेनानी ने अपनी योग्यता से राज्य को विस्तृत किया। उसने ३४७ ई० में चीन का भी एक प्रान्त ले लिया, किन्तु दो वर्ष पश्चात् वह एक युद्ध में मारा गया (३४९ ई०)। इसके पश्चात् उसके पुत्र व पौत्र को विवश होकर चीन से संघर्ष मोल लेना रड़ा, जिसमें कभी किसी की, कभी किसी की विजय हुई। चीनी लेखों के अनुसार यह पौत्र फान हयूना था, पर संस्कृत अभिलेखों में

उसे भद्रवर्मन बताया गया है। यह भी एक वीर सेनानी था उसने चम्पा के तीनों प्रान्त अर्थात् अमरावती (उत्तरी) विजय (मध्य) और पाण्डुरंग (दक्षिण) अपने अधीन कर लिये थे। वह एक भारी विद्वान भी था। उसने चारों वेदों का अध्ययन किया था। उसने माइसन में एक शिव जी का मंदिर बनवाया था। इसका नाम भद्रेश्वर स्वामी रख दिया गया और उसके बाद के राजाओं ने उसी में मूर्तियों की स्थापना की।

भद्रवर्मन के पश्चात् यहाँ गंगराज गद्दी पर बैठा। इसने अपने अन्तिम दिन गंगा तट पर बिताने के लिए राज्य भार ही त्याग दिया था। इस त्याग से चम्पा में कुछ समय के लिए अशान्ति और अव्यवस्था का साम्राज्य रहा। इस अवस्था का सुधार फानयांग मई ने किया। इसने एक नये राजवंश की नींव डाली। इससे भी चीन से संघर्ष होता रहा। अन्ततः उसके पुत्र फान-यांग मई द्वितीय के काल में चीनी सम्राट ने ४६६ ई० में चम्पा पर धावा बोल दिया। आखिर मई को भागना पड़ा। चीनी सम्राट ने चम्पा को खूब लूटा। आक्रमणकारी के लौटने पर यांग मई भी राजधानी लौटा पर हार्दिक दुःखी होकर परलोक चल बसा। इसके पश्चात् उसके पुत्र व पौत्र, गद्दी पर बैठे जिन्होंने चीनी सम्राट को उपहार भेजकर सन्तुष्ट कर लिया। कहते हैं कि इसकी मृत्यु के पश्चात् चम्पा में पुनः अशान्ति हुई, जिसमें फुनान के राजा (जयवर्मन के पुत्र) ने इसे अपने अधिकार में कर लिया। थोड़े ही काल में यांग मई के वंश को पुनः अधिकार मिल गया, और इस वंश के अन्तिम राजा विजय वर्मन ने चीन को दो बार राजदूत भेजे थे। विजय वर्मन के पश्चात् रुद्रवर्मन गद्दी पर बैठा था। यह ब्रह्मक्षत्रिय था और गंगाराज के वंश का था। इसके पश्चात् इसका पुत्र प्रशस्त धर्म शम्भु वर्मन के नाम से गद्दी पर बैठा। उसने चीन को कर देना समाप्त कर दिया। इसका फल यह हुआ कि चीनी सम्राट का ६०५ ई० में पुनः चम्पा पर आक्रमण हुआ। शम्भु वर्मन को भागना पड़ा और चम्पा नगरी लूटी गयी। इसमें लगभग १३५० बौद्ध ग्रंथ भी वह ले गया। कहते हैं इसमें लगभग १०००० चाम बन्दी बनाये गये थे, और चीनियों ने सबके बायें कान काटकर उन्हें छोड़ दिया।

शम्भु वर्मन के पश्चात् ६२९ ई० में कन्दर्प धर्म गद्दी पर बैठा। उसने चीन को कर देकर उससे अपने सम्बन्ध अच्छे बनाये रखे। इसका शासन शान्त रहा, किन्तु उसके शासन के उपरान्त उसका एक सम्बन्धी सत्य कौशिक स्वामी राज्य का अधिकारी हुआ किन्तु कन्दर्प धर्म के पुत्र प्रभाश धर्म ने उसे हटाना चाहा और इस संघर्ष में उसके पूरे कुटुम्ब का ही अन्त हो गया। कम्बोज के राजा महेन्द्र वर्मन और ईशान वर्मन ने उसे उधर अपनी ओर घसीटा, इधर सत्य कौशिक स्वामी गद्दी पर पुनः बैठा। ६५३ ई० में सत्यकौशिक स्वामी का

देहावसान हो गया। उसके पश्चात् चम्पा का इतिहास अन्धकार के गर्त में पड़ जाता है। यह मुसलमानों के आगमन तक अपना अस्तित्व नहीं खोया पर उनके पश्चात् ये न टिक सके। यहाँ के नगरों को चम्पा नरेशों ने हिन्दू और बौद्ध मन्दिरों से सजाया। उन्होंने इसे सदियों तक समृद्धि और सम्पन्न बनाये रखा।

मलाया—इंडोनेशिया, सुमामा, जावा, वाली, मलाया वस्तुतः पूर्वी व्यापारिक मार्ग का केन्द्र था। पहिले जिसे टक्कोला कहते थे, आजकल का टकुआ या इन व्यापारियों का उतरने का स्थान था। यहाँ से कुछ पर्वत श्रेणी लाँघकर आगे हरे भरे मैदान में जाकर स्याम, कम्बोडिया, अन्नाम और अधिक पूर्व में चले जाते थे, कुछ समुद्र ही के रास्ते आगे बढ़ जाते थे। इन प्रदेशों के मन्दिरों, मूर्तियों तथा अभिलेखों से स्पष्ट विदित होता है कि यहाँ चौथी व पाँचवीं शती में हिन्दू उपनिवेश थे। इनमें से एक अभिलेख में जो वैलेजली प्रान्त में मिला है, एक दान तथा प्रार्थना दी हुई है, जिसमें रक्त मृत्तिका के निवासी महानाविक वुध गुप्त की सुरक्षित यात्रा की कामना की गयी है। यह रक्त मृत्तिका आज की बंगाल की राँगा माती है जो मुर्शिदाबाद से १२ मील दूर है। इस दृष्टि से यह अभिलेख बहुत महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार के हिन्दू उपनिवेशों और आवासों की चर्चा चीनी पुस्तकों में भी मिलती है। इनमें से बहुतों का तो ठीक ठिकाना भी नहीं है पर फिर भी उनका भारत से सम्बन्ध निश्चित है। यथा—लंग किया-सू के विषय में कहा जाता है, कि वहाँ के राजा का एक सम्बन्धी राज्य भगा दिया गया तो वह भारत चला आया। भारत में उसने एक राजकुमारी से विवाह किया। जब लंग किया सू के राजा की एकाएक मृत्यु हो गयी, तो वहाँ के उच्च अधिकारियों ने भारत से उस राजकुमार को बुलाया और उसे राजा बना दिया। बीस वर्ष पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी, उसके पश्चात् उसका पुत्र भागदत्त राजा बना। भागदत्त ने चीन को राजदूत भेजा (५१५ ई०) इसी प्रकार एक दूसरे राजा की राजसभा में अनेक ब्राह्मण थे। वे भारत से उसकी सभा में इसीलिए आये थे कि राजा उनका आदर करता था और उनको उससे लाभ होता था। इसके अतिरिक्त हमें राजा सुभद्र, विजय वर्मन का उल्लेख चीनी ग्रंथों से तथा कलसपुर और कर्मरंग का भारतीय अभिलेखों में मिलता है।

परतत्व वेत्ताओं की खोजों से इन उपनिवेशों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, और उसमें से एकाध की चर्चा करना असंगत न होगा।

"ये उपनिवेश संख्या में अनेक थे और बहुत दूर दूर केन्द्रों में बसे थे, यथा - चुम्फोन, कैया, बैण्डन की घाटी, नखोन आदि। इनमें से नखोन का उपनिवेश सबसे महत्त्वपूर्ण था। यह बौद्ध उपनिवेश था, इसी ने नखोन धम्मरत स्तूप बनवाया था। साथ ही कुछ मन्दिर बनवाये जो इस स्तूप के

चारों ओर हैं। इसी से थोड़ा उत्तर कैया की बस्ती थी, यह पहले वैदिक रही होगी, तदनन्तर बौद्ध। ये दोनों ही वस्तियाँ कृषकों की थीं। इनके अतिरिक्त दूसरी वस्तियाँ टीन और सोने के कारोबार से पलती थीं।" [१]

समात्रा—एक समय था जबकि पूर्वी द्वीप समूह को स्वर्ण द्वीप कहते थे। इनमें से कुछ तो बहुत छोटे हैं, पर आज जिन द्वीपों से इंडोनेशिया का राज्य बना है, उनमें जावा व सुमात्रा प्रमुख हैं। इनकी प्राचीन संस्कृति पर भारतीय प्रभाव भी बहुत है—और आज भी ये भारत के मित्र हैं।

सुमात्रा की सबसे पहली सरकार श्री विजय की थी। इसकी स्थापना चौथी शताब्दी ई० से पहले हो चुकी थी। इसका उत्कर्ष काल ७वीं शताब्दी में हुआ। इस समय तक इसने मलयू का दूसरा राज्य जीत लिया था, जिसे आज जम्बी कहते हैं। इसने पड़ोसी द्वीप बंक पर भी अपना अधिकार जमा लिया था। ६८४ ई० की बात है कि इसमें एक राजा जयनाग राज्य करता था। ६८६ ई० में उसने अथवा उसके उत्तराधिकारी ने जावा पर धावा बोल दिया। यही नहीं उसने एक घोषणा भी की। इस घोषणा का प्रारम्भ उन देवताओं के आह्वान से होता है, जो उस राज्य के रक्षक थे। इसमें विद्रोही राष्ट्रों के प्रति दण्ड देने की धमकी भी है। यह दण्ड न केवल विद्रोहियों को बल्कि उनके परिवार वालों को भी दिया जायगा। साथ ही जो लोग श्री विजय के स्वामिभक्त होंगे उन्हें हर प्रकार की सुविधा मिलेगी।

इत्सिंग का कथन है कि दक्षिण समुद्र में श्री विजय एक भारी बौद्ध केन्द्र था श्री विजय के राजा के पास भारत से व्यापार करने के लिए जहाज थे। यही चीन के साथ व्यापार का भी केन्द्र स्थल था। मलाया प्रायद्वीप में एक अभिलेख मिला है उसके आधार पर भी नौसेना तथा वाणिज्य का भारी केन्द्र था। इसी से यह भी सिद्ध होता है कि इस राजा का मलाया पर भी आधिपत्य था। ७ वीं शती के अन्तिम चरण से लेकर ८ वीं के तृतीय चरण तक इस राज्य का उत्कर्ष काल रहा। इसने अपने पड़ोसियों को दबा लिया, और चीन तथा भारत से राजनीतिक सम्बन्ध रखे।

जावा—जावा में भी कई हिन्दू राज्य रहे। पाँचवीं शताब्दी में इनमें से दो ने (अर्थात् चो, पो तथा हो लो तान) नियम से चीन को राजदूत भेजे। इन राज्यों का शासकों के नामान्त वर्मन थे। पश्चिमी जावा में चार संस्कृत अभिलेख मिले हैं उनसे ज्ञात होता है कि राजा पूर्ण वर्मन राज्य कर रहा था। उन लेखों में से एक जो उस राजा के बाइसवें वर्ष में लिखा गया है, अपने पितामह को राजर्षि और पिता को राजाधिराज कहता है। पूर्णवर्मन

---

1. B. C. A I. 1909; pp. 154.185

ने अपने आप एक नहर खुदवायी थी, इसका नाम गोमती नदी रख दिया था। यह छठी शती में राज्य कर रहा था और इसकी राजधानी तारुमा थी। इसी के पश्चात् जावा में कई राज्य स्थापित किये गये। एक चीनी अभिलेख के आधार पर ये दस थे। इन सबमें प्रमुख राज्य हो लिंग था। यह कलिंग का चीनी रूपान्तर है। इससे सिद्ध होता है कि भारत के कलिंग का इससे कोई घना सम्पर्क रहा होगा। पूर्णवर्मन के संस्कृत अभिलेख से यह भी सिद्ध होता है कि पश्चिमी जावा में भारतीय संस्कृति का प्राधान्य था। इसी प्रकार यहाँ की अन्य सामग्री इसी बात को पुष्ट करती है। जावा का उल्लेख रामायण में और टौलेमी के लेखों में उपलब्ध होता है। उसके पूर्वी भाग में अमरावती शैली की काँसे की एक बुद्ध प्रतिमा मिली है। पाँचवी शती के प्रथम चरण में चीनी यात्री जब भारत से लौटा तो इसी द्वीप में ठहरा था। उस ससय यहाँ शैव बहुत थे। यहाँ के बौद्ध धर्म के प्रचार का श्रेय गुण वर्मा को है। वह काश्मीर के राजा का पुत्र था। पिता के देहावसान पर वह जावा गया था और वहाँ राज माता को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था। माता की प्रेरणा से राजा भी बौद्ध हो गया और उसने बौद्ध धर्म का प्रचार भी किया।

बाली—बाली में हिन्दुओं ने अपने उपनिवेश छठी शती के पहले ही बना रखे थे। चीन के त्रियांग वंश के इतिहास से बाली के विषय में निम्न मनोरंजक विवरण मिलता है।

"राजा के वंश का नाम कौंडित्य हैं। उसके पूर्वजों के विषय में पूछने पर उसने कहा कि शुद्धोधन की पत्नी उसके देश की थी। ५१८ ई० उसने चीन को राजदूत भेजा था।"

वस्तुतः कौंडिन्य नाम बड़ा ही मनोरंजक है और सभी लेखों में प्राप्त होता है, तथा इन पर भारतीय प्रभाव को सिद्ध करता है। चीनी विवरण से स्पष्ट है कि छठी शताब्दी में यहाँ एक सम्पन्न राज्य था। इसके संस्थापक हिन्दू थे जो बौद्ध हो गये थे। इत्सिंग ने भी इसी का समर्थन किया है।

वृहत्तर भारत की संस्कृति—इन उपनिवेशों पर भारतीय धर्म, भाषा, साहित्य आदि का प्रभाव अमिट पड़ चुका था। यहाँ के निवासी भारत की पौराणिक गाथाओं से भली भाँति परिचित हो गये थे। यहाँ के अभिलेखों की भाषा शुद्ध संस्कृत है और उनकी शैली बड़ी ही काव्यात्मक है। जावा के लोग आज भी हिन्दू महीनों और माप को अपने व्यवहार में लाते हैं। यहाँ की नामावलि हिन्दू है। बोर्नियो और मलाया में अनेक देवी देवताओं की मूर्तियाँ मिली हैं। यथा दुर्गा, विष्णु, ब्रह्मा, गणेश, नन्दी, स्कन्द आदि। इनमें से विष्णु के हाथों में भारत की भाँति शंख, चक्र, गदा, पद्म और शिव के हाथ में

त्रिशूल दिखाया गया है। कुछ अभिलेखों से गंगा के पूज्य और पवित्र होने का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त इन द्वीपों में बौद्धधर्म भी फैला, जो आज तक किसी न किसी रूप में विद्यमान है। इस धर्म के प्रचार में कला की भी उन्नति हुई।

जावा का प्रसिद्ध वोरोवुदुर मन्दिर इस ओर पर्याप्त प्रकाश देता है। यह कला की दृष्टि से एक अद्वितीय कृति है। इसका निर्माण शैलेन्द्र वंश के राजाओं द्वारा किया गया था। यह जावा के बीच एक मैदान में बना है, एक पहाड़ी को काटकर इसे बनाया गया है। इसमें पाँच गैलरियाँ हैं जो समकोण चतुर्भुज की भाँति बनी हैं। इन गैलरियों के ऊपर तीन चबूतरे हैं. ये आकाश की ओर खुले हुए हैं। इन चबूतरों पर छोटे छोटे (घण्टाकार) ७२ स्तूप बने हैं, पर मन्दिर के शिखर पर ठीक बीच में एक भारी स्तूप है। इस मन्दिर में सब मिलाकर नौ मंजिल हैं जिनमें पहिली मंजिल दूर से पृथक नहीं दिखाई देती। इस मन्दिर की दीवालों पर भगवान बुद्ध के जीवन की घटनाएँ खुदी हुई हैं। ये घटनाएँ ललित विस्तार के वर्णन से मिलती-जुलती हैं। इन पर कुछ ऐसे चित्र खुदे हैं जो महायान धर्म के द्योतक हैं। कुछ चित्र ऐसे हैं जो जन साधारण के व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार यह मन्दिर एशिया की एक अनुपम कृति है।

फाह्यान के कथन से स्पष्ट है कि यवद्वीप में ब्राह्मण धर्म उन्नतिशील था। उसकी तुलना में बौद्ध धर्म का प्रचार कम था। इनका वस्तुत: धर्म ही नहीं समाज भी भारतीय पद्धति पर बन गया था। चम्पा का सामाजिक संगठन हिन्दू वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार था। वहाँ नृत्य और गान भी भारतीय पद्धति पर था। भद्रवर्मन, इन्द्रवर्मन और यशोवर्मन संस्कृत के विद्वान थे। यहाँ रामायण तथा महाभारत का अध्ययन बड़े अनुराग से किया जाता था। यही नहीं यहाँ के विद्यार्थी वेद, पुराण, स्मृति, अष्टाध्यायी और महाभाष्य का अध्ययन करते थे। कम्बुज में तो शैव बहुत थे।

कम्बुज के मन्दिर बहुत कुछ गुप्त कालीन मन्दिरों के अनुकरणमात्र हैं। यहाँ के देवी देवताओं की मुस्कराहट तथा उनके गम्भीर मुख मण्डल की शान्ति भारतीयता का प्रत्यक्ष प्रभाव है। यहाँ के प्रसिद्ध मन्दिर अङ्कोर की चर्चा हम कर ही चुके हैं। यह मन्दिर भी भारत वोरोवुदुर की भाँति भारतीयता प्रदर्शित करता है। इसका निर्माण काम्बुज के राजा सूर्यवर्मन द्वितीय ने बारहवीं शताब्दी में कराया था। यह मन्दिर एक चहार दीवारी से घिरा है जो ढाई मील लम्बी है। यह पाँच मंजिलों में बना है। इसका मुख्य द्वार एक बाँध पर बना है। इसके दोनों ओर बड़े बड़े नागों के जँगले बने है। इन नागों के भयानक फन दर्शनीय हैं। इसका आन्तरिक भाग जहाँ विष्णु की मूर्ति स्थापित

है, एक ऊँचे मचान के आकार का बना है। यह एक ओर तीन हजार फीट ऊँचा है। प्रवेश करते ही दर्शक एक चित्रशाला में खड़ा हो जाता है, इसमें लगभग ढाई हजार फीट तक विष्णु से सम्बन्धित पौराणिक कथाएँ खुदी हैं। इसके चित्र वोरोवुदुर से भी अधिक सजीव हैं। इनमें भी राम चरित्र के चित्र सबसे अधिक उत्तम हैं। डा० मजुमदार के शब्दों में "**अङ्कोर वट का मन्दिर प्रत्येक रूप से संसार की एक आश्चर्यजनक वस्तु है।**"

वृहत्तर भारत की समीक्षा—इस स्थल पर एक विचित्र उल्लेखनीय बात तो यह है कि जब भारत स्वयं असंयत हो रहा था, जब साम्राज्यवाद का नारा भारत में टूट रहा था तव हम विदेशों में गये और हमारे छोटे छोटे राजाओं ने न केवल समुद्र पार करके दक्षिण और दक्षिण पूर्व में अपने उपनिवेश बसाये बल्कि हिमालय पार करके तिब्बत और चीन तक अपना प्रभाव रखा। ब्रह्मा में भी वे कम प्रभावशाली न रहे। वह बौद्ध-धर्म जिसे भारत से शंकर जैसे महापण्डितों ने निकाल दिया, बाहर जाकर तीव्र गति से फैल गया। लंका, श्याम, ब्रह्मा, तिब्बत आदि सभी देशों में उसका जोरों से प्रचार हुआ, और आज भारत से उठकर इन्हीं देशों में वह जीवित भी है। इन्हीं देशों में उसके लिए विहार और स्तूप बनवाये गये, अनेक मूर्तियों का निर्माण हुआ, जिससे कला को भी प्रोत्साहन मिला। भारतीय संस्कृति का इन देशों में प्रसार हमारे इतिहास का एक गौरवपूर्ण अध्याय है।

—— ——

परिच्छेद (१८)

अरबों द्वारा सिन्धु आक्रमण

इस्लाम का उदय—भारत में जिस समय हर्ष और पुलकेशी का राज्य था, उस समय अरब में छोटे छोटे कबीले थे। इनमें न राजनीतिक चेतना थी और न धार्मिक प्रवृत्ति। ये बड़े ही कलह प्रिय थे, मांस मदिरा का सेवन करते थे। इनकी स्त्रियों का कोई सम्मान न था, एक पुरुष जितने चाहे विवाह कर सकता था। श्री एच० बी० मौर्टन के कथन से उनके जीवन का ज्ञान अच्छा होगा। आप कहते हैं कि "आयरलड के निवासी की भाँति अरबी को मुकदमे से प्यारी कोई चीज नहीं होती। उसे खूब लड़ना और लड़ाई पर धन व्यय करने में ऐसा ही आनन्द आता है जैसे हम अपनी सभ्यता में चित्रपट और फुटबाल से उठाते हैं। इसके बिना बहुतों का तो जीवन ही नीरस हो जाता है। उनकी न्यायालय की दशा भीड़ के कारण किसी प्रान्तीय रेलवे स्टेशन से कम नहीं होती।" [१]

मुहम्मद साहब का जन्म—ऐसी स्थिति में इस देश में एक महात्मा उत्पन्न हुआ जिसने जीवन भर इन कुरीतियों के विरुद्ध संघर्ष किया और इसी के फलस्वरूप एक नये धर्म की स्थापना की। आज इस्लाम का प्रसार कम नहीं है, पर ऐतिहासिक दृष्टि से सिक्ख धर्म को छोड़ शेष सभी धर्मों से बाद को उत्पति है। इसके जन्म दाता का ही जन्म ईसवी ५७० में हुआ था। यह कुरेशी वंश के थे। इनके पिता अबदुल्ला ने जुहरवंश की कन्या से विवाह किया, इसी दम्पति की सन्तान मुहम्मद थे। इनकी पैदायश इनके पिता के देहावसान के पश्चात हुई थी, और इनकी माता जब यह ६ साल के थे, तभी चल बसी थीं। अत: इनके पालन पोषण का भार इनके चाचा अबूतालिब पर पड़ा।

प्रारंभिक जीवन से ही मुहम्मद बहुत उच्च विचार और चरित्र के थे। इनके चचा व्यापार करते थे, उसी में बड़े होकर यह भी उनकी सहायता करने लगे।

इस व्यापार कार्य के सिलसिले में मुहम्मद साहब का सम्पर्क एक धनी महिला खदीजा से हुआ। वह इनसे इतनी प्रभावित हुई कि उसने इनसे विवाह

---

† From "Woman of the Bible" by H.V. Morton

कर लिया, यद्यपि इनकी आयु समय २५ वर्ष की थी। और उस महिला की ४० वर्ष। इस प्रकार यह एक गृहस्थ जीवन व्यतीत करने लगे।

मुहम्मद साहब को शुरू से ही मूर्ति पूजा से बड़ी घृणा रही। उस समय बनावे में ३६० मूर्तियों की पूजा की जाती थी, मुहम्मद मक्का के पड़ोस एक पहाड़ी टीले पर चले जाते, और ध्यान लगाया करते। एक दिन इनके दिल में यह बात समा गयी, कि अल्ला एक है—और वह नूर है, निराकार है। अतः इन्होंने अरबों को उस समय के अन्धविश्वासों से मुक्त करने की ठानी। सर्व प्रथम इन्होंने अपना उपदेश अपनी पत्नी खदीजा को दिया। इतिहास का विद्यार्थी यहाँ पर यह नहीं भूल सकता कि महात्मा बुद्ध ने अपना उपदेश सर्व प्रथम अपने विरोधियों को दिया था, जब कि मुहम्मद साहब ने अपनी पत्नी को। तीन वर्ष पश्चात् मुहम्मद ने सार्वजनिक उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। इससे इन्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ा। इनके विरोधी पैदा हो गये, उन्होंने इन्हें हर प्रकार से नुकसान पहुँचाना चाहा। जब मक्का का वातावरण इनके लिए असह्य हो गया, तो ये मदीना चले गये। वहाँ इनकी शिक्षा ग्रहण करने को लोग प्रस्तुत हो गये। इनका स्वागत हुआ। इस्लाम धर्म को माननेवाले इनकी मक्का से मदीना जाने की यात्रा को बहुत महत्व (६२२ ई०) प्रदान करते हैं, उसे वे हिजरत कहते हैं। मदीना में भी इनका विरोध किया गया, पर इन्होंने इसकी चिन्ता न की। धीरे धीरे इनका धर्म फैल गया और यहँ मक्का पुनः आ गये। ८ जून ६३२ ई० तक आप अपने कर्तव्य पर आरूढ़ रहे और अन्त में परलोकवासी हुए।

आपकी शिक्षाएँ—मुहम्मद साहब की शिक्षाएँ बड़ी सरल थीं। आपका विचार था कि ईश्वर एक है। मुहम्मद उसका पैगम्बर है और उसी की आवाज को फैलाना चाहता है। आपने इस्लाम मानने वाले के लिए पाँच कार्य आवश्यक बताये।

(१) कलिमा अर्थात् इस्लाम में विश्वास करना।
(२) नमाज—अल्लाह की इबादत करना (दिन में ५ बार)।
(३) ज़कात—दान देना। (अपनी दौलत का एक विशेष अंश)।
(४) रमज़ान—व्रत रखना (प्रातः से संध्या तक ४० दिन)।
(५) हज—अर्थात् मक्का की तीर्थ यात्रा करना।

प्रत्येक मुसलमान को कम से कम एक बार कलमा पढ़ना है। इस नाते हर मुसलमान उसके बराबर है, कोई नीच, ऊँच का भेदभाव नहीं है। इसके अतिरिक्त हर शुक्र को प्रत्येक बालिग मुसलमान को नमाज अवश्य पढ़नी चाहिए। इस प्रकार मुहम्मद साहब ने एकेश्वर वाद का नारा बुलन्द किया जिसे उनके अनुयायियों ने तलवार के जोर पर फैलाया।

इस्लाम का प्रसार—मुहम्मद साहब की मृत्यु के पश्चात् उनके उत्तराधिकार का प्रश्न उपस्थित हुआ। इसमें पहिले उत्तराधिकारी अबूबकर हुए, और यह खलीफा की पदवी से विभूषित किये गये। इनके पश्चात् उमर हुए जो ६३४ से ६४४ ई० तक रहे। इन्होंने भी इस्लाम के प्रचार का सराहनीय कार्य किया। इसका फल यह हुआ कि इस्लाम पूर्व में अफगानिस्तान से लेकर पश्चिम में अफ्रीका तक फैल गया। उमर ने धर्म के साथ शासन व्यवस्था का भी सुधार दिया। इनके पश्चात् उस्मान खलीफा हुए। इनका शीघ्र ही वध कर दिया गया। इनके पश्चात् अली हुए (इन्हें कुछ लोग मुहम्मद साहब के ठीक बाद ही खलीफा बनाना चाहते थे मुसलमानों की सिया सुन्नी की लड़ाई इस पर बहुत कुछ आधारित है) अली का भी वध कर दिया गया। अली का जिसने वध किया था वह मुआविया था और उमय्यद वंश का था, उसके समय से धर्म को राजनीति से अलग कर दिया गया और उसने शासन की ओर अधिक ध्यान दिया। इसी के शासनकाल में इस साम्राज्य की राजधानी मदीना से हटाकर दमिश्क बना दी गयी। मुआविया की मृत्यु के बाद वजीद खलीफा हुए, हुसेन (अली का पुत्र) ने उसका विरोध किया। हुसेन को कर्बला नामक स्थान पर बुरी तरह मारा गया। इसी घटना के ऊपर आज का मुहर्रम मनाया जाता है।

उमय्या वंश के शासन काल में केवल उसी वंश के लोगों का ध्यान रखा जाता था, अत: धीरे-धीरे इसकी भी खिलाफत प्रारम्भ हो गई और एक दिन अब्बास नामक नेती की अध्यक्षता में क्रान्ति खड़ी हो गई। उमय्या वंश का बच्चा-बच्चा मृत्यु के घाट उतार दिया गया। अब्बास वंश ने राज्य पर अधिकार किया। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध खलीफा हारून उल रशीद हुआ। यह बड़ा ही दयालु और न्यायप्रिय था। धीरे-धीरे इस वंश की भी शक्ति क्षीण हुई और तुर्कों के हाथ इसे अपने मुंह की खानी पड़ी।

भारत में इस्लाम का प्रवेश—मुहम्मद की मृत्यु के उपरान्त खलीफाओं ने हर सम्भव विधि से अपने धर्म का प्रचार करना चाहा। इस्लाम न मानने वाले को मौत के घाट उतारना एक पुण्य समझा। इसी का परिणाम था कि पैंगम्बर की मृत्यु के बाद १०० वर्ष के अन्दर इस्लाम की आवाज अरब, ईरान, सीरिया, अफगानिस्तान और उत्तरी अफ्रीका में गूंजने लगी। इस समय तक उन्हें भारत के वैभव तथा यहाँ की मूर्ति पूजा का ज्ञान हो चुका था। अरब का व्यापारिक सम्बन्ध तो भारत से अत्यन्त प्राचीन है, अब वे भारत विजय, और इस्लाम प्रचार का स्वप्न देखने लगे। पहले पहल ये ६३६ ई० में बम्बई के निकट तक आये, पर उनका मनोरथ सिद्ध न हुआ। इसके

अनन्तर वे मकरान की ओर आये और सिन्ध की शक्ति को आजमा गये। अन्ततः ७१२ ई० में मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध पर आक्रमण किया।

मुहम्मद बिन कासिम—भारत के धन वैभव से आकर्षित, अपने साम्राज्य की लिप्सा से, इस्लाम के प्रचार हेतु तथा अपने पहले के प्रतिशोध के लिए अरबों ने सिन्ध पर आक्रमण किया। उस समय सिन्ध में एक ब्राह्मण राजा दाहिर राज्य करता था। उसकी शासन व्यवस्था सुदृढ़ न थी, साथ ही उसके राज्य में आन्तरिक अशाँति थी। फिर सिन्ध शेष भारत से लगभग अलग सा रहता था।

उधर मुहम्मद बिन कासिम एक वीर और साहसी युवक था। फिर हेग के अनुसार इस आक्रमण का एक तात्कालिक कारण भी था। उसका कहना है कि लंका का राजा मुसलमान हो गया था, उसने खलीफा को कुछ उपहार एक जहाज द्वारा भेजना चाहा, पर सिन्ध वालों ने वह जहाज लूट लिया और उसके यात्री बन्दी कर लिये। कुछ लोगों की धारणा है कि खलीफा ने कुछ दास दासी पकड़ लाने को एक जहाज भेजा था उसे सिन्ध वालों ने लूट लिया था। जो हो इतना सभी मानते हैं कि हज्जाज ने सिन्ध के राजा को लिखा कि वह उन्हें (अपराधियों को) दण्ड दे। इस पर दाहिर ने उत्तर दिया कि डाकू न मेरी प्रजा हैं, न मुझमें इतनी क्षमता है कि उन्हें दण्ड दे सकूँ। फिर क्या था? खलीफा के क्रोध का ठिकाना न रहा, उसने पहले उबैदुल्ला की अध्यक्षता में एक सेना भेजी, उसे सिन्ध वालों ने हरा दिया और सेनापति का बध कर डाला। इस पर हज्जाज ने दूसरी बार अधिक शक्ति के साथ बुदैल को अध्यक्ष बना कर आक्रमण कराया, पर दाहिर ने उसे भी पराजित किया और बुदैल को भी मार दिया। तब विक्षुब्ध होकर हज्जाज ने अपने चचेरे भाई व दामाद मुहम्मद बिन कासिम को भेजा।

मुहम्मद बिन कासिम ६००० अश्वारोही, इतने ही ऊँट वाले और सामान ढोने के साधन लेकर चल पड़ा। मार्ग में उसे और भी टुकड़ियों ने साथ दिया जिसमें तोपखाना भी था। आखिर उसने देवल पर आक्रमण किया। दाहिर के वीरों ने इस का भी डटकर सामना किया, पर आन्तरिक द्वेष के कारण उसे धोखा दिया गया। फिर क्या था नगर शत्रुओं के हाथ चला गया। इस पर आक्रमणकारियों का एक ही प्रस्ताव था इस्लाम स्वीकार करो या मृत्यु का वरण करो। कहते हैं कि ७२ घंटे तक कत्लेआम जारी रहा। तदन्तर मन्दिर तोड़े गये और उनके स्थान पर मस्जिदें बनवायी गयीं। आश्चर्य की बात है कि सब कुछ हो गया और दाहिर को अभी भी इसकी सूचना न थी।

इसके अनन्तर मुहम्मद बिन कासिम आगे बढ़ा। दाहिर पूर्व की ओर हट

चुका था। मुहम्मद बिन कासिम ने कूटनीति से काम लेकर सिन्धु को पार किया और हैदराबाद पहुंचा। इसके बाद सेहवान पहुंचा, वहां भिक्षु अधिक थे। वे अहिंसा अहिंसा ही चिल्लाते रहे तव तक आक्रमणकारी ने नगर ले लिया। अन्त में बौद्धों ने मुसलमानों का साथ दिया। इतना होने पर दाहिर को होश आया और उसने सामना करने को तैयारी की। पहले तो दोनों सेनाएँ अपना मौका खोजती रहीं, पर दो महीने पश्चात् मुहम्मद ने दाहिर के लड़के जयसिंह को हरा दिया। इसके अनन्तर दाहिर भी वीरता से लड़ा। मुहम्मद की सेना भागने लगी, वह स्वयं भी बहुत घबरा गया। पर होनहार कुछ और ही था। दाहिर के एक तीर लगा और उसका हाथी आग के कारण नदी में कूद पड़ा। बस पाँसा पलट गया। दाहिर घेर लिया गया और एक मुसलमान ने आकर उसका सिर अलग कर दिया। राजा के मरते ही सेना भाग खड़ी हुई। इसके अनन्तर जयसिंह तो भाग खड़ा हुआ, पर उसकी स्त्री वीर थी, वह लड़ती रही, और जब उसने देखा कि विजय दुश्मन के हाथ होगी तो जौहर करके उसने प्राण त्याग दिवे। इसके अनन्तर मुहम्मद बिन कासिम को उसके छोटे लड़के से युद्ध करना पड़ा, पर मुहम्मद ने कूटनीति से काम लिया और सफलता उसके हाथ रही।

इसका फल यह हुआ कि मुहम्मद का स्वागत होने लगा। मुल्तान के जाट व सौदागरों ने भी ठीक ऐसा ही किया। इस प्रकार मुहम्मद को दो वर्ष लग गये थे, उधर खलीफा वजीद की मृत्यु हो चुकी थी, दूसरा खलीफा उसके विरुद्ध था, उसने उसे वापस बुला भेजा। कहा जाता है दाहिर की राजकुमारी जिसे मुहम्मद बिन कासिम दासी बना कर ले गया था, यह आरोप लगाने पर कि अब वह उसके योग्य नहीं रही, क्योंकि मुहम्मद ने उसका सतीत्व पहले ही नष्ट कर दिया है, मुहम्मद को यातनाएँ देकर मारा गया।

सिन्ध में हिन्दुओं की हार के कारण—१. अरब वालों को भारत आने का मकरान वाला एक ऐसा मार्ग मिल गया कि जिसमें कोई रोक टोक न थी। इसके पहिले वे जब भी अन्य मार्गों से आये थे तो उन्हें विमुख होकर लौटना पड़ा था। इस मार्ग पर कोई शक्ति ऐसी न थी जो उन्हें रोक सकती।

२. दाहिर वीर और साहसी तो था पर दूरदर्शी न था, उसे चाहिये था कि वह जल सेना को सुसंगठित करता, क्योंकि इससे पहिले भी जल मार्ग से अरबी आने लगे थे। विशेषकर अरब वालों की जल शक्ति अत्यन्त दुर्बल थी। फिर दुश्मन ने देवल ले लिया और यह सिन्धु पार कर गया तब तक वह सोया रहा। इतना बड़ा समुद्री किनारा उसके पास था, पर जल शक्ति शून्य थी।

३. तीसरे बौद्ध, श्रमण आदि उसके विरुद्ध हो गये, उसको चाहिये था कि मिलाये रहे, उसका आन्तरिक विरोध तथा शत्रु से जा मिलना हिन्दुओं के के लिए घातक सिद्ध हुआ।

४. चौथे मुसलमान केवल अपनी हार का बदला लेने न आये थे, उन्हें इस्लाम प्रचार का अन्धापन सवार था, वह त्याग और बलिदान के लिए कटिबद्ध थे।

५. इसमें भी उन्हें मुहम्मद बिन कासिन जैसा सेनापति मिल गया, उसने युद्धस्थल में हारते हुए भी कभी धैर्य नहीं खोया, साथ ही उसने आवश्यकतानुसार कूटनीति से काम लिया।

६. सबसे बड़ी बात तो यह थी कि सिन्ध ऐसा राज्य था, जो राजनीतिक रूप से शेष भारत से पृथक सा था, उसकी सहायता के लिए अन्य राज्य कभी न खड़े हो सके। फिर सिन्ध के शासकों ने जाटों और मेड़ों को हेय समझ रखा था, अतः अवसर पड़ने पर उनका असन्तोष विरोध का कारण बना।

७. इसके अतिरिक्त दाहिर की सेना में एक अंग अरब वालों का था, जिसने अपने देशवासियों का साथ दिया। साथ ही उधर इस बार अरब वाले तपे हुए वीर और लड़ाके ही लेकर चले थे।

८. यही नहीं अरब वाले घोड़ों को शिक्षित कर के आये थे, तथा वज्ञानिक अस्त्र-शस्त्र लाये थे। इधर दाहिर के हाथी उसी को धोखा दे रहे थे।

९. अन्त में यह कहना असंगत न होगा कि सिन्ध का प्रान्त बहुत छोटा था, उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी न थी, विशाल वाहिनी न रख सकता था।

अरब आक्रमण का फल—भारत की विजय तथा अन्य अनेक आक्रमणों के लिए आह्वान ही सबसे बड़ा इस आक्रमण का फल था। इसका दूसरा फल भारतीय संस्कृति का अरब वालों पर प्रभाव था। अरब वालों ने देखा कि यहाँ के लोग उनसे अनेक क्षेत्रों में बढ़े चढ़े हैं। डा० ईश्वरी प्रसाद के शब्दों में :—

"जब अरब भारत आये, वे यहाँ की बेहतर सभ्यता को देखकर आश्चर्य चकित हुए। हिन्दुओं के दार्शनिक विचारों की उच्चता तथा सम्पन्नता और ज्ञान की पटुता अरब वालों के लिए विचित्र बात थी।"[1]

अतः अरब विद्वानों ने बौद्ध सन्तों और ब्राह्मणों व पण्डितों से ज्योतिष, गणित, दर्शन, चिकित्सा शास्त्र, रसायन, विज्ञान आदि विषयों का अध्ययन किया। यही नहीं उन्होंने भारतीयों को कला, संगीत, चित्रकला तथा स्थापत्य कला में अपना गुरु माना। उन्होंने यहाँ की शासन पद्धति को भी अपनाने की

---

1 i Medieual India page. 48,

चेष्टा की। उन्होंने हिन्दू पण्डितों के सहयोग से अन्यान्य संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद अरबी भाषा में कराया। अलबरूनी ने लिखा है कि इसी प्रकार अरबों को वैज्ञानिक ज्योतिष प्रारंभिक सिद्धान्त ज्ञात हुआ। न जाने कितने अरब विभिन्न विषयों का अध्ययन करने भारत आये और अनेक कलाकारों को अपने देश ले गये। इस स्थल पर हैवेल के शब्द उल्लेखनीय हैं।

"यह वस्तुतः भारत था, यूनान नहीं, जिसने इस्लाम के यौवनकाल में उसे शिक्षा दी, साथ ही उसे साहित्य, कला तथा गृह निर्माण के क्षेत्र में अपने उच्च विचारों द्वारा प्रोत्साहन दिया।" Havel[2]

———

1 ii Aryan rule in India page 256.

परिच्छेद—१९

भारत पर तुर्कों का आक्रमण

अरबों की सिन्ध विजय चिरस्थायी न थी। यही नहीं उनका अपने देश का राज्य भी बहुत न टिका। दसवीं शताब्दी में इसके पतन होने पर अनेक नये राज्य बन गये। इनमें एक राज्य गजनी का उठ खड़ा हुआ। यह राज्य तुर्कों द्वारा स्थापित किया गया। पहिले तो तुर्क सभ्य न थे, पर अरब के तथा इस्लाम के सम्पर्क में आकर वे उन्नतिशील हो गये थे। जब बगदाद का खलीफा दुर्बल पड़ा, तो इन्होंने अन्त कर दिया।

गजनी के इस राज्य का संस्थापक अलप्तगीन था। अलप्तगीन एक योग्य व कुशल शासक था। अबुल मलिक के शासनकाल में उसे खुरासान का शासक बना दिया गया था। अबुल मलिक की मृत्यु के उपरान्त उसने स्वाधीनता अख्त्यार की और अपने को समानी राज्य से अलग कर लिया। ९७७ ई० में अलप्तगीन के बाद सुबुक्तगीन ने जो उसका दास और दामाद था उसके वंश का अन्त कर दिया तथा गजनी पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

सुबुक्तगीन एक प्रतिभाशाली तथा महत्वाकांक्षी शासक था। इसी की बदौ त वह अपने स्वामी को प्रसन्न कर सका था, जिसने उसे अपना दास होते हुए भी अपनी कन्या ब्याह दी थी। फिर जिस समय गजनी में गृह-कलह हुई. तो सुबुक्तगीन के विरुद्ध भारत से सहायता ली गयी, जयपाल ने उसके लिए सेना भेजी, पर उसे भी पराजित कर वह शासक बन गया था। शासन भार सम्हालने के उपरान्त पहले तो वह मध्य एशिया की लड़ाइयों में उलझा रहा, किन्तु मौका पाते ही ९८६ ई० में उसने जयपाल के भी कुछ किले छीन लिये। इस पर जयपाल को भी क्रोध आ गया। उसने भी डटकर शत्रु का सामना किया, पर मुसलमान विजयी हुए, अतः जयपाल को अतुल धन धान्य देना पड़ा और सन्धि करनी पड़ी। इस सन्धि की शर्तें पूरी न हो पायी थीं, कि पुनः संघर्ष प्रारम्भ हो गया, जयपाल ने इस बार कन्नौज, अजमेर और कालिजर के राजाओं की सहायता लेकर गजनी पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में भी सफलता मुसलमानों के हाथ रही। इसके फलस्वरूप जयपाल को

पेशावर तक के अपने राज्य के भाग से हाथ धोने पड़े। डा० ईश्वरी प्रसाद का इस विषय में कहना है, कि "इस विजय से भारत ही नहीं विजित हुआ, किन्तु मुसलमानों ने वह मार्ग खोज निकाला जो उसके (भारत) उपजाऊ क्षेत्रों को जाता था। यह घटना ९९१ ई० की है। लगभग महमूद गजनवी (९९८ ई०—१०३० ई०) २७ वर्ष की आयु में अपने पिता के देहावसान पर महमूद गजनी का स्वामी बना। उसने अपना अभिषेक भी बड़ी सजधज से किया। उसकी सैन्य कुशलता का परिचय तो हम उसके पिता के समय ही पा चुके हैं। उसने ९९९ ई० में सामानी वंश से खुरासान छीन लिया। उसने खलीफा से अपने राज्य की मान्यता भी प्राप्त कर ली। खलीफा ने उसे जमीन उल मिल्लत, **अर्थात् "मुसलमानों के संरक्षक"** की उपाधि भी प्रदान की। इससे प्रोत्साहन पाकर महमूद ने अपने धर्म तथा राज्य के प्रसार का बीड़ा उठाया। उसने भारत विजय की भी पूरी योजना बनायी।

भारत पर उसने कुल सत्रह आक्रमण किये। ये आक्रमण सन् १००० ई० से लेकर १०२७ ई० के बीच हुए।

(१) १००० ई० में उसने सीमावर्ती कुछ नगरों को लूटा तथा उन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर शासक नियुक्त कर दिये। ये नगर वस्तुतः जयपाल के अधीन थे। जयपाल ने जब उसके ऊपर आक्रमण की तैयारी की तो उसने उसे अपने दूसरे अभियान में पेशावर के समीप हरा दिया।

(२) सन् १००१ ई० में उसने जयपाल को बन्दी भी किया। पर अतुल धन लेकर उसने उसे मुक्त कर दिया। इसके पश्चात् दो वर्ष तक वह सीस्तान आदि के युद्धों में व्यस्त रहा।

(३) १००३ में उसने सबसे पहले सिन्धु को पार किया। उसने भेरा पर आक्रमण किया। चार दिन यहाँ के राय ने उसका सामना किया, पर उसके भी पैर उखड़ गये। अन्ततः राय ने आतमहत्या कर ली और भेरा गजनी साम्राज्य का अंग बन गया।

(४) १००५ ई० में उसने सिन्ध के मुसलमान शासक अब्दुल फतह पर आक्रमण कर दिया, क्योंकि महमूद सुन्नी था और वह शिया, अतः एक दूसरे का उदय न देख सकते थे। महमूद ने उसे अपने अनुसार चलने को वाध्य किया।

(५) इधर जयपाल के पश्चात् उसका लड़का आनन्द पाल गद्दी पर बैठा था। महमूद ने जब भेरा पर अधिकार किया था तो आनन्द पाल के पुत्र सुखपाल को उसका शासक नियुक्त कर दिया था, किन्तु वह स्वयं स्वतन्त्र होने की चेष्टा करने लगा। अतः महमूद ने १००६ में उसे भी दबा दिया।

(६) भेरा का दुर्ग सैनिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण था। वह भारत तथा

पश्चिम के बीच द्वार था। साथ ही महमूद यह भी समझ चुका था कि बिना आनन्द पाल का अन्त किये वह कुछ न कर सकेगा। अतः १००८ ई० में उसने आनन्द पाल पर ही चढ़ाई कर दी।

इधर आनन्द पाल ने अपनी सहायता के लिए ग्वालियर, कालिंजर, कन्नौज, अजमेर– और उज्जैन के राजाओं से कहा। इन राज्यों ने यथाशक्ति अपनी सहायता भेजी। मुल्तान के खोखरों की भी एक सेना आ गयी। समस्त उत्तर भारत देश की रक्षा के लिए प्राणपण से तैयार हुआ। ४० दिन तक दोनों सेनाएँ सामने रहीं। लड़ाई झेलम के तट पर उन्द नामक स्थान पर हुई। प्रारम्भ में हिन्दू इतनी वीरता से लड़े कि बात की बात में तीन हजार मुसलमान तलवार के घाट उतार दिये। इससे महमूद को भी विचलित होना पड़ा। दैव-योग से आनन्दपाल का हाथी आग के कारण भड़क गया। वह उसे लेकर भागने लगा, बस इसे देखते ही पाँसा पलट गया। पीछे परिच्छेदों में हम देख चुके हैं, कि राजपूतों में कितना अनैक्य था, ये कभी भी भारत में राष्ट्रीयता का झंडा खड़ा न कर सके। राजपूतों के परस्पर जातीय बन्धन और विभेद इतने थे, कि वे एक दूसरे के आधिपत्य में न चल सकते थे। इसी का फल यह हुआ कि आनन्दपाल के हाथी के चलते ही दूसरों ने समझा कि वह उसे धोखा देकर भागा जा रहा है। अत. भारतीय सेनाएँ तितर-वितर होने लगीं। उसे देखकर महमूद की बन आयी। उसने डट कर उनका मुकाबला किया और उन्हें पीछे खदेड़ दिया। लगभग ८००० भारतीय मर कट गये—और विजय महमूद के हाथ रही। इससे लाभ उठाकर महमूद ने तुरन्त नगरकोट पर धावा बोल दिया। वहाँ से वह ७ सात लाख दीनार, ७०० मन सोने चाँदी के बर्तन, २०० मन सोना और २००० मन कच्ची चाँदी और २० मन बहुमूल्य जवाहिरात लेकर स्वदेशलौट गया।

(७) महमूद का सातवाँ आक्रमण गुजरात पर हुआ। आनन्दपाल ने हिन्दू राजाओं की असहयोग तथा स्वार्थपरता की नीति समझ ली थी, अतः उसने इस बार हताश होकर महमूद से सन्धि कर ली।

(८) सन् १०१० ई० में महमूद ने मुल्तान के विरुद्ध आक्रमण किया। उसने बात की बात में दाऊद को हराया और दण्ड दिया।

(९) नवे आक्रमण में महमूद ने थानेश्वर के सैकड़ों मन्दिर तोड़े, यहाँ भी हिन्दू बड़ी वीरता से लड़े, पर उनकी एक न चली। सुल्तान ने खूब नगर लूटा तथा अनेक दास, दासी बनाकर अपने देश को लौट गया।

(१०) आनन्दपाल की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र त्रिलोचन पाल गद्दी पर बैठा। त्रिलोचन पाल का लड़का भीमपाल बड़ा वीर और निडर था। उसने आनन्द पाल की नीति को त्याग दिया और महमूद से लड़ाई मोल ले ली। आखिर

महमूद पुनः भारत आया। राजा भीमपाल अपनी सफलता न देखकर भाग खड़ा हुआ। महमूद ने उसका भी दुर्ग ले लिया और राजा का कश्मीर तक पीछा किया। उसने जाकर कश्मीर भी लूटा तथा वहाँ के निवासियों का धर्म परिवर्तन किया। (१०१३)

(११) अगले साल (१०१४) सुल्तान ने कश्मीर की घाटी में पुनः जाने का प्रयास किया, पर उसे लोहकोट के किले पर रुकना पड़ा, यही नहीं, यहाँ उसकी हार हुई और यह प्रथम दुर्ग था जहाँ से वह हार कर लौटा था। इस वर्ष गजनी लौटकर उसने ख्वारिज्म को भी अपनी सल्तनत में मिला लिया।

(१२) १०१४ में ही महमूद ने भारत के भीतरी भागों पर आक्रमण करने की योजना बनायी। इस समय तक उसके पास १ लाख तो अपनी फौज तथा बीस हज़ार दूसरों की छीन ली थी। अतः उसने यमुना पार की और वरन् (बुलन्दशहर) पहुंचा। मुसलमान लेखकों के आधार पर यहाँ का राजा हरदत्त भय के कारण अपनी दस हजार प्रजा सहित मुसलमान हो गया। इसके पश्चात् महमूद ने मलकन पहुंच कर राजा कुलचन्द्र से युद्ध किया। इसी के सामने यमुना के दूसरी ओर मथुरा का पवित्र तीर्थ स्थान भी है। इस नगर की चहार दीवाल लाल पत्थर की बनी थी। इस दीवाल में कुल दो बड़े-बड़े दरवाजे थे जो नदी की ओर खुलते थे। यहाँ पर प्रत्येक मकान में एक मन्दिर बना था। सुल्तान महमूद व उसके साथी इस नगर के वैभव और उसकी विशालता देखकर दंग रह गये। पर यह सुन्दरता उसे प्रिय न होकर खटक गयी। उसने शीघ्र जाकर आज्ञा दी कि मन्दिर गिराये जाँय तथा उनका धन लूट लिया जाय, मूर्तियों को बरबाद कर दिया जाय। इस स्थिति में उसे ऐसी-ऐसी सोने-चाँदी की मूर्तियाँ मिली जो तौली न जा सकीं। इस प्रकार उसने मनों सोना-चाँदी एकत्र किया (९८३०० मिस्काल सोना)। इसके पश्चात् महमूद कुछ चुने हुए सैनिक लेकर कन्नौज पहुंचा। यह हर्ष की नगरी रह चुकी थी, इसके अन्दर दस हजार मन्दिर थे और चारों ओर सात दीवालें थीं; किन्तु महमूद ने इस पर भी कहा जाता है एक ही दिन में अधिकार कर लिया। यहाँ से भी उसने खूब लूट-खसोट की, इस लूट का मूल्य ३०००००० दिरहम आँका गया था। साथ ही इतने दास, दासियां, ले गया कि गजनी में दो तीन दिरहम का एक दास मिल जाता था। महमूद के इन कार्यों से मुसलिम जगत में बड़ी खुशियाँ मनायीं गयीं, खलीफा ने उसके स्वागत के लिए एक विशेष दरबार किया। पर इससे इस्लाम के नाम पर वह धब्बा पड़ा जो आज तक न मिट सका।

(१३) महमूद ने सन् १०१६ ई० में कालिंजर पर १३वाँ आक्रमण किया। पहिले तो यहाँ के राय नन्द की सेना से महमूद घबरा गया। पर वह

सेना स्वयं मारे डर के रात के समय भाग खड़ी हुई। महमूद तो यह चाहता ही था। उसने शीघ्र ही नगर में घुस कर लूट मार की और लौट आया।

(१४) महमूद जब तेरह बार भारत पर आक्रमण कर चुका और देश के बीच तक होकर लौट आया, तो उसने अनुभव किया कि उसका टिकने का स्थान कहीं पंजाब में होना चाहिये। अत: सन् १०२१ में वह इसी उद्देश्य से गजनी से चल पड़ा। उसने पंजाब में आकर सख्ती प्रारम्भ की। अनेक मुसलमान बना डाले। अपनी फौज द्वारा पंजाब का शासन अपने हाथ में लिया और अपने शासक नियुक्त किये।

(१५) १०२२-२३ ई० में उसने पुन: प्रयाण किया। इस बार वह ग्वालियर तथा कालिंजर की ओर आया। कालिंजर तो उसके दमन चक्र को देख चुका था, अत: ग्वालियर और कालिंजर दोनों के रायों ने उसे कुछ हाथी उपहार में देकर सन्धि करा ली।

(१६) महमूद का सबसे बड़ा आक्रमण सौराष्ट्र के विश्वविख्यात सोमनाथ मन्दिर पर हुआ। यह मन्दिर काठियावाड़ में सरस्वती नदी के मुहाने के समीप अरब सागर के तट पर है। सूर्य तथा चन्द्र ग्रहण के समय जहां लाखों यात्री आया करते थे। यहाँ १००० ब्राह्मण नित्य पूजा किया करते थे। ५०० नर्तकियां तथा २०० गायक सदैव भक्तों का मनोरंजन करते थे। ३०० नाई यात्रियों के मुण्डन के लिए रहते थे। अनेक राजा अपनी कन्याओं को मन्दिर में अर्पण कर देते थे। १००० गाँव की आय से इसका व्यय भार चलता था।

पर इस विशाल मन्दिर के रक्षक महमूद को आते देखकर हँसे, वे सोचते रहे कि 'शम्भू' सोमनाथ महमूद को पल भर में नष्ट कर देंगे। महमूद बहुत होशियार था। उसने अपनी तैयारी ऐसे बीहड़ स्थल में की जिसकी सोमनाथ वालों को खबर ही न हुई। ३०,००० घुड़सवार लेकर महमूद ने सोमनाथ गढ़ का घेरा डाल दिया। हिन्दू सरदार भी मन्दिर की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो गये। उन्होंने पहिले दिन शत्रुओं का वीरता पूर्वक सामना किया और उन्हें पीछे हटा दिया। दूसरे दिन आक्रमणकारियों ने दुर्ग की दीवारों पर चढ़ने का प्रयत्न किया प्रर उनको मुँह की खानी पड़ी। इसी बीच हिन्दुओं को भीमदेव की सहायता प्राप्त हो गयी, उनमें दूना उत्साह आ गया। उन्होंने पुन: एक बार आक्रमणकारी के दांत खट्टे कर दिये। इस पर महमूद कुछ घबराया, उसने अल्लाह के नाम पर अपने सैनिकों में आग फूंक दी, वे जी जान से शत्रुओं पर टूट पड़े और आखिर उन्हें हार खानी पड़ी। लगभग ५०,००० ब्राह्मण मृत्यु के घाट उतारे गये। मन्दिर की धन सम्पति लूटी गयी। पुजारियों ने महमूद को बहुत सा धन देकर शिव की मूर्ति को न तोड़ने की प्रार्थना की, पर उसने एक न सुनी, स्वयं अपने हाथ से उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। तमाम

रत्न आदि बटोर लिये तथा मूर्ति के टुकड़ों को गज़नी में जाकर मस्जिद की देहली में लगवाया। इस्लाम के नाम पर यह एक दूसरा कलंक हुआ जो उसी के अनुयायियों को हेय बना देता है।

(१७) महमूद का अन्तिम आक्रमण सन् १०२७ ई० में जाटों के ऊपर हुआ। जाटों को भी उसने पराजित किया। साथ ही उनकी बस्तियां जला दी गयीं, उनको यमपुर भेज दिया गया। इसके उपरान्त लगभग तीन वर्ष सुल्तान और जीवित रहा। सन् १०३० ई० में इस असार संसार से एक कलंक का बोझ लेकर तथा अपनी संपत्ति की ओर लालच भरी निगाह से देखकर चल बसा।

महमूद का व्यक्तित्व—महमूद के चरित्र और कार्य के विषय में कई बातें ऐसी हैं, जिन पर सभी एक मत नहीं हैं। उसके भारतीय आक्रमणों का उद्देश्य क्या था? क्या वह वीर और युद्ध प्रिय ही था अथवा शासक और नीतिज्ञ भी। इनमें से पहिले प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व उस काल की परिस्थिति समझनी होगी। ११वीं शताब्दी में अरब के खलीफाओं की शक्ति क्षीण हो चुकी थी, इस समय ईरानी सभ्यता प्रबल थी, पर राजनीतिक क्षेत्र में तुर्क अगुआ बन गये थे। अतः ईरानियों के उद्देश्य को तुर्कों ने पूरा करना चाहा। इस उद्देश्य में मध्य एशिया को संगठित करने से लेकर उसे सुव्यवस्थित सूत्र में बाँधना तक था। इसका आरम्भ तो सुबुक्तगीन ने ही कर दिया था, पर महमूद ने सोने में सुगन्ध मिला दी। महमूद ने इसके साथ इस्लाम की एक जिहाद और मिला दी। उसके पीछे वह लूट-खसोट भी करता रहा। उसने अपनी धर्मान्धता का पूर्ण परिचय दिया। इसका फल यह हुआ कि इस्लाम के प्रति हिन्दू जनता में कभी स्नेह का बीज न उगा सका, बल्कि वे उसे भय और घृणा की दृष्टि से देखते रहे। उसने मुसलमान जगत में यश लूटने के लिए जिहाद को प्रधानता दी, तथा असंख्य जन समूह या तो मृत्यु के घाट उतार दिया या उसका धर्म परिवर्तन कर दिया।

दूसरे महमूद व्यक्तिगत जीवन में बिलासिता तथा मदिरा का सेवी था। उसका एकेश्वरवाद उसको भोग बिलास से दूर न रख सका। साथ ही वह इतना धन लोलुप था कि उसने अपने कवि फिरदौसी को ६०००० पंक्तियाँ लिखने पर सोने के बजाय चाँदी के सिक्के देने चाहे।

तीसरे महमूद ने देश प्रदेश तो बहुत जीते, पर कभी उनके शासन प्रबन्ध को सुव्यवस्थित न कर सका। उसने शासन में किसी प्रकार का सुधार भी न किया। कहा जाता है कि वह न्याय प्रिय था, पर उसके न्याय प्रिय होने की पुष्टि अनेक स्थलों पर कट जाती है। फिर उसके अकेले न्याय प्रिय होने से राज्य का न्याय प्रबन्ध तो समुचित न हो सकता था। प्रजा की रक्षा का जहाँ-

तक सम्बन्ध था, वह कोई यत्न न कर सका। उसने अपनी विजय के अभियानों में दास, दासी बनवाये और उनको गज़नी में खुले आम बिकवाया, यह उसके चरित्र पर एक भारी कालिख है।

इस स्थल पर फिरदौसी के वचन उसका चरित्र चित्रण अच्छा कर देंगे। डा० ईश्वरी प्रसाद ने उसका निम्नलिखित अनुवाद दिया है।

"इस शाहनामा को पूरा करने में मैंने बहुत काल तक (lang yeass) श्रम किया, कि सुल्तान मुझको उचित पारिश्रमिक से पुरस्कृत करेगा। परन्तु शोक तथा निराशा से छटपटाते हुए हृदय के अतिरिक्त उसके वायु के समान रिक्त वचनों से मुझे कुछ भी न मिला। यदि सुल्तान का पिता कोई शासक होता तो मेरे सर पर ताज होता, यदि उसकी माता किसी उच्च वंश की होती, तो मैं घुटनों तक सोने चाँदी में डुबाया जाता। लेकिन जन्म से राजकुमार न होकर वह गँवार होने के कारण उच्च कुल वालों की प्रशंसा को सहन न कर सका।"

पर दूसरी ओर हम उसके चरित्र में अनेक सराहनीय गुण देखते हैं। उसके लिए इबलुल आर्थर का तथा प्रोफेसर ब्राउन का कथन है।

"वह किसी भी उपाय से धन प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता था, इसके अतिरिक्त उसके चरित्र में कुछ भी निन्दनीय नहीं था।"

महमूद निःसन्देह एक वीर सेनानी था। उसमें अपार साहस था। उसमें शारीरिक एवं मानसिक वल था। वह युद्ध स्थल में कभी धैर्यहीन न हुआ। अनेक संकट आते हुए भी सदा विजय श्री उसी के हाथ रही। सेनाओं का संचालन वह भली प्रकार कर लेता था। इसके अतिरिक्त उसे यदि सीधे विजय नहीं दिखाई दी, तो उसने कूटनीति से काम लिया। उसका अपने साथियों पर प्रभाव व्यक्तिगत बुद्धिमत्ता और वीरता के कारण ही था। वह समय पर सदा सूझ-बूझ से चला। वह कभी व्यक्तियों के चुनाव में भी चूकता न था।

यही नहीं वह कला प्रेमी था तथा विद्वानों का सम्मान करता था। डा० ईश्वरी प्रसाद ने लिखा है **"वह स्वयं पढ़ा लिखा न था पर वह कला की चीजों का आदर करता था। उसने अपनी असीम उदारता से बड़े २ कवि, कलाकार और विद्वानों को आश्रय दे रक्खा था—यथा अलबरूनी जैसा संस्कृत विद्वान, उत्बी जैसे इतिहासकार तथा बैहा की जैसा कवि।"**[1]

एक ओर उसने लिप्सा से धन बटोरा था, दूसरी ओर उसी दरियादिली से व्यय किया। उसने गज़नी में एक विश्वविद्यालय, एक पुस्तकालय तथा

Muslim rule, p. 48 by Dr. Ishwari Prasad.

संग्रहालय की स्थापना की। उसी की कला प्रियता का फल था कि गज़नी में एक से एक सुन्दर भवन बने। डा० ईश्वरी प्रसाद ने उसकी पक्षपात रहित दृष्टि कोण से विवेचना करते हुये लिखा है,

"सुल्तान मनुष्यों का जन्मजात नेता, एक न्यायप्रिय तथा चरित्रवान शासक, शक्ति मय वीर सेनानी, विद्या का संरक्षक तथा न्यायशील होने के नाते संसार की बड़ी विभूतियों में गिना जाना चाहिये"

यही नहीं इतिहासकार उत्वी एक स्थल पर लिखता है।

"उसका स्वभाव इतना उदात्त, पवित्र, दयामय एवं उदारता पूर्ण था, कि उसके जीवन के अन्त तक किसी ने उसके मुँह से कठोर शब्द नहीं सुने, न उसने किसी के साथ निर्दयता का व्यवहार किया।"

डा० सी. वी. वैद्य ने उसकी कूटनीतिज्ञता तथा राजनीतिज्ञता की प्रशंसा करते हुये कहा है, कि महमूद ने अपनी प्रतिभा के बल से अपने राज्य को धीरे-धीरे गज़नी से आगे बढ़ाया था। कहना न होगा कि इस में बहुत कुछ सत्य का अंश है। महमूद ने जब भी कोई विजय की तो उतना ही प्रान्त अपने अधीन किया जिसके भार को वह सम्हाल सकता था। उदाहरणार्थ उसने आनन्दपाल के सिन्ध के पश्चिमी प्रान्त को छीन लेने के उपरान्त भी केवल कर लेकर ही उसे छोड़ दिया। उसने जो लूट-खसोट की उसमें यह रहस्य छिपा था कि वह जीते हुए प्रदेश को आर्थिक दृष्टि से निर्बल कर देना चाहता था। वस्तुतः उसके उत्तराधिकारियों में इतना बल न था कि उसका खड़ा किया हुआ साम्राज्य सम्हाले रहते, अन्यथा लेनपूल को यह न कहना पड़ता कि जैसे ही उसकी मृत्यु हुई और उसकी चैतन्य दृष्टि हटी, वैसे ही उसका राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा। पर प्रोफेसर हबीब की दृष्टि में यह सब कहना अनुचित है, वे कहते हैं "उस पर न्याय प्रियता, धर्मनिष्ठ और कर्त्तव्य-परायणता की उपाधियाँ लादने से क्या वह लुटेरा और डाकू न रहेगा। क्या इस्लाम में कहीं भी यह लिखा है कि दूसरे धर्म का अपमान करो, यह धर्म प्रचार न था, यह धर्म के नाम पर धन बटोरने का बहाना था, उसे अपने अन्धे साथियों को जोश दिलाने का एक साधन था।"

हिन्दुओं की हार का रहस्य—हिन्दुओं में शारीरिक शक्ति, वीरता, आत्म-त्याग, कष्ट सहिष्णुता आदि कोई गुण मुसलमानों से कम न थे, वे भी वीरों

"Sultan is a born leader of men. A just and upright ruler, anintrepid and gifted soldier, a dispenser of Justice, a patron of letters and deserves to be ranked among the greatest personalities of the world".

P. 40. Muslim rule by I. Pd.

की भाँति मरना जानते थे। वे रणकुशलता में भी किसी तरह मुसलमानों से कम न थे, उनके अस्त्र-शस्त्र विदेशों में विख्यात थे। अनेक बार ऐसा हुआ कि आक्रमणकारी अपना-सा मुँह लेकर लौट गये, पर अन्तिम विजय मुसलमानों के हाथ में रही। इसमें रहस्य क्या है ?

१—भारतीयों की एक मौलिक भूल ऐसी थी, जो उनके समस्त गुणों को दबा देती थी। उनमें राष्ट्रीयता की भावना छू तक न गयी थी, वे सदा अपने राज्य के लिए, अपने स्वार्थ के लिए लड़ते थे। उनके अन्दर विवेक और दूरदर्शिता न थी, वे लड़ने के धर्म को इतना पालन करने लगे कि स्वयं लड़ने लगे। इसका फल यह हुआ कि जब देश व धर्म की रक्षा का समय आया तो वे एक झंडे के नीचे खड़े न हो सके। किसी को दूसरे का नेतृत्व न भाया।

२—दूसरे उस समय के ब्राह्मण धर्म ने समाज के विचार इतने संकुचित बना दिये थे, कि जातीय जीवन के हर क्षेत्र में विनाशकारी प्रभाव पड़ा। इसका राजनीतिक क्षेत्र में फल यह हुआ कि लोग देश के बाहर जाने में जाति-पाँति से अलग कर दिये जायेंगे। यही नहीं ब्राह्मणों ने हिन्दुओं का उन स्थलों पर आना जाना बन्द कर दिया जहाँ बौद्ध थे, कि कहीं उनका प्रभाव न पड़ जाय। इस कारण देशी राजा कभी भी सीमा प्रान्तों की सुरक्षा का प्रबन्ध न कर सके। यदि ये बन्धन न होते तो जब शत्रु उनके घर आ सकता था, तो वे भी शत्रु के घर में प्रवेश कर उसे मार सकते थे। यह केवल मानसिक दासता थी। उनकी व्यवहारिक बुद्धि तो छीन ली गयी थी, उनको सच्चा मार्ग ही न बताया जाता था। उनको इस लोक की अपेक्षा परलोक की अधिक फिक्र थी। यही कारण था कि शत्रु घर में घुस आया और यहाँ जूँ ही न रेंगी। गजनी व गोरी आये दिन आक्रमण करते रहते थे।

३—तीसरे हिन्दुओं में कुछ इस प्रकार के अन्धविश्वास थे कि वे अकर्मण्य बन गये थे। उन पर शत्रु प्रहार कर रहा था पर वे देवता को मना रहे थे, उनका आध्यातमवाद उनको भौतिकवाद के संसार में सफलता न दे सका।

४—चौथे लड़ने-भिड़ने का कार्य भी जातिगत हो गया था, जनसाधारण की यह धारणा बन गयी थी, कि यदि राजा हार गया तो उसे दूसरे के अधीन होकर रहना है, उसका अपना कोई धर्म नहीं है। ठीक इसके विपरीत रूस वालों पर जब जर्मन आक्रमण हुआ था, तो सेना के हारने के पश्चात् जर्मनों को घर-घर लड़ना पड़ा था, स्टैलिनग्राड और कीव की घटनाएँ इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। इसका फल यह हुआ कि रूस आज भी अपना मस्तक ऊँचा किये है। पर भारतीय जनता इससे उदासीन रही जिसका फल सर्वविदित है।

५—फिर अनेक छोटे-छोटे राज्यों में भारत विभक्त हो चुका था, उनमें

से किसी एक में इतनी सामर्थ न थी कि वह अकेले शत्रु का मुकाबिला कर ले। कभी-कभी तो यहाँ के नरेश युद्ध स्थल से ही भाग खड़े हुए। कभी उनकी सेना भाग खड़ी हुई। अधिकांश राजा विलासी हो गये थे, वे कन्याओं का अपहरण करना सम्मान समझते थे।

६—छठे यहाँ के राजाओं की सेना में घुड़सवार कम होते थे, हाथी अधिक। कभी-कभी ये हाथी बिगड़कर अपनी ही सेना का विनाश कर डालते थे। दूसरे यहाँ के सिपाही तलवार का प्रयोग करते थे, या तीर का, जब कि विदेशी पीछे से आकर घोड़े और भाले का प्रयोग करते थे। पुरू की हार से भारतीयों को कुछ सीख लेना चाहिये था, पर इस ओर किसी ने ध्यान न दिया।

७—इसके विपरीत आक्रमणकारी पहले तो सशक्त हो कर आये। दूसरे दूसरे देश में जान हथेली पर रख कर आये, उन्होंने यह समझ लिया था कि भागने से उनकी गुजर न होगी या मरना है विजयी होना है, दो ही बातें उनके सामने रहती थीं।

८—आठवें वे कुशल नायकों के संचालन में चले। उनके नायकों ने यदि पराजय भी खायी तो उसका पुनः बदला लिया। सैन्य संगठन और संचालन दोनों में कुशलता दिखाई। बहुधा धैर्य और रण कुशलता के कारण विदेशियों की हार जीत में परिणत हो गयी।

९—अन्त में कहना न होगा कि भारतीयों को अपना राज्य और सुख प्यारा था, युद्ध और राष्ट्र नहीं, धर्म नहीं। किसी धर्म के लिए वे जेहाद नहीं बोले, इसके ठीक विपरीत आक्रमणकारी जेहाद से ही लाभ उठाये, उनको धर्म के नाम पर अन्धा किया गया, लोभ और लालच दिये गये, इसका फल हुआ कि भारत दास बनता गया और सदियों उससे न निकल सका।

अलबरूनी—महमूद गजनवी निःसन्देह विद्वानों का आश्रयदाता था। उसके दरबार में दूर देशों से आये हुए ३०० विद्वान रहते थे। इनमें अनसारी, फ़िरदौसी, असदी, तूसी आदि बहुत विख्यात हैं। पर उस समय का एक भारी तत्ववेत्ता, वैद्य और जन्तु शास्त्री ईरानी शेख बुअली सेना उसके दरबार में कभी न आया। भय कें मारे उसने राय के शासक के यहाँ शरण ली। इस पर बुअली सेना के मित्र अबू रिहान उर्फ अलबरूनी को सुल्तान उसके देश ख्वारिज्म से पकड़ मँगाया। कुछ ही समय में उसे भारत भेज दिया गया। भारत में आकर अबू रिहान ने संस्कृत का विशेष रूप से तथा अन्य विद्याओं का अध्ययन किया। वस्तुतः अलबरूनी खीवा का निवासी था, उसका जन्म ९७३ ई० में हुआ था। जब महमूद ने उस प्रदेश को जीता था, तो उसे भी पकड़वा लिया था। अलबरूनी ने भारत आकर हिन्दुओं की विभिन्न संस्थाओं

का पूरा-पूरा विवरण लिख डाला। भारत वर्णन का उसका एक उद्धरण नीचे दिया जाता है।

"महमूद ने इस देश की समृद्धि को पूर्णतया समाप्त कर दिया, तथा ऐसा आश्चर्यजनक उत्पीडन किया जिससे हिन्दू जाति चारों ओर बिखरे हुए धूलिकणों के समान हो गयी। वह लोगों के मुँह की बस कहानी मात्र रह गयी। इस जाति का शेष भाग अपने मन में मुसलमानों के प्रति घृणा का भाव धारण करने लगा है। इस कारण से भारतीय भारतवर्ष की विद्याएँ उन स्थानों से बहुत दूर हट गयी हैं, जिनको हमने विजय कर लिया है, वे काश्मीर, बनारस तथा अन्य ऐसे स्थानों पर जाकर बसी हैं, जहाँ तक अभी हमारे हाथ नहीं पहुँचे।"

अलवरूनी ने यहाँ की सामाजिक व्यवस्था बतलाते हुए लिखा है कि जाति पाँति की यहाँ प्रधानता थी। वाल-विवाह का प्रचार था। विधवा बिवाह नहीं होते थे।

धार्मिक व्यवस्था में उसने लिखा है, कि हिन्दू अनेक देवी देवताओं की पूजा करते थे किन्तु विद्वत समाज में एकेश्वर की पूजा होती थी। उसने यहाँ के न्याय का भी विवरण दिया है। इसके आधार पर प्रार्थी न्याय के लिए आवेदन पत्र प्रस्तुत करते थे, कहीं मौखिक प्रार्थनाएँ भी हो जाती थीं। शपथ दिलाने की प्रथा प्रचलित थी, न्याय साक्षी के बाद ही किया जाता था। न्याय की दृष्टि से सब समान न थे, ब्राह्मण को प्राणदण्ड न दिया जाता था। चोरी का दण्ड धन के मूल्य के अनुसार दिया जाता था। कुछ अपराधों में अंग-भंग कर दिया जाता था। अलवरूनी यहाँ की राजनीतिक अवस्था का उल्लेख करते हुए लिखता है कि देश अनेक राज्यों में बंटा था। ये राज्य परस्पर फूट के कारण लड़ा करते थे। यहां के राज्यों में कश्मीर, मालवा, सिन्ध व कन्नौज प्रमुख थे। यहाँ उपज का छठा भाग कर के रूप में लिया जाता था। अलग-अलग व्यवसायियों से आय कर भी लिया जाता था, पर ब्राह्मण कर से मुक्त थे। न्याय यद्यपि प्राचीन ढंग पर होता था पर उदार सिद्धान्तों पर आधारित था।

फिरदौसी—फिरदौसी का जन्म सन् ९५० ई० में खुरासान में हुआ था। यह १०२० ई० तक जीवित रहा। यह अपने समय का सर्वोच्च कवि माना जाता है। इसका शाहनामा जगत प्रसिद्ध है। इस बात का संकेत किया जा चुका है कि महमूद ने किस प्रकार उससे ६०००० पद लिखाकर धोखा दिया। वह इसी के दुःख में अपने प्राण गँवा बैठा।

गजनवी वंश का अन्त—महमूद की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकार के लिये झगड़े प्रारम्भ हो गये। आखिर उसका बड़ा लड़का मसूद गद्दी पर

बैठा। महमूद मुहम्मद को गद्दी देने को कह गया था पर मसूद ने उसको बन्दी कर उसकी आँखें निकलवा लीं। मसूद अपने पिता की भाँति शक्ति सम्पन्न था, वह कहता था कि राज्य तलवार के सहारे रहता है। साथ ही वह उदार भी था, अतः खलीफा कहलाता था। पर उसने गजनी को छोड़कर बल्ख को राजधानी बनाया। उसने भारतीय सीमा को ठीक करना चाहा, पर मार्ग में आते समय सन् १०४० ई० में उसका बध कर दिया गया। इसके पश्चात् १०४२ ई० में उसका लड़का मादूद लाहौर का शासक हुआ। उसके समय में यत्र-तत्र विद्रोह होने लगे, वह दुर्बल होने के नाते उन्हें शान्त न कर सका। सन् १०४६ ई० में उसने अपना राज्य अपने दो बेटों में बाँट दिया और इस संसार से चल बसा। इसके अनन्तर राज्य की नींव कमजोर होती गयी और उसके उत्तराधिकारी उसे बचा न सके। बारहवीं शताब्दी में यह गौर के शासकों के अधीन हो गया।

———

परिच्छेद--२०

शंसवानी आक्रमण (मुहम्मद गौरी)

पिछले प्रकरण में यह संकेत किया जा चुका है कि गजनी पर अन्ततः गौर वंश का आधिपत्य हुआ। यह गौर वंश पहले हिरात के मध्य प्रदेश में स्थित था। कुछ लोग तो इसे पारसीक भी कह देते हैं, पर ये अफगान थे। इस वंश का संस्थापक अलाउद्दीन था। अलाउद्दीन ने महमूद के वंशजों से गजनी का राज्य छीन लिया। यही नहीं उसने गजनी को खूब लूटा और जला कर खाक कर दिया। अलाउद्दीन का भतीजा गयासुद्दीन मुहम्मद गोर था। सन् ११७३ ई० में गयासुद्दीन मुहम्मद ने गजनी का राज्य प्राप्त किया और अपने छोटे भाई शहाबुद्दीन को वहाँ का शासक नियुक्त किया। यही शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी इतिहास में प्रसिद्ध हुआ।

मुहम्मदगौरी अपने से पहले के आक्रमणकारी का वृत्त सुन चुका था। अतः उसने भी भारत की दुर्दशा से लाभ उठाना चाहा। इस समय भारत में अनेक राजनीतिक परिवर्तन हो गये थे। भारत के पश्चिम भाग पर अभी भी गजनवी साम्राज्य का अवशेष था। सिंध में सुमरा मुसलमानों का राज्य था। इन इस्लामी राज्यों के पूरब और दक्षिण में अनेक छोटे-छोटे राजपूत राज्य थे। यथा दिल्ली में अजमेर का चौहान वंश, कन्नौज में राठौर वंश और गुजरात में सोलंकी। ये राज्य कितनी सहृदयता से रहते थे इसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। पृथ्वीराज चौहान जैसा वीर भी इसका अपवाद न बन सका। फिर मुहम्मद गोरी जैसा आक्रमणकारी इन मौकों से क्यों न लाभ उठाता मुहम्मद गोरी का भारत पर आक्रमण करने का उद्देश्य यह था कि लाहौर में जिन शक्तियों का राज्य था वे उसके विरुद्ध कभी उठ न सकें साथ ही वह यह भी चाहता था कि वह भारत में इस्लामी साम्राज्य की नींव डाले। इसके अतिरिक्त हम यह नहीं भुला सकते कि भारत का धन धान्य भी उसको आर्कषित कर सका, फिर उसकी महत्वाकांक्षा उसको एक संकुचित दायरे में कैसे बैठे रहने दे सकती थी।

उसने सबसे पहला आक्रमण सन् ११७५ ई० में मुल्तान पर किया। क्योंकि वह जानता था कि मुल्तान के शिया शासक उसको कभी चैन न लेने देंगे

फिर इसी के बीच गजनी और भारत का मार्ग था। अतः उसने थोड़े से ही प्रयास से मुल्तान पर अधिकार कर लिया।

गोरी का दूसरा आक्रमण सन् ११७६ ई० में कच्छ पर हुआ था। कहते हैं, कि यहाँ के हिन्दू राजा की रानी शत्रु से मिल गई और विश्वासघात करके उसने अपने पति की हत्या करा दी। इसका फल यह हुआ कि नगर आक्रमण-कारियों के अधिकार में चला गया। इसके पश्चात् गोरी ने सन् ११८१ ई० में लाहौर जीतना चाहा पर वह सफल न हुआ। सन् ११८२ ई० में उसने देवल तथा सिन्ध का समुद्र तट का भाग अवश्य ले लिया। इस समय जम्मू में एक राजा चक्रदेव राज्य करता था। लाहौर के गजनवी अमीर खुसरो मलिक से उसकी नहीं बनती थी। इसलिए खुसरो ने खोखरों से मित्रता कर ली। खोखरों की भी बन आई। उन्होंने चक्रदेव को कर देना बन्द कर दिया। इस पर चक्रदेव ने अपनी अदूरदर्शिता का परिचय दिया और उनको दन्ड देने के लिए मुहम्मद गोरी को बुलाया। सन् ११८६ ई० में जब मुहम्मद ने पंजाब पर फिर से चढ़ाई की उस समय चक्रदेव के लड़के जयदेव ने उसकी सहायता की। आखिर खुसरो मलिक हार गया और पंजाब पर गौर देश का झण्डा फहरा गया।

पंजाब की विजय ने गौरी को इतना प्रोत्साहित किया कि उसने सन् ११९०-९१ ई० में एक बड़ी सेना लेकर सरहिन्द पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। सरहिन्द पृथ्वीराज के राज्य की सीमा पर एक बहुत महत्वपूर्ण स्थान था। पृथ्वीराज इस की सूचना पाते ही एक बड़ी सेना लेकर उस ओर चला। थानेश्वर से लगभग बारह मील तारावड़ी गाँव से तीन मील की दूरी पर नदिया नामक गाँव के निकट दोनों दलों में युद्ध हुआ। इसके लिये लाहौर को केन्द्र मान कर सुलतान मुहम्मद गोरी तीन वर्ष तक तैयारी करता रहा। इधर पृथ्वीराज भी सचेत था। जयचन्द्र को छोड़कर अन्य सभी राजपूतों से उसने सहायता मांगी और उन्होंने सहायता दी भी। मुहम्मद गोरी ने अपनी सेना तीन भागों में बांट रखी थी। दोनों दलों का युद्ध होते ही गोरी के बांये और दाँये पक्ष उससे अलग हो गये। गोरी ने जो अपनी सेना के मध्यभाग का सेनापतित्व कर रहा था इस स्थित में भी साहस न छोड़ा और पृथ्वीराज के भाई गोविन्द राज पर टूट पड़ा। मुहम्मद गोरी ने अपना बरछा गोविन्द के मुंह पर मारा, गोविन्द के दाँत टूट गये पर वह वीर हटने वाला न था। उसने भी मुहम्मद पर एक भाला मारा, जो उस की बाँह में लगा। बस मुहम्मद घायल होते ही भाग खड़ा हुआ। कहते हैं, मुहम्मद गोरी ने जो बन्दी बना लिया गया था (रासों के आधार पर) तीस हाथी, पाँच सौ घोड़े देकर मुक्ति पाई। गोरी यहाँ से लौट कर बहुत क्षुब्ध हुआ। उसने सभी सिहाहियों

को जो मैदान से भागे थे कठोर दण्ड दिया और उनको अपमानित किया। उसने शीघ्र ही पुनः तैयारी शुरू कर दी और सन् ११६२ ई० में भारत पर आक्रमण कर दिया। कहते हैं कि इस बार भी पृथ्वीराज ने तमाम राजपूत राजाओं को सहायतार्थ बुलाया और एक सौ पचास छोटे बड़े राजपूत राजा इस अवसर पर इकट्ठे हुए। इस सेना में तीस हजार हाथी और तीन लाख अश्वारोही तथा अगणित पदाति थे। दोनों दल फिर से उसी प्रसिद्ध मैदान में एकत्र हुए। यद्ध प्रारम्भ होते ही राजदूतों ने मुसलमानों को आगे बढ़ने से रोक दिया। मुहम्मद गोरी भी बड़ा चालाक था। उसने अपनी सेना को पाँच हिस्सों में बांट रखा था। उनमें से चार हिस्सों को यह आज्ञा थी कि वे दांये बाँये, आगे पीछे चारों तरफ से आक्रमण करें। पाँचवे हिस्से के लिए यह आदेश था कि जब शत्रु का केन्द्र स्थल दुर्वल पड़ जाय, तो वह बीच में आक्रमण कर दे। राजपूत वीर थे साहसी थे पर वे गोरी की इस चाल को न समझे। आखिर परिणाम भारत के विपरीत हुआ और केवल जीत भर तक ही नहीं बल्कि आगे तक के लिए यह भयंकर सिद्ध हुआ। इसके पश्चात् किसी राजपूत की भी आक्रमणकारी से लड़ने की हिम्मत न हुई। उसका फल यह हुआ कि सिरसुती, हांसी और समाना आदि के किले मुहम्मद गोरी ने बिना प्रयास के ले लिये। यही नहीं आक्रमणकारी ने अनेक मन्दिर तोड़ दिये और उनके स्थान पर मस्जिदें बनवाई। न जाने कितने निरपराधों का वध किया। चूंकि ग़ोर देश से आकर यहाँ का शासन देखा भाला न जा सकता था, अतः गौरी ने पृथ्वीराज के एक लड़के को अजमेर का शासक नियुक्त किया जिसने सुलतान को वार्षिक कर देने का वचन दिया। मुहम्मद गोरी जब गजनी लौटा, तो उसने अपने एक विश्वासपात्र दास कुतुबुद्दीन ऐबक को भारतीय राज्य का शासक नियुक्त किया, पर सुल्तान के पीठ मोड़ते ही भारत में विद्रोह प्रारम्भ हो गये। इनमें से अजमेर और दिल्ली के विद्रोहों को कुतुबुद्दीन ने दबा दिया।

कुतुबुद्दीन ऐबक—ऐबक मुहम्मद गोरी का एक विश्वास पात्र सेवक तो था ही, साथ ही वीर और युद्ध प्रिय था। उसने गोरी के पीठ पीछे अनेक युद्ध किये। यथा सन् ११६२ ई० में हांसी के किले को बचाया और जब वहाँ से लौट रहा था, तो उसने मेरठ पर चढ़ाई कर दी और वहां के हिन्दू राजा से दुर्ग छीन लिया। सबसे बड़ा काम तो उसने यह किया कि दिल्ली जो अब तक राजपूतों के कब्जे में थी, उसे अपने अधीन कर लिया। इसके पश्चात उसने दिल्ली को अपना केन्द्र बनाया, और युद्ध की पुनः तैयारी की। इस बार उसका धावा कन्नौज की ओर था। जिस समय वह कन्नौज की ओर चला, उसी समय मुहम्मद गोरी भी पुनः भारत पर चढ़ आया।

कन्नौज आदि की चढ़ाई—सन् ११६३ ई० में कन्नौज का गहरवाल राजा

चन्द भी अपनी सेना लेकर आगे बढ़ा और चन्दवार पर (आजकल का फिरोजाबाद) यमुना के किनारे दोनों दलों का मुकाबिला हुआ। जयचन्द बड़ी वीरता से लड़ा और आशा थी कि वह ज़ीत जाता, पर एकाएक एक तीर उसकी आंख में लगा, जिससे उसकी तुरन्त मृत्यु हो गयी और वह हाथी से गिर गया। बस मुसलमानों की बन आयी। उन्होंने हजारों को तलवार के घाट उतार दिया। उसने जयचन्द का कोष भी खूब लूटा। इसके अनन्तर वह बनारस तक गया। यहाँ उसने हजारों मन्दिर तोड़े और मस्जिदें बनवायीं। इस समय तक उधर अजमेर में मुहम्मद के नियुक्त किये हुये शासक को पृथ्वीराज के लड़के हेमराज ने निकाल कर अपना आधिपत्य जमा लिया। ऐबक ने इसकी सूचना पाते ही सन् ११९४ ई० में हेमराज को हराकर एक मुसलमान शासक नियुक्त कर दिया। सन् ११९५ ई० में ऐबक ने गुजरात पर चढ़ाई कर दी और वहाँ के राजा को हराकर अपने स्वामी की पिछली हार का बदला चुकाया। इसी के साथ लौटते समय उसने ग्वालियर और बयाना के किले ले लिये। इन विजयों की सूचना पाकर मुहम्मद गोरी ऐबक से बहुत प्रसन्न हुआ। उसने ऐबक का बहुत सम्मान किया और उसे भारतवर्ष के राज्य का शासक नियुक्त कर दिया।

हिन्दू विद्रोह—इस समय तक हिन्दू सचेत हो चुके थे। उन्होंने एकबार फिर प्रयत्न किया कि वे अपनी स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त करलें। उनको अपने धर्म और पवित्र स्थानों का अपमान सहन न होता था। अतः उन्होंने यह निश्चय किया कि एक बार पुनः आक्रमणकारियों को देश से निकाल दें। सन् ११९६ ई० में अजमेर के पास रहने वाले मेड़ और सामान्तों ने विरोध के लिये एक संघ बनाया। इसमें गुजरात के सोलंकियों ने भी इनको सहायता दी। ऐबक ने सूचना पाते ही उनपर धावा बोल दिया, पर उसकी इसमें घोर पराजय हुई। यह समाचार सुनकर गोरी ने एक सेना उसकी सहायता के लिये भेजी। इसका फल यह हुआ कि राजपूतों ने अपना घेरा उठा लिया और आबू पर्वत के पास उनको हार खानी पड़ी। राजपूतों की आर्थिक क्षति भी हुई। ऐबक तुरन्त दिल्ली लौट गया। अगले पाँच-छः वर्षों में उसने कन्नौज और बदायूँ पर अधिकार कर लिया। यही नहीं सन् १२०२ ई० में उसने कालिंजर का घेरा डाला और कालिंजर, महोबा, तथा खजुराहों पर अधिकार कर दिया।

बंगाल और विहार पर अधिकार—कुतुबुद्दीन ऐबक जिस समय गंगा यमुना के द्वावे में राज्य प्रसार कर रहा था, उसी समय विहार में एक तुर्क मुहम्मदबिन-बख्तियार खिलजी तुर्कों की शक्ति, का संचय कर रहा था। उसको इस ओर गहड़वालों की पराजय से और भी प्रोत्साहन मिला।

उसकी तुर्की सेना अवध तक फैल गयी। इसके पश्चात् उसने बिहार पर आक्रमण किया। वस्तुतः यह आक्रमण किसी किले पर न था बल्कि उद्दंडपुर के महाविद्यालय पर था। इस महाविद्यालय में बौद्ध भिक्षुओं का निर्दयता से संहार किया गया। कुछ भिक्षु भय से भाग भी खड़े हुए। यही दशा नालन्दा और विक्रमशिला की हुई। इसका कारण यह था कि दक्षिण बिहार में कोई ऐसा शासक न था, जो बख्तियार को रोकता। उधर बंगाल में भी पाल वंश का अन्त हो चुका था और सेन-वंश का क्षीण राज्य रह गया था। इधर लगभग ५ वर्ष मुहम्मद भारत न आ सका, अतः एक अफवाह फैल गयी कि वह मारा गया, पर तथ्य ऐसा न था। अतः सुल्तान को यहाँ की अशान्ति देखकर पुनः एक बार सन् १२०५ ई० भारत में आना पड़ा। उसने खोखरों को दण्ड दिया। हजारों खोखर गुलाम बनाये गये, किन्तु इधर से लौटते समय सन् १२०६ ई० में सिन्धु नदी के किनारे किसी इस्माइली ने उसका वध कर दिया।

मुहम्मद गोरी का चरित्र—मुहम्मद गोरी की वीरता और उसके साहसिक कार्य हमें इस बात के लिए प्रेरित करते हैं, कि उसको भारत में इस्लाम की सत्ता स्थापित करने का श्रेय अवश्य दें। वैसे तो विभिन्न इतिहासकार उसके प्रति भिन्न-भिन्न धारणाएँ रखते हैं, फिर भी रमेशचन्द्र मजुमदार और और राय चौधरी का यह कहना है कि—"**मुहम्मद गोरी का सबसे पहला भारतीय आक्रमण अपने सहधर्मियों के ही विरुद्ध था।**[1] हमें यह बतलाता है, कि मुहम्मद गोरी धर्मान्ध न था। उसने मुलतान के शियाओं के विरुद्ध युद्ध करके यह सिद्ध कर दिया कि वह साम्राज्य की नींव सुदृढ़ करना चाहता था। इसीलिए तो प्रो० मोरलैण्ड ने भी इसी बात का समर्थन करते हुए कहा है कि—"**गौर का सारा हित केवल भारतवर्ष तक ही सीमित न था।**[2] इस प्रकार यह निश्चित होता है, कि महमूद के विपरीत मुहम्मद एक संगठित राज्य का स्वरूप खड़ा करना चाहता था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने बड़ी नीति तथा चतुरता से काम लिया। हम देखते हैं कि भारतवर्ष के असंयत राज्य उसे न केवल आह्वान दे रहे थे, बल्कि उनमें से एकाध तो उसकी सहायता के लिए प्रस्तुत थे। यथा काश्मीर का चक्रदेव और कन्नौज का जयचन्द। यद्यपि इन राजाओं ने उसे बुलाकर अपने आप अपने पैर में कुल्हाड़ी

---

1. The first Indian expedition of Muhammad Ghori (A. D. 1175) directed agasint his ce-religionists"

R. C. Majumdar

2. The interests of Ghor were not, however, confined to India" Moreland.

भारी, पर मुहम्मद गोरी ने तो उससे पूरा लाभ उठाया। मुहम्मद गोरी केवल कूटनीतिज्ञ ही नहीं था, वरन् वह वीर था, लड़ाका था, और युद्ध में धैर्य से काम लेता था। तरावड़ी के मैदान में हारने के पश्चात् पुनः उसी क्षेत्र में आकर अपने विजेता को हरा देना उसी का काम था। क्या उसके विरुद्ध सभी राजपूत राजा नहीं उठ खड़े हुए थे, पर उसने अपने सैन्य संचालन की बदौलत सभी को मुँहकी खिलायी। उसके आक्रमण के सभी अभियान पूर्व निश्चित योजनाओं के अनुसार थे। किसी किसी लड़ाई के लिए तो उसने तीन-तीन वर्ष लगातार तैयारी की। क्योंकि वह मुँह की खाकर चुप बैठने वाला न था। उसने अपनी सेना में भी इतना नियन्त्रण रखा, इतना अनुशासन रखा और समय पड़ने पर अपराधियों को ऐसा दण्ड दिया, कि उसे दूसरी बार धोखा न उठाना पड़े। उसे आदमियों की पहिचान अच्छी थी, ऐबक ऐसे दास से उसने कितने कठिन से कठिन काम ले लिये।

मुहम्मद के विरुद्ध एक आरोप है, कि उसने भी अपने पूर्ववर्ती की भाँति धार्मिक असहिष्णुता का परिचय दिया। उसने भी मन्दिर तुड़वा कर मस्जिदें बनवायीं। पर यह तो उस समय का तकाजा था। इस्लाम के सच्चे समर्थक वही गिने जाते थे, जो उसका प्रचार हर सम्भव यत्न से करें। मुहम्मद गोरी इसके लिए अपवाद न था। हाँ उसने धन के लोभ से यह कार्य न करके धर्म के निमित्त ही किया। मिनहाज-उस-सिराज तो उसकी साहित्यप्रियता तथा उदारता के लिए प्रशंसा करता है। जो हो गोरी ने थोड़े ही काल में गजनी से लेकर बिहार तक अपना साम्राज्य फैला लिया। साथ ही उसका ऐसा सुनिश्चित प्रबन्ध भी किया, कि वह उसके बाद भी टिका रहे। जब कभी आवश्यकता हुई तो उसने अपने देश से आकर वहाँ के शासकों की मदद की।

महमूद गजनवी से मुहम्मद गोरी का मुकाबला किया जाता है वस्तुतः महमूद से मुहम्मद बहुत भिन्न था। महमूद ने अपने भाई को कारागार में डालकर राज्य प्राप्त किया था, जब मुहम्मद गोरी सदा अपने भाई की संरक्षता में रहा। इतना अवश्य कहना पड़ेगा, कि सैनिक शक्ति में दोनों समान थे, पर महमूद गजनवी अपने आक्रमणों में योजनाओं के अनुसार न चल पाया, यद्यपि उसे एक बार से अधिक हार नहीं खानी पड़ी, फिर भी मुहम्मद गोरी योजना बनाने की दृष्टि से अधिक खरा उतरता है। हां महमूद गजनवी धन लोलुप व धर्मान्ध था, किन्तु मोहम्मद गोरी साम्राज्य और नाम का आकांक्षी था। मुहम्मद गोरी से महमूद ने एक बात अवश्य अधिक की कि शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में वह बहुत सा कार्य कर गया। वैसे मुहम्मद गोरी भारत में इस्लाम का संस्थापक बना, जो गजनवी न बन सका था। यहाँ डा० ईश्वरी प्रसाद के इन दोनों के विषय में कुछ तुलनात्मक शब्द दे देना अनुचित न

होगा, वे कहते हैं—"महमूद ने भारत में बवंडर की भाँति प्रवेश किया, और लूट पाट से अपार सम्पत्ति प्राप्त कर स्वदेश लौट गया, उसके आक्रमणों का उद्देश्य राज्य स्थापना न होकर लूटमार और विध्वंस-मात्र था और इन उद्देश्यों की पूर्ति होते ही, उसने असंख्य भारतीयों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। परन्तु मुहम्मद यथार्थ में विजेता था, उसने देश को विजय कर स्थायी सत्ता स्थापित करने का उपाय किया। मुहम्मद गोरी महमूद की तरह धर्मान्ध भी न था, पर वह उससे कहीं अधिक कुशल राजनीतिज्ञ था।

परिच्छेद २१

दास वंश

(१२०६ से १२९० ई० तक)

मुहम्मद गोरी के कोई पुत्र न था। मिनहाज-उस-सिराज के अनुसार एक बार किसी सरदार ने उससे कहा कि आपके कोई पुत्र नहीं है, आपके पश्चात् राज्य का कौन स्वामी बनेगा? इस पर मुहम्मद गोरी ने उत्तर दिया "**अन्य सुल्तानों के एक या दो पुत्र हो सकते हैं, पर मेरे हजारों पुत्रों के रूप में ये दास हैं, जो मेरे बाद मेरे साम्राज्य के उत्ताराधिकारी होंगे और जो अपने राज्यों में खुतवा मेरे नाम सुरक्षित रखेंगे।**"

मुहम्मद गोरी की मृत्यु के उपरान्त उसका भतीजा गयासुद्दीन मुहम्मद गोर राज्य का पहला स्वामी बना पर वह राज्य की बागडोर सम्हाल न सका। मुहम्मद गोरी ने अपने जीवन काल में ही अपने साम्राज्य का भार अपने सेनापतियों को सौंप दिया था। उसके मरने पर इन सेनापतियों ने अपनी-अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। ताजुद्दीन यल्दाज न गजनी पर अधिकार करने तथा भारत विजय की योजना बना दी। उधर नासिरुद्दीन कुबैचा ने जो १२०५ ई० में मुलतान का शासक था, समस्त सिंध पर अधिकार कर लिया और स्वतन्त्र होने की कोशिश करने लगा। तीसरा सेनापति ऐबक था, जिसे शेष भारतीय राज्य हाथ लगा। ऐबक का जन्म तुर्किस्तान में हुआ था, वह अत्यन्त कुरूप था। सबसे पहले उसे निशापुर के काजी ने खरीद लिया था। इसी के यहाँ रहकर उसने पढ़ने लिखने से युद्ध करने तक की योग्यता प्राप्त कर ली। काजी की मृत्यु के पश्चात् उसके लड़कों ने उसे किसी सौदागर के हाथ बेच दिया, जिससे बाद में उसे गोर ने खरीद लिया था।

सुलतान मुहम्मद के हाथ आकर ऐबक का भाग्य उदय हो गया, उसे अपनी वीरता और कुशलता दिखाने का खूब अवसर मिला, शीघ्र ही वह अस्तबल का अध्यक्ष बना दिया गया। (अमीर आखुर) इसके अनन्तर उसने अपने स्वामी का साथ अनेक युद्धों में दिया।

कुतुबुद्दीन ऐबक ने राज्य का अधिकार तो पा लिया किन्तु उसमें काँटे बहुत थे, उसने प्रारम्भिक कठिनाइयों को हल करने के लिये बड़ी सूझ से काम

लिया। उसने कुबैचा से तो वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। उसने अपनी बहिन कुबैचा को विवाह दी और अपनी पुत्री यलदोज़ को और इस प्रकार उनके विरोध को शान्त किया। किन्तु यलदोज़ से अधिक भयभीत वह ख्वारिज्म के शाह से था, जो मुहम्मद गोरी के सारे साम्राज्य पर अधिकार करना चाहता था। भारत में चंदेल-चौहान आदि राजपूत पहले से ही मुसलमानों के विरोधी थे। अतः सबसे पहले ऐबक ने उत्तर पश्चिम की सीमा को ठीक करना चाहा और इस दृष्टि से उसने कुबैचा को अपनी ओर मिला कर गजनी पर आक्रमण कर दिया। कुबैचा भी उसके साथ इसलिये जल्दी हो लिया कि यलदोज़ इसके पहिले लाहौर पर चढ़ आया था। अतः दोनों ने मिलकर यलदोज़ को हरा दिया। यही नहीं उन्होंने उसे नगर से बाहर निकाल दिया। किन्तु गजनी की जनता ने उसके विरुद्ध विद्रोह खड़ा कर दिया जिसके कारण ऐबक को चालीस दिन के अन्दर दिल्ली लौटना पड़ा सन् १२०८ ई०)। यलदोज फिर से बुलाया गया और गजनी का स्वामी बन गया। इधर उस समय तक राजपूत राजाओं ने देश के कोने कोने पर विद्रोह खड़ा किया। यद्यपि वे जानते थे कि ऐबक से पार पाना सरल नहीं है। पर वे अपनी चाल से बाज नहीं आये। ऐबक ने सन् १२०६ ई० से लेकर सन् १२१० ई० तक राज्य किया। अपनी आपत्तियों के कारण वह राजपूतों को पूर्णतया तो न दबा सका, पर युद्ध बहुतों से किया। उसने अपने एक योग्य दास इल्तुतमिश को बदायूं का शासक नियुक्त करके छोटे-छोटे राजाओं से कर वसूल किया। सन् १२१० ई० में चौगान खेलते समय घोड़े से गिरकर उसकी मृत्यु हो गई। इस चार वर्ष के राज्य के बीच उसने कोई नया भू-भाग न जीत पाया। ग्वालियर और कालिंजर के सम्बन्ध में तो असफल ही रहा। जितना वह अपने राजा होने के पहिले कर सका था, उतना राजा होने के बाद न कर सका। मुसलमान इतिहासकारों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है। पर वह सब उपचार मात्र है। एक बात उसने विशेष अवश्य की कि अपने साम्राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था का प्रबन्ध किया। मार्ग डाकुओं से रहित हो गये। उसने हिन्दुओं के साथ भी दयालुता का व्यवहार किया। डा० ईश्वरी प्रसाद ने एक स्थल पर उसके लिये कहा है—"कि वह **शक्तिशाली तथा योग्य शासक था जिसने अपने चरित्र को सदा ऊंचा रखा। वह बहादुर और कार्यकुशल था। वह चतुर और न्यायशील था**—उसने अपनी धार्मिक प्रवृति का परिचय दो मसजिदें

---

1. Aibek was a powerful and capable ruler, who always maintained high character, brave and energetic, sagacious and just.
Dr. Ishwari Prasad.

बनवा कर दिया है, जिसमें से एक दिल्ली में तथा दूसरी अजमेर में । कहा जाता है कि इन मसजिदों के बनाने में मन्दिरों की सामग्री का उपयोग किया गया । उसी ने सुप्रसिद्ध दिल्ली की कुतुबमीनार की नींव डलवायी थी जिस को वह पूरा न करा सका और बाद में इल्तुतमिश ने पूरा किया । एबक को विद्वानों ने लाखबख्श की उपाधि दी थी । स्थापत्य कला के अतिरिक्त उसे विद्या से भी अनुराग था । अनेक विद्वान उसके दरबार में रहते थे । यथा हसन निजामी तथा फरूखेमुदीर । इन्होंने अपनी कृतियाँ ऐबक को समर्पित की ।

इल्तुतमिश–सन १२११-३६ ई०—कुतुबुद्दीन ऐबक की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र आरामशाह को गद्दी पर बैठाया गया । किन्तु दिल्ली के तुर्क सरदारों ने वदायूँ के शासक आर ऐबक के दामाद इल्तुतमिश को राजा बनाने के लिए बुलाया । इल्तुतमिश ने भी तुरत दिल्ली की ओर कूँच किया और आरामशाह को पराजित कर कैद कर लिया । इस प्रकार इल्तुतमिश ऐबक के बाद उसके साम्राज्य का स्वामी बना । इससे एक बात तो वह निश्चित होती है कि मुसलमान भी अभी तक उत्तराधिकारी के प्रश्न में केवल वंश का ही नहीं बल्कि योग्यता का भी ध्यान रखते थे । इल्तुतमिश इलबरी शाखा के सरदार दालम खाँ का पुत्र था । वह अपने रूप तथा कुशाग्र बुद्धि के कारण प्रारम्भिक जीवन से ही प्रसिद्ध था । बाल्यकाल से ही उसको एक सौदागर के हाथ बेच दिया गया था । और इसके पश्चात वह दो तीन बार हाथो-हाथ बिकता रहा । जिसमें अन्तिम खरीदने वाला कुतुबुद्दीन ऐबक था । ऐबक की बदौलत वह दिल्ली लाया गया जहाँ उसे अपनी प्रतिभा दिखाने का मौका मिला । धीरे धीरे वह दासता से मुक्त हुआ और अमीर-ए-शिकार जैसे पद को पा सका । जब ऐबक का अधिकार ग्वालियर पर हुआ था, इल्तुतमिश वहाँ का अमीर बनाया गया था ।

जिस समय यह गद्दी पर बैठा, उस समय भारत राजनीतिक रूप से बहुत अशान्त था । पूर्व में बनारस की ओर हिन्दू राजा अपनी खोई हुई शक्ति पुनः प्राप्त करना चाहते थे । बहुत से मुसलमान सरदार उसकी प्रभुता ही स्वीकार नहीं करना चाहते थे ।

यलदौज और कुबैचा अपनी शक्ति अलग संगठित कर रहे थे । बंगाल और बिहार में भी बड़े २ उदण्ड खिलाड़ी थे । सबसे बड़ा रोड़ा उसके मार्ग में उन सरदारों का था जो उसके गुलाम होने के समय में भी सरदार थे । इन सब कठिनाइयों पर विजय पाने के लिए बड़ी शक्ति और बुद्धि की आवश्यकता थी । पर इल्तुतमिश में बहुत से गुण थे । अतः उसने बड़ी सावधानी से अपना काम शुरू किया । पहले उसने छोटे २ जागीरदारों को बश में किया । उसके पश्चात दिल्ली, बदायूँ, अवध और बनारस के प्रदेशों को सुरक्षित किया । सन्

१२१५ ई० में ख्वारिज्म के शाह ने यलदौज को गजनी से भगा दिया। यलदौज यहाँ से चलकर भारत आया और उसने लाहौर ले लिया। यह इल्तुतमिश को कैसे वर्दाश्त हो सकता था। उसने यलदौज पर आक्रमण किया और उसको तराइन के मैदान में हराकर कैद कर लिया। इसके अनन्तर इल्तुतमिश ने कुबैचा पर आक्रमण किया। और सन् १२१७ ई० में उसे भी दबा दिया।

मंगोल आक्रमण—इल्तुतमिश को आन्तरिक सुरक्षा तो थोड़ी सी मिली; किन्तु एक बहुत बड़ी विपत्ति उसके ऊपर बाहर से आ पड़ी। इस समय मध्य एशिया में चंगेज खाँ मंगोल ने धरती कँपा रखी थी। मंगोल शब्द का तो अर्थ ही साहसी और बहादुर होता है। चंगेज खाँ सन् ११५५ ई० ओमन नदी के किनारे दिलुक में पैदा हुआ था। उसका असली नाम तैमूजिन था। उसके पिता जब वह तेरह वर्ष का था, तभी चल बसे थे। चंगेज खाँ को पिता के न होने के कारण अपने प्रारम्भिक जीवन में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सन् १२०३ ई० में वह खान बनाया गया। फिर क्या था? उसने लूट और माप कार प्रारम्भ कर दी। चीन से लेकर ईरान तक के प्रदेश उसने ध्वस्त कर दिये। न जाने कितने नगर उसने जला डाले। अन्त में जब उसने फारिज्म के शाह जलालुद्दीन पर आक्रमण किया, तो जलालुद्दीन हिन्दुस्तान की ओर भागा। उसने सिन्धु के किनारे डेरा डाला और मंगोलों से लड़ने की तैयारी की, साथ ही उसने इल्तुतमिश को लिखा कि वह उसे अपने यहाँ दिल्ली में शरण दी। इल्तुतमिश ने उत्तर दिया कि दिल्ली की जलवायु उसके अनुकूल न होगी। उधर चंगेज खाँ ने उस पर आक्रमण किया और जलालुद्दीन को सिन्धु की ओर खदेड़ दिया। किन्तु गर्मी के कारण मंगोल सिन्धु नदी के पार आए और वहीं से लौट गये। इस प्रकार इल्तुतमिश पूरे पंजाब का स्वामी बन गया और सन् १२२७ ई० में कुबैचा के पतन के बाद दिल्ली साम्राज्य की सीमा अफगानिस्तान से जा मिली।

पूर्व में इल्तुतमिश ने पहिले दक्षिण विहार पर अधिकार किया और सन् १२२५ ई० में बंगाल की ओर बढ़ा। उसके वहाँ पहुँचते ही वहाँ के शासक गयासुद्दीन ने उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लिया। उसी समय सुलतान ने नासिरुद्दीन को अवध का सूबेदार बनाया। किन्तु इल्तुतमिश के वहाँ से लौटने पर, गयासुद्दीन ने सन्धि की शर्तों को ठुकरा दिया। यह समाचार पाते ही इल्तुतमिश ने अपने पुत्र नासिरुद्दीन को बंगाल की ओर भेजा। युद्ध में गयासुद्दीन मारा गया। उसके बाद उसका लड़का महमूद गद्दी पर बैठाया गया, पर उसका भी शीघ्र ही देहान्त हो गया। अतः बंगाल में पुनः विद्रोह हो गया। सन १२३०-३१ में इल्तुतमिश दुबारा बंगाल गया। और विद्रोही

बल्का को अपने आधीन किया। इल्तुतमिश ने सन् १२३२ में ग्वालियर के किले पर घेरा डाला क्योंकि ऐबक के बाद राजा मंगलदेव ने इस पर अपना अधिकार कर लिया था। लगभग दस महीने के घेरे के बाद राजा भाग गया और उसकी विजय हुई। इस समय तक उसने वह समस्त देश जीत लिया जो ऐबक के अधिकार में था। अतः सन् १२३४ ई० में उसने साम्राज्य बिस्तार की कामना की। उसने मालवा पर चढ़ाई की बात की बात में भेलसा ले लिया। और उसके पश्चात उज्जैन पहुँचा। उसने उज्जैन को खूब लूटा, मन्दिरों को तोड़ा तथा वहाँ से महाकाल के प्रसिद्ध मन्दिर का लिंग महाराज विक्रमादित्य की मूर्ति और बहुत सी मूर्तियाँ दिल्ली ले गया। सन् १२३५ में इसके विरुद्ध एक षड्यन्त्र भी रचा गया। जिसमें कुछ लोग इसे मार डालना चाहते थे, पर वह बच गया और उसने अपराधियों को मरवा डाला। सन् १२३६ ई० में उसने खोखरों का विद्रोह दबाने के लिए प्रयत्न किया पर वह मार्ग में ही बीमार पड़ गया और दिल्ली लौट आया। मरने के पहले उसने अयोग्य लड़कों को छोड़ कर अपनी लड़की रजिया को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया।

इल्तुतमिश का चरित्र—इल्तुतमिश दास वंश के राजाओं में एक बहुत योग्य व्यक्ति था। वह पक्का मुसलमान था। इसकी इस्लाम के प्रति निष्ठा से प्रसन्न होकर सन् १२२६ ई० में बगदाद के खलीफा ने उसको राज्याधिकार की मान्यता प्रदान की थी।

इसीलिए बहुत से इतिहासकार उसी को सबसे पहला मुसलमान शासक मानते हैं। उसको अपने प्रारम्भिक जीवन से लेकर राजा बनने तक अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पर उसने सभी का बहादुरी से मुकाबला किया और अपने साम्राज्य को बचाया ही नहीं बल्कि बढ़ाया भी। उसने राज्य सेवा के लिए चालीस गुलामों का एक दल तैय्यार किया था। उसने अरबी ढंग का एक सिक्का चलाया, जिसे टंक कहा जाता था। वस्तुतः दास वंश के राज्य की नींव डालने वाला वही था। यद्यपि वह सदा युद्धों में लगा रहा। फिर भी उसने अनेक धार्मिक और विद्यानुराग के कार्य किये। यही नहीं वह एक निर्माता भी था जिसने कुतुबुद्दीन के द्वारा प्रारम्भ की गई कुतुबमीनार को पूरा कराया, और अपनी कला प्रियता का परिचय दिया। उस समय शासन का मुख्य स्वरुप सैनिक ही होता था। शासक को केवल एक बात सोचनी रहती थी कि उसका कोष और राज्य कैसे बचे। फिर भी इल्तुतमिश ने कुछ ऐसे कार्य किये जो उसे अन्य बादशाहों से अलग करते हैं। तब कात-ए-नासिरी का लेखक मिनहाज-उस-सिराज जो इल्तुतमिश का समकालीन था उसके विषय में लिखता है **"कि वह वीरता में दूसरा अली**

और दान में दूसरा हातिम था। यद्यपि सुलतान कुतुबुद्दीन अपने समय में लाखों की सम्पति दान करता था। किन्तु इल्तुतमिश उसके स्थान पर सौ-सौ लाख दिया करता था"। इससे स्पष्ट है कि उसे जन साधारण के प्रति स्नेह था किन्तु समय का ख्याल करते हुए धार्मिक असहिष्णुता से वह भी न बचा। मिनहाज-ए-उस-सिराज ने तो यहाँ तक कह दिया है। "कि उसके समान आदर्श धर्मनिष्ठा वाला तथा नियम धर्म, देवी, देवता, साधु, सन्यासी सभी के प्रति दया और श्रद्धा करने वाला शासक कभी भी पृथ्वी माता ने उत्पन्न ही नहीं किया"[1]।

रज़िया—(१२३६-४० ई०) इल्तुतमिश के पुत्र राज्य के भार को न सम्हाल सकते थे, अतः उसने अपनी पुत्री का नाम घोषित कर दिया था, किन्तु इल्तुतमिश की मृत्यु के उपरान्त तुर्क सरदारों को यह बात समझ में न आयी कि राजकुमारों के होते हुए एक स्त्री राज्य की गद्दी पर बैठे। अतः उन्होने इल्तुतमिश के एक पुत्र एकबुद्दीन को राजा बनाया। एकबुद्दीन अत्यन्त अयोग्य और विलासी सिद्ध हुआ, साथ ही उसकी माँ राज्य संचालन में अनुचित हस्तक्षेप करने लगी। इस पर दिल्ली में विद्रोह हो गया और अन्ततः राजमुकुट रज़िया को पहनाया गया।

रज़िया के लिये नये और कंटकाकीर्ण राज्य के सम्हालने की समस्या आयी। सबसे बड़ी आपत्ति उसके लिए यह थी, कि उसके स्त्री होने के कारण बदायूँ, हाँसी, मुल्तान और लाहौर के तुर्क उसकी अधीनता न चाहते थे। आखिर इन तुर्कों ने अपना संगठित रूप खड़ा किया और उनकी संयुक्त सेनाओं ने दिल्ली पर आक्रमण किया। इधर सल्तनत का वजीर जुनैदी भी रज़िया के विरुद्ध हो गया और दुश्मनों से जाकर मिल गया। रज़िया के पास उनसे खुले मैदान में युद्ध करने के योग्य सेना न थी। अतः उसने बड़ी नीति से काम लिया। उसने विद्रोहियों में परस्पर विद्वेष फैला दिया। इसका फल यह हुआ कि उनका संयुक्त मोर्चा टूट गया। सारी विद्रोही सेना छिन्न-भिन्न हो गयी। विद्रोही नेता भाग खड़े हुए, साथ ही जुनैदी भी चला गया। रज़िया ने बड़ी चतुरता से काम लिया। उसने न सिर्फ दिल्ली की बागडोर सम्हाली बल्कि मुल्तान और बदायूँ में अपने विश्वासपात्र शासक नियुक्त

---

1 "Never was a Sovreign of such examplary faith and of such kindness and reverence towards recluses, devotees, divines and doctors of religion and law from the mother of creation ever enwrapped in swaddling hands of dominion"
Minhaj-us-Siraj

किये। इस विजय से सारे प्रान्तीय शासक आतंकित हो गये। सभी ने रज़िया का आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

इसके अतिरिक्त रज़िया ने अपनी शक्ति दृढ़ करने के लिए अन्य उपाय भी किये। उसने पक्षपाती तुर्क सरदारों की जागीरें बढ़ा दीं। अन्य सरदारों को भी ऊँचे ऊँचे पद प्रदान किये, जिससे तुर्क दवे रहें। वह पर्दे के बाहर बैठ कर स्वयं राज-काज चलाने लगी। थोड़े समय में उसने अपनी योग्यता तथा कार्य कुशलता से सभी को प्रसन्न कर लिया। इसी बीच उसने एक हवशी सरदार याकूत को अमीर-ए-आखुर बना दिया। तुर्क सरदारों ने इसे बहुत बुरा समझा और उन्होंने उसे बदनाम भी किया। कट्टर इस्लाम को मानने वाले उसके पर्दे के बाहर रहने से ही असन्तुष्ट थे। अतः उसके विरुद्ध षडयन्त्र रचे जाने लगे।

याकूत और रजिया के सम्बन्ध के विषय में इतिहासकारों में बहुत मत-भेद है। अधिकाँश इतिहास कार रजिया को दोषी ठहराते हैं। इब्नबतूता ने रजिया के व्यवहार को निन्दनीय कहा है। टाम्स ने भी उसकी निन्दा करते हुए लिखा है। "ऐसी बात न थी कि अविवाहित रानियों को प्रेम करने की आज्ञा न थी, वह किसी राजवंशीय पर आसक्त हो सकती थी। हरम के अन्दर विलास कर सकती थी। पर उसकी उच्छृंखलता उसे कुमार्ग पर ले गयी। दूसरे उसने जिस व्यक्ति से स्नेह किया वह उच्च वंश का न था — और सभी सरदार घृणा की दृष्टि से देखते थे।" फरिश्ता ने भी इनके प्रेम सम्बन्ध को निन्दनीय कहा है। डा० ईश्वरी प्रसाद का कथन यह है कि "सत्य जो भी हो, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उस अबीसीनियायी के प्रति ऐसा प्रेम दिखाकर रजिया ने अक्षम्य भूल की है, इस प्रकार के व्यवहार पूर्वी देशों में सन्देह की दृष्टि से देखे जाते हैं। रजिया ने उच्चवर्गीय महिला के लिए उचित व्यवहार का अवश्य अतिक्रमण किया। यह उल्लंघन उसके अविवाहित होने के कारण और भी निन्दनीय बन गया।

इस स्थान पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि उसके समकालीन इतिहासकार कहीं भी उसकी निन्दा नहीं करते उनका केवल यह संकेत है कि याकूत को सुलताना की सेवा में उपस्थित होने की विशेष कृपा प्राप्त हो गयी थी।

जो हो उसका स्त्रीत्व ही उसके लिए एक अभिशाप था। उसका राज्य सभा में बैठना और सैन्य संचालन करना ही सरदारों को न भाता था।

इसी समय एक गलतफहमी भी हो गयी। ग्वालियर के शासक-जियाउद्दीन जुनैदी को उसने विद्रोह के सन्देह में पकड़ कर बुलवाया। वह दिल्ली आया, पर वहाँ से गायब हो गया। लोगों ने समझा कि रजिया ने उसका वध करा दिया। सबसे पहला शक्तिशाली अमीर जिसने खुल्लम-

खुल्ला रज़िया का विरोध किया, पंजाव का हाकिम कबीर खां आयाज था। १२४० ई० में रजिया स्वयं उसे दबाने गयी। उधर तुर्क सरदारों ने भी मीर हाजिब एतगीन के नेतृत्व में संगठित रुप से आक्रमण करने की योजना बनायी। उन्होंने भटिंडा के अधिकारी अल्तूनिया को भी विद्रोह के लिए तैयार किया। ऐतिगीन आदि सरदारों ने मौका देखकर याकूत को समाप्त कर दिया। साथ ही अल्तूनिया से मिल कर रज़िया को कैद कर लिया। रज़िया को कारावास भुगतना पड़ा। उसके स्थान पर इल्तुतमिश के तीसरे पुत्र बहराम को सुल्तान बनाया। साथ ही उससे यह कहा गया कि वह सारी शक्ति ऐतिगीन को सौंप दे। बहराम को ऐतिगीन का व्यवहार पसन्द न आया अतः उसने उसका वध करा दिया। इस तरह अल्तूनिया को भी असन्तोष रहा अत: वह रज़िया से मिल गया। यही नहीं उसने उसे कारावास से मुक्त करके उससे विवाह कर लिया। इसके पश्चात् उसने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया कि राज्य का स्वामी बन जाय पर वह और रज़िया दोनों ही बहराम की सेनाओं से हारे और मारे गये।

रज़िया का चरित्र—रज़िया का चरित्र अद्वितीय था। एक मुसलमान महिला, पर्दे से निकल कर अनेक षड्यन्त्रों का सामना करे, मरदाना वेश धारण कर राज्य सभा में बैठे, यह सब उस युग को देखते हुए विचित्र और सराहनीय बात थी। उसे अनेक कठिनाइयाँ केवल इसीलिए उठानी पड़ी कि वह स्त्री थी। तवकात्-ए-नासिरी में लिखा है।

"सुल्ताना रजिया बड़ी बुद्धिमान न्यायकारी तथा दानी थी। वह विद्वानों का आदर सम्मान करती थी, न्याय करती थी, तथा युद्ध करती थी। उसममें राजोचित सभी गुण विद्यमान थे किन्तु वह पुरुष योनि में उत्पन्न नहीं हुई थी। अतः उसके अन्य सभी गुण पुरुषों की दृष्टि में व्यर्थ थे।"

रजिया ने वस्तुत: बड़ी कुशलता से राज्य भार सम्हाला और थोड़े से काल में उसने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। उसने रुकनुद्दीन के समय की विगड़ी हुई शक्ति को संगठित किया। उसने प्रान्तीय शासकों को दबा कर केन्द्र की शक्ति ठीक कर ली थी। पर उसके ये सभी गुण उसकी स्त्रीत्व से रक्षा न कर सके।

नासिरूद्दीन महमूद (सन् १२४६ से ६५ तक) :— रजिया के मरने के पश्चात् बहराम भी दो साल के भीतर मार डाला गया। इसी बीच मंगोल आक्रमण हुआ जिसमें लाहौर ले लिया गया, लूटा गया व हजारों मुसलमानों का वध हुआ। बहराम के पश्चात् तुर्कों ने रूकुनुद्दीन के लड़के मसऊद को सुलतान बनाया और उसके चाचाओं को कैद कर लिया। थोड़े समय पश्चात् जब वह लोकप्रिय हो गया तो उसने उनको मुक्त कर दिया। रप

इसका प्रभाव जनता पर बहुत बुरा पड़ा और प्रांतीय शासक स्वतंत्र होने लगे। बंगाल और मुलतान में से कोई दिल्ली के आधीन न रहा। खोखर अलग से स्वतंन्त्र होने लगे। सन् १२४५ ई० में मंगोलों का दुबारा आक्रमण हुआ और साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गई। सन् १२४६ ई० में ऐसी स्थिति से लाभ उठा कर इल्तुतमिश के दास और दामाद बलवन ने मसऊद को गद्दी से हटा दिया और अपने दामाद नासिरूद्दीन महमूद को राज्य का स्वामी बनाया और दूसरे तुर्क सरदारों ने भी इसी का समर्थन किया। नासिरूद्दीन का जन्म १२२८ ई० में हुआ था। उसका बाल्यकाल तो बन्दी गृह में बीता था। जब मसऊद गद्दी पर बैठा तो उसे बन्दी गृह से मुक्ति मिली। उसके पश्चात् वह बहराइच का गर्वनर बना दिया गया। वह एक चरित्रवान व्यक्ति था। प्रारम्भिक सैनिक अभियानों में उसने बराबर बलवन के साथ सक्रिय भाग लिया था। वस्तुतः वह धार्मिक प्रवृति का था, सदा ईश्वर से डरता था। उसे गरीब तथा दीन-दुखियों का बहुत ध्यान था। एक सन्यासी की भाँति सादा रहता था। उस युग में दिल्ली की सल्तनत का स्वामी नासिरूद्दीन जैसे पुरुष का होना अनुचित था। पर उसको एक सुयोग्य मंत्री बलवन का सहयोग मिला था, जो सभी मामलों को स्वयं देख लेता था। किन्तु वह इतना होशियार था कि बलवन के हर कार्य को ध्यान से देखा करता था। यदि वह सचमुच साधू होता, तो गद्दी पर बैठने के लिए स्त्री के वेश में बहराइच से दिल्ली न जाता। फिर वह अपने उपकारी भतीजे मसऊद को जिसने उसे कैद से निकाला था, मरवा डालने की कोशिश न करता। इन बातों से स्पष्ट है कि अन्य सुलतानों की भाँति उसमें भी बहुत सी दुर्वलतायें थीं। एक बार तो उसने बलवन को भी जिसकी बदौलत वह गद्दी पर बैठा था, निकाल बाहर किया। महमूद के सुलतान बनते ही उसके सामने बहुत सी समस्यायें खड़ी हुईं। हिन्दू और मुसलमान सरदार विद्रोह कर रहे थे और उत्तर पश्चिम सीमा पर मगोलों के आक्रमण जारी थे। उसको अनेक हिन्दू सरदारों का दमन करना पड़ा। सन १२४९ ई० में बलबन ने बड़ी कठोरता से मेवात के हिन्दुओं का दमन किया। सन् १२५२ ई० में बलबन ने मालवा पर चढ़ाई की और बिना किसी निश्चित फल के वह लौट आया। सन १२५८ ई० में ईरान के स्वामी और चंगेज खाँ के पौत्र हलाकू खाँ ने बगदाद के अब्बासी खलीफा की तथा उनके साथियों की निर्मम हत्या की। बगदाद को जला डाला और हजारों मुसलमानों का कत्ल किया। पर आश्चर्य और संतोष की बात है कि उसने दिल्ली सल्तनत को नहीं सताया और यह लिख दिया कि हम उसका सम्मान करते हैं। यही नहीं भारत के पूर्व में बंगाल और बिहार के अधिकारियों ने स्वतंत्रता घोषित

करनी चाही । बलबन ने कालिंजर और ग्वालियर पर आक्रमण किये और बड़ी कठिनाई से उनको सल्तनत के अधीन रख सका । बुन्देल खण्ड और मालवा तो उसके हाथ आये ही नहीं । इसी प्रकार रणथम्भौर पर कई चढ़ाइयाँ करनी पड़ीं ।

उस समय के लेखकों के विवरण से इस बात का भी ज्ञान होता है कि दिल्ली सल्तनत में उस समय दो दल थे । एक तुर्कों का दूसरा उन मुसलमानों का जो हिन्दू से मुसलमान हुए थे । दूसरे दल का नेता अमीर इमादुद्दीन था। वह वस्तुतः बड़ा चतुर और दूरदर्शी था । तुर्की अमीर इन मुसलमानों के साथ अच्छा बर्ताव नहीं करते थे और उनको घृणा की दृष्टि से देखते थे । अतः यह लोग तुर्कों को सदा नीचा दिखाना चाहते थे । बलवन ने नासिरूद्दीन के शासन में उतनी मनमानी कर रक्खी थी कि सुलतान स्वयं भी तंग था । इमादुद्दीन ने, इधर जब बलबन मालवे पर चढ़ाई करने गया था, नासिरूद्दीन को यह समझाया कि वह बलवन के चँगुल से निकल कर अपने को स्वतन्त्र कर ले । नासिरूद्दीन के भी कुछ समझ में आया और उसने बलबन को नागौर भेज दिया और चालीस अमीरों के गुट में से किसी को ऊँचे पद पर न रखा । यह सब देखकर तुर्कों की भी आँखें खुलीं और उन्हें यह विदित हो गया कि इमादुद्दीन रेहान ने यह सारा जाल रचा और उनकी फूट से अनुचित लाभ उठाया । उन सबने अपने को संगठित किया और एक सेना सुलल्तान नासिरूद्दीन से लड़ने के लिए भेजी । नासिरूद्दीन यह देखकर घबरा गया और उसने दो दूत अमीरों के पास भेजे । अमीरों ने भी इस अवसर से लाभ उठाया और सुल्तान को कहला भेजा कि हम तो आपके सच्चे सेवक हैं, हम कब लड़ना चाहते हैं । हम तो केवल यह चाहते हैं कि आप तुर्कों के दल के शत्रु रैहान को मंत्री पद से अलग करके बलबन को पुनः मंत्री बनाया । आखिर सुल्तान को वैसा ही करना पड़ा और रैहान को बदायूँ भेज दिया । रैहान इस तरह लगभग ढाई वर्ष मन्त्री पद पर रह चुका । लेकिन उसीके शासन काल में सल्तनत शांतिमय न रह सकी । आखिर बलबन जब पुनः मन्त्री बना तो उसने शान्ति की स्थापना की । उसने एक बहुत बड़ी सेना लेकर सन १२६० ई० के लगभग मेंगों को दबाया । अनेक तलवार के घाट उतार दिये । इस सबसे सिद्ध होता है कि नासिरूद्दीन बहुत त्यागी न था । वह राज्य को किसी भी रूप से सम्हाले रखना चाहता था और उसने सदा मौका देखकर काम किया । सन १२६० से ६६ ई०तक छः वर्ष के काल का उसका कोई वर्णन नहीं मिलता । बहुत सम्भव है कि बलबन का दमन चक्र इस समय भी चलता रहा । सन् १२६६ ई० में नासिरूद्दीन महमूद की मृत्यु हो गयी और बलबन बे रोक-टोक राज्य का स्वामी बन गया ।

गयासुद्दीन बलबन (सन् १२६६ से १२८६ तक)—नासिरुद्दीन के कोई पुत्र न था और बलबन उसका ससुर, मंत्री व कर्ता धरता सभी कुछ था। अतः नासिरुद्दीन के बाद उसका सुलतान बनना स्वाभाविक ही था। बलबन जिस समय राज्य का स्वामी बना उस समय की दशा का वर्णन करते हुए जियाउद्दीन बर्नी ने लिखा है कि अच्छे शासन का आधार जो शासक का शक्ति का भय होता है, सर्वथा न रह गया था और देश की दुर्दशा हो गई थी। बलबन इलबरी जाति का तुर्क था। अपने बाल्यकाल में वह मुगलों के हाथ पड़ गया था। वह दास के रूप में बेचा गया था और वहां से भारतवर्ष आया था। यहां उसको इल्तुतमिश ने खरीद लिया था। अपनी असाधारण योग्यता के कारण उसने बहुत जल्द उन्नति की। इल्तुतमिश ने उसे खासाबरदार बनाया था। रजिया ने अमीरे-ए- शिकार और बहराम ने रेवाड़ी का शासक नियुक्त किया था। यहाँ से उसने सन् १५४५ ई० में मुगलों के आक्रमण को रोका था। जिसके फलस्वरूप नासिरुद्दीन ने उसको अपना वजीर चुना।

बलबन के काल की मुख्य घटनायें—हम देख चुके हैं कि बलबन ने किस योग्यता से अपने मंत्रिपद के भार को सम्हाला था। उसको राज्य शासन का बहुत अच्छा ज्ञान हो गया था। उसने लगभग बीस वर्ष मंत्रित्व किया और पूरे बीस वर्ष राज्य संचालन। इस बीस वर्ष के समय में उसे अनेक विद्रोहों को दबाना पड़ा और कोई रचनात्मक कार्य करने का समय ही न मिला। उसके सामने पहली समस्या अपने साथी अमीरों और सरदारों की थी। वे यह न चाहते थे कि वह उनका स्वामी रहे। अतः बलबन ने सबसे पहले दरबार के लिये शिष्टाचार के कड़े नियम बनाये। मदिरापान, जुआ इत्यादि सभी पर रोक लगा दी गयी। यहाँ तक कि दरबार में उसके सामने कोई हंस भी न सकता था। सबको बड़ी गंभीरता से रहना पड़ता था। छोटे से छोटे बहाने पर भी वह कड़ी से कड़ी सजा दे देता था और इस बात को दिखाना चाहता था कि वह कितना न्याय प्रिय है। उसने बदायूं के शासक को उसके एक नौकर की शिकायत पर ज्ञान से मरवा डाला। इसी तरह अवध के सूबेदार हैवत खाँ तथा अपने चचेरे भाई मलिक शेर खां को कठोर से कठोर दण्ड दिये। पर इसका एक परिणाम अच्छा हुआ कि प्रान्तीय शासक उससे भय खाने लगे। महमूद के शासन काल में अनेक हिन्दू सरदारों ने विद्रोह किये थे। बलबन ने इनको चुन-चुन कर समाप्त कर दिया और दिल्ली की रक्षा के लिये पुलिस की चौकियाँ बनवा दी थीं। बलबन को इनसे छुट्टी मिली ही थी कि दोआब के हिन्दुओं में उपद्रव शुरू हो गया और वे इतने प्रबल हो गये कि उन्होंने दिल्ली और बंगाल के बीच का रास्ता ही बन्द कर दिया। बलबन ने स्वयं कई महीने तक विद्रोहियों के स्त्री बच्चे तक नष्ट कर

दिये। तीसरा विद्रोह जो बलबन को दबाना पड़ा वह कटेहर के हिन्दुओं का था। यह इतना भयंकर था कि बदायूं और अमरोहा के शासक उसे न दबा सके। बलबन ने दिल्ली जाकर एक भारी सेना तैयार की और विद्रोहियों को अचानक जा घेरा और आठ वर्ष के ऊपर सभी पुरुषों को मरवा डाला तथा स्त्रियों को दासी बनाया। कोई ऐसा गांव न बचा जहाँ सैकड़ों हिन्दू तलवार के घाट न उतारे गये हों। बदायूं और अमरोहा आदि स्थान उजाड़ कर वीरान कर दिये गये। इसके अनन्तर बलबन ने पश्चिमोत्तर के पहाड़ी भागों पर ध्यान दिया वहाँ से वह अपनी सेना के लिये सुन्दर सुन्दर घोड़े लाया और सेना में अयोग्य अथवा बुड्ढे सिपाही पल रहे थे उनकी जागीरें उनसे छीन ली। यद्यपि इस पर बहुत हाहाकार मचा पर उसने इस बात की चिन्ता न की, बहुतों की जागीरें वापस कर दीं फिर भी अमीरों की शक्ति को बहुत धक्का लगा।

बलबन ने एक बहुत महत्वपूर्ण बात पंजाब के गुट को तोड़ने की की। उसने वहाँ के शासक शेरखाँ को जहर दिलवा दिया और बंगाल के शासक तातार खाँ को वहाँ का शासक नियुक्त किया, पर इसका फल अच्छा न हुआ। शेरखाँ के भय से जो लोग चुप थे वे विद्रोह करने लगे। इस पर बलबन ने अपने बड़े लड़के मुहम्मद को मुलतान भेजा जिसने स्थिति को काबू में किया। सन् १२७९ ई० में मुगलों के आक्रमण फिर हुए पर इस समय सलतनत की सेना बहुत अच्छी दशा में थी। अतः बलबन ने मुगलों को हरा दिया। इस समय तक बलबन की शाँति उन्नति के शिखर पर पहुंच चुकी थी। बलबन ८० वर्ष का हो चुका था, इसी समय सन् १२८५ ई० में मुगलों का एक बार फिर आक्रमण हुआ। इस आक्रमण को तो बलबन के लड़के मुहम्मद ने रोक लिया। पर मुहम्मद युद्धक्षेत्र में मारा गया। इसकी मृत्यु से बलबन को बहुत दुख हुआ और कुछ समय बाद वह भी इस लोक से चल बसा।

बलबन का शासन—बलबन ने अपने आन्तरिक शासन को सुचारुरूप से संगठित किया। इसका आधा अंश सैनिक था और आधा व्यवहारिक। बलबन स्वयं सत्ता का श्रोत था और अपनी आज्ञाओं को शक्ति के साथ लागू करता था। उसके लड़कों को भी यह साहस न था कि उसके सामने कुछ कह सकते। वे बिना सुलतान की आज्ञा एक कदम भी न चल सकते थे। न्याय के विषय में तो वह बहुत ही कड़ा था और कभी भी अपने सगे सम्बन्धियों को भी बिना दण्ड दिये न छोड़ता था। उसका इतना जबरदस्त भय हो गया था कि कोई अपने नौकर को भी दण्ड न दे सकता था। बलबन ने अपने शासन को सुदृढ़ बनाने के लिए गुप्तचरों की व्यवस्था कर रखी थी। इनकी सूचना को सही जानने के लिए वह स्वयं हर चीज को देखता था।

बलबन के कार्यों का मूल्यांकन—इस वंश के सुल्तानों में तुलनात्मक दृष्टि से देखने से विदित होता है कि बलबन ही सबसे श्रेष्ठ था। इसकी समकक्षता कुछ विद्वान इल्तुतमिश से करते हैं। कुछ कहते हैं इल्तुतमिश को इससे भी अधिक श्रेय मिलना चाहिये, क्योंकि गिरते हुए तुर्क साम्राज्य को स्थापित करने वाला वही था। पर बलबन ने दास वंश के ४० वर्ष राज्य सम्हालने में यह सिद्ध कर दिया कि वह एक योग्य मंत्री व शासक दोनों ही रह सकता था। उसको महमूद ने मंत्री पद से हटा दिया था पर उसे विवश होकर पुन: रखना पड़ा। समस्त दिल्ली सल्तनत में कोई ऐसा सुल्तान नहीं हुआ जिसने शासन को सुदृढ़ करने की इतनी चेष्टा की हो। उसने तुर्क साम्राज्य का खोखलापन दूर किया था। प्रत्येक विभाग पर उसने कड़ी दृष्टि रखी। उसके सिंहासन पर बैठते समय सामान्य जनता का यह विश्वास था, कि ये सुल्तान दो दिन के हैं, इनको कभी भी मारा जा सकता है अथवा पद से हटाया जा सकता है। बलबन ने इस धारणा को निर्मूल कर दिया। बलबन ने एक ओर विद्रोहियों को कठोर से कठोर दण्ड दिये और उन्हें आतंकित कर शान्ति की। दूसरी ओर अपनी न्याय प्रियता से अपने सगे सम्बन्धियों को भी न छोड़कर सामान्य जनता पर विश्वास जमा लिया। इस प्रकार उसने इस विषम स्थिति में पड़े हुए साम्राज्य की प्रतिष्ठा स्थिर की। इसी का फल हुआ कि दिल्ली सल्तनत उसके आगे भी टिक सकी। एक इतिहासकार इसके विषय में लिखता है कि **"आन्तरिक तथा वाहच आक्रमणों के लिए उसने एक विशाल सेनासंगठित की, उसे योग्य सेना-नायकों की अध्यक्षता में राजधानी के निकट तथा अन्य मुख्य स्थलों पर नियुक्त किया, साथ ही उसको रणकुशल बनाने के लिए अनेक नियम बनाये।"**

वस्तुत: जिस परम्परा में वह पला था, जिस स्थिति में उसे राज्य मिला था, तलवार की शक्ति का होना अनिवार्य था। इसीलिए बलबन ने अपना शासन आतंक तथा शिष्टाचार के अनेक नियमों के आधार पर टिकाया। उसने गुप्तचर विभाग को ऐसा संगठित किया कि शासन सूत्र और भी सुदृढ़ बन गये।

वर्नी ने उसकी धार्मिक वृत्ति की प्रशंसा करते हुए लिखा है, **"अपनी विश्वास पूर्ण महफिलों की शोभा के लिए वह मधुरभाषी मित्रों, अच्छे स्वर में पुस्तक पढ़ने वाले और नर्तकियों को रखता था, इनको पर्याप्त आश्रय देता था, पर गद्दी पर बैठने के पश्चात् वह शरअ के विरुद्ध किसी काम के पास नहीं फटका। "यदि नगर में कोई सैयद, सन्त अथवा आलिम का देहान्त हो जाता था, तो सुल्तान उसके जनाजे के साथ जाता था।"**

इस रूप से हम देखते हैं कि वह नासिरुद्दीन महमूद से कम न था।

नासिरुद्दीन की धार्मिकता उसे शासन में कुटिल नीति से न बचा सकी। बलबन ने कुटिलता से कहीं काम नहीं लिया।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि इल्तुतमिश विद्रोह ही दबाता रहा और अपनी शासन सत्ता को किसी प्रकार बचाने के फेर में रहा, रज़िया अपने स्त्रीत्व के दोष से न बच सकी, अत: गुलामवंश का कोई भी सुल्तान बलबन के समकक्ष नहीं ठहरता। इसके प्रति लेनपूल महोदय का कथन है—

"So in justification of pitiless severity of Sultan may be said that it was cruel necessity of the time. Balban had a reason to be stern and watchful and if he carried his severity to extreme lengths it was probably a case of his own life against the root."

—Lanepoole

अर्थात् सुलतान की अतिशय कठोरता का समर्थन करते हुए यह कहना पड़ता है, कि यह उस भयंकर समय की पुकार थी। बलबन का इतना कठोर और सतर्क होना न्यायसंगत था। यह तो वस्तुतः उसके संसार में संघर्ष तथा जीवन का ही प्रश्न था।

—लेनपूल

इसी का सयर्थन बहुत कुछ श्री मजुमदार जी ने किया है। आप का कथन है कि सुलतान बलवन का जीवन अपने आन्तरिक और वाह्य कष्ट तथा भय का संघर्ष था, वस्तुतः उसने एकाधिकार स्थापित कर रखा था और वह भी अपनी व्यक्तिगत योग्यता की बदौलत।

कैकुवाद—बलवन के पश्चात् दिल्ली की गद्दी पर कैकुवाद बैठा, यद्यपि बलवन मरते समय अपने पुत्र बुगरा खाँ को अपना उत्तराधिकारी बना गया था। कैकुवाद अपने पितामह के समय बड़े कठोर वातावरण में पला था, पर उसके सुलतान बनते ही वे सारे नियन्त्रण समाप्त हो गये। अत: बड़ी ही स्वच्छन्दता से भोग विलास में पड़ गया। राज्य की सारी शक्ति दिल्ली के कोतवाल के दामाद निजामुद्दीन के हाथ चली गयी। दरबार के तुर्क अमीर षडयन्त्र करने लगे। सारा राजकाज मिट्टी में मिल गया। इस बात को देख कर उस का पिता बुगराखाँ जो बंगाल का शासक था स्वतंत्र हो गया। वह दिल्ली की ओर भी बढ़ा। इस पर कैकुवाद भी एक सेना लेकर चल दिया। अवध में सरयू तट पर पिता पुत्र मिल गये। आपस में सन्धि कर ली। पिता ने निजामुद्दीन से सतर्क रहने को कहा, और चला गया।

"Balban's career as a Sultan was one of struggle against internal troubles and external danger. In

fact he established a dictator-ship whose stability depended upon the personal strength of a ruler."

कैकुवाद पर कुछ दिन तो इन बातों का प्रभाव रहा पर वह पुनः उसी मार्ग पर चलने लगा। उसे पक्षाघात हो गया। इस पर तुर्क अमीरों ने बच्चे कैमूसे को सुलतान बनाना चाहा, पर खिलजियों के कारण उनकी एक न चली और सन् १२९० ई० में फीरोज जलालुद्दीन खिलजी ने राज्य पर अधिकार कर लिया तथा कैकुवाद का वध कर दिया।

———

परिच्छेद २२

खिलजी वंश

(१२९० ई०—१३२० ई०)

जलालुद्दीन खिलजी—खिलजी तुर्कों की ही ६४ जातियों में से एक है। यह लोग बहुत समय तक अफगानिस्तान में बने रहे, और अपने आचार विचार में अफगान हो गये थे। जब मंगोल आक्रमण हुए तो ये भारत की ओर चले आये। बलबन के समय में इनका नेता जलालुद्दीन पश्चिमोत्तर सीमा का रक्षक था। कैकुवाद के समय वह सेना मंत्री बना और समय पा कर अपने स्वामी को मार कर सुलतान बन बैठा। जलालुद्दीन ७० वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठा। इस अवस्था में वह युद्ध करने योग्य न रह गया था। उसे अपनी प्रवृत्ति से भी खून बहाने की रूचि न थी। वह अत्यन्त विनम्र स्वभाव का पुरुष था। फिर उस समय जब तलवार ही सब कुछ थी, उस जैसे मनुष्य की शासन व्यवस्था जमी रहे, यह कठिन था। अतः उसने कुछ सूझ से काम लिया।

सबसे पहला कार्य उस ने यह किया कि अपनी राजधानी दिल्ली न रख कर किलगढ़ी बनायी। किलूगढ़ी दिल्ली के ही समीप एक स्थान था। वह वस्तुतः दिल्ली नगर में प्रवेश करने से ही घबराता था, क्योंकि तुर्क उसके प्रबल विरोधी थे।

धीरे-धीरे उसकी उदारता तथा दानशीलता ने लोगों को उसकी ओर आकर्षित कर लिया, किन्तु उसकी विनम्रता के कारण विद्रोहों को प्रोत्साहन मिला। उसके शासन काल के दूसरे ही बर्ष बलवन के भतीजे मलिक छज्जू ने जो कड़ा का जागीरदार था, विद्रोह का झंडा उठा लिया। एक अच्छी खासी सेना लेकर वह दिल्ली की ओर बढ़ा, लेकिन जब शाही सेना ने उसका मुकाबला किया, छज्जू के साथी भाग खड़े हुये। उनमें से कुछ बन्दी बनाकर सुलतान के समक्ष लाये गये, जिसने उन्हें क्षमा कर दिया। इसके पश्चात कड़ा की जागीर जलालुद्दीन ने अपने भतीजे तथा दामाद अलाउद्दीन को सौंप दी। इसके पहले सुल्तान रणथम्भौर के किले पर आक्रमण करने गया। उसने मार्ग में झाईना की गढ़ी लेकर भूर्तियाँ भ्रष्ट कीं, किन्तु जब वह रणथम्भौर के दुर्ग पर पहुँच

और उसने सुना कि राय ने बड़ी जोरों से उसका सामना करने के लिए तैयारी कर ली है तो जलालुद्दीन ने अपनी सेना को दिल्ली लौट चलने का आदेश दिया और चुपचाप लौट आया। इससे सल्तनत की प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा था।

अलाउद्दीन—अलाउद्दीन का पिता शहाबुद्दीन बलबन की सेना में रह चुका था। अतः अलाउद्दीन अपने बाल्यकाल से ही सैनिक वातावरण में पला था। जलालुद्दीन ने उसे अपनी कन्या व्याह दी तथा कड़ा की जागीर दे दी। अलाउद्दीन यद्यपि वे पढ़ा लिखा था, पर वह महत्वाकांक्षी बहुत था। इधर वह अपनी सास तथा बीवी दोनों से तंग आ गया था। अतः उसने अपने भाग्य को बाहर चलकर आजमाना चाहा।

उसने सुल्तान से मालवा पर आक्रमण करने की आज्ञा ली। वस्तुतः वह देवगिरि पर चढ़ाई करना चहता था, क्योंकि उसकी धन दौलत की उसने बड़ी प्रशंसा सुन रखी थी। अलाउद्दीन उस पर अपना अधिकार करना चाहता था। उस समय देवगिरि यादव राजा रामचन्द्र के अधीन थी। अलाउद्दीन ने कड़ा का उचित प्रबन्ध कर पहिले भेलसा पर आक्रमण किया। भेलसा निवासी सतर्क न थे, अतः हार गये। अलाउद्दीन ने नगर को खूब लूटा और अत्याचार किये। इसके उपरान्त वह दक्षिण की ओर बढ़ा। उसके पास ८००० अश्वरोही थे। उधर यादव राजा रामचन्द्र ने भी उसका सामना करने की पूरी तैयारी की। राजा रामचन्द्र ने अपने को दुर्ग में बन्द कर लिया और युद्ध की तैयारी करता रहा। अलाउद्दीन बड़ा चालाक था, उसने नगर को लूटा, और अपने सेनानायकों को धन देकर प्रसन्न कर लिया। साथ ही उसने राजा रामचन्द्र के पास गुप्तचरों द्वारा यह समाचार भिजवा दिया कि अभी तो अलाउद्दीन की एक टुकड़ी आयी है, वह स्वयं पीछे २०००० अश्वारोही लेकर आ रहा है। इस बात से राजा ने भयभीत होकर सुलह की प्रार्थना की। सन्धि की शर्तों में उसने अलाउद्दीन को ५० मन सोना, ७ मन मोती, और अन्य जवाहरात, ४० हाथी और कुछ हजार घोड़े देने का वचन दिया। अलाउद्दीन ने संधि स्वीकार करनी चाही, पर इतने में रामचन्द्र का पुत्र शंकर आगे आया। उसने कहा यह सब अनुचित है, अलाउद्दीन से कहा कि वह सब धन वापस कर दे तथा चुपचाप लौट जाय। आखिर युद्ध हुआ और मुसलमान बुरी तरह मार कर भगाये गये किन्तु थोड़े ही समय में अलाउद्दीन को एक नयी सेना का अंश मिल गया, उसने पुनः युद्ध किया जिसका परिणाम यह हुआ कि राजा हार गया। उसे अपार धन तथा एलिचपुर अलाउद्दीन के हाथ सौंपना पड़ा। अलाउद्दीन ने अपनी विजय का डंका बजाया और उत्तर की ओर चल दिया।

इधर जलालुद्दीन मंगोलों से भिड़ चुका था, मंगोलों का आक्रमण हलाकू की अध्यक्षता में हुआ था, पर वे अब की बार बुरी तरह हार गये और मारे गये। उनमें से अनेक ने इस्लाम धर्म अपना लिया और दिल्ली के पास ही आकर बस गये। अलाउद्दीन बड़ी खुशी के साथ गंगा में आकर अपने ससुर से मिलने गया। ससुर भी अपने दामाद को बधाई देना चाहता था, लेकिन उसे अलाउद्दीन ने परलोक पहुँचा दिया, उसके सर को तलवार में छेद कर सारी सेना को दिखा दिया तथा १२९६ ई० में स्वयं सुल्तान बन गया।

अलाउद्दीन खिलजी

जलालुद्दीन के वध के अनन्तर अलाउद्दीन दिल्ली सल्तनत का स्वामी घोषित हुआ, पर उसके लिये दिल्ली में स्वागत न था। दिल्ली की स्थिति अभी भी जलालुद्दीन के अनुकूल थी। अमीर चाहते थे कि जलालुद्दीन का पुत्र अरकली खां गद्दी पर बिठाया जाय। इस समय अरकली खाँ मुल्तान में था। राजमाता ने सोचा कि कहीं अरकली के दिल्ली आने के पहले अलाउद्दीन आकर दिल्ली पर अधिकार न कर ले, अतः उसने सुल्तान के छोटे पुत्र रुकनुद्दीन को गद्दी पर बिठा दिया। अरकली खाँ के पक्षपाती राजमाता की इस चाल को न समझ सके, उनमें परस्पर फूट पैदा हो गयी। उधर अलाउद्दीन सोने की वर्षा करता हुआ दिल्ली की ओर चल पड़ा। रुकनुद्दीन की सेना ने उसे बदायूं पर रोकना चाहा, पर अलाउद्दीन ने उसके सेनापतियों को भी पैसा देकर अपनी ओर मिला लिया। अलाउद्दीन जैसे ही दिल्ली के समीप पहुंचा, रुकनुद्दीन मुल्तान भाग गया, अलाउद्दीन ने बड़ी शान से बलबन के लाल महल में अपना अभिषेक कराया। राजमाता वन्दी बना ली गयी, उसके पुत्रों की आँखें फोड़ दी गयीं। अलाउद्दीन ने गद्दी पर बैठते ही अपार धन वितरण किया और विद्रोहियों के मुँह बन्द कर दिये।

उसका साम्राज्य विस्तार—दिल्ली में अपनी स्थिति को ठीक करके अलाउद्दीन ने साम्राज्य विस्तार की सोची। उसने सर्वप्रथम मुल्तान की ओर प्रयाण किया, जलालुद्दीन के पुत्रों को बन्दी बनाया, तथा उनको यमपुर पहुंचा दिया, जिसमें भविष्य में कोई खटका ही न रहे। अलाउद्दीन की महत्वाकांक्षा की चर्चा उसके देवगिरि अभियान में की जा चुकी है। वह स्वप्न देखने लगा कि सिकन्दर के समान भारत के बाहर विजय करेगा। इस पर काजी अलाउलमुल्क ने उसे बताया कि अभी तो भारत का ही बहुत-सा भाग शेष है, जिसे बिना जीते विदेशों की विजय सोचना ही व्यर्थ है। वस्तुतः इल्तुतमिश की मृत्यु के उपरान्त कोई विजय का कार्य न हो सका था,

क्योंकि उसके कुछ तो उत्तराधिकारी दुर्बल थे और बलवन ने, जो कुछ राज्य था उसी को सुदृढ़ करना चाहा।

गुजरात—दिल्ली सल्तनत की साम्राज्य वादिता सचमुच अलाउद्दीन के समय से ही आरम्भ होती है। अलाउद्दीन का सबसे पहला लक्ष्य गुजरात हुआ। इस समय वहाँ राजा कर्ण राज्य करता था। सन् १२९७ में उसने अपने सेनापति उलूग खाँ और नसरत खाँ को गुजरात विजय के लिये भेजा। जब वे मालवा होकर निकालना चाहते थे तो राजा समर सिंह ने उन्हें रोका। अतः उन्होंने अहमदाबाद होकर अनहिलवाड़ पर धावा किया। राजा कर्ण हार गया। उसकी पत्नी कमला देवी पकड़ी गयी और अलाउद्दीन के हरम में रखी गयी। इसी बीच राजा कर्ण अपनी कन्या देवल देवी के साथ देवगिरि भाग गये। इसके अनन्तर तुर्कों ने खंभात के बन्दरगाह को लूटा, वहाँ से एक गुलाम पकड़ा, जो पश्चात् इतिहास में मलिक काफूर सेनानायक के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस विजय के पश्चात् वे दिल्ली लौट आये। बीच में मंगोलों ने उन्हें छेड़ा, पर वे मार भगाये गये। अलाउद्दीन की विजय पताका फहराने लगी। वर्नी ने इस पर लिखा है, **"सारी समृद्धि ने सुल्तान को मतवाला कर दिया। इसका फल हुआ कि उसके मस्तिष्क में बड़ी-बड़ी आकाँक्षाएँ और बड़े बड़े उद्देश्य जगे, बल्कि उसे ऐसी कल्पनायें उत्पन्न हुयीं कि जो उसके पूर्व किसी सुल्तान को न हुई थीं।"**

राजपूताना—१२९९ ई० में अलाउद्दीन ने रणथम्भौर को विजय करने की ठानी। उलूग खाँ और नसरत पुनः चल पड़े। पहले उन्होंने भगईन का दुर्ग ले लिया। इसके पश्चात रणथम्भौर का दुर्ग घेरा गया, पर नसरत खाँ को युद्ध के बीच एक पत्थर गिरने से इतनी भारी चोट पहुंची कि वह तो इस असार संसार से चल बसा। फिर क्या था राणा हम्मीर की लाखों की सेना उमड़ पड़ी, उसने उलूग खाँ को भगाने को विवश किया। यह समाचार सुनकर सुल्तान अलाउद्दीन स्वयं दिल्ली से चल पड़ा। मार्ग में उसे पुराने शत्रु अकात खाँ ने घेरा, घायल किया और चाहा कि वह उसकी सत्ता छीन ले, पर अलाउद्दीन के सामने उसकी एक न चली। आखिर उसी को मृत्यु का वरण करना पड़ा। आगे चलकर अलाउद्दीन ने रणथम्भौर पर धावा बोल दिया। उसने हमीर को आत्म समर्पण करते न देखकर उसके मंत्री रणमल को अपनी ओर मिला लिया, फलतः दुर्ग उसके हाथ आ गया। राणा और उसका कुटुम्ब मृत्यु के घाट उतार दिया गया। सबसे बड़ी बात यह है कि देशद्रोही रणमल को भी अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े। इसके विपरीत हम्मीर का एक मंगोल सेनानायक जो घायल हो गया था, यह पूछे जाने पर कि यदि तुम्हारे घाव ठीक किये जायँ तो

क्या करोगे, अलाउद्दीन गर्व से बोला, "**कि मैं तुम्हीं को कत्ल करके राणा हम्मीर के पुत्र को गद्दी पर बिठा दूंगा।**" इस घटना से अपने देश द्रोहियों के द्रोह और विदेशियों की स्वामिभक्त का ज्ञान अच्छा हो जाता है। ऐसी विद्रोही भावनाओं का फल अगली दासता थी। उस मंगोल को अन्ततः हाथी से कुचला गया पर उसकी गर्वोक्ति विजेता के हृदय को भी भेद गयी।

मेवाड़ विजय—रणथम्भौर की विजय प्राप्त कर यह स्वाभाविक था कि अलाउद्दीन का मस्तिष्क और बढ़ जाये। उस समय राजपूताने का सबसे प्रमुख राज्य यही था। इसके चारों ओर पर्वत श्रृंखला तथा सघन जंगल होने के कारण किसी मुसलमान शासक ने इससे पहिले उसे लेने का साहस ही न किया था। पर अलाउद्दीन को कोई आपत्ति उसके विचार से हिला न सकी। उसने १३०३ ई० में उस पर आक्रमण कर ही तो दिया। उसका मूल मन्तव्य इस आक्रमण में धन दौलत और राज्य प्रसार न था बल्कि राजा रतनसिंह की अद्वितीया सुन्दरी रानी पद्मिनी का मुखमण्डल। पद्मिनी अपनी अलौकिक छवि के लिए सारे भारत में प्रसिद्ध थी।

कहा जाता है कि अलाउद्दीन ने राजा रतनसिंह से रानी की छवि को दर्पण में दिखा देने को कहा, राजा ने वैसा ही किया, पर जब वह अलाउद्दीन को सम्मान पूर्वक बाहर पहुँचाने गया तो अलाउद्दीन ने उसे कैद कर लिया और अपने शिविर से उसने रानी के पास समाचार भेजा कि यदि मेरे हरम में आ सकती है तो मैं राजा को मुक्त कर सकता हूँ। राजपूतों के हृदय सन्न रह गये। उन्होंने इस बात की ठीक विवेचना की, अन्त में यह निश्चय हुआ कि रानी अलाउद्दीन के पास जायगी, पर अपने ढंग से। अलाउद्दीन को ढंग से कोई प्रयोजन न था, वह तो किसी भी रूप से उसे प्राप्त करना चाहता था। अतः उसने अपनी स्वीकृति दे दी। ७०० डोलियों में सशस्त्र राजपूत बैठकर अलाउद्दीन के शिविर के लिए चल पड़े।

उन्होंने राजा को मुक्त कराया और चित्तौड़ ले चले। इसका परिणाम अत्यन्त भयंकर हुआ। दोनों में घमासान युद्ध हुआ, राजपूत ने बड़ी वीरता दिखाई किन्तु वे कम थे, अतः पराजित हुए, फिर क्या था स्त्रियों की रक्षा जौहर करके की गयी। अमीर खुसरो जो सुल्तान के साथ गया था इसका चित्रण इस प्रकार देता है। "**चित्तौड़ का दुर्ग २६ अगस्त सन् १३०३ को ले लिया गया। राजा भागा पर पकड़ा गया। तीस हजार हिन्दुओं का वध करने के उपरान्त अलाउद्दीन ने चित्तौड़ का शासन अपने पुत्र खिजिर को सौंप दिया, साथ ही साथ स्थान का नाम खिजिराबाद रखा।**"

कुछ लेखकों का विचार है कि पद्मिनी की कथा असत्य है। उसकी चर्चा सामयिक लेखों में नहीं है। मुसलमान इतिहासकारों में इसका उल्लेख

केवल दो ने किया है—अर्थात् फरिस्ता और हाजीउद दबीर। हो सकता है कि फरिश्ता ने इस कथा को जायसी के पद्मावत से ले लिया हो। जो हो खिजिर खां चित्तौड़ में १३११ ई० तक रहा जिसके पश्चात् उसे हटने को राजपूतों ने विवश कर दिया। चित्तौड़ के पश्चात् मालवा की विजय की गयी। इसके अनन्तर माण्डू, उज्जैन, चन्देरी तथा धारा नगरी आदि स्थान ले लिये गये। लगभग १३०५ ई० तक सारा उत्तर भारत अलाउद्दीन के अधिकार में आ गया।

देवगिरि की विजय— उत्तर भारत की विजय के पश्चात् अलाउद्दीन का ध्यान दक्षिण भारत की ओर गया। यद्यपि इस अभियान में भी दूरी आदि के कारण अनेक आपत्तियाँ थीं, पर अलाउद्दीन ने किसी की चिन्ता न की, उसने मलिक काफूर को सेना का समस्त भार सौंप दिया। अलाउद्दीन तो स्वयं जलालुद्दीन के समय में देवगिरि तक धावा मार चुका था, उसे उन राजाओं की दुर्बलता अच्छी तरह ज्ञात थी। फिर दक्षिण का अतुल्य धन उसे उस ओर बरबस खींच रहा था। उसने काफूर से कहा कि वह जाकर राजा राम देव से कर वसूल करे। और राजा कर्ण से कहे कि वह अपनी पुत्री देवलदेवी भेज दे, उसकी माता रानी कमलादेवी उससे मिलने को बहुत व्यग्र हैं। उधर एक बहाना और था कि राजा रामचन्द्र देव ने गुजरात के पराजित शासक कर्णदेव को अपने यहाँ शरण दे रखी थी। उसे भी दण्ड देना था। कर्णदेव ने दक्षिण में अपना एक छोटा सा राज्य बना लिया था। मलिक काफूर ने आखिर ३०००० अश्वारोही लेकर देवगिरि पर चढ़ाई की, उसका साथ देने के लिए गुजरात का शासक अलप खां भी था। उधर कर्ण ने देवल देवी को भेजने की प्रार्थना को ठुकरा दिया। साथ ही अपनी पुत्री देवलदेवी का विवाह रामचन्द्र देव के पुत्र शंकर से करना चाहा। उसे गुप्त रीति से वह दूसरे स्थान को पहुँचा रहा था। इसका समाचार पाते ही अलप खां ने उस पर आक्रमण कर दिया और देवलदेवी को छीन कर दिल्ली भेज दिया। पश्चात देवल देवी का विवाह अलाउद्दीन के पुत्र खिज्रखां से कर दिया गया। काफूर ने राजा रामचन्द्र देव को भी पराजित किया और उसे भी दिल्ली भेज दिया। अलाउद्दीन ने रामचन्द्र को रायरायाँ की उपाधि प्रदान की।

वारंगल की विजय—तेलिगाना में एक काकातीय वंश का राजा राज्य कर रहा था। मलिक काफूर देवगिरि की विजय पाकर और दक्षिण चला। बड़ी आपत्तियों का सामना करता हुआ वह वारंगल के दुर्ग पर पहुँचा। वहाँ के राजा प्रताप रुद्रदेव ने अपने को दुर्ग में बन्द कर लिया तथा शत्रु का सामना करना चाहा। बहुत समय घेरा डाले रहने के बाद उसने सन्धि की प्रार्थना

की। पर काफूर ने एक न सुनी। बहुत अनुनय विनय करने पर भी जब आक्रमणकारी न माना तो प्रताप भागा और उसके सलाहकारों ने सन्धि करनी चाही। मलिक काफूर ने स्पष्ट शब्दों में समस्त कोष की माँग रखी। अन्ततः प्रताप रुद्रदेव को सब कुछ मानने को बाध्य होना पड़ा। काफूर विजय का डंका बजाते हुए दिल्ली वापस आया। डा० ईश्वरी प्रसाद ने इस का बड़ा ही सुन्दर चित्र उपस्थित किया है वह कहते हैं —

"काफूर ने विजय श्री अपने मस्तक पर लेकर वारंगल को छोड़ा और अतुल धन के भार से बोझिल १००० ऊँटों के साथ दिल्ली लौट आया।"[1]

दक्षिण में काफूर के दो अभियानों की सफलता और विपुल संपति के लाभ से प्रोत्साहित होकर अलाउद्दीन ने शेष दक्षिण विजय का संकल्प किया। उसने तीसरी बार पुनः मलिक काफूर को एक बड़ी सेना के साथ दक्षिण भेजा (१३१० ई०)। इस बार भी काफूर का पहला लक्ष्य देवगिरि ही बना। इस समय देवगिरि में शंकरदेव राज्य कर रहा था। शंकर से काफूर को पहले का सन्देह भी था, फिर उसने कर देना भी स्थगित कर रखा था। आखिर शंकर से युद्ध हुआ, जिसमें उसका वध तथा राजधानी का विध्वंस किया गया। यही नहीं इसके अनन्तर काफूर की दक्षिण में धाक जम गयी। काफूर ने एक के बाद एक राज्य हड़पना प्रारम्भ किया। देवगिरि रौंदने के पश्चात् उसने कृष्णा नदी पार होयसल राजा वीर वल्लाल तृतीय की राजधानी द्वार समुद्र पर धावा मारा, मीरवल्लाल अचानक संकट में पड़ गया। अतः काफूर ने उससे भी अतुल धन प्राप्त किया और दिल्ली सल्तनत की अधीनता स्वीकार करायी। मलिक काफूर ने राजा को इस्लाम मानने के लिए अथवा जिम्मी† बनने के लिए कहा था। राजा ने जिम्मी बनना स्वीकार किया। वस्तुतः होयसलों और यादवों में परस्पर भारी संघर्ष था, जिसके कारण वीर वल्लाल कुछ न कर सका। इसके अनन्तर मलिक काफूर ने अपनी दृष्टि पांड्य राज्य की ओर की। ये मदुरा से राज्य करते थे। यहाँ भी सुन्दर पांड्य और वीर पांड्य में परस्पर कलह थी। राजा भाग गया। अतः आक्रमणकारी ने अनेक मन्दिर तोड़े, हाथी अपने अधिकार में किये। अमीर खुसरो के कथनानुसार इस लूट

---

1 "Kafur with laurels of victory on his brow, left Warangal and returned to Delhi with a thousand camels groaning under the weight of treasure.—Muslim Rule page 91.

† जिम्मी – इसका अर्थ है कि जो इस्लाम को न माने और इतना धन दे कि उसकी प्राण रक्षा हो सके।

से ५१२ हाथी, ५००० घोड़े, ५ लाल और पन्ना मिले थे। मलिक काफूर धुर दक्षिण रामेश्वरम् तक चला गया, वहाँ भी मन्दिर तोड़ा गया, मूर्ति का अपमान किया गया। इस प्रकार काफूर ने समस्त दक्षिण भारत की विजय प्राप्त की और १३११ में पुनः दिल्ली लौट आया।

मंगोल दमन—इस समय तक मंगोल बहुत विस्तार में फैल चुके थे। चीन, ईरान, अफगानिस्तान आदि उनके अधिकार में थे। इनका आक्रमण अलाउद्दीन के समय भी भारत पर हुआ। पर अलाउद्दीन के सेनापति जफर खाँ ने उनका डट कर मुकाबला किया। मंगोल का पहला आक्रमण १२९७ में हुआ जिसमें लाखों की संख्या में वे भारत में घुस आये थे। जफरखां और उलूग खाँ ने उनको जलंधर के समीप युद्ध में हराया। यही नहीं हजारों को बन्दी बनाया गया, हजारों का बध किया गया। पर सन् १२९८ में उन्होंने पुनः आक्रमण किया। इस बार भी जफर खाँ ने उन्हें हराया और उनके नेता बन्दी कर दिल्ली भेज दिये। दो बार पराजय खाकर लगभग २ लाख मंगोल सन् १२९९ ई० में पुनः भारत पर टूट पड़े। अलाउद्दीन ने भी भारी तैयारी कर उनका प्रतिरोध किया और उन्हें भगा दिया। इस बार जफर खाँ ने उनका पीछा किया जिसमें वह स्वयं अपने प्राण दे बैठा। अलाउद्दीन भी उससे ईर्ष्या करने लगा था, अतः शोक के स्थान पर उसने हर्ष मनाया। १३०३ ई० में पुनः एक बार मंगोल आये, इस समय तक जफर खाँ और उलूग खाँ में से कोई सेनापति जीवित न रह गया था, अतः अलाउद्दीन ने स्वयं किले के भीतर बैठ कर युद्ध किया, वे ४० दिन तक किला घेरे रहे, पर अन्त में ऊब कर लौट गये। १३०४ ई० में तो ये अमरोहा तक चले आये। इस बार उनका सामना मलिक काफूर और गाजी मलिक ने किया और वे पुनः हार गये। इसी विजय के उपलक्ष्य में अलाउद्दीन ने गाज़ी मलिक को (बाद में जो गयासुद्दीन तुग़लक हुआ) पंजाब का अधिकारी नियुक्त किया था।

अलाउद्दीन के अन्तिम दिन—सुल्तान अलाउद्दीन ने अपने शासन काल में असीम कठोरता से काम लिया अतः उस का अन्त भी दुःखद हुआ। धीरे-धीरे वह मलिक काफूर के हाथ की कठपुतली बन गया था। काफूर ने अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए अलाउद्दीन के पुत्र खिज्र खाँ को बन्दी बना कर ग्वालियर भेज दिया। उसने गुजरात के अधिकारी अलप खाँ को जो खिजिर खाँ का सहायक था, जान से मरवा दिया। इसके फलस्वरूप गुजरात में विद्रोह हो गया। इसी समय देवगिरि के हर पाल देव ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित की। इनका सुल्तान अलाउद्दीन अथवा मलिक काफूर अब कुछ न बिगाड़ सके। सुल्तान अस्वस्थ हो गया, उसकी अस्वस्था में काफूर ने कमला देवी के छोटे पुत्र शहाबुद्दीन उमर को युवराज घोषित कर

दिया। अलाउद्दीन मौन रहा। कुछ ही काल में सन् १३१६ ई० में अलाउद्दीन इस संसार से चल बसा और मलिक काफूर ने मन मानी करना प्रारम्भ की। कहते हैं उस ने कमला देवी से स्वयं बिवाह कर लिया और शहाबुद्दीन को विष दिलवा कर समाप्त कर दिया। दोवदी पुत्रों को अन्धा करा दिया। उसने अलाउद्दीन के तीसरे पुत्र मुबारिक की भी हत्या करानी चाही पर वह चतुर था, उसने काफूर के ही आदमियों को रिश्वत देकर उसी का उमर के साथ वध बरा दिया।

मुबारक (१३१६-२० ई०)—मुबारक स्वयं सुलतान बना। उसने योग्यता से शासन करना प्रारम्भ किया। उसने गुजरात का विद्रोह शान्त किया। देवगिरि के राजा हरपाल देव की खाल खिचवाली तथा देवगिरि को सदा के लिए दिल्ली के अधीन बना लिया। पर धीरे-धीरे वह विलासी हो गया। ऐसी दशा में गुजरात के एक मुसलमान खुसरो ने उसे धोखे से समाप्त करा दिया। खुसरो १३२० में स्वयं सुलतान बन गया। खुसरो ने पहले तो अपने सगे सम्बन्धियों को खूब इनाम दिये, उपाधियां दी, पर वह स्वयं बहुत दिन न टिक सका, पंजाब के अधिकारी गाजी मलिक ने दिल्ली पर धावा किया और खुसरो को मार कर स्वयं गयासुद्दीन तुगलक के नाम से स्वामी बन गया।

अलाउद्दीन का शासन, उसका राजत्व—अलाउद्दीन ने छोटे से इस्लामी राज्य को भारी साम्राज्य में परिणत कर दिया, तथा एक से एक भयंकर मंगोल आक्रमण का प्रतिरोध किया। यही उसके लिए गौरव की बात है, पर इसके अतिरिक्त उसने २० वर्ष के शासन काल में शासन सूत्र भी मजबूती से सम्हाला इसमें कोई सन्देह नहीं। अलाउद्दीन अपने शासन के अन्दर उलमा की चिन्ता न करता था। वह कहता था कि यदि अधिकारी भ्रष्ट है तो उसका अंग भंग होना उचित है, चाहे कुरान में लिखा हो या न लिखा हो। उसने एक बार काजी से अनेक प्रश्न किये, यथा जो, धन मैं लूट कर लाता हूँ किसका हुआ, विद्रोही को क्या दण्ड मिले, काज़ी ने स्पष्टतया कह दिया कि धन बादशाह का नहीं है, और वह कुरान की शरिअत के विरुद्ध है, इस पर अलाउद्दीन ने कहा—"**मैं यह नहीं जानता कि अमुक बात नियम के अन्दर है अथवा नियम के विरुद्ध। जो मैं राज्य के लिये हितकर समझता हूँ, जो आपति काल के लिए आवश्यक है, उसी की मैं आज्ञा देता हूँ। मुझे इस बात की कोई चिन्ता नहीं है कि मुझे अन्तिम दिन इसके लिये क्या दण्ड मिलेगा।**"

इन शब्दों से उसकी राजत्व की परिभाषा स्पष्ट विदित हो जाती है। वह कभी भी विद्रोह जैसी चीज को सहन न कर सकता था। उसका विचार था कि विद्रोह मनुष्य तभी करता है, जब (१) उसको आराम से खाने पीने को

प्राप्त हो जाता है, (२) जब राज्य के मामलों में सुल्तान स्वयं उदासीन होता है, (३) जब अमीरों को आपस में मिलने जुलने का समय प्राप्त होता है। (४) जब सुरापान का सेवन किया जाता है। अतः अलाउद्दीन ने कठोर आदेश निकाल दिये कि धार्मिक कृत्यों के लिए दी गयी भूमि जब्त कर ली जाय, सारी पेंशने बन्द कर दी जांय। मदिरा का सेवन भी उसने बन्द करा दिया, यहाँ तक कि स्वयं उसका उपभोग न किया। अपने शराब पीने के बर्तन तक उसने तुड़वा दिये। कहा जाता है कि बदायूं दरवाजे पर इतनी मदिरा फेंकी गयी कि कीचड़ पैदा हो गया। उसके गुप्तचर उसे छोटी से छोटी बात की सूचना दे देते थे कि किस अमीर के घर क्या हो रहा है। अतः उसने अमीरों का एक दूसरे से मिलना तक बन्द करा दिया। सारे उत्सव जो सामूहिक ढंग से होते थे बन्द कर दिये। कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय उसने शान्ति स्थापित की, पर ठीक ऐसे ही जैसे अग्नि को राख के नीचे दबा कर ऊपर ज्वाला न दिखाई देने दी जाय। इन आज्ञाओं से उसका कार्य तो ठीक रहा, पर निरीह प्रजा का जीवन नीरस और बोझिल हो गया।

हिन्दुओं के प्रति व्यवहार—सुल्तान ने आदेश दिया कि जब तक अमीर या अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति राजाज्ञा प्राप्त न करलें तब तक विवाह शादी भी न करें। यही नहीं वे एक दूसरे के घर ही न जा सकते थे। वह यह डरता था कि यदि एक अमीर विद्रोही है तो वह दूसरे को भी कहीं न बना दे। इस प्रकार समस्त प्रीति भोज और गोष्ठियों पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। उसने हिन्दुओं को विशेष रूप से कुचलने का यत्न किया। उसने दोआब के हिन्दुओं के लिए भूमि कर बढ़ा दिया। उनको अपनी उपज का आधा भाग दे देना पड़ता था। पशुओं की चराई पर गृह कर लगा दिये गये। उसने हिन्दुओं को इतना निर्धन बना दिया कि जिससे वे अच्छे वस्त्र तक न पहन सकें, न घोड़े रख सकें, न अस्त्र शस्त्र खरीद सकें। फिर यदि हिन्दुओं पर लगाये गये करों में कोई भी कर अदा न होता था तो कठोर दण्ड दिया जाता था।

(३) **सैन्य प्रबन्ध**—यह तो निर्विवाद है कि बिना सुसंगठित सेना के उस युग में साम्राज्य कैसा ? अतः अलाउद्दीन ने सेना का भी समुचित प्रबन्ध किया। अलाउद्दीन के पहले रक्त तथा वर्ग सेना में नियुक्ति के आधार थे। अतः कुन्वा परवरी तथा अयोग्य नियुक्तियाँ हुआ करती थीं। अलाउद्दीन ने एक नयी व्यवस्था की। उसने सेना में एक अधिकारी नियुक्त किया जो योग्यतानुसार सैनिकों को भर्ती करता था। इसके अतिरिक्त सैनिकों को तीन श्रेणियों में विभाजित कर दिया गया। प्रथम श्रेणी का सैनिक दो से अधिक घोड़े रख सकता था तथा उसको वेतन २३४ टंका होता था। दूसरे श्रेणी का सैनिक दो घोड़े रख सकता था। उसको १५६ टंक वार्षिक वेतन दिया

जाता था। तीसरी श्रेणी का सैनिक केवल एक घोड़ा रख सकता था। उसे ७८ टंक वार्षिक वेतन दिया जाता था। इस प्रकार जागीर के स्थान पर नकद वेतन की व्यवस्था करने से विद्रोहों की शंका समाप्त हो गयी। इसके अतिरिक्त अलाउद्दीन ने एक स्थायी सेना का प्रबन्ध किया। इसमें ४ लाख ७५ हज़ार सैनिक थे। यही नहीं, अलाउद्दीन ने अच्छी नस्ल के घोड़ों को छांटने के लिए दाग लगाने की प्रथा चलायी, इसी का अनुकरण पश्चात् कालीन सम्राटों ने भी किया। उसके समय में प्राचीन दुर्गों की मरम्मत हुई। नये दुर्गों की योजनाएँ बनीं, जिनमें अच्छे चुने हुए सेनापतियों की अध्यक्षता में सेनाएँ रखी गयीं। इसी आधार पर लेनपूल ने लिखा है कि "**अलाउद्दीन एक खूनी तथा अत्याचारी नृशंस था, पर उसके सशक्त और योग्य शासक होने में किसी को सन्देह न होगा।**[1]

बाजार का प्रबन्ध—अलाउद्दीन ने इस बात का अनुभव किया, कि जिस वेतन क्रम को उसने रखा है, उसमें उसकी सेना के सिपाहियों का निर्वाह नहीं हो सकता, अत: साधारण जनता का भी कुछ विचार कर उसने वस्तुओं का मूल्य निर्धारित कर दिया जिससे व्यर्थ की मुनाफाखोरी न हो। यही नहीं उसने वस्तुओं की पूर्ति की व्यवस्था की, तथा उनके वितरण का उत्तम प्रबन्ध किया। उसने वस्तुओं की तालिका बनायी जिसका संक्षेप इस प्रकार हैं।

	वस्तु	मूल्य (जीतल में) प्रति मत
(१) अन्न	१. गेहूँ	७½ ,, ,, ,,
	२. जौ	४ ,, ,, ,,
	३. धान व चना	५ ,, ,, ,,
	४. दाल व नमक	५ ,, ,, ,,
	५. शकर और गुड़	१⅓ प्रति सेर ,, ,,
	६. सरसों का तेल	प्रति जीतल † २½ सेर
	७. घी	१½ सेर प्रति जीतल
(२) वस्त्र	१. दिल्ली का रेशम	१६ टंक
	२. बुरद उत्तम	६ जीतल
	३. अस्तर लाल नागीरी	२४ जीतल
	४. अस्तर साधारण	१२ जीतल
	५. चादर	१० जीतल
	६. मखमल बारीक	१ टंक प्रति बीस गज

1 "A bloody and unscrupulous tyrant yet none may refuse him the title of a strong and capable ruler."
-Lanepoole.

† जीतल—एक जीतल का मूल्य आज के १½ फार्दिग थी, और यह १७५ ग्रेन के चाँदी के टंक का होता था।

(३) अन्य वस्तुएँ	
१. सर्वोत्तम नस्ल का घोड़ा	१०० से १२० टंक
२. मध्यम ,, ,,	९० —८० ,,
३. अधम ,, ,,	६५ —७० ,,
४. दुधार गाय	३ —४ ,,
५. दुधार भैंस	१० —१२ ,,
६. मांस के लिए भैंस	५ —६ ,,

इस तालिका का ध्यान पूर्वक अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि अन्य कालों की अपेक्षा अलाउद्दीन के समय वस्तुएँ कितनी सस्ती थीं। इसके अतिरिक्त वस्तुएँ बाजार में आवें इसके लिए भी उसने प्रबन्ध कर दिया था, एक तो सरकारी सौदागर के अतिरिक्त कोई अनाज खरीद नहीं सकता था, दूसरे लगान अनाज के रूप में भी लिया जा सकता था। फिर यदि कोई दूकानदार कम तौलता था, तो उसके शरीर का उतना ही मांस काट लिया जाता था।

(५) **अन्य आर्थिक सुधार**— अलाउद्दीन ने ऐसा कोई यत्न नहीं छोड़ा जिससे सम्पत्ति इकट्ठी न की हो। उसने भूमि की नाप करायी और उपज के अनुसार कर निर्धारित कर दिया। यह कर अनाज का ५० प्रतिशत होता था। उसने कर वसूल करने के लिए समस्त साम्राज्य कई क्षेत्रों में विभाजित कर दिया था। प्रत्येक क्षेत्र में एक सैनिक अधिकारी कर वसूल करने को रहता था। दूसरे उसने सारी निशुल्क भूमि को सशुल्क बना दिया। तीसरे जागीरें आदि छीन लीं। यही नहीं उसने हिन्दुओं पर एक विशेष कर लगाया जिसे जजिया कहते हैं। इसके अतिरिक्त भेंट और लूट से भी उसने कम पैसा इकट्ठा नहीं किया।

(६) **परराष्ट्रनीति**—अलाउद्दीन सल्तनत काल का पहला सम्राट था जिसकी नीति साम्राज्यवादी कही जा सकती है। उसने उत्तर व दक्षिण भारत के अनेक राज्य जीते पर कभी राज्य मिलाया नहीं। इसके साथ ही उसने सदा बाहरी आक्रमणों से साम्राज्य की कटिबद्ध होकर रक्षा की।

(७) **मूल्यांकन**—इस प्रकार के शासन को देखकर कुछ विद्वान तो अलाउद्दीन को गौरव हीन कह डाले हैं। उनका कहना है कि उसने जनता की ओर कभी न देखा। उसका शासन सैनिक और बर्बर था। यही कारण है कि उसकी मृत्यु के उपरान्त वह दस वर्ष भी न टिका। पर कुछ इतिहासकारों का मत है कि वह सफल शासक तथा सफल विजेता था। उसके उद्देश्य थे, साम्राज्य विस्तार, सुरक्षा, आन्तरिक शान्ति तथा सैनिक शासन की सफलता। उसके अत्याचार समय की पुकार थे। यथा हैवैल महोदय का कथन है कि—

"अलाउद्दीन अपने युग से आगे था। उसके बीस वर्ष के शासन में उसके अनेक कार्य आज की समानता रखते हैं[1] इबनबतूता तो कह गया है कि "वह सर्वोत्तम सुल्तान था।[2] पर आज सैद्धांतिक दृष्टि से इस शासन में अनेक त्रुटियाँ थीं, इसमें मनुष्यता तथा आचार विचार का कोई ध्यान न था, फलस्वरूप वह लोक प्रिय भी न बन सका।

---

1 Allauddin was far advanced of his age. In his reign of twenty years there are many parallels. —Prof. Havell.

2 With the events of our own time, he was one of the best Sultans. —Ibn Batuta.

परिच्छेद २३

तुगलक वंश

गयासुद्दीन तुगलक (१३२०-२५)—तुगलक किसी जाति का नाम नहीं समझ पड़ता, बल्कि मलिक गाज़ी तुगलक के नाम का एक अंश है। मलिक गाज़ी एक साधारण परिवार में जन्मा था। इब्नबतूता के आधार पर वह करौना तुर्क वंश का था। मार्कोपोलो ने इसे करौना वंश का इस आधार पर माना है कि यह तातार तथा भारतीय वंश का वर्णसंकर था। मिर्जा हैदर ने अपनी पुस्तक तारीख रशीदी में उसे चाग़ताई मंगोल बताया है। पर फरिश्ता के अनुसार यह तुर्क पिता तथा पंजाब की जाटनी की सन्तान था। अत: कुल तीन बातों में से एक सम्भव है। या तो वह तुर्क, या मंगोल, अथवा वर्णसंकर था। डा० ईश्वरी प्रसाद उसे मिश्रित ही मानते हैं। जो हो वह १३२० ई० में गयासुद्दीन तुगलक शाह के नाम से गद्दी पर बैठा। गद्दी पर बैठने के पश्चात् भी उसने अलाउद्दीन के प्रति श्रद्धा रखी। दिल्ली जाकर उसने खुसरो द्वारा मारे गये अलाउद्दीन के बंशजों की आत्माओं की शान्ति के लिए प्रार्थना की। धार्मिक कृत्य करवाये।

गयासुद्दीन एक अनुभवी तथा योग्य शासक था। उसने अलाउद्दीन की ही भाँति दृढ़ता से काम करना प्रारम्भ किया। उसके गद्दी पर बैठने के समय गुजरात, बंगाल और दक्षिण में खुल्लम खुल्ला विद्रोह हो रहा था। मुबारक तथा खुसरो ने इधर राज्य का कोष भी रिक्त कर रखा था। अत: गयासुद्दीन ने बहुत सा धन तो खुसरो के मित्रों से वापिस ले लिया। इनमें से शेख निज़ामुद्दीन औलिया ने न दिया और कहा कि उससे व्यय हो चुका।

विद्रोह का दमन—गयासुद्दीन ने सबसे पहिले तेलंगाना के काकातीय वंश की खबर ली। प्रताप रुद्र देव द्वितीय ने तुगलक को कर देना बन्द कर दिया था, उसका कहना था कि ये राज्य का स्वामी ही नहीं, उसको मैं अधिकारी ही नहीं मानता। गयासुद्दीन ने उसके विरुद्ध अपने पुत्र जूना खाँ को भेजा किन्तु प्रथम तो उसे सफलता नहीं मिली और वह निराश लौट आया (१३२१ ई०)। दूसरी बार वह सन् १३२३ ई० में पुन: गया, उसने प्रतापरुद्र देव को बन्दी बनाकर दिल्ली भेज दिया तथा काकातीय बंश का ही अन्त कर

दिया। वारंगल में एक मुसलमान शासक नियुक्त किया गया, तथा वारंगल का नाम सुल्तानपुर रख दिया।

जूना खां ने तेलंगाना लेने के पश्चात् राज महेन्द्री पर भी अधिकार कर लिया। यहाँ से चलकर वह उड़ीसा गया। यहाँ उसने जाजनगर पर चढ़ाई की, वहाँ से बहुत सा लट का माल तथा अनेक हाथी लेकर वह लौटा।

इसी समय बंगाल स्वतंत्र होने की चेष्टा कर रहा था। वहाँ का पिछला शासक फीरोज था। फीरोज की मृत्यु पर उसके पुत्र परस्पर लड़ने लगे। इनमें से दो ने दिल्ली सुलतान से सहायता की प्रार्थना की। १३२४ ई० में गयासुद्दीन बंगाल गया। उसका अभियान सफल हुआ। उसने बंगाल विजय कर उसको तीन भागों में बाँट दिया। अर्थात् लखनौती, सोनार गाँव तथा सात गांव में अलग अलग शासक नियुक्त कर दिये गये।

उसका अन्त—जब सुलतान बंगाल से लौट रहा था, तो उसके पुत्र जूना खां ने उसके स्वागत के लिए दिल्ली के समीप अफगानपुर में एक लकड़ी का दरवाजा बनवाया। जैसे ही सुल्तान का हाथी उससे निकला वह तोरण (दरवाजा) गिर गया और सुल्तान की मृत्यु हो गयी। (१३२५ ई०)

उसके सुधार—गयासुद्दीन का शासन यद्यपि कुल पांच वर्ष तक रहा, पर इसी बीच उसने कुछ महत्त्वपूर्ण सुधार कर दिये। उसने अलाउद्दीन के भूमि सम्बन्धी नियमों को कुछ हल्का कर दिया। यहाँ तक कि मालगुजारी को उपज का दसवाँ भाग रख छोड़ा। उसने खेतों की पैमायश की चिन्ता न की। उन्हें बटाई पर उठा दिया। सिंचाई के लिए नहरें खुदवाईं। मालगुजारी की वसूली का उचित प्रबन्ध किया। उसने सेना का प्रबन्ध अलाउद्दीन के ही ढंग पर रखा, पर उसका वेतन क्रम बढ़ा दिया। साथ ही सैनिक अनुशासन पर कड़ी दृष्टि रखी। उसने न्याय व्यवस्था का भी अच्छा प्रबंध किया। सार्वजनिक हित के लिए उसने नियमों का संग्रह कराया, पर ये शरीअत के अनुसार बनाये गये थे।

चरित्र—गयासुद्दीन एक नम्र और उदार सुल्तान था। वह पवित्र तथा धर्म भीरु था। अतः उसने स्वधर्मियों के हित की सदा चिन्ता की। वस्तुतः उसने सांसारिक आनन्द की चिन्ता न की। उसके सिंहासन पर बैठते ही शासन में एक नयी चेतना आ गयी थी। उसका चरित्र बहुत कुछ शेरशाह से मिलता है। वह प्रजाहित के लिए शेरशाह की भाँति सदा कर्त्तव्य परायण और क्रियाशील रहता था। पर शेरशाह से वह धार्मिक विचारों में नहीं मिलता, शेरशाह अधिक उदार था, जबकि गयासुद्दीन संकीर्ण विचार था। उसका शासन काल इतना स्वल्प था कि वह अधिक कार्य न कर सका। वह कला प्रेमी भी था। अमीर खुसरो जैसा कवि उसके आश्रय में था।

मुहम्मद बिनतुग़लक १३२५-१३५१ ई०—गयासुद्दीन तुग़लक के पश्चात् उसका पुत्र जूना खां मुहम्मद बिन तुगलक के नाम से गद्दी पर बैठा। भारतीय इतिहास में मुहम्मद बिनतुंगलक एक विलक्षण व्यक्ति था। इसमें सन्देह नहीं कि इसकी समानता इंगलैंड का जेम्स प्रथम भी नहीं कर सकता। मुहम्मद तुगलक के विषय में उसके समकालीन इतिहासकार जियाउद्दीन बर्नी ने लिखा है, **"मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि मुहम्मद तुगलक विश्व सृष्टि के आश्चर्यों में से एक आश्चर्य था। उसके परस्पर विरोधी गुण मनुष्य के ज्ञान और बुद्धि के बाहर थे"** वर्नी के ये शब्द आलंकारिक हैं, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि मुहम्मद तुगलक मध्ययुग के राजाओं में सबसे अधिक योग्य था। उसकी धारणा शक्ति बड़ी ही आश्चर्य जनक थी। सभी प्रकार के ज्ञान को संचित करने की उसमें अपूर्व योग्यता थी। उसके ज्ञान को देखकर उसके समसामयिक आश्चर्य करते थे। उसको तर्क, खगोल, गणित, दर्शन, और भौतिक विज्ञानों में समान रूप से अधिकार था। उसको फारसी की अनेक कविताएं कंठस्थ थीं, जिनका प्रयोग वह अपनी रचनाओं तथा वक्तृताओं में प्रचुरता से करता था। बड़े बड़े कुशल साहित्य शास्त्री भी उसकी कल्पना की ज्योति तथा अभिव्यञ्जना की सूक्ष्मता और गहराई को नहीं पा सकते थे। तारीख-ए-फीरोजशाही में लिखा है—

"वह बड़े उच्च कोटि का विद्वान था। ईश्वर और सृष्टि की वह अदभुत कृति थी। उसकी योग्यता देखकर स्वयं अरस्तू भी आश्चर्य चकित हो जाता।

उसके कार्य - सुल्तान का सबसे पहला शासन सम्बन्धी कार्य दोआब में कर वृद्धि था जिसके लिए बर्नी ने लिखा है कि इससे देश का नाश तथा पतन हुआ। एक दूसरा इतिहास लेखक कुछ नियन्त्रण के साथ लिखता है:—

"जीवन की आवश्यकताओं पर जो कर लगाया जाता था, और वह जिस कठोरता से प्राप्त किया जाता था, उसे सहन करना व्यवसाइयों की शक्ति के बाहर था।"

दुर्भाग्य वश यह सुधार उस समय हुआ, जब दुआब में भीषण अकाल पड़ गया था। अतः कर के बढ़ाने से लोगों का बोझ अधिक बढ़ गया, वर्नी के अनुसार उसकी वृद्धि का कोई अनुपात ही न था। इसका दुष्परिणाम यह भी हुआ कि लोगों ने जब देने से आनाकानी की, बल्कि वे देने में असमर्थ हुए तो मुहम्मद ने समझा कि वे बहाने बना रहे हैं। अतः वसूली में और भी सख्ती प्रारम्भ की गयी। सुलतान को जब वस्तुस्थिति का ज्ञान हुआ तो उसने किसानों को अन्य सुविधाएं प्रदान करनी चाहीं। यथा कुंआ खोदना, अनाज बटवाना आदि। पर इससे कोई लाभ न हुआ क्योंकि प्रजा अपना धैर्य खो चुकी थी। सुल्तान की आकांक्षा थी कि दूर देश तक की विजय की

जाय, इसके लिए उसने सेना बढ़ा रखी थी । इस बढ़ी हुई सेना का व्यय भार प्राप्त करने के लिए उसने दोआब को एक उपजाऊ और समृद्ध प्रदेश समझ कर वृद्धि की थी । वर्नी स्वयं इसका शिकार बना, अतः उसने उसे बढ़ा चढ़ा कर लिख दिया कि वह तो दस बीस गुना हो गया, उससे जनता की कमर टूट गई । जो धनी थे निर्धन हो गये, लोग कर न दे सकने के कारण खेत छोड़ कर भागने लगे । ये वर्णन सर्वथा अतिरंजित हैं, पर यह मानना पड़ेगा कि इससे किसानों की दुर्गति हो गयी ।

(२) **राजधानी परिवर्तन**—सुल्तान का दूसरा उल्लेखनीय कार्य राजधानी का परिवर्तन था । (१३२६ ई०—२७ ई०) उस का साम्राज्य विशाल था, जिसके समुचित शासन के लिए उसे दिल्ली के राजधानी रहने में कठिनाई पड़ती थी । फिर आये दिन मंगोलों का आक्रमण पश्चिमोत्तार से हुआ करता था । इधर देवगिरि, दिल्ली, गुजरात, लखनौती, सोनारगांव द्वार समुद्र आदि लगभग सभी मुख्य स्थानों से समान दूरी पर पड़ती थी । अतः सुल्तान ने निश्चित किया कि वह अपनी राजधानी देवगिरि बनाये । उसने दिल्ली की जनता को आज्ञा दी कि वह देवगिरि चले, और उसके मार्ग की सुविधा कर दी । इबनवतूता ने इस विषय में बड़ा ही अतिरंजित वर्णन किया है । वस्तुतः सुल्तान ने दिल्ली से दौलताबाद तक सड़क बनवायी, छायादार वृक्ष लगाये गये, सराएँ बनायी गयीं । पर वर्नी लिखता है—"**दिल्ली बिल्कुल उजड़ गयी और मनुष्य की कौन कहे कुत्ते तथा बिल्ली भी दिल्ली में न रहे । यहां पर केवल स्यार और लोमड़ियों की आवाज सुनाई देती थी ।**"

इसी प्रकार इब्नवतूता का कथन है—

"**राजाज्ञा के कारण दिल्ली में जब तलाशी हुई, कि कोई निवासी अब छिपा तो नहीं रह गया, तो आदमी मिले, एक लंगड़ा और एक अन्धा, पर उन्हें भी दौलतावाद तक** (घसीटा) पहुंचाया गया ।

यह परिवर्तन अत्यन्त हानिप्रद हुआ, क्योंकि सुल्तान को केवल राजकीय अधिकारी ले जाना था, उसके स्थान पर वह समस्त जनता को ही ले चला; अनेक स्त्री बच्चे मार्ग में भूख प्यास से मर गये जबकि मार्ग में अनेक सुविधाएं थी । किसी बात के सैद्धान्तिक और क्रियात्मक रूप में क्या अन्तर है, यह यहां स्पष्ट हो जाता है । वे लोग जो सदियों से दिल्ली में रह रहे थे, उसे छोड़ने में व्याकुल हो गये । फिर अनेक मुसलमान देवगिरि के हिन्दुओं में जाकर असंगत प्रतीत हुए । फिर यह दूरी ७०० मील की थी, और दिल्ली वालों के लिए सामान्य रूप से भी देवगिरि अनजान जगह थी । सबसे अनोखी बात तो यह हुई कि सुल्तान ने जब यह सब कष्ट देखा तो सब को लौटने की आज्ञा दे दी, बस जो किसी कदर दिल्ली से देवगिरि पहुंच गये थे, वे अपना

सर पटकने लगे, और उनमें से अनेक वापस लौट ही न सके। यद्यपि लौटती यात्रा में भी सुल्तान ने अधिक से अधिक सुविधाएं देनी चाहीं, पर सब व्यर्थ हुआ। एलफिंस्टन ने लिखा है—

"यह योजना तर्क हीन न थी पर इसे कार्यान्वित करने का ढंग ठीक न था।" इसीलिए उसे यह सब कलंक लगा, श्री लेनपूल ने कहा है कि "दौलताबाद व्यर्थ परिश्रम का स्मारक रह गया।"

(३) **प्रतीक मुद्रा १३३० ई०**—कहा जाता है कि कोष रिक्त हो जाने के कारण सुल्तान ने प्रतीक मुद्रा का प्रयोग किया, इसमें सन्देह नहीं कि सुल्तान की अत्यधिक उदारता, राजधानी के परिवर्तन, तथा विद्रोह शान्त करने आदि के कारण राजकीय कोष को बहुत क्षति पहुँची थी, परन्तु इसके अतिरिक्त प्रतीक मुद्रा के चलाने के और भी कारण थे। यथा दोआब की कर व्यवस्था असफल हो चुकी थी, राज्य के अधिक भाग में दुर्भिक्ष था, कृषि की दशा अच्छी न होने के कारण राज्य की आय में कमी हो गयी थी। फरिश्ता के अनुसार तांबे और पीतल के सिक्के चलाना कोई बड़ी भूल न थी। भूल थी उसके निर्यात, निर्माण की। इन पर सुल्तान को नियंत्रण रखना था जिससे उन्हें हर कोई न बना सकता। इसका फल यह हुआ कि लोगों ने अधिक से अधिक सिक्के बनाये। इन्हें व्यापारियों ने लेने से मना कर दिया। वे इन सिक्कों का मूल्य मिट्टी के ढेलों के बराबर भी न मानते थे। अत: प्रजा हित-चिन्तक सुल्तान ने आज्ञा दी कि लोग ताँबे के सिक्कों को राजकोष से सोने के सिक्कों से बदल लें। समुचित व्यवस्था न होने के कारण यह योजना विफल हुई।

(४) **दुर्भिक्ष**—(१३३४-४१)—दोआब के दुर्भिक्ष के पश्चात् पुनः एक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा, जो सात वर्ष तक रहा। दिल्ली में एक सेर अनाज १६-१७ जीतल का बिकने लगा, चारों ओर हाहाकार मच गया। कहते हैं कि दुर्भिक्ष पीड़ित मनुष्य मनुष्य का मास उबाल कर खा जाता था। प्रजा की रक्षा के विचार से सुल्तान अपना दरबार दिल्ली से फरुखाबाद ले गया, उसने वहाँ पर्याप्त चारा और अनाज बँटवाया। अकाल की भीषणता कम करने के लिए कुएँ खुदवाये, किसानों को तकावी बँटवायी, पर इन सब बातों से कोई विशेष लाभ न हुआ।

(५) **मदुरा का विद्रोह**—दिल्ली लौटने के कुछ ही समय पश्चात् सुल्तान को सूचना मिली कि मदुरा के शासक जलालुद्दीन अहसन ने स्वतन्त्रता घोषित कर दी है। सुल्तान तुरन्त उसका दमन करने चला किन्तु देवगिरि के आगे पहुँचने पर उसकी सेना में मरी फैल गयी। हजारों सिपाही मर गये। सुल्तान स्वयं भी बहुत समय तक बीमार रहा। अत: उसे इस अभियान में

बीच से ही लौटना पड़ा। इसी के उपरान्त मदुरा का स्वतन्त्र राज्य उठ खड़ा हुआ, पर कुछ समय उरान्त यह विजय नगर राज्य में विलीन हो गया।

(६) **अन्य देश विजय करने की योजनाएँ १३३८-३९ ई०**—ऐसे भीषण दुर्भिक्ष और अन्य विकलताओं के पश्चात् भी सुल्तान बिना भारी-भारी योजनाएँ बनाये न रह सका। इन दिनों उसके दरबार में कुछ खुरासानी ठहरे हुए थे, उनसे सुल्तान को ज्ञात हुआ कि खुरासान में परस्पर कलह है। वहाँ के शासक अबूसईद ने अपना वजीर ही मरवा दिया है। उधर मध्य एशिया के चगताई उस पर आक्रमण करना चाहते थे, अत: मुहम्मद ने फारस का कुछ भाग छीनने के लिए तथा अपने मित्र मिश्र के शासक को सहायता देने के लिए विशाल सेना तैयार की। इस सेना को वह आक्रमण करने की आशा में १ वर्ष राजकीय कोष से खिलाता रहा पर सुल्तान की योजना विफल हुई। वह प्रतीक्षा ही करता रहा। उधर मिश्र के शासक तथा खुरासान वालों में सन्धि हो गयी और चागताई चीन के भय के कारण लौट गये।

(७) **नगर कोट की विजय**—मुहम्मद के समय तक हिमालय की तराई में हिन्दू राजा राज्य करते थे। सुल्तान ने इन पर अधिकार करने के लिए सबसे पहले कांगड़ा के पहाड़ी प्रदेशों के अभेद्य दुर्ग नगर कोट पर आक्रमण किया। यहाँ का शासक पराजित हुआ। इस पर मुहम्मद ने दुर्ग की दीवालें गिरवा दीं और उसी को सुपुर्द कर दिया। यहाँ पर उसने किसी प्रकार धार्मिक कट्टरता का परिचय न दिया।

८) **कराचल पर आक्रमण**—नगर कोट की विजय से प्रोत्साहित होकर मुहम्मद ने हिमालय के अन्य राज्यों पर चढ़ाई की। फरिश्ता के अनुसार यही चीन पर आक्रमण था, पर उसका भ्रम है। सुल्तान का यह अभियान भी सफल हुआ, पर तराई की जलवायु तथा अन्य पर्वतीय कठिनाइयों के कारण उसकी सेना को अपार हानि हुई।

(९) **चीन से सम्बन्ध**—१३४१ ई० में चीन के सम्राट तोगन के राजदूतों ने सुल्तान से आकर प्रार्थना की कि उसकी (मुहम्मद) सेना ने हिमालय प्रदेश के कुछ बौद्ध विहार नष्ट भ्रष्ट कर दिये हैं; उनकी आप मरम्मत करा दें। सुल्तान ने उत्तर दिया कि बिना जजिया अदा किये यह नहीं हो सकता। इस समाचार को लेकर अफ्रीका का प्रसिद्ध यात्री इब्नबतूता चीन गया था और चार वर्ष वहाँ रहकर सन् १३४६ ई० में लौटा था।

इब्नबतूता—यह यात्री अफ्रीका के तान्जीयर्स नगर का रहनेवाला था। यह अपने देश से २१ वर्ष की आयु में भ्रमण करने के लिए निकल पड़ा (१३२५ ई०)। विदेशों से वह २७ वर्ष पश्चात् सन् १३५३ ई० में घर लौटा। पहले वह सिकन्दरिया, काहिरा, मक्का, दमिश्क, कूफा, कुस्तुनतुनिया, बुखारा

और काबुल होता हुआ १३३३ में चीन पहुँचा। वहाँ से वह दिल्ली दरबार में आया। मुहम्मद बिन तुगलक ने उसे एक जागीर दे दी और राजधानी का काजी नियुक्त किया। आठ वर्ष तक वह दरबार में रहा (१३३४-४२ ई०) और एक बहुत ही प्रभावशाली व्यक्ति हो गया। इसके पश्चात् जैसा संकेत किया जा चुका है वह चीन भेजा गया। वह चीन को पूर्वी मार्ग से (जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों के रास्ते) चीन गया था। चीन से लौट कर भारत आया, जहाँ से कालीकट होकर जहाज के द्वारा स्वदेश लौट गया। उसका प्राणान्त ७४ वर्ष की आयु में हो गया।

अपने देश पहुँचकर उसने अपने भ्रमण का वृत्तान्त लिखा। उसने अपने वृत्तान्त में बाजारू गद्य से लेकर तथ्य सभी कुछ दिया है। इससे उस समय की राजनीति, शासन प्रबन्ध की रूपरेखा, सामाजिक दशा आदि पर प्रकाश मिलता है।

मुहम्मद बिन तुगलक सिंहावलोकन—पीछे संकेत किया जा चुका है कि मुहम्मद तुगलक विरोधी गुणों का मिश्रण था। एक ओर वह दानी और उदार तो दूसरी ओर नरसंहारक था। एक ओर वह अतिशय विद्वान तो दूसरी ओर विजय का आकांक्षी। कुछ इतिहासकारों ने उसकी दुर्बलताओं पर प्रकाश डालते हुए उसे पागल तक कह डाला है। एलफिंस्टन महोदय ने उस पर विक्षिप्त होने का आरोप लगाया है, पर जिस आधार पर उन्हें ऐसी धारणा हुई वही गलत है। मध्यकालीन इतिहासकार बर्नी, एसामी तथा अफ्रीका का यात्री इब्नबतूता सभी उसकी दुर्बलताओं पर प्रकाश डालते हैं पर कहीं भी उसे पागल नहीं कहते। दूसरी ओर गार्डनर ब्राउन, ईश्वरी प्रसाद तथा मेंहदी हसन आदि उसे अनेक दोषारोपणों से मुक्त करने की चेष्टा करते हैं। प्रत्यक्ष रूप से वस्तुतः सुल्तान में विरोधी गुण तथा विषमताएँ दिखाई देती हैं, पर सूक्ष्मतः उन्हें देखने से यह धारणा भी निर्मूल सिद्ध हो जाती है।

उसको पागल सिद्ध करने वाले इतिहासकार उसकी असफल योजनाओं का सहारा लेते हैं, पर इन योजनाओं के पीछे उसका उच्च विचार और विशुद्ध हृदय छिपा है। उसने अपनी योजनाओं को सफल बनाने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद सभी नीतियों से काम लिया, पर उसका दुर्भाग्य था कि वह उसमें सफल न हुआ। यह उसकी परिस्थिति का दोष था जिन्होंने उसे असफल बनाया। इन्हीं विषम परिस्थितियों में यदि अकबर और शेरशाह भी होते तो वे भी विफलता के भागी बनते। सुल्तान का यह दृढ़ विचार बन गया था कि उसके समय की प्रजा को कठोर शासन की आवश्यकता है। वह एक स्थल पर कहता है—

"इस युग में दुष्ट तथा आज्ञा का उल्लंघन करने वाले संख्या में बहुत हो गये हैं। नित्य उपद्रव, षडयन्त्र और छल की आशंका पर ही मैं लोगों को मृत्यु दंड देता हूँ। यदि प्रजा में से कोई थोड़ा भी उल्लंघन करता है, तो मैं उसका वध करा देता हूँ। मैं उन्हें भी इसी प्रकार तब तक दण्ड देता रहूँगा जब तक या तो मेरा ही प्राणान्त न हो, या ये लोग ही ठीक न हो जायँ।"

उसकी योजनाओं में व्यापक दृष्टिकोण था। वह समय के पीछे नहीं आगे था। डा० ईश्वरी प्रसाद ने कहा है कि उसकी विफलता के लिए वह इतना उत्तरदायी नहीं है जितना उस समय की अल्प बुद्धि जनता।

कुछ विद्वानों ने उसे अधर्मी तथा नास्तिक कहकर उसे पागल सिद्ध करना चाहा, पर उसे नास्तिक कहना भी भूल है। जो पाँच वक्त नमाज पढ़ता हो, जुमे आदि को नमाज में उपस्थित रहता हो, फिर किसी मादक वस्तु का उपभोग न करता हो, वह काफिर और नास्तिक कैसे? बर्नी का कहना है कि मुहम्मद का इस्लाम में इतना अधिक विश्वास था कि उसने अपनी उपाधि ही मुहम्मद चुनी थी। सुल्तान को कुरान और हदीस कंठस्थ थे।

बर्नी आदि की आलोचना उसके लिए इतनी कटु इसलिए है कि वह भुक्त भोगी था। उसको भी दण्ड मिला था। इसी प्रकार एसामी के विषय में यह कहा जाता है कि उसका पिता राजधानी परिवर्तन से बड़ा दुखी हुआ था।

गार्डनर ब्राउन का कथन है कि "वह पागल था, इस निमित्त उसके समकालीन कोई संकेत नहीं करते, फिर उसका अनेक क्षेत्रों का क्रियात्मक ज्ञान और दृढ़ विचार युक्त चरित्र हमें बाध्य करता है कि उसे स्वप्नदर्शी न कहें। उसे आप निरंकुश कह सकते हैं, पर उस युग में ऐसा ही शासन सम्भव था।"†

ब्राउन का कहना सही प्रतीत होता है, समस्त जीवन मुहम्मद अपनी कठिनाइयों से लड़ता रहा, कभी उसने निराशा के कारण अपना संकल्प न तोड़ा, उसकी असफलता ऐसे कारणों से थी जिन पर उसका अधिकार न था। जो लोग उसको नीरो और अहिला से समानता करते हैं वे उसके साथ अन्याय करते हैं। उसकी विफलता उसके कर्मचारियों की अयोग्यता तथा प्रजा के असहयोग के कारण बहुत कुछ थी। वह उदार था, पर कर्त्तव्य भ्रष्ट को दण्ड

---

1. " That he was mad is a view of which contemporaries give no hint. that he was a visionary, his many sided practical and vigorous character forbids us to believe. for To call him a despot may be true but no other form of govt. was conceivable in the middle ages," Gardner Brown.

देने में संकोच न करता था। उसमें आस्तिकता थी, पर वह उलमाओं की चिन्ता न करता था। वस्तुतः वह एक सुन्दर साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। साथ ही उस कट्टरता से मुक्त रखना चाहता था जो उसकी टीका-टिप्पणी करते हैं वे उसके चरित्र की सही समीक्षा नहीं कर पाते।

सुल्तान के अन्तिम दिन—राज्य का काफी वातावरण सुल्तान के विरुद्ध हो गया था। वह जितना ही प्रजा को दण्ड देता था उतना ही वह उपद्रव मचाती थी। इसी समय (१३३६ में) विजय नगर राज्य की नींव पड़ी। बंगाल ने भी अपनी स्वतंत्रता घोषित की (१३३६ ई०)। १३४७ ई० में एक नया बहमनी वंश का राज्य खड़ा हो गया। इधर गुजरात का विद्रोही नेता तभी सिंध पहुंचा तथा ठठ्टा में अपना संगठन करने लगा। सुल्तान ने दिल्ली से सेना बुलाकर ठठ्टा पर चढ़ाई की, पर ठठ्टा के पास पहुंचकर वह बीमार हो गया और १३५१ ई० में परलोक चल बसा।

फीरोज तुगलक, १३५१-१३८९ ई० – ठठ्टा के घेरे के उठने से पहले ही मुहम्मद तुगलक के पड़ाव में सुल्तान की मृत्यु से गड़बड़ी फैल गयी थी। सिंध में चारों ओर विद्रोहियों का प्राधान्य था, ऐसा समय पड़ रहा था कि शाही सेना वापस ही न आ सकेगी। ऐसी विषम परिस्थिति में सुल्तान के चचेरे भाई फीरोज को अमीरों ने सुल्तान घोषित कर दिया। फीरोज लौट कर दिल्ली आया। उसने पहले दिल्ली पर एक बालक ख्वाहा जहाँ (मुहम्मद का पुत्र नहीं) बिठाया गया था, उसने फीरोज के आने पर आत्म समर्पण कर दिया। फीरोज गयासुद्दीन तुगलक के छोटे भाई रजब का पुत्र था। वह एक राजपूत माता से उत्पन्न था। अपने भक्ति भाव से उसने मुहम्मद को प्रसन्न कर दिया था और उसके शासन काल में ही अनेक उच्च पदों पर काम करता रहा था। वह न तो बड़ा महत्वाकाँक्षी था न उत्साही। अतः उस जैसे आदमी से साम्राज्य की गिरती हुई दशा सम्हल नहीं सकती थी। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि उसने धर्म को भी राजनीति में समेट लिया, अलाउद्दीन और मुहम्मद की नीति का सर्वथा परित्याग किया। उसने हिन्दुओं के प्रति असहिष्णुता का बर्ताव किया। उसके शासन में संकीर्णता, पक्षपात, तथा घोर साम्प्रदायिकता आ गयी।

फीरोज के युद्ध १३५३-५४ ई०—(१) फीरोज तुगलक को अपने शासन-काल में ६ बार युद्ध करना पड़ा। इनमें सबसे प्रथम युद्ध बंगाल का था। इस समय बंगाल में दो भाग थे, उत्तर में अली मुबारक, और दक्षिण में उसका भाई शम्स इलायस शाह इलयास ने १३४२ ई० में लखनौती पर अधिकार कर लिया था और १३५२ ई० में पूर्वी बंगाल पर। सन् १३५३ ई० में जब इलयास ने तिरहुत पर भी आक्रमण किया, तो फीरोज तुगलक उसका सामना

करने गया । आखिर इलयास ने अपने को इकदिला के किले में बन्द कर लिया । फीरोज ने किले का घेरा डाला। कहते हैं कुछ समय पश्चात् किले से रोने पीटने की आवाज आयी अतः सुल्तान ने चुपचाप घेरा उठा लिया और दिल्ली लौट आया ।

१३५९—६० ई०—दूसरा युद्ध भी फीरोज को बंगाल में ही करना पड़ा। जफर खां ने पूर्वी बंगाल पर आधिपत्य स्थापित कर लिया और फीरोज से सहायता की प्रार्थना की । सुल्तान उसकी सहायता के लिए पुनः बंगाल गया । मार्ग में उसने अपने भाई जूना खाँ की स्मृति में जौनपुर नगर की स्थापना की । जब सुल्तान बंगाल पहुंचा तो इलयास के पुत्र सिकंदर ने इकदला दुर्ग में शरण ली । बहुत दिन डेरा डाले रहने के पश्चात् सिकंदर ने जफर खाँ को सोनार गाँव देना स्वीकार किया । उसने सुल्तान को भी बहुमूल्य भेंटें अर्पण कीं । इस पर फीरोज ने उसको भी एक स्वतन्त्र शासक मान लिया । इस प्रकार बंगाल का दूसरा अभियान भी निष्फल हुआ ।

(२) बंगाल के इन दो अभियानों के पश्चात् सुल्तान ने दो हिन्दू राज्यों पर आक्रमण किया । इनमें एक उड़ीसा का था । (जाजनगर) यहाँ का राजा भाग गया । फीरोज का आधिपत्य पुरी पर हो गया, उसने जगन्नाथ के प्रसिद्ध मन्दिर को खराब किया, उसकी मूर्तियाँ कुछ तो समुद्र में फेंक दीं, कुछ दिल्ली की मस्जिद में लगाने को ले गया । पराजित राजा ने उसे प्रति वर्ष २० हाथी कर रूप देना स्वीकार किया ।

(४) सुल्तान जिस समय उड़ीसा से लौट रहा था, उस समय उसे मार्ग में वीर भूमि का प्रान्त मिला, यहां पर कुछ जमीदार शासन कर रहे थे । सुल्तान ने इनको अपने अधीन कर लिया ।

(५) इसके पश्चात सन् १३६१ ई० में सुल्तान ने नगर कोट पर आक्रमण किया । इस दुर्ग को मुहम्मद ने भी विजय कर लिया था, पर उसकी विजय स्थायी न रही थी । वहां का हिन्दू राजा भी स्वतन्त्र हो गया था । नगर कोट के दुर्ग का घेरा बहुत समय तक रहा, जिसके पश्चात् उसने विजय कर लिया । सुल्तान नगर में गया, उसने ज्वाला मुखी मन्दिर भ्रष्ट किया, और मूर्तियाँ अशुद्ध तथा अपमानित कर तोड़ डालीं । फरिश्ता के आधार पर सुल्तान ने मूर्ति के टुकड़े और गाय मांस साथ २ बाँधकर वहाँ के पुजारी तथा ब्राह्मणों के गले में लटकवा कर नगर में घुमाया ।

(६) १३६२–६३ ई० सुल्तान का अन्तिम अभियान सिन्ध पर था । इस आक्रमण का अभिप्राय विद्रोहियों को दण्ड देना था । उसने एक विशाल वाहिनी लेकर ठठ्टा का घेरा डाला । इसके शासक जाम ने नगर की बड़ी वीरता से रक्षा की । इसी बीच वहाँ दुर्भिक्ष तथा महामारी का भारी प्रकोप

हुआ। इसमें शाही सेना का ¼ अंश समाप्त हो गया। सुल्तान यह देखकर घबरा गया। वह वहाँ से गुजरात की ओर चला, मार्ग में कुछ सेना दलदल में फँस गयी। इससे बचकर शेष गुजरात पहुँचे, वहीं और सेना भी मंगा ली गयी, तथा पुनः १ साल पश्चात् उसने सिन्ध पर आक्रमण किया तथा उसे विजय किया। इसके अतिरिक्त कुछ विद्रोह भी सुल्तान ने दबा दिये।

धार्मिक नीति—फीरोज तुगलक जैसा संकेत किया जा चुका है, हिन्दू माँ की सन्तान था। वह कट्टर मुसलमान था। उसने स्वयं अपनी आत्म कथा "फलहाते फीरोज शाही" में लिखा है कि **मैंने प्रजा को इस्लाम मानने के लिए प्रोत्साहित किया और घोषित कर दिया कि जो भी कलमा पढ़ेगा—और मुसलमान बनेगा, उसे जजिया से छुटकारा मिल** जायगा। यही नहीं उसने न मानने वालों के ऊपर अनेक अन्य अन्य अत्याचार किये, उसने ब्राह्मण जीवित जलवा दिये। साथ ही उसने शियाओं को भी तंग किया। उनके पवित्र ग्रंथ भी सर्व साधारण के सामने जलवाये गये। फीरोज ने खुले आम मन्दिर तोड़े, उनकी मूर्तियों का अपमान किया, तथा अपनी कट्टरता का हर प्रकार से परिचय दिया। उसने हिन्दुओं के धार्मिक मेलों पर रोक लगायी, उसने प्रत्येक बात में उलमाओं की बात को श्रेयस्कर समझा।

उसके अन्य सुधार—अन्य दिल्ली सुल्तानों की अपेक्षा फीरोज को सुधार योजना करने का अधिक समय मिला। कुछ इतिहासकारों ने लिखा है कि वह बहुत ही अच्छा शासक था, यथा—वर्नी का कथन है, **"मुहम्मद के बाद दिल्ली के तख्त पर इतना विनीत तथा धार्मिक वृत्ति वाला कोई दूसरा शासक नहीं बैठा।"** इसी प्रकार स्मिथ महोदय ने उसके शासन के प्रति लिखा है **"फीरोज की कोई भी दुर्बलता रही हो, पर उसे अपने पूर्ववर्ती शासकों द्वारा की गयी ज्यादतियों में कमी करने तथा अनेक बातों में शासन में नरम होने का श्रेय है।** †

फीरोज ने इस बात का प्रयत्न किया कि वह एक सच्चा इस्लामी शासक बने। फिर भी उसने जिन सुधारों का अनुभव किया, उनको अपने शासन काल में कार्यान्वित करने की चेष्टा की। उसकी आन्तरिक शासन की नीति बहुत कुछ सफल रही, पर वैदेशिक नहीं। उसका केन्द्रीय शासन उलमाओं

---

1. Firoz Shah whatever may have been defects or weaknesses deserves much credit for having mitigated in some respects the horrible practices of his predecessors and for having introduced some tincture of human feeling into the administration.

और मंत्रियों के परामर्श पर आधारित था। उसका मंत्री खानजहाँ अत्यन्त योग्य और कुशल शासक था। फ़ीरोज़ ने विभिन्न विभागों का शासन अलग अलग मंत्रियों को सौंप दिया था। सुल्तान स्वयं सत्ता का स्रोत और सेनापति था। उसने अपने शासन में सैकड़ों छोटे बड़े सुधार किये जिनमें निम्नलिखित मुख्य थे।

(१) **जागीरदारी प्रथा का प्रारम्भ**—फीरोज ने जागीरदारी प्रथा को पुनः प्रचलित कर दिया। अलाउद्दीन ने आन्तरिक विद्रोहों का दमन करने के लिए इसका अन्त कर दिया था। फीरोज़ ने अपने अधिकारियों को पुनः जागीरें प्रदान कीं। यह यद्यपि उसी के हित में न था, क्योंकि जागीरदारी प्रथा के कारण ही छोटे छोटे शासक सर उठाने लगे।

(२) **कृषि सुधार**—कृषि के सुधार के लिए फीरोज ने एक विशेष अधिकारी नियुक्त किया। उसने इसकी सफलता के लिए विभिन्न स्थानों का भ्रमण किया। उसने कृषकों की कठिनाइयों का पता लगाया और अपना सुझाव सुल्तान के समक्ष रखा। फलतः सुल्तान ने भूमिकर में कमी कर दी। कहते हैं कि कृषि पर २३ प्रकार के कर तो क्षमा कर दिये गये, साथ ही कृषि की उन्नति के लिए फीरोज़ ने सिंचाई की व्यवस्था की। उसने चार बड़ी बड़ी नहरें खुदवायीं, जिनमें सबसे बड़ी नहर १५० मील लम्बी थी। इनसे कृषि के उत्पादन में विशेष सहायता मिली।

(३) **आर्थिक सुधार**—आर्थिक स्थिति को ठीक रखने की कोशिश सुल्तान ने अवश्य की, पर अनेक अनियमित कर हटा दिये। उसने इस्लाम के अनुसार चार कर ही रखे। ये थे जकात, खराज, जजिया और खम्स। वह कहता था कि कोष की अभिवृद्धि से जनता की सुखवृद्धि अधिक वांछनीय है। कुछ व्यापारिक करों में भी कमी कर दी गई। इसी प्रकार सेना द्वारा लूट के धन से उसने केवल पहले के ४/५ अंश के स्थान पर १/५ राजकोष में रखा, शेष सैनिकों में बाँटने की आज्ञा दी। इस प्रकार जनता ने कुछ हल्के होकर सुख की साँस ली।

सैन्य प्रबन्ध—फीरोज़ तुगलक की सैनिक व्यवस्था प्रशंसनीय नहीं थी। उसने वेतन के स्थान पर जागीरें देना प्रारम्भ कर दिया। सेना में लगभग ८०-९० हजार अश्वारोही थे और २ लाख पदल। अश्वारोहियों के प्रबन्धक को आज्ञा थी कि वह अच्छी नस्ल का घोड़ा लाये और कार्यालय में दर्ज करा दे। इससे नियमतः सेना में सुधार होना चाहिये, पर वह न हुआ, सेना में वृद्ध और दुर्बल सिपाही तथा घोड़े भर्ती किये जाते थे, कितने ही दिखाये जाते पर थोड़े रखे जाते थे। अतः सेना की सबलता में ही इससे धक्का लगा।

(५) **न्याय व्यवस्था**—फीरोज़ के समय मुहम्मद के समय की भांति न्याय व्यवस्था कठोर न रही। फीरोज ने अंग भंग का दण्ड बन्द ही कर दिया। फीरोज़ अत्यन्त उदार था। और उसकी उदारता अपराधियों के अनेक बार क्षमा करने से प्रदर्शित होती है। न्याय शरअ के अनुसार होता था। कानून की व्याख्या करने के लिए मुफ्ती थे, और न्याय करने के लिए काज़ी। प्रान्तों में तथा अन्य नगरों में सहायक काज़ी रहते थे। राजधानी का काज़ी सबसे बड़ा काज़ी होता था।

(६) **मुद्रा सुधार**—मुहम्मद की प्रतीक मुद्रा चलाने से बहुत हानि हो चुकी थी, अतः फीरोज ने इसका सुधार चाहा। उसने कुछ सिक्के कम मूल्य के चलाये। कुछ सिक्के शासगागी तथा वीख नाम से उसने प्रचलित किये। पर इस क्षेत्र में उसे सफलता न मिली क्योंकि सरकारी कर्मचारी ही ईमानदार न थे। उसे इसके अध्यक्ष को पदच्युत करना पड़ा।

(७) **राजकीय सहायता की व्यवस्था**—फीरोज़ के समय मुसलमानों में वैवाहिक कठिनाइयाँ थीं, अतः उसने दीवाने खैरात की स्थापना की। इससे निर्धन तथा असहाय लोगों को पर्याप्त सहायता दी जाती थी। बेकारों की नौकरी का प्रबन्ध कर दिया जाता था। अतः यह कार्य उसका सराहनीय था।

(८) **दास प्रथा**—फीरोज तुग़लक के समय १ लाख ८० हजार दास थे। इनमें बहुत से सैनिक बन्दी थे। फिर ये अधिकतर अशिक्षित थे, अतः इनकी उन्नति करना सरल न था। पर फीरोज़ ने इनमें से ४०००० हजार तो अपने शासन की शृंखला में नौकर रख लिये और शेष के लिए प्रान्तों में भेजने का प्रयास किया। पर इसका परिणाम अच्छा न हुआ। जब तक फीरोज जीवित रहा, तब तक तो वे स्वामिभक्त रहे, बाद को ये राज्य के लिए संकट का स्थल बन गये।

(९) **शिक्षा तथा साहित्य**—फीरोज को शिक्षा तथा साहित्य से विशेष अनुराग था। उसने शिक्षा के प्रसार के लिए अनेक मदरसे व मकतब खुलवाये। योग्य शिक्षकों की उनमें नियुक्तियाँ कीं। विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देने का प्रबन्ध भी कर दिया गया। इन मकतबों में सबसे उत्तम मकतब उसने फीरोजाबाद में बनवाया था। इस समय के साहित्य में बर्नी की तारीख-ए-फीरोज शाही लिखी गयी। फीरोज़ ने स्वयं भी अपनी आत्मकथा लिखी। वह विद्वानों की बड़ी प्रतिष्ठा करता था। उन्हें खूब दान देता था।

(१०) **अन्य लोकोपकारी कार्य**—फीरोज निर्माता था। उसने निर्माण कार्यों में भी अपनी रुचि का परिचय दिया। उसने फिरोज़ाबाद, हिसार, फतेहाबाद आदि नगर बसाये। उसने अशोक की लाटों को मेरठ तथा टोपरा से दिल्ली ले जाकर गढ़वाया। बर्नी के आधार पर उसने ५० बाँध, ४० मस्जिदें, ३० विद्यालय,

२० भवन, १०० सराएँ, १०० नगर, १०० औषधालय, १०० कब्रगाह, ५ मकबरे, ५ बावड़ी, १०० स्नानागार, १० स्तम्भ, ४० कुएँ और १५० पुल बनवाये। यही नहीं उसने लगभग १२०० उद्यान लगवाये। इसके अतिरिक्त तीर्थ तथा दान आदि की व्यवस्था भी उसने ठीक की।

आलोचना—इस प्रकार हम देखते हैं कि फीरोज ने एक नये युग का प्रारंभ किया, उसने सर्वसाधारण के हित की बात सोची, यद्यपि उसका दृष्टिकोण संकुचित था और वह सबका हित समान रूप से न कर सका। हैवेल महोदय का कथन है 'वह बहुत बुद्धिमान तथा दयालु शासक था। तुर्कों के अन्धकार मय तथा उस लम्बी निर्दयता तथा अत्याचार की इतिहास शृंखला में उसका राज्य एक वाँछनीय तोड़ था।"[1]

हेनरी इलियट के शब्दों में तो वह चौदहवीं शताब्दी का अकबर था। मोरलैंड का कथन है कि "उसका शासन एक छोटा सा स्वर्ण युग था जिसका दर्शन आज भी उत्तर भारत के गाँवों में मिल जाता है।"[2]

फीरोज के उत्तराधिकारी:—फीरोज के पश्चात् उसका पौत्र तुगलक शाह द्वितीय (१३८८-८९ ई० के नाम से गद्दी पर बैठा। तुगलक शाह विलासी सिद्ध हुआ। राज्य में विद्रोह व षडयन्त्र होने लगे, कुछ ही समय पश्चात् उसके चचेरे भाई अबूबक्र ने उसका वध कर दिया। साथ ही वह स्वयं राज्य का स्वामी बन गया। थोड़े समय तक तो उसका प्रभाव बढ़ता रहा, पर अबूबक्र का विरोध फीरोज के छोटे लड़के मुहम्मद ने किया। उसने दिल्ली पर चढ़ाई कर दी। दोनों दलों में कई बार युद्ध हुए। इसमें पहले मुहम्मद हारा पर वह निराश न हुआ, और मौका पाकर दिल्ली में प्रवेश पा गया, उसने तुरन्त अपने को नासिरुद्दीन के नाम से सुल्तान घोषित कर दिया। इसके अनन्तर उसने अबूबक्र को कैद कर लिया और उसके साथियों को समाप्त करा दिया। नासिरुद्दीन स्वयं भी थोड़े ही समय राज सुख भोग सका। सन् १३९४ ई० में उसका देहावसान हो गया। इसके पश्चात् मुहम्मद का छोटा लड़का नासिरुद्दीन महमूद सुल्तान बना। इसके शासन काल में गुजरात, मालवा और जौनपुर के शासकों ने स्वतन्त्रता घोषित कर दी। यह तुगलक वंश का अन्तिम सुल्तान था। इसके विरोध में कुछ अमीरों ने फीरोज के दूसरे पौत्र नसरत को सुल्तान बनाना

---

1. "He was a wise and humane ruler. His reign is a welcome break in the long chain of tyranny, cruelty and debauch which makes up the gloomy annals of the Turki dynesties."

—Havell

2. His reign was a short golden age which still lingers vaguely in the villages of northern India. —W. H. Moreland.

चाहा, दोनों दलों में प्रतिरोध चलने लगा। दोनो में संघर्ष चल ही रहा था कि तैमूर का आक्रमण हुआ। इससे दिल्ली को बहुत धक्का लगा। १४१२ ई० में महमूद की मृत्यु हो गयी। इसके बाद अमीरों ने दौलत खां को अपना नेता चुना, पर वह भी राज्य को सम्हाल न सका। उसने फिज्र खां के विरोध को दबाना चाहा, उधर इटावा के हिन्दू दबाने चाहे, पर वह स्वयं कुछ न कर सका और फिज्र खां का दिल्ली पर अधिकार हो गया।

तैमूर का आक्रमण १३९८ ई०—तुगलक साम्राज्य की इस बुरी दशा को देखकर तैमूर ने सन् १३९८ ई० में भारत पर आक्रमण किया। तैमूर का जन्म केश नामक नगर में सन् १३३६ ई० में हुआ था। वह ३३ साल की अवस्था में चागताई तुर्कों का सरदार बन गया। धीरे-धीरे उसने फारस, अफगानिस्तान, और ईराक विजय कर लिया। इसके अनन्तर उसने मुल्तान पर धावा मारा। वह बहुत ही कुशल सैनिक था। आखिर सन् १३९८ ई० में वह सिन्धु पार उतर आया। चूंकि दिल्ली का सुल्तान अत्यन्त दुर्बल था, अतः तैमूर ने बात की बात में दीपालपुर, सिरसा, फतहाबाद, समाना नगर ध्वस्त कर दिये। धीरे-धीरे वह दिल्ली भी पहुँच गया। उसने नगर प्रवेश करते ही कत्ले आम की आज्ञा घोषित की। वह निर्दयी तो था ही, चाहता था कि सर्वसाधारण भी उससे आतंकित रहें। कहते हैं मौलाना नासिरुद्दीन जिसने अपने जीवन में एक चिड़िया भी न मारी थी, उससे १५ आदमी कत्ल करने को वाध्य किया गया।

इधर दिल्ली के सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद तथा उसके सहायक मंत्री मल्लू का प्रतिरोध शून्य-सा था। सुल्तान की सेना को तैमूर ने कुछ न समझा। तैमूर के पास एक लाख तो कैदी थे। आखिर मल्लू स्वयं भाग खड़ा हुआ, फलतः सुल्तान भी गुजरात की ओर चल दिया। दिल्ली को तैमूर ने उजाड़ कर दिया। शैबुद्दीन लिखता है कि तैमूर के हजारों सैनिक नगर में लूटमार करते रहे। उन्होंने दिल्ली में खून की नदियाँ बहा दीं।

"इस शुक्रवार की रात को नगर में लगभग १५००० आदमी थे, जो संध्या से प्रातः तक लूटमार और मकान जलाने में लगे रहे।··· ता० १९ को पुरानी दिल्ली की ओर ध्यान दिया गया, क्योंकि अनेक विधर्मी हिन्दू वहाँ भाग गये थे। हिन्दुओं के मुण्डों से ऊँचे-ऊँचे टीले बना दिए गये, और उनको माँसाहारी पशु पक्षियों के खाने के लिए छोड़ दिया गया।"

—शैबुद्दीन

ऐसा संकट दिल्ली पर कभी न आया था। दिल्ली को लूटपाट कर तैमूर अतुल सम्पत्ति के साथ मेरठ, हरिद्वार आदि स्थानों में होकर पुनः लौट गया। भारत छोड़ते समय उसने खिज्र खाँ को दिल्ली का शासक नियुक्त कर दिया।

आक्रमण का फल—तैमूर के आक्रमण के पश्चात् लगभग दो माह तक

तो किसी ने दिल्ली को मुँह भी न किया। दिल्ली सुल्तान की सारी प्रतिष्ठा धूल में मिल गयी। सर्वसाधारण को भी अपार धन जन की हानि उठानी पड़ी। इससे दिल्ली सल्तनत के प्रति किसी को तनिक भी श्रद्धा न रह गयी। मनुष्य का सामान्य सामाजिक जीवन भी अस्त-व्यस्त हो गया। यही कारण है कि दिल्ली का स्वामित्व भी उचित उत्तराधिकारी को न मिला। तुगलक साम्राज्य डगमगा तो रहा ही था, उसकी जड़ें भी हिल गयीं। जैसे गुप्त साम्राज्य में हूणों ने एक थपेड़ मारकर उसका अन्त नजदीक बुला दिया था, उसी प्रकार तुगलक साम्राज्य का अन्त तैमूर ने बरबस बुला लिया। ये परिणाम राजनीतिक तथा आर्थिक सभी क्षेत्रों में दृष्टिगोचर हुए।

पतन के अन्य कारण—इस साम्राज्य के पतन का यही एक कारण न था, बल्कि अन्य अनेक बातें इसके लिए उत्तरदायी थीं, यथा—

(१) वस्तुतः तुगलक शासन निरंकुश था, उनके पास इतने साधन नहीं थे कि इतने विशाल साम्राज्य को उसके दुर्बल उत्तराधिकारी सम्हाल सकें।

(२) इस शासन व्यवस्था में प्रजा का सहयोग ढूँढने को भी न था। अमीर लोग अपने अपने स्वार्थ साधन में लगे रहते थे। सुल्तान अपने भोग-विलास में, जागीरदार अपनी जागीर में फिर कौन किसकी खबर लेता।

(३) तीसरे इसमें तुर्कों के तथा उनके विरोधियों के बीच एक खाई पड़ चुकी थी। परस्पर कलह चला करती थी। इनमें जातीयता का दम्भ तथा राजभक्ति की शून्यता भरी थी। मुसलमानों का नैतिक पतन हो चुका था। न उन्हें लूट का ध्यान था, न अत्याचार का, न कत्ल का, न किसी अनुचित कर का।

(४) साथ ही इस समय सेना में दुर्बलता और अनुशासन-हीनता आ गयी थी। जागीर दारी प्रथा ने उसमें और बुराई पैदा कर दी थी। सैनिक बहुधा वंश परम्परा के आधार पर नियुक्त किये जाने लगे थे, न कि अपनी व्यक्तिगत योग्यता पर। उसमें भी कुन्बा परस्ती चलने लगी थी। फिर उसमें सेनानायक सुल्तान स्वयं युद्धस्थल की शकल न देखते थे।

(५) भारतीय अपने अधिकारों से सर्वथा वंचित थे। वे सदा शोषित किये जाते थे। उन्हें कभी भी शासन में अधिकार दिया ही नहीं गया। शासन की पद्धति निरंकुश थी, इसमें तलवार के बल पर शासन उस युग में होता था। सुल्तान प्रजा हित के लिए शासन नहीं करते थे, बल्कि या तो अपने स्वार्थ साधन के लिए अथवा अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए।

(६) इनके उत्तराधिकार का नियम निश्चित न था, जब जिस की बन आई वही राज्य का स्वामी बन गया। चाहे वह फिर एक दिन राज्य कर सका चाहे ५० वर्ष। इससे सर्व साधारण में विश्वास न जम सकता था, वह

आये दिन या तो नये सुल्तान को भेंट देता या किसी के द्वारा मृत्यु के घाट उतरता ।

(७) इसके साथ ही कहना न होगा कि कुछ व्यक्तिगत सुल्तानों की दुर्बलताएँ राज्य को गर्त में गिराती गयीं । मुहम्मद तुगलक और फीरोज दोनों ही इस दोष के शिकार थे । एक अपनी सूझ के लिए, तो दूसरा अपनी धर्म की संकीर्णता के लिए ।

(८) अन्त में उस युग की अपनी एक विचित्र रूपरेखा थी, विदेशी इस देश में कितने ही न्यायशील और भले बनते वे विदेशी ही थे, जब कि उनका साँस्कृतिक जीवन यहाँ के जीवन से सदा भिन्न था उनको यहाँ की जनता की श्रद्धा प्राप्त न हो सकती थी और न हुई ।

———

परिच्छेद २४

साम्राज्य का विघटन

(६) बहमनी वंश (१३४७-१५५६)

तुगलक साम्राज्य की दुर्बलता तथा निरंकुशता का फल था कि दक्षिण में एक नया राजवंश उठ खड़ा हुआ। यह था बहमनी वंश। मुहम्मद विद्रोह शान्त करने को दक्षिण गया भी था, पर उसकी परिस्थितियों ने उसका साथ न दिया, उसे उत्तर में सिंध के विद्रोह के कारण शीघ्र लौट आना पड़ा। इसी बीच एक सुयोग्य व्यक्ति हसन ने अपना शासन स्थापित कर स्वतंत्रता घोषित की। वह अगस्त १३ सन् १३४७ ई० को हसन अलाउद्दीन अबू मुजफ्फर बहमन शाह के नाम से दौलताबाद की गद्दी पर बैठा।

यह हसन कौन था, इस प्रश्न पर बड़े विवाद हैं। फरिश्ता का कथन है, कि हसन दिल्ली के ज्योतिषी ब्राह्मण गंगू के समीप काम करता था। कहते हैं कि ब्राह्मण के खेत में हल चलाते समय उसे एक ताँबे का घड़ा प्राप्त हुआ। इस घड़े में स्वर्ण मुहरें थीं। उसने यह धनराशि अपने स्वामी को सौंप दी। स्वामी ने सुल्तान के सामने उस की सच्चाई की प्रशंसा की। सुल्तान ने प्रसन्न होकर उसे एक सौ अश्वारोही का नेता बना दिया। इस प्रकार बहमनी शब्द अपने स्वामी (जो ब्राह्मण था) की कृतज्ञता वश उसने धारण किया।

दूसरे इतिहासकारों के आधार पर हसन फारस के शासक बहमन शाह का वंशज था। उनके अनुसार इसका ब्राह्मण वंश से कोई सम्बन्ध न था। इस सिद्धान्त में मेजर हेग ने सिद्ध किया है, कि यह बात बिल्कुल निराधार है। हसन ने कभी भी अपना नाम बहमनी नहीं रखा। उसके सिक्कों पर एक मस्जिद के शिलालेख पर तथा अन्य पुस्तकों में भी उसका राजकीय नाम बहमान शाह है। इसी आधार पर अनेक उत्तराधिकारी बहमनी कहलाये। उस समय दक्षिण में मुसलमान जनता में एक बहुत बड़ा अंश फारस के अमीरों का था। ये लोग चतुर और योग्य होते थे। अतः कभी सुअवसर को हाथ से न जाने देते थे। अतः सम्भव है कि इन्हीं में से कोई व्यक्ति उठ खड़ा हुआ हो।

हसन का राज्य—हसन शाह ने गुलबर्गा को अपनी राजधानी बनाया। उस समय उसके चारों ओर हिन्दू राज्य विद्यमान थे। हसन ने गद्दी पर बैठते ही राज्य विस्तार करना आरम्भ किया। उसने शीघ्र ही आसपास के कई

दुर्गों पर अपना आधिपत्य जमा लिया। उसने मालवा और गुजरात पर भी चढ़ाई की। धीरे-धीरे उसने उन सभी प्रान्तों पर अधिकार कर लिया जो तुगलक साम्राज्य के दक्षिणी भाग में थे, उसने इनका प्रबन्ध भी समुचित किया। अपने राज्य को उसने प्रबन्ध की सुविधा के लिए ४ भागों में बाँट दिया। गुलबर्गा, दौलताबाद, बरार और बीदर। इनमें से प्रत्येक का नाम तरफ रखा गया। उसका शासन प्रबंध तुर्की सल्तनत का ही अनुकरण मात्र था। पर वह इस सुख को बहुत दिन न भोग सका और सन् १३५८ ई० में चल बसा।

मुहम्मद शाह प्रथम (१३५८-७७ ई०)—हसन का उत्तराधिकार मुहम्मद शाह प्रथम को प्राप्त हुआ। इसके पहले ही दक्षिण में एक हिन्दू राज्य स्थापित हो चुका था। अतः दोनों में परस्पर कलह स्वाभाविक थी। उधर तेलंगाना प्रदेश के शासक ने भी कर देना बन्द कर दिया। विजय नगर का कहना तो यह था कि हसन द्वारा छीने गये प्रान्त ही उसे वापस किये जायँ। दोनों ने मिलकर यह धमकी दी कि यदि वह सुलह नहीं करता तो वे दिल्ली सुल्तान से सहायता लेकर उस पर आक्रमण करेंगे। एक अन्य मत भी इस सम्बन्ध में है, कि उसने अपने पिता की विजय परम्परा रखने के लिए इन राज्यों से युद्ध किया। आखिर युद्ध हुआ, जिसमें एक ओर बहमनी तथा दूसरी ओर विजय नगर और तेलंगाना थे। मुहम्मद शाह ने इनको पराजित किया, पर कुछ समय बाद ही उसे भी मुँह की खानी पड़ी। इस युद्ध में तेलंगाना के राजा का पुत्र विनायक देव मारा गया। इसके पश्चात् मुहम्मद ने विजय नगर पर धावा किया, पर विजयनगर भी पूरी तौर से प्रस्तुत था। उसने मुहम्मद की एक न सुनी, बल्कि भयंकर हत्याकाण्ड मचा दिया। मुहम्मद को यह कब सहन हो सकता था, उसने विजय नगर को ध्वस्त करने की ठान ली, जो दूत यह समाचार लाया कि मुसलमान मारे गये, उसे जीवित जलवा दिया और कहा जो मनुष्य इतने मुसलमानों की मृत्यु देख सकता है, उसे जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं। अन्ततः जब उसे विजय नगर का दुर्ग न मिलते दिखाई दिया तो उसने बीमारी का तथा सुल्तान की (अपनी) मृत्यु का झूठा समाचार फैला दिया और शत्रुओं को बाहर निकालना चाहा। हिन्दू सचमुच इस चाल में आ गये। वे जैसे ही बाहर आये, पुनः युद्ध प्रारम्भ हो गया, हजारों की संख्या में हिन्दू भी मारे गये। अन्त में दोनों ने बराबरी की प्रतिष्ठा से सन्धि कर ली।

(२) **मुजाहिद (१३७७-७८ ई०)**—मुहम्मद का पुत्र एवं उत्तराधिकारी मुजाहिद हुआ। उसने भी विजय नगर पर आक्रमण किया। इस समय विजय

नगर में बुक्का का शासन था। इस अभियान का बहमनी राज्य के लिए कोई फल न निकला।

(४) **मुहम्मद शाह द्वितीय** (१३७८-९७ ई०)—मुजाहिद के पश्चात् मुहम्मद शाह द्वितीय गद्दी पर बैठा। वह बहुत ही शान्तप्रिय शासक था, अतः उसे युद्धों में रुचि न थी। उसने अपना ध्यान साहित्य की ओर लगाया। इसके फलस्वरूप दोनों राज्यों में शान्ति बनी रही।

(५) **फीरोज शाह** (१३९७-१४२२ ई०)—फीरोज शाह के समय पुनः यह प्रतिद्वन्द्वता शुरू हो गई। यह प्रतिद्वन्द्वता विजय नगर के देवराम के काल तक चलती रही। इन संग्रामों में विजय नगर को कई बार पराजय उठानी पड़ी। उसकी बड़ी हानि हुई। १३९८ ई० में हरिहर द्वितीय ने स्वयं बहमनी पर चढ़ाई की, पर उसे सफलता न मिली, अन्त में वह सन्धि करने को बाध्य हुआ।

फीरोज का सम्बन्ध खानदेश, गुजरात और मालवा के साथ भी मैत्री-पूर्ण न था। अतः इन प्रान्तीय राज्यों ने भी विजय नगर को बहमनी के विरुद्ध उत्तेजित किया। फलतः १४०६ ई० में पुनः युद्ध प्रारम्भ हो गया, पर इस युद्ध में फीरोज स्वयं हार गया और घायल हो गया। इसके अनन्तर बहमनी सेनापति ने विजयनगर का एक इलाका जीत लिया, जिसके अन्त में बुक्का द्वितीय को अपमान जनक सन्धि करनी पड़ी। उसे अपनी कन्या तथा अतुल धन फीरोज को देना पड़ा। सन् १४१७ ई० में फीरोज ने तेलंगाना पर अधि-कार कर लिया। १४२० ई० में पुनः इनमें युद्ध छिड़ गया, जिसमें बहमनी राज्य खूब लूटा गया।

(६) **अहमद शाह** (१४२२-३५ ई०)—अहमद शाह फीरोज का भाई था। उसने भी विजयनगर से संघर्ष जारी रखा और तुँगभद्रा के दक्षिण में एक विशाल हिन्दू सेना को मार भगाया। उसने विजयनगर में खूब लूटमार भी की और अनेक निर्दोष भी मार डाले। इसके अन्त में देवराय द्वितीय को भारी रकम देकर सन्धि करनी पड़ी। इसके अनन्तर अहमद शाह ने वारंगल का दुर्ग छीन लिया तथा वहां काकातिय राज्य का अन्त कर दिया। उसने मालवा के होशंग शाह को भी हराया तथा गुजरात के सुल्तान पर धावा मारा। इस प्रकार बहमनी राज्य का विस्तार बढ़ गया। अतः अहमद शाह ने राज्य में एक पाचवां प्रान्त बनाया, तथा अपनी राजधानी गुलवर्गा से बीदर ले गया। मुसलमान इतिहासकारों ने उसकी बड़ी प्रशंसा की है।

(७) **अलाउद्दीन** (१४३५-५७ ई०)—अहमद के पश्चात् उसका पुत्र अला-उद्दीन गद्दी पर बैठा। इस समय विजय नगर राज्य में देवराय द्वितीय था। उसने अहमद शाह से भी युद्ध किया था, अपनी सेना का विशेष संगठन किया

था, पर वह अलाउद्दीन को न हरा सका। इनमें भी आखिर सन्धि हो गयी। अलाउद्दीन वैसे तो विलासी था पर वह एक कठोर शासक, निर्माता तथा विद्या प्रेमी था।

(८) हुमायूँ (१४५७-६१ ई०)—अलाउद्दीन के पश्चात् उसका पुत्र हुमायूँ सन् १४५७ ई० में गद्दी पर बैठा। यह इतना लड़ाका तथा खूनी था कि इतिहास में जालिम के नाम से प्रसिद्ध है। धीरे-धीरे इसके विरुद्ध असन्तोष फैल गया। अतः उसका शीघ्र ही अन्त भी हो गया।

(९) मुहम्मद शाह तृतीय (१४६३-८२)—उसके पश्चात् उसका पुत्र निजाम शाह (१४६१-६३) तथा उसके पश्चात् हुमायूँ का ही पुत्र मुहम्मद शाह तृतीय (१४६३-८२) सुल्तान हुआ। बहमनी वंश में मुहम्मद शाह तृतीय का काल एक विशेष कारण से अत्यंत प्रसिद्ध है। इसके शासन काल में एक विदेशी ने मन्त्रित्व का कार्य किया। यह एक विदेशी अमीर ख्वाजा महमूद गावान के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक फारस का व्यापारी था, जो ४२ वर्ष की आयु में व्यापार के सम्बन्ध में भारत आया था। कुछ ही काल में उसने बहमनी राज्य में एक सरकारी नौकरी कर ली, तथा हुमायूँ के समय में ही वह मन्त्रिपद पर पहुँच गया। उसने अपने मन्त्रित्व में सैनिक विजयों, शासन सुधारों और प्रजाहित के कार्यों से बहमनी राज्य को वैभवपूर्ण बना दिया। इसी के समय आंध्र और उड़ीसा के अभियानों में सुल्तान को सफलता प्राप्त हुई। इसी के समय विजय नगर पर आक्रमण किया गया और कांची को लूटा गया। इसी के काल में सन् १४७० ई० में निकतिन नाम का एक रूसी व्यापारी बीदर आया। उसने राजधानी तथा गवान के प्रबन्ध का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। वह लिखता है—

"सुल्तान छोटे कद का था। उसकी आयु बीस वर्ष थी। वह अमीरों के ऊपर निर्भर रहता है। खुरासान के लोग देश का शासन करते हैं। वे युद्ध के समय राज्य की सेवा करते हैं। सुल्तान अपनी माता तथा बेगम को साथ लेकर शिकार के लिए जाता है। उसके साथ १०००० अश्वारोही, ५०००० पदाति, स्वर्णांकित वस्त्रों से सजे २०० हाथी चलते हैं। यहाँ के अमीरों का जीवन विलासिता पूर्ण है। वे चाँदी के आसनों पर बाहर निकलते हैं, उनके पास ५० सोने से सजे घोड़े उनकी सवारी के आगे, ३०० अश्वारोही, ४५०० पैदल दुदुम्भी बजाने वाले तथा १० मसाल वाले और १० गायक पीछे चलते हैं। सुल्तान के महल में सात प्रवेश द्वार हैं। प्रत्येक द्वार में १०० रक्षक तथा १०० लेखक हैं जो आने-जाने वाले का नाम लिखते रहते हैं। विदेशियों को नगर में प्रवेश करने की आज्ञा नहीं है। यह महल अनोखा है। इसमें प्रत्येक वस्तु पर

नक्काशी तथा सोने का काम किया हुआ है, इसमें छोटे से छोटा पत्थर भी आश्चर्यजनक रूप से काटा हुआ तथा सोने से जड़ा है। इस महल में बहुत से न्यायाधिकरण हैं। इसमें १००० कवचधारी तथा मसाल लिये हुए कोतवाल सारी रात बीदर में पहरा देते हैं।

शासन प्रबन्ध—"महमूद गवान शासन प्रबन्ध में बहुत चतुर है। मुहम्मद शाह के शासन काल में बहमनी राज्य की सीमाओं में काफी विस्तार हुआ था। अतः उसने पहले के प्रबन्ध में अनेक परिवर्तन किये हैं। उसने राज्य को ४ के स्थान पर ८ प्रान्तों में बाँटा है। प्रत्येक प्रान्त में एक एक प्रान्ताध्यक्ष नियुक्त किया। महमूद गवान ने राज्य के सैनिक भाग का पुनः संगठन किया। उसने अमीरों को बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए सेना का सम्पूर्ण नियंत्रण सुल्तान के हाथ सौंप दिया। राज्य के अमीरों के वेतन निश्चित किये गये। इस प्रकार महमूद गवान ने राज्य की केन्द्रीय शक्ति में वृद्धि की। इसके अतिरिक्त अन्य विभागों में भी उसने सुधार योजनाएँ चलायीं।"

इसी का फल था कि महमूद गवान की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गयी, पर उससे लोग जलने भी लगे। सुल्तान का तो कहना था कि खुदा ने उसे दो अमूल्य वरदान दिये हैं "**एक विशाल साम्राज्य और दूसरा महमूद गवान जैसा योग्य सेवक**" एक दिन तो सुल्तान ने प्रसन्न होकर उसे अपने शाही वस्त्र पहना दिये। पर इस योग्य मंत्री की प्रतिष्ठा उस समय धूल में मिल गयी जब उसके विपरीत लोगों ने सुल्तान के कान भरे, उसकी ओर से एक जाली पत्र विजय नगर को लिखा हुआ दिखाया। उसने लाख प्रमाण देने चाहे पर सुल्तान ने नशे में चूर होकर उसके प्राण हर लिये।

बहमनी वंश का पतन (महमूद १४८२-१५१८ ई०)—मुहम्मद शाह की मृत्यु के उपरान्त महमूद द्वितीय सुल्तान बना। यह अभी केवल १२ वर्ष का था। इसके शासन काल में दो दल हो गये। एक विदेशी अमीरों का, दूसरा दक्षिण के अमीरों का। दक्षिणी अमीरों के नेता निज़ाम-उल-मुल्क बहरी ने महमूद गवान की हत्या कराके राज्य की सत्ता हथियाना चाही, सुल्तान इस स्थिति को न संभाल सका। धीरे-धीरे बहमनी राज्य की सीमा तेलगाना तथा बीदर तक ही रह गयी थी। अन्ततः यह राज्य पांच टुकड़ों में विभक्त हो गया, जिसके अलग अलग वंशों के नाम पर प्रान्तीय शासक शासन करने लगे, आगे चलकर ये ही ५ स्वतन्त्र राज्य बन गये—

१. बीजापुर—युसुफ आदिल शाह द्वारा।

२. गोलकुंडा—कुतुब शाह।

३. अहमदनगर—अहमद निजाम शाह।

४. बीदर—वरीद शाह अन्तिम (वरीद मंत्री था)
५. बरार—इमाद शाह उल्ला।

(ब) हिन्दू राज्य विजय नगर

हम देख चुके हैं कि मुसलमानों ने उत्तर व दक्षिण के प्राचीन भारतीय राज्य किस तरह नष्ट-भ्रष्ट करने चाहे। उत्तर भारत तो शीघ्र ही दासता की बेड़ियों में जकड़ गया, किन्तु दक्षिण के राज्यों की पराजय होने पर भी वे स्थायी बन्धनों में न बाँधे जा सके। दिल्ली नरेश भी इनसे अपार धनराशि लेकर अथवा उन पर यदा कदा अत्याचार करके ही सन्तुष्ट रहे। काकतीय और होयसल वंश में उनके राजा प्रताप रुद्रदेव तथा वल्लाल तृतीय विशेष सराहना के पात्र रहे, क्योंकि उन्होंने दक्षिण में एक नयी ज्योति जगा दी। विजय नगर राज्य की स्थापना के विषय में विजय नगर के इतिहासकार सँबेल ने सात भिन्न-भिन्न बातें बतायी पर उनमें सबसे अधिक विश्वस्त निम्नलिखित हैं।

कहते हैं कि हरिहर और वुक्का राय वांरगल के काकतीय राजा प्रताप देव के कोष विभाग के पदाधिकारी थे। सन् १३२३ ई० में जब मुसलमानों का आक्रमण हुआ, तो वहां से भागकर ये रायचूर प्रदेश में आणेगुण्डी के राजा के यहाँ जाकर कार्य करने लगे। यहाँ पर होयसल वंश के अन्तिम राजा वीर वल्लाल द्वारा बनवाये नगर को उन्होंने पूरा किया। इस ओर इनकी सहायता करने वाला एक परम विद्वान विद्यारण्य था। उसने इस वंश की उसी प्रकार सहायता की जिस प्रकार चाणक्य ने मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त की की थी। इस कृतज्ञतावश इन भाइयों ने नगर का नाम विद्यानगर अथवा विजय नगर रखा। यह नगर निश्चय ही सन् १३३६ ई० में पूरा हो चुका था। यह नगर तुंगभद्रा के किनारे पर बसाया गया था। वस्तुतः इसकी स्थापना उस हिन्दू जागृति तथा उस प्रतिक्रिया का परिणाम थी, जो दक्षिण में मुसलमानों के आक्रमण और अत्याचारों के कारण हुई थी। एक अनुश्रुति के आधार पर सङ्गम के पाँच पुत्र थे उन्हीं में से दो हरिहर और बुक्का थे। इस समय तक दक्षिण भी मुसलमानों का एक प्रान्त बन चुका था। विशेष कर कारोमण्डल प्रान्त में मुसलमानों की सत्ता जम गयी थी। मुहम्मद तुगलक के शासन काल में (१३२५—५१ ई०) जलालुद्दीन अहसान शाह ने जो कारोमण्डल (माबर) का गवर्नर था, एक स्वतंत्र राज्य बना रखा था। यह बहुत बड़ा अत्याचारी था। इसने अपना धर्म बल पूर्वक फैलाना चाहा, इसी का फल हुआ कि हिन्दू जगे तथा होयसल राजा वीर वल्लाल ने किले बन्दी प्रारम्भ की। यही नहीं उसने दक्षिण से मुसलमानों को निकालने की भी ठान

ली। वीर वल्लाल चतुर्थ इसी दल में मारा गया, इसके अनन्तर हरिहर तथा उसके चार भाइयों ने इस भावना को जाग्रत रखा, यही कारण है कि हरिहर और बुक्का इस राज्य के संस्थापक कहे जाते हैं।

संगम राज वंश (१३३६-१४८६ ई०)

हरिहर १३३६-५३ ई०—हरिहर इस वंश का प्रथम राजा हुआ। उसने अतिशीघ्र अपने राज्य का विस्तार किया और १३४० ई० तक तुंगभद्रा की घाटी, कोधन तथा मलाबार तट पर अधिकार कर लिया। इतने पर भी हरिहर ने अथवा उसके भाई ने कभी भी राजत्व स्वीकार न किया। प्रताप रुद्रदेव के पुत्र कृष्ण नायक ने सन् १३४४ ई० में मुसलमानों को मार भगाने की ठानी और एक संघ बनाया। हरिहर भी इस संघ का सहायक बना। सन् १३४६ ई० में होयसल नरेश विरूपाक्ष की मृत्यु हो गयी, उधर दिल्ली सल्तनत में भी गड़बड़ी थी। अतः हरिहर ने होयसल राज्य को भी हड़प लिया। धीरे-धीरे इन भाइयों ने इतनी विजयें कीं कि उनका राज्य कृष्णा से कावेरी तक हो गया। उत्तर की ओर इनका प्रसार बहमनी राज्य के कारण रुक गया। विजय नगर और बहमनी दोनों राज्यों में परस्पर बराबर प्रतिद्वन्द्वता चलती रही। हरिहर ने अपना राज्य प्रान्तों में विभक्त किया और प्रत्येक का शासक कोई राजवंश का ही सदस्य नियुक्त किया। उसकी सन् १३५३ ई० में मृत्यु हो गयी।

बुक्का १३५३-७९ ई०—हरिहर की मृत्यु के पश्चात् बुक्का गद्दी पर बैठा। बुक्का ने विजय नगर का निर्माण कार्य पूरा कराया। उसने इसके विस्तार को भी बढ़ाया। वह भी एक कुशल सेनानायक था। अभिलेखों में उसका वर्णन पूर्वी, पश्चिमी तथा दक्षिणी समुद्रों के स्वामी के रूप में वर्णन किया गया है। हो सकता है इनमें कुछ अत्युक्ति हो पर यह निश्चित है कि वह एक महत्त्वशाली शासक था। उसने चीन को (ताईत्सू) एक राजदूत भेजा तथा बहमनी वंश से युद्ध किये। वह अत्यन्त उदार चित्त तथा सहिष्णु शासक था, यहां तक कि उसने जैन तथा वैष्णवों में समझौता करने का प्रयत्न किया। सन् १३७९ में उसका प्राणान्त हो गया।

हरिहर द्वितीय (१३७९-१४०४ ई०)—बुक्का की मृत्यु के पश्चात् हरिहर द्वितीय विजय नगर के सिंहासन पर बैठा। कहा जा चुका है कि हरिहर और बुक्का ने राजमुकुट धारण नहीं किया था। हरिहर द्वितीय ने राजत्व धारण करके महाराजाधिराज की पदवी भी धारण की। उसने अपने साम्राज्य को संगठित करने की चेष्टा की, अनेक मंदिरों को दान दिये। सैवेल के अनुसार वह एक शान्तिप्रिय शासक था। स्मिथ भी इसी का समर्थन करते हैं और कहते हैं कि उसे मुसलमानों से युद्ध नहीं करने पड़े। उस का अधिकार

कन्नड़, मैसूर, कांची, तथा चिंगलेपुत आदि प्रान्तों पर था। इस कार्य में उसका सबसे बड़ा सहायक उसका सेनापति गंड था। हरिहर को अपनी प्रजा के हित का भी बहुत ध्यान था। उसकी उदारता का परिचय मन्दिर आदि के दिये गये दान से विदित होता है। १४०४ ई० में हरिहर की मृत्यु के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी देवराय प्रथम १४०६ ई० में हुआ क्योंकि उसका पुत्र जो गद्दी पर बैठा था दो वर्ष में ही चल बसा था। देवराय प्रथम के समय पहले तो विजय-नगर को बहमनी से हानि उठानी पड़ी। कहते हैं उसे अपनी कन्या भी विजेता को देनी पड़ी। पर यह निश्चय नहीं है, पर बाद को पुनः युद्ध हुआ और विजय देवराय के हाथ लगी। सन् १४१० ई० में देवराय की मृत्यु हो गयी, उसके पश्चात् उसका पुत्र विजय राय गद्दी पर बैठा। इसने ९ वर्ष तक राज्य किया जिसके पश्चात् देवराय द्वितीय ने विजय नगर का राज्य सम्हाला।

देवराय द्वितीय १४१९-४६ ई०—विजय राय के पश्चात् देवराज द्वितीय को अनेक संकटों का सामना करना पड़ा। प्रायः सारा जीवन उसे बहमनी राज्य से युद्ध करते बीता। उसके शासन के प्रारंभिक काल में फीरोज शाह ने उसे युद्ध करने को विवश किया, पर सौभाग्य से देवराय की विजय हुई। लगभग २४ वर्ष पश्चात् फिरोज शाह के उत्तराधिकारी अहमद शाह ने पुनः उस पर आक्रमण किया और अपने पूर्वज की पराजय का प्रतिशोध ले लिया। इसके शासन काल में दो विदेशी आये थे। इटली से निकोलो कोण्टी, २. हिरात से (फारस) अब्दुल रज्ज़ाक। इन यात्रियों के समय विजय नगर का वैभव बहुत बढ़ा-चढ़ा था। इन्होंने बहुत विशद वर्णन द्वारा उस समय की दशा पर प्रकाश डाला है।

निकोलो कोण्टी का वर्णन (१४२१ ई०)—"विजय नगर का अत्यन्त विशाल नगर ढालू पहाड़ियों के निकट बसा है, इसकी परिधि ६० मील है। इसमें लगभग ९० हजार आदमी अस्त्र-शस्त्र चला सकते हैं। इस देश के रहने वाले कई विवाह करते हैं। स्त्रियाँ पति के मरने पर उनके साथ ही जला दी जाती हैं। यहाँ का राजा सबसे अधिक शक्तिशाली है। उसके अन्तःपुर में १२ हजार स्त्रियाँ हैं। जिनमें ४००० तो उसके साथ प्रत्येक स्थान पर जाती हैं। इनसे रसोई का काम लिया जाता है। इतनी ही घोड़े पर सवार होकर उसके पीछे चलती हैं, इनमें से दो तीन हजार इस शर्त पर चुनी जाती हैं कि उसके मरने पर वे उसके साथ सती हो जायँगी।

साल में एक बार यहाँ के निवासी अपने देवता की रथ यात्रा नगर में अत्यन्त समारोह के साथ निकालते हैं, इसमें अनेक मूल्यवान वस्त्रों से सुसज्जित होकर रमणियाँ अपने देवता का स्तुतिगान करती हैं। बहुत

से लोग धार्मिक उत्साह की उमंग में आकर इस रथ से कुचल कर प्राण दे देते हैं, उनका विचार है कि उनका देवता इस प्रकार प्रसन्न हो जायगा।

विशेष महत्वपूर्ण उत्सव वर्ष में तीन बार मनाये जाते हैं। इनमें से एक अवसर पर वे तीन दिन नाच-गाने और खाने-पीने के आमोद में व्यतीत करते हैं। दूसरे दिन वे अपने घर की छतों पर सरसों के तेल के दीपक जलाते हैं। तीसरे उत्सव पर वे आपस में केसर का रंग छोड़ते हैं।"

अब्दुल रज्ज़ाक का वर्णन (१४४२ ई०)—राजा सुसज्जित होकर ४० स्तम्भों वाले भवन में साटन के वस्त्र पहनकर बैठता है। उसके गले में सच्चे मोतियों की एक माला रहती है, जिसका मूल्य आँकना सरल नहीं है।

आगे वह कहता है कि—"एक दिन राजा का अनुचर मुझे बुलाने आया, मैं संध्या समय उसके दरबार में गया। मैंने उसे ५ सुन्दर घोड़े और रकाबियाँ जिसमें दमश्क और सैटिन के रत्न थे, उसे भेंट किये। राजा सुसज्जित होकर ४० स्तम्भों वाले भवन में साटन के वस्त्र पहन कर बैठता है।

उसके इधर-उधर ब्राह्मणों का समूह रहता है। उसके गले में सच्चे मोतियों की एक माला रहती है जिसका मूल्य आँकना सरल नहीं है। राजा का शरीर इकहरा, लम्बे रुख, वर्ण गोरा तथा वह अभी नवयुवक है, जो उसके भरे चेहरे से स्पष्ट है। उसका व्यक्तित्व प्रतिभा सम्पन्न है। मुझे जो सामान नित्य भोजन के लिए मिलता था, उनमें दो भेड़ें, जो चार जोड़े पत्ती, पाँच मन चावल, एक मन मक्खन, एक मन शकर, दो वरह सोना था। मैं उसके दरबार में संध्या समय बुलाया जाता था, राजा मुझसे खानसईद के विषय में अनेक प्रश्न करता था। हर बार मुझे पान का बीड़ा दिया जाता था।"

"विजय नगर का नगर ऐसा भव्य है जैसा न कभी देखा गया, न सुना गया। यह इस ढंग से बना है कि इसमें सात परकोटे एक के बाद एक हैं। बाहरी दीवाल के बाहर लगभग ५० गज चौड़ी भूमि ऐसी है, जिसमें मनुष्य के आकार के पत्थर गढ़े हैं, (ये आधे गढ़े हैं, आधे ऊपर निकले हैं) जिससे मनुष्य अथवा घोड़ा कोई भी उसे बिना प्रयास के लाँघ ही न सके।"

"यहाँ के बाजार में अनेक प्रकार की दूकानें हैं। यहाँ मनुष्य हीरे, जवाहरात, पन्ना, लाल, मोती सभी आमतौर से बेचते हैं। राजा के भवन में तथा इस प्रिय क्षेत्र में अनेक पत्थर से काटी गयीं, सुन्दर और चिकनी बनी नहरें हैं, ऐसे ही अनेक झरने हैं।"

देवराय द्वितीय के शासन काल में एक ओर युद्ध तथा रक्त पात, दूसरी ओर साहित्य तथा कला की उन्नति हुई। अतः इसे इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। सन् १४४६ ई०[1] के लगभग देवराय की मृत्यु हो गयी।

सलुव राजवंश १४८६—१५०६ ई०—देवराय के पश्चात् विजय नगर राज्य में संकट काल उपस्थित हो गया। देवराय द्वितीय के उत्तराधिकारी वहुत ही अयोग्य सिध्द हुए। इनमें उसके दो पुत्र थे मलिकार्जुन और विरूपाक्ष। विरूपाक्ष के काल में तेलंगाना के एक शक्तिशाली सामन्त सुलुव नरसिंह ने विरूपाक्ष से सिंहासन छीन लिया, और स्वयं विजय नगर का शासक बन बैठा। यह घटना सन् १४८६ ई० की है। इस समय से विजय नगर के इतिहास में एक नये राजवंश की स्थापना हुई। नरसिंह चन्द्रगिरि का सरदार था। उसने गद्दी पर बैठते हो उड़ीसा के राजा गजपति से वे प्राँत पुनः हस्तगत कर लिये जिन्हें उसने पहले ले लिया था। उसने वे प्राँत भी पुनः ले लिये जो स्वतन्त्र होने की चेष्टा कर रहे थे। उसने सन् १४९३ तक राज्य किया। इसी के समय बहमनी बंश की प्रतिष्ठा घट गई और वह छिन्न-भिन्न हो गया। नर सिंह विजेता ही न था, वल्कि विद्वानों का आश्रय दाता भी था। इसके अतिरिक्त वह वैष्णव धर्म का अनुयायी था, पर अन्य सम्प्रदायों का कम सम्मान न करता था। उसी ने श्री रंगपट्टम का नगर बसाया था।

नरसिंह की मृत्यु के पश्चात् इम्माद नरसिंह गद्दी पर बैठा। इसकी आयु अभी केवल १७ वर्ष थी, उसे नरस नायक एक सुयोग्य सहायक भी प्राप्त हो गया। नरस नायक ने युसुफ आदिलशाह को पराजित किया। धीरे धीरे नरस नायक ही राज्य का तमाम भार सम्हालने लगा। उसके देहान्त के पश्चात् उसका पुत्र वीर नरसिह राज्य का संरक्षक हुआ। सन् १५०५ ई० में वीर नरसिंह ने राजा का नाम भी समाप्त कर दिया और स्वयं राजा बन बैठा। चूंकि यह तुलुव वंश का था, अतः विजय नगर की गद्दी पर बैठने वालों में तीसरा वंश तुलुव था। यह इस राज्य का द्वितीय अपहरण कहलाता है।

तुलुबवंश-कृष्णदेव राय १५०९-३० ई०—वीर नरसिह ने कुल चार वर्ष राज्य किया। इसके पश्चात् उसका छोटा भाई कृष्ण देव राय गद्दी पर बैठा। कृष्ण देव राय विजय नगर के महान् शासकों में गिना जाता है। जिस समथ वह सिंहासन पर बैठा राज्य पर अनेक संकट छाये हुए थे। आन्तरिक विद्रोह तथा बाह्य आक्रमण सभी का भय था। कृष्ण देव एक वीर सेनानी था। सर्वप्रथम उसने अपने सामन्तों को दबाया। सन् १५१० ई०

१—डा० ईश्वरी प्रसाद ने इसे १४४९ ई० लिखा है।

में कृष्ण देव ने दक्षिणी मैसूर में उम्मतूर के सरदार को पराजित किया। यही नहीं उसके समीप के अन्य सरदार भी उसने अपने आधीन कर लिये। इसके अनन्तर उसने बाहर की शक्तियों से लोहा लिया। इस समय तक बहमनी वंश पाँच टुकड़ों में विभक्त होकर शिया रियासतों के रूप में स्थापित हो चुका था। उत्तर पूर्व में उड़ीसा का राज्य शक्तिशाली था। पश्चिम में पुर्तगालियों ने गोआ पर अधिकार कर लिया था। १५१२ ई० में कृष्णदेव राय ने बीजापुर राज्य की ओर धावा बोला, तथा रायपुर का दोआब अपने अधीन कर लिया। इसके अनन्तर उसने उड़ीसा के राजा प्रताप रुद्र गजपति नरेश पर भी आक्रमण किया और उससे उदयगिरि, कोन्दबिदु तथा कोन्दपल्लि के गढ़ छीन लिये। उड़ीसा नरेश ने कृष्णा के दक्षिण का वह सारा भूभाग जो पहले छीन लिया था, कृष्णदेव राय को लौटा दिया। कृष्ण देव राय ने उसकी कन्या से विवाह किया तथा अन्य सन्धि की शर्तें मान लीं। इधर बीजापुर का सुल्तान इस्माइल आदिलशाह रायपुर के दोआब पर दाँत लगाये था, उसने उसे हस्तगत करने के लिए सन् १५२० ई० में आक्रमण भी किया, पर कृष्ण देव राय ने उसे भी परास्त किया। कृष्ण देव ने बल्कि उसी के कुछ भूभाग पर (गुलबर्गा का दुर्ग) अपना आधिपत्य जमा लिया। कृष्ण देव की बीजापुर विजय बड़ी महत्वपूर्ण थी। इस प्रकार विजय नगर का साम्राज्य पश्चिम में कोंकन, पूर्व में विसाखापटम तथा दक्षिण में कुमारी अन्तरीप तक फैल गया। बहुत सम्भव है कि कुछ द्वीप भी उस के अधिकार में रहे हों। कृष्ण देव की महत्ता की प्रशंसा विदेशी पर्यटकों ने भी की है।

एक पुर्तगाली यात्री पायेस का कथन है कि—

"वह एक साहसी तथा निपुण शासक है। उससे सभी भयभीत रहते हैं। उसके पास बहुत बड़ा कोष है, साथ ही उसके अधिकार में अनेक सैनिक तथा हाथी "हैं।

विजय के अतिरिक्त कृष्ण देव ने कुछ अन्य महत्वपूर्ण कार्य भी किया यथा सिंचाई के लिए तालाब बनाना, मन्दिरों का निर्माण करना। विजय नगर में हजारा राम स्वामी का मन्दिर कृष्ण देव राय की ही कृति है। वह स्वयं एक लेखक भी था। "**आयुक्त माल्यदा**" का तैलगू काव्य उसी की रचना है। उसकी सभा में आठ बड़े विद्वान रहते थे जिनको अष्टदिग्गज़ कहा जाता था। तैलगू साहित्य का तो इसके शासन काल में स्वर्ण युग माना जाता है। वह वैष्णव धर्म का अनुयायी था पर इतना उदार और सहिष्णु था कि अन्य धर्मों का भी सदा सम्मान करता था। उसका व्यवहार सदा विनम्र और शिष्ट रहा। सन् १५३० ई० में वह इस लोक से चल बसा।

अच्युत राय (१५३०-४२) ई०—कृष्णदेव राय के पश्चात् उसका भाई

अच्युत राय विजयनगर का राजा हुआ। यह अपने भाई के समान योग्य न था। अतः पिछले शत्रुओं ने अवसर पाकर अपने भाई के बदले लिये। बीजापुर के सुल्तान इस्माइल आदिलशाह ने रायचूर तथा मुदगल के प्रदेश पुनः छीन लिये। अच्युत राय उसका कुछ न विगाड़ सका। उसके समय एक पुर्तगाली यात्री नूनिज आया था। उसने उसका वर्णन लिखा है, जिससे उस समय की सामाजिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है। अच्युत राय के समय से विजयनगर राज्य का पतन प्रारम्भ हो गया।

सदाशिव राय (१५४२-६५ ई०)—अच्युत राय के उपरान्त उसका भतीजा (कृष्णदेव का पुत्र) सदाशिव राजा हुआ। वह केवल नाम मात्र का शासक था। इसकी वास्तविक शक्ति उसके मंत्री राम राय के हाथ में थी। रामराय ने अपनी धाक जमा रखी थी। उसने १५४३ ई० में गोलकुन्डा और अहमदनगर को अपनी ओर मिलाकर अपने पुराने शत्रु बीजापुर पर आक्रमण किया। किन्तु बीजापुर के मंत्री असद खाँ ने अपने राज्य को उससे बचा लिया। रामराय बड़ा ही कूटनीतिज्ञ था। उसने मुसलमानों को ही परस्पर लड़ा दिया। १५५७ ई० में विजयनगर, बीजापुर तथा गोलकुन्डा की सम्मिलित सेनाओं ने अहमद नगर पर आक्रमण कर दिया। अहमद नगर इनके समक्ष अधिक न टिक सका और पराजित हुआ। अहमद नगर पर अमानुषिक अत्याचार किये गये। इससे मुसलमानों की आंखें खुल गयीं, वे विजयनगर के घोर शत्रु हो यये।

तालीकोट का युद्ध (१५६५ ई०)—अन्ततः बरार को छोड़कर दक्षिण के सभी मुसलमान राज्यों ने (वीदर, गोलकुन्डा, बीजापुर और अहमदनगर) एक संघ बनाया और सन् १५६५ ई० में विजयनगर पर एक सम्मिलित आक्रमण किया। उनका सामना करने के लिए रामराय ने भी खूब तैयारी की। दोनों ओर की सेनाएँ तालीकोट के प्रसिद्ध मैदान में आ डटीं। घोर युद्ध के पश्चात् मुसलमानों की विजय हुई। इसके फलस्वरूप उन्हें अतुल सम्पति हाथ लगी। उन्होंने भी अपना पिछला प्रतिशोध लेने की दृष्टि से हिन्दुओं के साथ खूब अत्याचार किया। इस विजय से मुसलमानों की शक्ति प्रबल हो गयी, साथ ही विजय नगर की कमर टूट गयी। सेबैल ने इस दुर्दशा का चित्रण इस प्रकार किया हैं।

'पाँच मास तक विजयनगर को शान्ति नहीं मिली। रामराय का वध कर दिया गया। शत्रु विनाश के लिए आये थे। वे अनवरत अपने ध्येय में लगे रहे। बर्बरतापूर्ण नर संहार किया गया। यहाँ के मन्दिर तथा भवनों को ऐसा ध्वस्त किया गया कि कुछ पत्थर के विशाल मन्दिर तथा दीवारों को छोड़कर नगर का कोई चिन्ह न बचा। आक्रमणकारियों से कोई वस्तु बचती ही न दिखाई देती

थी, वे आग और तलवार से, लौहदण्ड तथा फरसों से प्रतिदिन विनाश का कार्य करते रहे। इतने समय में संसार के इतिहास में अकस्मात इस प्रकार के समृद्ध नगर का विनाश कदाचित् कभी नहीं हुआ।"

तिरूमल (१५७०-८६ ई०)—रामराय के पश्चात् सदाशिव जो कठ-पुतली राजा था, रामराय के भाई द्वारा मार दिया गया। उसका वध करके वह स्वयं शासक बन गया। इसका नाम तिरूमल था। इस घटना को विजय नगर के इतिहास में चौथी अधिकार चेष्टा कहते हैं। तिरूमल को भी यवनों के आक्रमण का सामना करना पड़ा, पर वह अटल रहा। इसके पश्चात् उसका पुत्र श्री रंग लगभग १५८६ में गद्दी पर बैठा। वह नितान्त अयोग्य शासक था। राज्य की नींव वैसे ही जर्जर हो रही थी। इसके उपरान्त एक अन्य दुर्बल शासक वैंकटपति (१५८६—१६१४ ई०) इस राज्य का स्वामी रहा। इससे बहुत-सा भूभाग मुसलमानों ने छीन लिया। अतः हिन्दू संस्कृति का एक दीपक इसके पश्चात् सदा के लिए बुझ गया।

इसके पतन के कारण—विजयनगर राज्य के पतन के लिए तात्कालिक कारण तो तालीकोटा का युद्ध ही कहा जायगा, पर इसकी नींव को हिलाने के लिए कुछ बातें इसके पहले से ही क्रियाशील रहीं। सबसे बड़ी बात तो यह रही कि इस राज्य के जन्म लेते ही इसके पड़ोस में दूसरा मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया, जो इसका घोर शत्रु रहा और जिससे इसके सदा युद्ध होते रहे।

यह राज्य बहमनियों का था। फिर यदि विजय नगर कट्टर हिन्दुत्व का, तो बहमनी कट्टर इस्लाम का प्रतीक था। दूसरे विजय नगर राज्य में कृष्ण देव राय के पश्चात् जो अधिकारी बने उनमें से अनेक दुर्बल रहे, जो शक्ति को सम्हाल ही न सके। यदि राम राय जैसा कोई शासक आया भी तो उसकी नीति सफल न हुई। चौथे बहमनी के पतन के पश्चात् उस राज्य के जो टुकड़े हुए उनमें परस्पर ऐसी एकता उत्पन्न हुई कि वे सब के सब विजय नगर पर टूट पड़े। इसके अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा सशक्त राष्ट्र न था जो इसकी सहायता करता। इस समय दिल्ली सल्तनत भी क्षीण हो रही थी। भारतीय नरेशों में फूट थी, धर्म तो उनका प्राण था, पर राष्ट्रीयता की भावना न जग पायी थी। योरूपीय जातियों का आगमन प्रारम्भ हो गया था, वे यहाँ की दुर्व्यवस्था से लाभ उठाने लग गये थे, अतः ऐसी अवस्था में सशक्त से सशक्त राष्ट्र गिर सकता था।

विजय नगर का वैभव, इसका शासन प्रबन्ध—विजय नगर के वैभव की सराहना तो विदेशी यात्री कर चुके हैं। इस राज्य का इतिहास वस्तुतः हिन्दुओं के पुनरुत्थान का इतिहास है। इसकी उत्पत्ति बहुत कुछ उस समय की

दशा की ही माँग थी। उस समय हिन्दू जनता तथा धर्म का विनाश हो रहा था, अतः इसके जन्म का कारण ही मुसलमानी अत्याचार था, उसी के अनुसार इसकी शासन नीति बनी।

केन्द्रीय शासन—सम्राट राज्य का सर्वोच अधिकारी होता था। उसके अधिकार सदा असीम थे। वह अपनी सहायता के निमित्त मंत्री, सेनापति, प्रान्तीय शासक, परिषद सभी को रखता था, पर किसी का मंत्रणा मानने को बाध्य न था। वही न्याय का सर्वोच अधिकारी होता था। वही युद्ध संचालक तथा वही सन्धि और युद्ध का निर्णायक, तथा कर्त्ता-धर्त्ता था। यही कारण था कि जब कभी इस राज्य में कोई दुर्बल शासक आ गया तो इसकी प्रतिष्ठा को धक्का लगा। इस समय राजा के ऊपर कोई अंकुश न था, पर उसे सदा प्रजा के हित की चिन्ता रहती थी। कृष्णदेव राय ने एक स्थल पर स्वयं कहा है, "**राजा को सदा धर्म को दृष्टि में रखकर शासन करना चाहिये।**"

वैसे राजा की सहायता के लिये सामंत, मंत्री, विद्वान, ज्योतिषी, कवि, तथा कलाकार आदि उपस्थित रहते थे। अनेक राजा इस राज्य में भी निर्माता हुए, जिन्होंने अपनी शक्ति भव्य भवन और मंदिरों के निर्माण तथा कुएँ, तालाब, दुर्ग आदि में लगा दी।

प्रान्तीय शासन—विजय नगर का साम्राज्य भी दक्षिण में काफी विस्तृत हो गया था, अतः इसके सुविधाजनक शासन के लिये इसे २०० प्रान्तों में विभक्त कर दिया था। इनका शासन भार राजकीय प्रतिनिधियों को सौंपा गया था। इन प्रतिनिधियों की नियुक्ति सम्राट स्वयं करता था। प्रान्तपति भी अपने पास सेनायें रखते थे, अपना दरबार करते थे, पर वे अपने प्रान्त के प्रत्येक कार्य के लिये सम्राट के प्रति उत्तरदायी रहते थे। नूनिज के कथनानुसार किसान अपनी उपज का नवां भाग उन्हें देते थे, जिसका $\frac{1}{3}$ वे केन्द्र में भेजकर शेष $\frac{2}{3}$ से प्रान्त का शासन करते थे। प्रान्त को नाडुओं में बांट दिया था। ये आज की कमिश्नरी के समान थे, इनको पुनः नगर तथा ग्रामों में बांट दिया गया था। ग्रामों का प्रबन्ध बहुत कुछ पंचायतों के अधीन था। पंचायतों का प्रधान आयंगर कहलाता था। इन अधिकारियों को वेतन के रूप में कुछ भूमि दे दी जाती थी। इनका पद वंशानुगत था, ग्रामों के साधारण मामलों का निर्णय भी ये ही कर देते थे।

सैन्य प्रबन्ध—विजय नगर के साम्राज्य की रक्षा के लिये उस समय एक विशाल वाहिनी आवश्यक थी। पायेस (Paes) के कथनानुसार उस समय ७,००,००० पैदल, ३२,६०० अश्वारोही, और ६५१ हाथी थे। सैन्य विभाग का प्रबन्ध महादण्डनायक के अधीन रहता था, किन्तु इन शासकों ने जितना ध्यान इसकी संख्या पर दिया, उतना कभी इसके संगठन और इसकी कुशलता

पर न दिया । आये दिन उसे युद्ध करने पड़े, पर उन्होंने उनसे कोई लाभ न उठाया । इनकी सेना दो स्थानों पर रहती है— कुछ तो केन्द्र में, शेष प्रान्तों में । सारी सेना सम्राट को यथा समय सहायता देती थी ।

आर्थिक व्यवस्था—विजय नगर की आर्थिक व्यवस्था का ज्ञान हमें यहाँ आये हुये यात्रियों के विवरण से भली-भाँति हो जाता है । सभी यात्रियों ने यहाँ की समृद्धि की प्रशंसा की है । यद्यपि यहाँ पर धनी और सामान्य वर्ग के लोगों की आर्थिक स्थिति में बहुत अन्तर था, पर सामान्य वर्ग भी सुखी था । कहीं भी हम उसकी आर्थिक हीनता की चर्चा नहीं पाते । राज्य की आय का प्रधान स्रोत भूमिकर ही था जो उपज का केवल $\frac{1}{2}$ भाग होता था । इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कर भी थे, जो वस्तु विक्रय आदि पर थे । विवाह व वेश्या कर की चर्चा भी हम सुनते हैं, जिनमें वेश्याओं से प्राप्त कर पुलिस पर व्यय किया जाता था । यहाँ अनेक प्रकार के उद्योग धन्धे थे, जिनमें खनिज-सम्पत्ति निकालना और कपड़े का कार्य मुख्य था । प्राचीन परम्परा के अनुसार इस समय भी यहाँ के औद्योगिक कार्य श्रेणी तथा निगमों के द्वारा संचालित थे । व्यापार यहाँ का खूब समृद्ध था । अब्दुल रज्जाक के अनुसार इस साम्राज्य में ३०० बन्दरगाह थे, इनमें कालीकट प्रमुख था । यहाँ के व्यापारी बड़ी दूर-दूर तक व्यापार सम्बन्ध स्थापित किये थे । यथा ब्रह्मा, मलाया, चीन, पूर्व में तथा अरब, ईरान, अफ्रीका आदि पश्चिम में । यहाँ से बाहर जाने वाली वस्तुएँ, वस्त्र, चावल, लोहा, खाँड, और मसाले थीं । यहाँ आने वाली चीजों में घोड़े, मोती, ताँबा, पारा, रेशम और मूंगे प्रमुख थे । राज्य में सोने, चाँदी और ताँबे तीनों धातुओं के सिक्कों का प्रयोग होता था ।

सामाजिक अवस्था—यहाँ का समाज हिन्दू पद्धति पर बना था । विदेशियों ने यहाँ के सामाजिक उत्सवों की भी चर्चा की है । समाज में ब्राह्मण वर्ग का सम्मान सबसे अधिक था । विद्वान ब्राह्मण राजसभाओं में विशेष सम्मान के पात्र थे । ये जीव हिंसा न करते थे तथा इनका नैतिक स्तर उच्च था । नूनिज के कथनानुसार ब्राह्मण दूकानदार, व्यापार में संलग्न, कुशाग्र बुद्धि प्रतिभा सम्पन्न, लेखादि में दक्ष किन्तु कठोर कार्यों में असमर्थ थे । सामान्य रूप से स्त्रियों का सम्मान बहुत था, वे भी पढ़ी-लिखी तथा युद्ध कुशल होती थीं । पर यह नहीं कहा जा सकता कि वे अन्य अथवा राजनीनिक कार्यों में भाग लेती थीं अथवा नहीं । नूनिज के आधार पर ज्ञात होता है कि अनेक स्त्रियां राजा की सेवा में उपस्थित रहती थीं, संगीत में निपुण हजारों स्त्रियाँ उसके साथ चलती थीं । सती की प्रथा का व्यापक रूप से प्रचार था, राजा के साथ कुछ ऐसी रानियाँ होती थीं जिनका विवाह इसी शर्त पर होता था कि वे राजा के साथ सती होंगी । इस समय भोजन में किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं

दिखायी देता, ब्राह्मणों को छोड़कर सभी वर्ग मांसाहारी थे। मनोरंजन के साधनों में नृत्य, गीत, द्यूत, मल्लयुद्ध तथा पशुयुद्ध थे। लोग अपने-अपने उत्सव बड़े चाव से मनाते थे।

साहित्य तथा कला--विजय नगर राज्य की सांस्कृतिक उन्नति वस्तुतः सराहनीय है। दो सौ वर्ष के काल में ही इस राज्य में एक नयी चेतना उत्पन्न कर दी। यहाँ के सम्राटों ने अनेक विद्वानों को आश्रय दिया, जिन्होंने तामिल, तैलगू तथा संस्कृत में अपनी रचनाएँ कीं। जगत प्रसिद्ध षायण का वेदों पर भाष्य हरिहर और बुक्का के समय की रचना है। कृष्णदेव राय का काल तेलगू साहित्य का स्वर्ण युग माना जाता है। उसकी राजसभा का प्रमुख कवि पेदद्न था। नरसिंह और कृष्ण देव राय तो स्वयं भी अच्छे कवि थे। प्रसिद्ध दर्शनाचार्य जो षायण के भाई थे इसी काल की विभूति थे। उन्होंने पाराशर माधवीय की रचना की। कृष्ण देव राय की सभा में तो आठ विद्वान ऐसे थे, जो अष्टदिग्गज कहे जाते थे।

कला के क्षेत्र में भी विजय नगर ने कम उन्नति नहीं की। विदेशी यात्रियों द्वारा वर्णित भव्य प्रासाद व मन्दिर इसके साक्षी हैं। यहाँ के शासकों को वास्तु कला से विशेष प्रेम रहा। यद्यपि इनकी अनेक कृतियाँ मुसलमानों ने भेट दीं पर तात्कालिक वर्णन तथा उनकी कृतियों के अवशेष अभी भी हमें आश्चर्य चकित कर देते हैं। हरिहर ने तो विजय नगर का नगर ही बसाया।

कृष्णदेव राय के समय में अनेक विशाल मन्दिर बनवाये गये। हमारा मन्दिर इनमें से एक अनुपम कृति है। इसी प्रकार विट्ठल स्वामी का मन्दिर कला की दृष्टि से एक उत्कृष्ट नमूना है।

धार्मिक भावना—कहा जा चुका है कि यह राज्य हिन्दुत्व को लेकर उठा। पर इसके शासक सर्वदा उदार रहे। वे अधिकाँश शैव अथवा वैष्णव थे। किन्तु अन्य धर्मावलम्बियों के साथ भी उनका व्यवहार अत्यन्त सहिष्णु था। देवराय ने तो अपनी सेना में मुसलमान तक ले लिये थे। साथ ही उनके लिए उसने एक मस्जिद बनवा दी थी। विजय नगर के राजाओं ने इसी नीति का अनुसरण करते हुए विदेशियों को अपनी कोठियाँ बनाने की अनुमति दी। पुर्तगाली तो तभी तक यहाँ पनपते रहे जब तक विजय नगर राज्य रहा।

— —·—

परिच्छेद—२५

सैयद और लोदी वंश

सैयद वंश—तुगलक वंश के अन्तिम सम्राट अत्यन्त दुर्बल थे, उस पर भी उन पर तैमूर जैसे आक्रमणकारी का प्रहार हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रान्तपतियों ने अपनी स्वतंत्रता घोषित की। ऐसे अवसर पर दिल्ली के सिंहासन पर दौलत खाँ ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया, किन्तु वह भी अधिक दिन न टिक सका और अन्तत: खिज्र खाँ ने उससे राज्य की बागडोर छीन ली। खिज्रखाँ सन् १४१४ ई० में गद्दी पर बैठा।

खिज्रखाँ १४१४-२१ ई०—खिज्रखाँ के प्रारंभिक जीवन का तो ज्ञान उपलब्ध नहीं है, पर वह अपने को हजरत मुहम्मद का वंशज कहता है। फीरोज तुगलक के शासनकाल में वह मुल्तान का गवर्नर रह चुका था। तैमूर के आने पर उसने आत्मसमर्पण कर दिया था, अत: वह पंजाब का गवर्नर होकर कार्य करने लगा। जब वह स्वतन्त्र शासक बन गया, तब भी अपने को तैमूर का ही प्रतिनिधि कहता रहा। उसी के नाम पर वह सिक्के चलाता रहा तथा खुतवा पढ़ाता रहा। उसने दिल्ली सल्तनत की गिरती हुई दशा को बहुत कुछ सम्हालना चाहा, पर अधिक सफल न हुआ। उसके वजीर ताजुल मुल्क ने कटेहर पर धावा बोल दिया और तमाम विध्वंस मचा दिया। पर इस समय उत्तर से लेकर दक्षिण सभी जगह प्रान्तपति अपनी-अपनी स्वतंत्रता घोषित कर रहे थे। दक्षिण में तो दो साम्राज्य ही खड़े हो गये थे, जो सदियों तक टिके रहे। उत्तर में इटावा (जमुना के किनारे) विद्रोह का केन्द्र बन रहा था, क्योंकि यहाँ के राठौर राजपूत स्वतन्त्र प्रवृत्ति के थे। दिल्ली के समीप मेवातियों का जोर था। मुल्तान तथा लाहौर में खोखर प्रबल थे। आखिर खिज्रखां ने एक एक की खबर ली। खोर, कम्पिल, ग्वालियर, चन्द्रवार सभी को उसने दबाया। जलेसर को मुसलमानों से हिन्दुओं ने छीन लिया था, अत: पुन: वापस लौटाया गया। दोआब, बिआना, और ग्वालियर के प्रान्तों ने तो बार-बार विद्रोह किया, पर उनको अधीन किया गया। दोआब में इस प्रकार शान्ति स्थापित करके खिज्र खाँ ने अपनी दृष्टि सीमा प्रान्त पर डाली। और सरहिन्द का विद्रोह भी दबा लिया। मेवातियों को वशीभूत किया गया। साथ ही इटावे तथा ग्वालियर के राजपूतों को पराजित किया।

खिज्र खाँ सीधा सच्चा सैयद था। उसने कभी भी बिना जरूरत के खून नहीं बहाया। उसने अपने जीवन में केवल उन प्रान्तों में शान्ति स्थापित करने की चेष्टा की जहां दिल्ली सल्तनत का प्रभुत्व था। उसने कुछ सुधार भी किये जैसे पहले के कर्मचारियों के स्थान पर नये कर्मचारी रखे। फरिश्ता ने उसकी प्रशंसा में कहा है—"**खिज्र खां एक बुद्धिमान तथा यशस्वी राजा था, वह अपने बचन का पक्का था। उसकी प्रजा उसे बड़े भक्ति भाव से चाहती थी।**" सन् १४२१ ई० में वह इस संसार से चल बसा। जीवन पर्यन्त वह कठिनाइयों से लड़ता रहा किन्तु उसने अपने साम्राज्य को सुदृढ़ करने के लिए कोई अमानवीय कार्य न किया। इसी कारण वह अपनी प्रजा का प्रिय बन सका और उसकी मृत्यु के उपरान्त सभी ने शोक मनाया।

मुबारक शाह (१४२१-१४३६ ई०)—खिज्र खाँ के पश्चात् उसका पुत्र मुबारक गद्दी पर बैठा। उसने स्वतन्त्र शासक के रूप में राजा की उपाधि धारण की और अपना नाता तैमूर से तोड़ लिया। इसके शासन काल में भी राज्य में अशान्ति रही। सन् १४२३ ई० में वह कटेहर की ओर गया, उसने वहाँ के सरदारों को कर देने को विवश किया। इसके अतिरिक्त उसने भी इटावा तथा कम्पिल को दबाया। इस काल के सबसे प्रमुख विद्रोह दो थे। सरहिन्द के समीप तुर्क-बच्चा का और जसरथ खोखर का। खोखर तो पराजित होकर भाग खड़ा हुआ। पर पोलाद ने अस्त्र न डाले। अतः सुल्तान ने भी उसका पीछा न छोड़ा, जब तक कि सन् १४३३ में वह मार नहीं डाला गया। सुल्तान ने इसके अतिरिक्त कुछ शासन सुधार भी किये। उसने एक नगर मुबारकाबाद की नींव डाली, पर कुछ अमीर उसके शासन सुधारों से अप्रसन्न थे, अतः उन्होंने षडयन्त्र करके उसे एक दिन जब वह मुबारकाबाद जा रहा था, बीच ही में समाप्त कर दिया। मुबारक भी बहुत दयालु शासक था, जिसमें उसके समसामयिक इतिहासकार के अनुसार अनेक अच्छे गुण थे।

मुहम्मद—मुबारक के पश्चात् मुहम्मद जो खिज्र खाँ का पौत्र था, गद्दी पर बैठा। उसे भी गद्दी पर बैठते ही अनेक संकटों का सामना करना पड़ा। जौनपुर के इब्राहीम शाह ने दिल्ली सल्तनत के कई परगने छीन लिये। ग्वालियर तथा अन्य स्थानों के हिन्दू सरदारों ने भी कर देना बन्द कर दिया। मालवा के महमूद खिलजी ने तो दिल्ली पर आक्रमण करना चाहा, पर वह लौट गया। इसी समय बहलोल लोदी ने जो पंजाब का गवर्नर था, महमूद का पीछा किय। तथा उसका सामान छीन लिया। इसके उपलक्ष्य में मुहम्मद ने वहलोल को खान-ए-खनान की उपाधि दी और अपने पुत्र तुल्य समझा।

अलाउद्दीन आलम शाह—पर बहलोल की स्वामिभक्ति थोड़े ही दिन रही। क्योंकि जब मुहम्मद का उत्तराधिकारी अलाउद्दीन आलमशाह गद्दी पर

बैठा, तो उसने शासन की सारी शक्ति अपने हाथ में कर ली। धीरे धीरे अलाउद्दीन आलम शाह को उसकी शक्ति खलने लगी, अतः वह अपनी गद्दी दिल्ली से बदायूँ हटा ले गया। आलम शाह ने एक और भूल की कि अपने वजीर हामिद खां को समाप्त करना चाहा। अतः हामिद खाँ ने बहलोल को दिल्ली पर अधिकार करने के लिए आमंत्रित किया। बहलोल तो पहिले से ही इस बात के स्वप्न देख रहा था; अतः उसने दिल्ली पर धावा किया। आलम शाह ने उससे युद्ध न करके यही उचित समझा कि वह बदायूँ में बना रहे। अतः चुपचाप बहलोल को राज्य सत्ता सौंप कर चला गया। बहलोल ने तुरंत सुल्तान की उपाधि धारण की और आलम शाह का नाम खुतवा से हटा दिया। आलम शाह बदायूँ में ही सदा रहा, जब तक कि सन् १५७८ ई० में उसकी मृत्यु न हुई।

लोदी वंश

बहलोल लोदी (१४५१-१४८८ ई०)—लोदी अफगान जाति के थे। ये मूलतः पेशावर के पास पड़ोस के प्रान्तों में रहते थे। भारत में आकर ये सल्तनत काल में सैनिक कार्य करते रहे। फीरोज तुगलक के समय में लोग बहुत बड़ी संख्या में यहाँ आये। इनमें कुछ ने उच्चपद भी प्राप्त किये। इन्हीं में से एक बहराम लोदी था। वही बहलोल लोदी का पूर्वज था। वह पहले सुल्तान के अधिकारी मालिक मर्दा के यहाँ नौकरी करता था। उसके पांच पुत्र थे। इनमें से एक मलिक काला बहलोल का पिता था। बहलोल बड़ा भायशाली था। क्योंकि उसके जन्म के पूर्व उसकी माता छत से गिर कर मर गयी, पर उसको पेट चीर कर निकाल लिया गया।

कहा जा चुका है कि दिल्ली पर अधिकार करने के पहले बहलोल सरहिंद का गवर्नर था तथा अन्तिम सैयद सुल्तान से उसने दिल्ली की गद्दी छीन ली। जिस समय वह गद्दी पर बैठा उस समम मालवा, गुजरात, बंगाल और दक्षिण दिल्ली साम्राज्य से निकल चुके थे। बहलोल एक योग्य तथा महत्वाकाँक्षी युवक था। उसने राज्यारोहण के पश्चात् उत्तर पश्चिमी सीमा को सर्वप्रथम सुरक्षित करना चाहा, पर जब वह सरहिन्द के लिए गया हुआ था, उसके विरोधियों ने महमूद शाह शर्की को दिल्ली पर अधिकार करने के लिए आमन्त्रित किया। महमूद भी एक विशाल सेना लेकर दिल्ली की ओर चल पड़ा। यह समाचार पाते ही बहलोल तुरन्त सरहिन्द से लौट पड़ा और महमूद को जौनपुर भागने को विवश किया। इस विजय का प्रभाव बहलोल के सर्वथा अनुकूल पड़ा। अन्य मित्र तथा शत्रु सभी उसे मानने लगे।

जौनपुर से युध्द—इस प्रकार बहलोल ने अपनी स्थिति तो सम्हाल ली, पर अभी भी उसके लिए एक भारी संकट उपस्थित था। उसका सब से बड़ा

शत्रु जौनपुर का शासक था। उसने दो बार दिल्ली पर अधिकार करने की चेष्टा की, पर किसी प्रकार उस से सुलह बनी थी। जौनपुर की गद्दी पर जब महमूद के पश्चात हुसेन शाह बैठा तो इस सुलह की शर्तें भी टूटने लगीं। हुसेन बहुत योग्य शासक था, उसे लोगों ने सुझा रखा था कि बहलोल का दिल्ली के तख्त पर कोई अधिकार नहीं, वह तो वस्तुत: अन्यायी है। दिल्ली की गद्दी का असली अधिकारी तो हुसेन शाह ही है। हुसेन शाह ने जैसे ही जमुना के किनारे तक चल कर आक्रमण करना चाहा कि उससे भी बहलोल ने पहले सन्धि कर ली और गँगा नदी को दोनों राज्यों के बीच की सीमा मान लिया। पर शीघ्र ही बहलोल ने लौटती हुई सेना पर आक्रमण किया, हुसेन को हरा कर उस को बन्दी बना लिया तथा जौनपुर पर अधिकार कर लिया (१४७६ ई०)। बहलोल ने उस का शासन भार अपने ज्येष्ठ पुत्र बारबक शाह को सौंप दिया।

अन्य विजयें

जौनपुर का राज्य अपने अधिकार में पाकर बहलोल का राज्य बहुत विस्तृत हो गया, फिर भी वह सन्तुष्ट न था। उसने धीरे धीरे काल्पी, धौलपुर तथा ग्वालियर पर भी अधिकार कर लिया। ग्वालियर के शासक से तो उसने ८० लाख टंके वसूल किये।

इस प्रकार बहलोल ने दिल्ली की गिरती हुई सत्ता को सम्हाल लिया। वह नये राज्य वंश का संस्थापक ही नहीं, बल्कि संगठन कर्त्ता भी था। एक व्यक्ति के रूप से वह अत्यन्त ईमानदार, दयालु और वीर था। वह अपने धर्म का भी नियम से पालन करता था। वह स्वयं तो पढ़ा लिखा न था, पर विद्वानों का सम्मान करता था। अपनी जाति के लोगों से वह सदा शिष्टता से मिलता था। ३८ वर्ष शासन करने के पश्चात् उस का देहान्त हो गया। उसके पश्चात् उसके तीसरे पुत्र आजम खाँ को अफगानों ने उत्तराधिकारी चुना, उसने सिंहासन पर बैठ कर सिकन्दर शाह की उपाधि धारण की।

सिकन्दर शाह (१४८१—१५१७ ई०)—सिकन्दर दिल्ली की गद्दी पर बैठ तो गया, पर उसके बड़े भाई बारबक शाह ने जो जौनपुर का शासक था, उसकी अधीनता न स्वीकार की। बारबक शाह का कथन था कि एक तो सिकन्दर औरस पुत्र नहीं फिर उससे छोटा है, अत: गद्दी का असली अधिकारी वही हुआ। उधर सिकन्दर बहुत योग्य शासक था, उसने अपने बड़े भाई की चिन्ता न कर अपनी स्थिति को सुदृढ़ किया। पहले तो सिकन्दर ने भाई के पास प्रभुता स्वीकार करने का प्रस्ताव भेजा, पर उसके इसको

ठुकराने पर उसने शाही सेना को भेज दिया। दोनों का कन्नौज के समीप युद्ध हुआ। इस में जौनपुर की सेना का सेनापति काला पहाड़ हार गया। सिकन्दर ने बड़ी बुद्धि के साथ काम लिया। उसने काला पहाड़ के साथ भलमनसाहत का वर्ताव कर उसे अपनी ओर मिला लिया। बारबक शाह की फौज को जब इस रहस्य का ज्ञान हुआ, तो वे भाग खड़ी हुई। इस के अनन्तर बारबक शाह भागा, पर पकड़ा गया और क्षमा माँगने पर पुनः जौनपुर का शासक नियुक्त कर दिया।

इसके अन्नतर सिकन्दर ने देखा कि जौनपुर के जमीदार बारबक शाह को कुछ भी न समझते थे, इसके फलस्वरूप बारबक शाह को काला पहाड़ की शरण लेनी पड़ती थी, अतः सिकन्दर ने स्वयं जाकर उन सब को दबाया और बारबक शाह का प्रभुत्व स्थापित किया। एक बार फिर भी जमीदारों ने सर उठाया तो सुल्तान ने बारबक को ही बन्दी बना लिया, और स्वयं विद्रोह दबाने चला। विद्रोहियों ने इस बार शर्की सुल्तान हुसेन शाह को जिसे बहलोल लोदी ने पदच्युत किया था, बुलाया। हुसेन शाह एक विशाल सेना ले कर जौनपुर आया पर अफगानों से हार गया तथा बंगाल की ओर भाग गया। सिकन्दर ने इसी के साथ बिहार पर भी अधिकार कर लिया, तथा बंगाल के शासक से यह संधि कर ली कि वे एक दूसरे के शत्रु न रहेंगे। इस प्रकार जौनपुर और बिहार लोदी साम्राज्य में आने से दिल्ली साम्राज्य बंगाल की सीमा तक पहुँच गया।

सिकन्दर का चरित्र—लोदी वंश के सुल्तानों में सिकन्दर का स्थान सर्वश्रेष्ठ था, उसे अपने शासन में अनेक उपद्रवों का सामना करना पड़ा। फिर भी उसने कुछ शासन सुधार किया। उसने अफगानों की स्वेच्छाचारिता सर्वथा समाप्त कर दी। उसने राज्य की व्यवस्था ठीक रखने के लिये गुप्तचरों का जाल सा बिछा दिया था, छोटी से छोटी बात भी सुलतान के कान तक पहुँच जाती थी। यही नहीं सिकन्दर ने भूमि की नाप करायी और लगान का उचित प्रबन्ध किया। एक बार सन् १४६५ ई० में अकाल पड़ा, तो उसने अनाज से चुंगी उठा ली, अतः जनता को उससे बहुत सुविधा हो गयी। सिकन्दर के समय न्याय का भी उचित प्रबन्ध था, तथा चोर डाकू से किसी को भी भय न रह गया था। विशेष उत्सवों के अवसर बन्दी भी मुक्त किये जाते थे। इस सब के होते हुए भी कहना पड़ेगा कि उसकी धार्मिक नीति उचित न थी, हिन्दू धर्म का ह्रास तथा इस्लाम का उदय, यही उसकी नीत थी। हिन्दू जनता पर जबरदस्ती इस्लाम लादा जा रहा था। एक ब्राह्मण को तो केवल इसलिए अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े थे कि उसने कह दिया था कि पैगम्बर का धर्म सच्चा है, पर हिन्दू धर्म उससे कम सच्चा नहीं। मथुरा के अनेक मन्दिर उसी

की आज्ञा से तोड़े गये, उनकी मूर्तियों के टुकड़े कसाइयों के बटखरे बने। मथुरा में जमुना स्नान और मुंडन की आज्ञा न थी।

सिकन्दर ने सन् १५०४ ई० में आगरे की नींव डाली, क्योंकि उसने अनुभव किया कि ग्वालियर, धौनपुर, बियाना आदि पर नियंत्रण रखने के लिए ऐसे स्थान पर सैनिक छावनी होना अत्यन्त आवश्यक है।

सिकन्दर का व्यक्तिगत जीवन उच्च कोटि का था। उसकी आकृति भी सुन्दर थी, वह साहित्य तथा कला का प्रेमी था, तथा विद्वानों का सम्मान करता था। उसके वजीर मियाँ भुआ ने संस्कृत ग्रंथों के आधार पर तिब्बए सिकन्दरी नामक ग्रंथ की रचना करायी। यह आयुर्वेद का एक ग्रंथ था। इसके अतिरिक्त वह कला का भी संरक्षक था, उसने कई एक मस्जिदें बनवायीं थीं।

वह इतना धर्मान्ध था कि उसका हर कार्य उलमाओं की स्वीकृति पर निर्भर था, अतः वह अपनी प्रजा का प्रिय न बन सका। फिर भी उसने लगभग २६ वर्ष शासन किया, जिसके उपरान्त वह कण्ठ रोग से पीड़ित होकर इस संसार से चल बसा।

इब्राहीम लोदी (१५१७–१५२६ ई०)—सिकन्दर की मृत्यु के पश्चात् अमीरों ने पहले यह निश्चय किया कि साम्राज्य को दो भागों में बाँट दिया जाय, एक भाग इब्राहीम को दिया जाय और दूसरा जलाल को। पर इब्राहीम ने राज्य का अधिकार पाते ही जलाल तथा उसके पक्षपातियों को आगाह किया कि यदि वे उसकी आधीनता नहीं मानते तो विद्रोही समझे जायेंगे। यह संदेश पाते ही पूर्वी क्षेत्रों के अमीर भी उसके आधीन हो गये। इब्राहीम यद्यपि वीर, दानशील तथा विद्वत प्रेमी था, पर उसमें कुछ ऐसे दुर्गुण थे जो शासक के लिए अति हानिकारक होते हैं। वह जिद्दी, अनुदार और अभिमानी था। यदि किसी से कभी एक बार असन्तुष्ट हो जाता तो फिर क्षमा करना ही न जानता था।

इब्राहीम की ग्वालियर विजय १५१७–१८ ई०—इब्राहीम को जैसे ही यह सूचना मिली कि विद्रोही जलाल ने ग्वालियर नरेश के यहाँ शरण पायी है, तो उसने आजम हुमायूं की अध्यक्षता में उसे पकड़ने के लिए एक सेना भेजी, पर वह सफल न हुआ। इसी बीच ग्वालियर नरेश मानसिंह का प्राणान्त हो गया, तथा उसके उत्तराधिकारी ने इब्राहीम की आधीनता स्वीकार कर ली। इस विजय से इब्राहीम की प्रतिष्ठा बढ़ गयी।

इब्राहीम तथा राजपूत—मेवाड़ का शासक राणा संग्राम सिंह ने प्रायः समस्त राजपूताना तथा मालवा के कुछ भाग पर अधिकार कर रखा था। इसके अनन्तर वह आगरे पर अधिकार करने की ताक में था। राणा ने देखा

कि इब्राहीम तो गृहयुद्ध में फँसा है, अतः उसने लोदी साम्राज्य की सीमा पर आक्रमण कर दिया, तथा लोदी सेना को पराजित भी किया। इस युद्ध में यद्यपि राणा स्वयं घायल हो गया, पर वह हतोत्साह न हुआ। इब्राहीम भी जलाल से छुट्टी पाकर इस ओर चला, दोनों में पुनः युद्ध हुआ पर किसी के हाथ विजय श्री न लगी। राणा ने चन्देरी पर अपना अधिकार कर लिया, दोनों सेनाएँ पीछे हट गयीं।

इब्राहीम और अफगान—अनेक अमीर इब्राहीम के विरुद्ध थे, उन्होंने जलाल को भड़काकर कालपी में उसका अभिषेक कर दिया था। उधर आजम भी जलाल से ही मिल गया था। अतः दोनों ने अवध पर चढ़ाई की।

सुल्तान ने यह समाचार पाते ही उनका सामना करने के लिये प्रयास किया। यह देखकर आजम पुनः सुल्तान से मिल गया और जलाल को कालपी लौटना पड़ा। इब्राहीम ने उसका पीछा किया, जलाल भागकर ग्वालियर पहुंचा, वहाँ भी इब्राहीम ने उसका पीछा न छोड़ा, अतः वह ग्वालियर से भी भाग खड़ा हुआ, अन्ततः वह पकड़ा गया और उसका बध करा दिया गया। इस कलह से अफगानों की परस्पर कलह स्पष्ट हो गयी।

इब्राहीम का विरोध—इब्राहीम ने कुछ ऐसे कार्य भी किये जिनसे उसका विरोध बढ़ता ही गया। यथा- उसने जिस आजम हुमायूँ को एक दिन ग्वालियर के विरुद्ध लड़ने को भेजा उसी को दूसरे दिन बन्दी बना लिया। उसने बड़े-बड़े अमीरों के साथ सामान्य सेवकों की भाँति व्यवहार किया। वह चाहता था कि वे उसके सामने सदा हाथ जोड़े खड़े रहें। उसने चँदेरी का अधिकारी मियां हुसेन जान से मरवा डाला। यही नहीं सुल्तान ने अपने वजीर मुआ को भी बन्दी किया जहां वह अन्ततः मर गया। इस सब का फल यह हुआ कि उसका विरोध होने लगा था।

१—आजम हुमायूँ के पुत्र इस्लाम खां ने विद्रोह कर दिया, क्योंकि उसके पिता को बिना सिद्ध दोष के ही दण्ड दे दिया गया था।

२—पंजाब का गर्वनर दौलत खां लोदी एक प्रभावशाली अफगान अमीर था। वह व्यवहारिक रूप से दिल्ली सुल्तान की आधीनता से अपने को मुक्त समझने लगा था, क्योंकि उसने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली थी। दौलत खां को एक बार सुल्तान ने बुलाया, पर उसने स्वयं न जाकर अपने पुत्र दिलावर खां को भेजा और कहला भेजा कि कुछ समय पश्चात् वह स्वयं भी आयेगा। इब्राहीम दिलावर खाँ को उस स्थल पर ले गया जहाँ अनेक विद्रोहियों के मुंड टँगे थे और उसने उससे कहा, तुमने देखा मेरे विद्रोहियों की क्या दशा होती है। दिलावर खां वहां से चुपचाप लौट आया

और उसने अपने पिता से सब हाल कह सुनाया, इसी का फल हुआ कि दौलत खां ने बाबर को भारत आने का निमंत्रण दिया।

३—इसी समय राणा संग्राम सिंह ने भी बाबर के समीप समाचार भेजा कि यदि वह उत्तर पश्चिम से इब्राहीम पर आक्रमण करे, तो मैं दक्षिण पश्चिम से कर के लोदी सल्तनत का अन्त कर दूंगा।

४—इसके अतिरिक्त दरिया खाँ, हुसेन खाँ तथा खान-ए-जहाँ लोदी ने खुल्लम-खुल्ला विद्रोह किया। बात यह थी कि जबे राज्य के पूर्वीय भाग में विदित हुआ कि आजम हुमायूँ, मियाँ मुआ और मियां हुसेन की मृत्यु हो चुकी है, तो दरिया खां लूहानी ने (बिहार में) यह सोचा कि अब उसकी बारी है, अत: उसने भी पूर्ण स्वतंत्र होने की चेष्टा की। पर उसकी शीघ्र ही मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र बहादुर खाँ उसका उत्तराधिकारी हुआ। उसने मुहम्मद शाह की उपाधि धारण कर अपने नाम के सिक्के चलाये, साथ ही खुतबे में भी अपना नाम रख दिया। इस पर इब्राहीम ने गाजीपुर के अधिकारी नसीर खाँ को उसके विरुद्ध भेजा, पर वह भी शत्रु से मिल गया।

ऐसी विषम परिस्थिति में इब्राहीम को पड़ा जान कर बाबर ने सुअवसर हाथ से न जाने दिया और वह भारत पर चढ़ आया। इब्राहीम लोदी ने बहुत प्रयत्न किया कि उसका सामना करके उसे पीछे लौटा दे, वह स्वयं एक विशाल वाहिनी लेकर सन १५२६ ई० में पानीपत के मैदान में जा डटा, पर उसकी जड़ें खोखली हो चुकी थीं, वह किसी का प्रिय न रह गया था, अतः उसे संकट का सामना करना पड़ा। दूसरे एक ओर बाबर इतना रणकुशल था, इतना अनुभवी था, उसके सिपाही विदेश में विजय की लालसा लेकर आये, प्राण-पण से बाबर के साथ थे। दूसरी ओर इब्राहीम की सेना बहुत थी, पर उसमें अनुशासन का नाम न था, फिर प्रत्येक हृदय से चाहता था कि इब्राहीम का शासन समाप्त हो। उधर बाबर के तोपखाने का सामना करने वाला कोई न था। इब्राहीम स्वयं योग्य सेनाध्यक्ष भी न था। अत: पानीपत के इस प्रथम युद्ध ने एक नये राजवंश की नींव डाल दी और वह था, मुगल वंश। मुगल बहुत दिनों से भारत पर दाँत लगाये थे, पर बाबर के पहिले वे इस कार्य में सफल न हो सके थे।

इब्राहीम का चरित्र—इब्राहीम एक स्वरूपवान, दानी तथा साहसी व्यक्ति था। वह स्वयं कला प्रेमी था तथा विद्वानों और कलाकारों का आश्रय दाता था। वह एक अध्यवसायी पुरुष था, जिस बात के लिए कृत संकल्प होता उसे अवश्य करता था। पर वह दूरदर्शी न था, उसे जिससे एक बार अप्रसन्नता हो जाती, उसे कभी क्षमा करना न जानता था। वह अहंकारी था, दूसरों के सम्मान की उसे कभी चिन्ता न हुई, उसने कुल ९ वर्ष के भीतर अनेक शत्रु

खड़े कर लिये। उसका कहना था कि सुल्तान का कोई सम्बन्धी नहीं है, सभी उसके सेवक हैं। वस्तुतः यह उसकी अनुदार नीति का ही परिणाम था कि लोदी साम्राज्य का अन्त हो गया।

दिल्ली सल्तनत का पतन—भारत की परस्पर कलह ने विदेशी मुसलमानों को इस बात का अवसर दिया कि वे अपनी सत्ता भारत में जमा लें, पर इनके राजवंश भी अधिक दिन तक न टिके। इनमें से कोई भी ऐसा शासक न निकला जिसने स्थायी साम्राज्य की नींव डाल पायी हो। इसके लिये अनेक कारण उत्तरदायी रहे। यथा—

१. सर्वप्रथम उनका शासन विदेशियों का शासन था, वह कभी भी यहां की जनता को प्रिय न हो सकता था, फिर उनका रहन-सहन और आचार-विचार की बातें भारतीय रहन-सहन से सर्वथा भिन्न थीं। अत: उनमें परस्पर कभी भी हार्दिक मेल न हो सकता था।

२. दूसरे न तो मुसलमान अन्य आक्रमण-कारियों की तरह यहाँ घुल मिल सके, न वे यहाँ की संस्कृति को ही बदल सके और न यहाँ के निवासी उनको शीघ्र भगा ही सके। अत: कुछ काल तक संघर्ष चलता रहा, जिसके अन्त में उनकी सत्ता का ह्रास हो गया।

३. तीसरे उनका शासन सूत्र तलवार के बल पर आधारित रहा, उन्होंने कभी भी प्रजानुरञ्जन का ध्यान ही न दिया। भारत देश वैसे तो राजतंत्र का प्राचीन काल से भक्त रहा, यहाँ के निवासी राजतंत्र से अभ्यस्त रहे, पर यहाँ का राजतंत्र सीमित राजतंत्र था, कभी भी उसमें निरंकुशता न थी। इसके विपरीत मुसलमान शासक बहुधा निरंकुश रहे। यदि उन्होंने किसी की बात का ध्यान भी रखा तो उलमाओं की बात का, या कुरान की शरअ का। अत: उनका साम्राज्य कभी पनप न सका।

४. चौथे इनके उत्तराधिकार में कोई निश्चित नियम न था, जब जिसका वश चल गया, वही शासक बन बैठा। कभी कभी तो कुछ शासक कुछ दिनों तक ही शासन के अधिकारी रहे। ऐसी स्थिति में प्रजा को कभी भी किसी के प्रति अनुराग उत्पन्न न हुआ।

इसके अतिरिक्त यहाँ के कुछ वीर और लड़ाका जातियों का ऐसा संघ था, जो सदा उनसे लोहा लेता रहा। उत्तर भारत में राजपूत तथा दक्षिण में विजय नगर के हिन्दू। इन्होंने सदा इसी का प्रयत्न किया कि जैसे भी हो विदेशी निकाल बाहर किये जांय।

६. छठे इनकी धार्मिक नीति इतनी असहिष्णुता की थी कि इन्होंने हिन्दुओं के तीर्थ स्थान, पर्व, मन्दिर आदि का विध्वंस किया। बल पूर्वक निज

धर्म का प्रचार किया, और इस्लाम मानने वालों के साथ उदार रहे, अतः आन्तरिक द्वेष और शत्रुता के ये सदा शिकार बने ।

७. अन्त में कहना न होगा कि इनके कुछ शासक इतने अयोग्य सिद्ध हुए, कि शासन सूत्र सम्हाल ही न सके । या तो वे अनुभवहीन थे, अथवा विलासिता में डूब चुके थे । ऐसी स्थिति में समय ने उनका साथ न दिया ।

परिच्छेद—२६

पूर्व मध्यकालीन सभ्यता और संस्कृति

भारत वर्ष के इतिहास में सन् १२०० से १५०० ई० तक का समय बहुत अशान्ति और अनिश्चित-सा रहा है। इन सदियों में विदेशियों ने आकर इस देश में अपना सिक्का जमाया और अपने धर्म का प्रचार किया। वस्तुत: यह कहना चाहिये कि यह उस बर्बता का युग था, जिसमें तलवार ही सब कुछ थी। इसी के बल पर शासन हुआ, इसी के बल पर धर्म प्रसार और इसी के बल पर नर संहार। इसी समय की सभ्यता और संस्कृति एक पर्वतीय नदी की धारा थी, जो शिलाखण्डों और कटंकाकीर्ण मार्ग के बीच जिस किसी प्रकार से बह निकलती है। इस युग में अनेक धार्मिक आन्दोलन हुए। कला की भी यदा कदा समुन्नति हुई और हिन्दू समाज इस समय पीड़ित अवश्य रहा, पर समूल नष्ट न हो सका।

शासन व्यवस्था—इस समय तुर्क और अफगान दो वंशों ने विशेष रूप से भारत में राज्य किया। तुर्की सल्तनत का स्वरूप साम्प्रदायिक था। यद्यपि भारत जैसे देश के लिए यह सर्वथा अनुपयुक्त था। पर तथ्य तो यह है कि अधिकांश सुल्तान उलमाओं के कहने पर चले। यदि इनमें से कोई उसका अपवाद स्वरूप हुआ तो अलाउद्दीन खिलजी, और मुहम्मद बिन तुगलक। पर वे स्वयं इतने कठोर थे कि वे जनता के प्रिय न बन सके। अलाउद्दीन ने राजनीति को धर्म से अलग रक्खा, पर हिन्दुओं के साथ उसका भी बर्ताव अच्छा न था।

तुर्की सुलतानों की शक्ति का मूल आधार सैनिक था। जिसके कारण वे सेनाओं की उपेक्षा न कर सकते थे। पर इनमें एक बड़ा दोष था कि उत्तराधिकार निर्णय बहुधा तलवार के बल पर ही होता था। इसी के सहारे अनेक सरदार और अमीर अपना उल्लू सीधा कर लेते थे। राजा बहुधा कठपुतली ही रह जाता था। इस समय का सुलतान अधिकतर सीजर और पोप का सम्मिश्रण था, उस पर भी उसकी शक्ति शर अ से सीमित थी। कहते हैं इस समय का सुलतान तो ईश्वर की ही छाया मात्र था, जिसके नीचे हम सब दुःखी होकर शरण खोजते थे। ऐसी स्थिति में उलमाओं की बन आती। इन सुलतानों में एक विशेष बात और थी कि वे विलासी थे, और जो उनकी

विलासिता में सहायक होता था उसका वे भला भी करते थे। इस लालच से बहुत से लोगों ने धर्म परिवर्तन भी कर लिया। पर जो लोग उसके विरुद्ध कार्य करते थे, उनको सुविधाएँ तो नहीं ही मिलती थीं, बल्कि कुछ विशेष कर और देने पड़ते थे। ऐसे लोग न अपने उत्सव मना सकते थे, न अपने मन्दिर रख सकते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि सहिष्णुता जैसी चीज इन शासकों में यदि कभी मिलती थी तो वह दूसरों से अपवाद समझा जाता था। ,इसका प्रभाव जनता पर बहुत ही बुरा पड़ा। अधिकांश अधिकारी मुसलमान होने लगे। उनके अधिकार के फलस्वरूप उनका मद बढ़ गया, उनमें पक्षपात आ गया। वे इनको बुरी तरह से प्राप्त करने लगे।

राज्य कर्मचारी—इन शासकों का शासन कार्यशासक तथा मंत्री की सहायता से चलता था। इनके पास मन्त्रिपरिषद् जैसी जिसकी भारतीय जनता अभ्यस्त थी, कोई चीज न थी। सुल्तान अपने आप मन्त्री नियुक्त करता था जिसे वजीर कहते थे। इसके कार्य को दीवान-ए-बजारत कहते थे। पर यह सुल्तान की अपनी इच्छा पर निर्भर था, जब चाहे उससे सलाह ले और सलाह लेकर भी जब चाहे माने या न माने। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि मन्त्री अधिक बुद्धिमान और योग्य निकला और राजा उससे कम। ऐसी स्थिति में मंत्री ही सब-कुछ होता था। सामान्य रूप से उसके अधिकार में राजस्व विभाग रहता था। इसके अतिरिक्त अन्य विभागों के लिये भी वह उत्तरदायी था। इसके अतिरिक्त कभी-कभी तीन मंत्री और रहते थे अर्थात दीवान-ए-रिसालत, (धार्मिक-विषय) दीवान-ए-अरज (सैन्य संगठन) और दीवाने—ए—इन्सा (पत्र व्यवहार)।

राजकीय आय—राजकीय आय के स्रोत इस काल में ६ थे—(१) भूमि कर। (२) जकात, जो केवल मुसलमानों से लिया जाता था। (३) जजिया, जो केवल हिन्दुओं से लिया जाता था। (४) युद्ध की लूट। (५) खनिज सम्पत्ति (६) वह जायदाद जिसका कोई उत्तराधिकारी नहीं होता था। इस युग में अलाउद्दीन खिलजी और गयासुद्दीन तुगलक ने भूमिकर में कुछ संशोधन किये थे। अलाउद्दीन ने तो भूमि की नाप कराई थी और किसानों को इस बात के लिए प्रेरित किया था कि वे पैसे में न देकर भूमि कर अनाज के रूप में दिया करें। भूमि कर बहुधा उपज का $\frac{1}{6}$ भाग होता था, लेकिन अलाउद्दीन ने $\frac{1}{2}$ तक लिया। पर गयासुद्दीन ने इसकी दर $\frac{1}{10}$ से अधिक न रखनी चाही।

न्याय—वैसे तो इस युग में न्याय का सबसे बड़ा अधिकारी सुल्तान ही होता था, पर उसके अतिरिक्त मुख्य न्यायाधीश (सदर-उस-सुदूर) रहता था। यह नीचे की अदालतों की अपीलें सुनता था और काजियों की नियुक्ति करता था। बड़े बड़े नगरों में न्याय का कार्य काजी ही करता था। इसके द्वारा दिये

गये दंड को कार्यान्वित करने वाला भी एक अधिकारी होता था जो अमीर-ए-दाद कहलाता था। यदि दोनों पक्ष मुसलमानों के होते थे अथवा एक पक्ष मुसलमान और एक हिन्दू का होता था, तब तो काजी ही न्याय करता था। और यदि दोनों पक्ष हिन्दुओं के होते थे तो पचायतों द्वारा ही न्याय होता था। इस समय फौजदारी कानून बहुत कठोर थे। किसी को अंग-भंग का दण्ड देना अथवा प्राण दण्ड देना इस युग की यह साधारण सी बात थी। यही नहीं अपराध स्वीकार करने के लिए अपराधी को तरह-तरह की यातनाएँ दी जाती थीं। अलाउद्दीन के समय में यदि कोई दूकानदार कम तौलता था तो उसके शरीर से उतना ही मांस काट लिया जाता था। राजद्रोह के लिए सदा एक ही दण्ड था, वह था प्राण दण्ड। इस समय पुराने किले, कारागार का काम करते थे। इस युग में दो सुलतान ऐसे हुए जिन्होंने दण्ड विधान में कोमलता फा व्यवहार किया। पहिला जलालुद्दीन खिलजी दूसरा फीरोज तुगलक। जलालुद्दीन तो इतना उदार था कि अपराधी जब उसके सामने दण्ड की आशा करके जाता, वह स्वयं दुखी हो जाता था। और अपराधी को दण्ड के स्थान पर कभी कभी पारितोषिक देता था।

गुप्तचर विभाग—इस प्रकार के निरंकुश शासन में गुप्तचर विभाग का होना अत्यन्त आवश्यक था। दिल्ली सुल्तान समस्त राज्य में गुप्तचर नियुक्त करता था। इन गुप्तचरों द्वारा सुल्तान को छोटी से छोटी बात भी बताई जाती थी। राज्य के प्रभावशाली व्यक्तियों को विशेष रूप से देखा जाता था। इसका सबसे बड़ा फल यह था कि निःरपराध व्यक्ति की रक्षा अवश्य हो जाती थी।

इस प्रकार सुल्तान ही अपने साम्राज्य के लिए हर बात में अंतिम शब्द था जैसा कि अलाउद्दीन ने एक स्थल पर लिखा है "**मुझे यह नहीं मालुम कि अमुक बात नियम के अनुकूल है अथवा प्रतिकूल। मैं राज्य के लिए जो बात हितकर और किसी विशेष अवसर के लिए जो बात उपयुक्त समझता हूँ उसी की करने की आज्ञा देता हूँ।**"

प्रान्तीय शासन—इस समय का शासन प्रबन्ध केन्द्रीय तथा प्रान्तीय शासन दो भागों बटा था। प्रान्तपति बहुधा राज्य वंश के ही लोग होते थे और इनको केन्द्र के प्रति उत्तरदायित्व के अतिरिक्त अपने आन्तरिक विषषों में बहुत स्वतन्त्रता रहती थी। वे नायब सुलतान कहलाते थे। उन प्रान्तों में कुछ तो बड़े पर कुछ छोटे भी थे। जिस समय दिल्ली साम्राज्य सबसे अधिक विस्तृत था, उस समय यह २३ प्रान्तों में बटा था जो इस प्रकार थे। (१) बदायूं, (२) बिहार, (३) दिल्ली, (४) देवगिरि, (५) गुजरात, (६) द्वार समुद्र (७) हांसी, (८) कलानौध, (९) जाजनगर, (१०) कन्नौज, (११) कड़ा, (१२)

कोहरम, (१३) लाहौर, (१४) लखनौती (१५) मालवा, (१६) मावर, (१७) मुल्तान,(१८) अवध, (१९) समन,(२०) सहिवान,(२१) सिरसती,(२२) हैलोंग (२३) उच्च। बड़े सूबों को शासन की सुविधा के लिए शिकों में बाँटा जाता था। एक शिक का प्रबन्धक शिकदर होता था। शिकों को भी परगना और गांवों में बाँटा गया था। नायब सुलतान अपने नाम से न तो सिक्के चला सकता था और न अपने नाम से खुतबा पढ़ा सकता था। अन्यथा प्रत्येक प्रान्त केन्द्र की ही भांति शासन, न्याय, और सेना के विषयों में स्वतन्त्र होता था। कभी कभी प्रान्तपति बड़े निरंकुश भी होते थे।

सेना का प्रबन्ध—इस युग में शासन के लिए सेना ही सब कुछ थी। अश्वारोहियों का भाग सेना का प्रमुख अंग होता था! जिस समय जागीरदारी प्रथा थी, उस समय जागीरदारों को निश्चित घोड़ों की संख्या रखनी पड़ती थी। और इसे समय पड़ने पर वे सुल्तान की सेवा में प्रस्तुत करते थे। कुछ सेना सुल्तान के समीप सदा रहती थी। किसी-किसी सुलतान ने अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए सेना को इतना ज्यादा बढ़ाया कि राजकोष रिक्त हो गये और सल्तनत को लाभ न होकर हानि ही हुई।

आर्थिक दशा—इस समय आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि कर्म था। देश की अधिकाँश जनता कृषि करती थी। दोआब की भूमि अपनी उपज के लिए प्रसिद्ध थीं और इब्नबतूता के आधार पर बंगाल की भी भूमि उपजाऊ थी। सिंचाई आदि की सुविधा यथा सम्भव दी जाती थी और इस युग में जिनकी उपज इतनी पर्याप्त थी कि देश की माँग की पूर्ति हो जाती थी। कभी-कभी तो विदेशों को भी यहाँ का अन्न भेजा गया। उपज में रुई, गन्ना तिलहन आदि मुख्य चीजें थीं, जो बड़े पैमाने पर उत्पन्न की जाती थीं।

देश में विभिन्न प्रकार के उद्योग-धंधे थे। जैसे शक्कर बनाना, सुगंधित वस्तुएँ बनाना, अस्त्र-शस्त्र बनाना, धातु का काम करना, वस्त्र बनाना तथा कागज बनाना आदि। इनमें वस्त्रों का उद्योग सबसे प्रमुख और समुन्नत था। भारतीय वस्त्रों की प्रशंसा अनेक विदेशियों ने की है। मार्कोपोलो एक स्थान पर लिखता है—"**ये वस्त्र इतने चिकने हैं कि मकड़ी के जाले के समान प्रतीत होते हैं। संसार में ऐसा कोई राजा या ऐसी रानी न होगी जो उन्हें पहिन कर प्रसन्न न हो।**" बंगाल में कागज बनाने का उद्योग अपनी उन्नत अवस्था में था, किन्तु इन सब उद्योगों की व्यवस्था राज्य से बहुत प्रोत्साहन न पा सकी। पहिले तो जो प्रारम्भिक सुल्तान गद्दी पर बैठे, उन्होंने धन बटोरने के अतिरिक्त कुछ जाना ही नहीं। इनके बाद जो शासन भी किये वह अपने भले के लिए। उनका मुख्य उद्देश्य राज्य को स्थिर रखना था। किसी कला और कारीगरी की उन्नति न थी। वस्तुतः भारतीय आर्थिक व्यवस्था उसकी इतनी लूट-खसोट के उपरांत

भी इसलिए टिकी रही कि इसका कार्य गाँव में होता था। ये गाँव अपने में स्वतंत्र होते थे। लूट-मार के शिकार भी जल्दी न बनते थे और न राजनीति में ही इतना भाग लेते थे कि उनके व्यवसाय आदि में अंतर पड़े।

इस काल में शासकों के उदासीन होते हुये भी भारत का आंतरिक तथा बाहिरी व्यापार समुन्नत अवस्था में था। यहां से कपड़ा, अफीम, मसाले, नील, तिल आदि बाहर भेजे जाते रहे और बाहर से घोड़े तथा विलसिता की सामग्री यहां मंगायी जाती रही। इस समय भारत एक बात में बहुत भाग्यशाली था कि यहां की वस्तुएँ बाहर अधिक जाती थीं और हमारा आयात कम था। इसका फल यह था कि हमारी आंतरिक आर्थिक व्यवस्था अच्छी ही रही। यहां यह संकेत करना असंगत न होगा कि आजकल हम अपने निर्यात को आयात से अधिक नहीं कर पाते, जब कि राज्य व्यवस्था इस ओर हमारी सहायक है। भारत का विदेशी व्यापार बंगाल और गुजरात के बन्दरगाहों द्वारा विशेष रूप से होता था। पीछे इस बात का संकेत किया जा चुका है कि हम पूर्व में पूर्वी द्वीप समूह से लेकर चीन तक और पश्चिम में अरब से लेकर अफ्रीका और रोम तक व्यापार करते थे। इब्नबतूता और मार्कोपोलो के वृत्तांतों से ज्ञात होता है कि भारत के पश्चिमी तट पर कालीकट, खम्भात और भड़ौच प्रमुख बन्दरगाह थे।

इस सबके होते हुए भी इस समय एक दुखद बात यह थी कि आर्थिक सम्पन्नता का वितरण बहुत ही विषम था। एक ओर हम देखते हैं कि राजा और जागीरदार विलासिता का जीवन व्यतीत करते थे। दूसरी ओर किसानों का रहन-सहन का स्तर बहुत न्यून था। अकाल आदि पड़ने के समय पर तो किसानों की दशा अत्यंत शोचनीय हो जाती थी क्योंकि उन्हीं को सबसे अधिक करों का भार उठाना पड़ता था।

सामाजिक अवस्था—सामाजिक रूप से भारत दो निश्चित विभागों में विभक्त रहा। इसमें एक ओर राज्य की कृपा के पात्र मुसलमान तथा दूसरी ओर हिन्दू समाज था। हिन्दुओं को मुसलमान शासक अपने राज्य का शत्रु समझते थे। साथ ही मुसलमान अपने धर्म को बहुत उच्च और अच्छा समझते थे, हिन्दुओं से उसका मिलना सर्वथा असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। मुसलमानों में मद्यपान की प्रवृत्ति थी। पर मुसलमानों के भी राजनीतिक रूप से दो भाग थे। एक सैनिक वर्ग, दूसरा अन्य वर्ग। प्रथम वर्ग में राज्य के कर्मचारी सम्मिलत थे। इन्हें धार्मिक विषयों में विशेष हस्तक्षेप करने का अधिकार न था। वह वर्ग राज्य की शक्ति का मुख्य आधार था। शास्त्र आदि का कार्य इन्हीं लोगों पर आधारित था। इसके वर्ग में मुल्ला, सन्त, लेखक व शिक्षक थे। इस वर्ग के सभी लोग धार्मिक विषयों के अधिकारी थे।

समाज में इनका बहुत अधिक प्रभाव था। उलमा की बात टालने का बड़े-बड़े सुल्तानों में भी बल न था। कुछ सुल्तान अवश्य इस वर्ग में ऐसे हुए जो इनकी परवाह न करके अपने मन की करते रहे।

इस समय के समाज में दान देने की प्रथा थी। समय-समय पर राज्य को धार्मिक कृत्यों के लिए धन देना पड़ता था। इस प्रवृत्ति के कारण अनेक सुल्तान बड़े-बड़े समाज के हित के कार्य करते रहे। पर चरित्र की दृष्टि से मुसलमान समाज बड़ा उच्च न था। उसमें अनेक कुरीतियाँ फैली हुई थीं। मदिरा पान तथा द्यूत क्रीड़ा उस समय बहुत प्रचलित थीं। इसी प्रकार दास-दासी रखने की प्रथा थी। यद्यपि बलबन तथा अलाउद्दीन दो सुल्तानों ने इनका घोर विरोध किया, पर उनके पश्चात् जनता की प्रवृत्तियाँ पुनः वैसी ही जग गयीं।

इस स्थल पर स्त्री के स्थान के लिए भी कुछ कह देना असंगत न होगा। वैसे तो समाज में स्त्री का स्थान था, तथा सम्मान था, उसकी शिक्षा थी। इब्नबतूता का कथन है कि उसने अनेक ऐसे विद्यालय देखे, जहां स्त्री शिक्षा थी। पर लड़की का जन्म ही अशुभ समझा जाता था। स्त्रियों में अपहरण के कारण पर्दा प्रथा का प्रचलन था। उनकी स्वतंत्रता बहुत ही सीमित थी। फीरोज ने तो इस सीमित स्वतंत्रता को भी छीन रखा था। उसका कथन था कि जो स्त्रियाँ धार्मिक कृत्यों के निमित्त बाहर निकलती हैं वे संदिग्ध चरित्र की हैं।

इसके अतिरिक्त हिन्दू समाज की रूपरेखा ही कुछ और थी। विदेशी पर्यटकों ने इस समाज की बड़ी प्रशंसा की है, पर उसकी कुरीतियों की चर्चा भी की है। अलबरूनी के आधार पर हिन्दुओं में अहंकार अधिक था। हिन्दू अपने समाज के बराबर शिक्षित और सभ्य दूसरे समाज को मानते ही न थे। साथ ही भारत के पण्डित विदेशियों को अपने ज्ञान का परिचय नहीं देना चाहते थे। इस प्रकार यह निश्चित है कि मुसलमानों के आक्रमण के समय हिन्दू समाज अच्छी अवस्था में था। पर अलाउद्दीन के समय उनकी दशा बहुत गिर गयी। उनकी आय का ५०% तो सुल्तान ले लेता था, उस पर वे न उत्सव मना सकते थे, न एक-दूसरे के घर स्वतंत्रता से आ जा सकते थे। प्रत्येक एक दूसरे को सन्देह की दृष्टि से देखने लगा था।

दक्षिण भारत में मुसलमानों का वर्ग कम था, वहाँ हिन्दुओं में ब्राह्मणों का सम्मान बहुत था। पर अन्य वर्ग इतने समुन्नत न थे।

साहित्य और कला—इस समय भारत में शान्ति तो कभी भी नाममात्र को न रही, पर फिर भी साहित्य तथा कला की कुछ सेवा होती रही। मुसलमानों में सभी शासक बर्बर न थे, जैसे मुहम्मद बिन तुग़लक कितना पढ़ा-लिखा

और तीव्र बुद्धि का था, यह सभी को ज्ञात है। उसके साथ बड़े-बड़े विद्वान कभी तर्क न कर पाते थे। फिर दिल्ली सुल्तानों के यहाँ अनेक साहित्य सेवी आश्रय पाते थे। इनमें बड़े-बड़े इतिहासकार, कवि तथा लेखक थे। इनमें सर्व-प्रथम **अलबरूनी** का नाम है, जो महमूद गज़नवी का आश्रित था। पीछे परिच्छेदों में इसके विषय में पर्याप्त वृत्त दिया जा चुका है, यह संस्कृत तथा फारसी का विद्वान था। उसकी पुस्तक **तहकीकाते हिन्द** में उस समय के भारत की सामाजिक एवं सांस्कृतिक दशा का सजीव चित्रण है। इसके अतिरिक्त **मिनहाज-उस-सिराज** नामक प्रख्यात इतिहासकार ने दासवंश के समय **तवक़ात-ए-नासिरी** की रचना की। यह भी मध्य एशिया का निवासी था। उसकी पुस्तक में स्पष्टता का आभास परिलक्षित होता है। इन इतिहासकारों की विशेषता यह थी कि वे अपने आश्रयदाता के शासन-काल की घटनाओं का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया करते थे। **जियाउद्दीन वर्नी** मध्यकाल का एक अन्य प्रसिद्ध इतिहासकार था, वह बड़े कट्टर विचारों का था। अत: उसने सदैव उदारचित्त सुल्तानों की निन्दा की है। यह खिल्जी वंश का समकालीन था। उसे मुहम्मद तथा फीरोज तुग़लक का आश्रय भी प्राप्त था। उसने अपनी पुस्तक का नाम अपने अन्तिम आश्रय दाता फीरोज के नाम पर **तारीख-ए-फीरोज-शाही** रखा। वर्नी ने अपने काल की घटनाओं का बड़ा ही विशद वर्णन किया है। कहीं-कहीं यह अतिरंजित भी है।

वर्नी ने कहीं-कहीं केवल महत्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन किया है और महत्वहीन को स्थान नहीं दिया। पर अन्य लेखकों की भाँति उसने भी अपने आश्रयदाता की प्रशंसा की है। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि **तारीख-ए-मुबारक** शाही का लेखक अफीक और अमीर खुसरो अपने काल के विख्यात लेखक थे। इनमें अफीक की शैली अत्यन्त सरल रही। अमीर खुसरो तो वस्तुत: अपने समय का प्रसिद्ध कवि था। साथ-साथ वह एक वीर योद्धा भी था। उसने अनेक युद्धों में भाग लिया था। मंगोल आक्रमण के समय उसकी वाकपटुता ही उसकी रक्षा कर सकी। यही नहीं वह गद्य लेखक और गायक भी था। इस समय के अन्य लेखकों में हम **मीर हसन दहलवी** तथा **बदरुद्दीन** के नाम नहीं भुला सकते। देहलवी की रचना दीवान थी, जिसमें उस समय के प्रसिद्ध लेख **निजामुद्दीन औलिया** की प्रशंसा की गयी है। पद्य लेखकों में **ऐनुलमुल्क मुल्तानी** का नाम उल्लेखनीय है। उसने अलाउद्दीन, मुहम्मद तुगलक तथा फीरोज के शासन काल में उच्च तथा उत्तरदायित्व पूर्ण पदों पर काम किया था वह अलाउद्दीन का परम सलाहकार था। उसी के प्रभाव से अलाउद्दीन खिलजी ने अपनी बड़ी-बड़ी कामनाएँ पूर्ण कीं। वह उच्चकोटि का विद्वान था।

साहित्य की दृष्टि से उस समय पाठशालाओं का भी काफी महत्व था मुसलमानों की शिक्षा तो बहुधा मस्जिदों और मदरसों में होती थी, पर हिन्दुओं के लिए पाठशाले थे। इल्तुतमिश ने दिल्ली में एक उच्चकोटि के पाठशाले की स्थापना की थी। एक अन्य इतिहासकार के आधार पर तुगलक काल में केवल दिल्ली में एक हजार मदरसे थे।

मुसलमानों की रुचि संस्कृत के प्रति भी थी। पर संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद बहुत न हो सका। फीरोज़ तुगलक को नगर कोट के आक्रमण में एक संस्कृत पुस्तकालय प्राप्त हुआ था। सुल्तान ने मौलाना ईजुद्दीन खलीद-खानी को कुछ दर्शन ग्रंथों के अनुवाद करने की आज्ञा दी थी। इसी प्रकार सिकन्दर लोदी के समय एक आयुर्वेद के ग्रंथ की अनुदित रचना हुई थी। इस युग में धार्मिक साहित्य की भी खब रचनाएँ हुईं। जहाँ-जहाँ मुसलमानों का पदार्पण न हो सका था, वहाँ-वहां हिन्दू धर्म का साहित्य सृजन हुआ करता था। यथा रामानुज ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा, सन् १३६७ ई० में पार्थ सारथि मिश्र ने कर्म मीमांसा पर अनेक ग्रंथों की रचना की। इनमें सबसे अधिक लोकप्रिय शास्त्र दीपिका थी, भक्तमार्ग साहित्य का सृजन सबसे अधिक इसी युग में हुआ, इसकी चर्चा हम भक्ति आन्दोलन वाले परिच्छेद में कर चुके हैं। सबसे बड़ी बात जो इस समय हुई, वह यह थी कि दो वर्गों के सम्मिलन से एक नई भाषा का सूत्रपात हुआ। यह थी उर्दू। इसी के साथ भारत में अनेक प्रादेशिक भाषाओं का जन्म हुआ। विशेष कर सूफी सम्प्रदाय के लोगों ने बोलचाल की भाषा को अपनाया। स्वामी रामानन्द तथा कबीर इनके परम प्रतीक हुए। हिन्दी की सर्वप्रथम उत्कृष्ट रचना चन्द्रवरदायी की पृथ्वी-राज रासो हुई। तदन्तर हिन्दी की प्रगति धीरे धीरे बढ़ती गयी और वीर-गाथा तथा भक्तिकाल के हिन्दी के कवि इसी युग में पनपे। विद्यापति तो इस समय मैथेल कोकिल कहे जाते थे।

कला—यह संकेत किया जा चुका है कि इस समय के शासक केवल बर्बर न थे। उन्हें कला तथा कारीगरी से भी विशेष रुचि थी। इनमें अरब वासी तो इतने समुन्नत न थे, पर तुर्क उनके आगे थे। फिर भारत में तो आदिकाल से कला और कारीगरी की उन्नति होती रही। उनके मन्दिर, भवन तथा चैत्य सदा इसके ज्वलंत उदाहरण रहे।

सुल्तानों के मूर्ति पूजा के विरोधी होने के कारण वैचित्र्यकला तथा मूर्ति कला की उपेक्षा करते रहे किन्तु इनकी रुचि वास्तु कला में बहुत ही प्रशंसनीय रही। सर्व प्रथम हम देखते हैं कि कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली और अजमेर में बड़ी बड़ी मस्जिदें बनवायीं, यद्यपि ये मस्जिदें हिन्दू मन्दिरों को तोड़ फोड़ कर अथवा उन्हीं की सामग्री से बनी थीं, पर अपनी दृष्टि से वे अपनी कामना

की पूर्ति कर सके। इस प्रकार एक नई पद्धति का ही सूत्रपात हुआ, इसे भारत इस्लामी (Indoislamic) कहते हैं। हैवेल इसे भारतीय कला का ही एक स्वरूप मानता है। इस पद्धति में कई बिशेषताएं थीं। चूंकि ये चित्र और मूर्ति न बनाना चाहते थे, अतः इन्होंने इनके स्थान पर ज्यामिति की आकृतियाँ, बेलें, गुलदस्ते, पत्तियाँ, फूल, जाली, रंगीन खप्पड़, तथा अनेक कलापूर्ण अक्षरों (वर्णों) से अपने भवन सजाये। उनकी मस्जिदों में सामूहिक नमाज के लिए विशाल कमरे, बरामदे, दालान आंगन, आदि बनाये गये। इन्हीं के समीप ऊंची ऊंची मीनारें बनायी गयीं जहाँ से वे अजान दे सकते थे। बहुधा ये मीनारें समाधियों के पास बनायी जाती थीं, जिससे उस समाधि का महत्व अधिक हो जाय। तुर्कों में एक नयी बात उनकी महराब तथा गुम्बद बनाने की प्रवृत्ति की थी। ये महराबे पहले भारत में अधिक न थीं। हिन्दू मन्दिरों के द्वार अक्सर आयत के आकार के रहें। साथ ही इनमें गुम्बद तो थे ही नहीं।

इनके कतिपय उदाहरण—कुतुबुद्दीन ऐबक द्वारा दिल्ली की विजय के उपलक्ष्य में एक मस्जिद बनवायी गयी। इसी को बाद में इल्तुतमिश और अलाउद्दीन ने बढ़ाया। इसे आज हम कुब्बतुल इस्लाम के नाम से जानते हैं, यही सबसे पहिला इण्डोस्लामिक पद्धति का उदाहरण है। इसी तरह की एक अजमेर की मस्जिद है, जिसे ढाई दिन का झोपड़ा कहते हैं, इसका निर्माण भी सर्व प्रथम कुतुब्रुद्दीन के द्वारा कराया गया, बाद को इसी में इल्तुतमिश ने कुछ जाली आदि जोड़ कर इसे सजाना चाहा।

इस समय की कला का दूसरा ज्वलंत प्रतीक दिल्ली की कुतुब मीनार है। इसका निर्माण भी कुतुबुद्दीन ऐबक ने प्रारम्भ कर दिया था, पर वह उसे पूर्ण न करा पाया था, अतः इल्तुतमिश ने उसके कार्य को पूर्ण किया था। इसका नाम शेख कुतुबुद्दीन के नाम पर रखा गया था। यह एक शुद्धतः इस्लाम पद्धति पर बनी हुई कृति है। आज इसकी पूर्व की सारी ऊंचाई नहीं रह गयी, इस विषय में यथास्थान संकेत किया जा चुका है।

इसके अनन्तर अलाउद्दीन के समय तक इस दिशा में कोई प्रगति न हुई। अलाउद्दीन ने जो इमारतें बनवायीं उनमें हिन्दुत्व का सर्वथा अभाव तथा इस्लाम की प्रधानता है। यथा दिल्ली का अलाई द्वार तथा निजामुद्दीन आलिया की स्मृति में बनी दरगाह में मस्जिद। इन कृतियों में सजावट की ओर अधिक ध्यान दिया गया है।

इसके अनन्तर हम तुगलकों की ओर आते हैं। किन्तु उतनी सजावट नहीं दिखायी देती जितनी इनके पहिले की कृतियों में थी। इसके लिए दो बातें

उत्तरदायी कही जा सकती हैं, एक तो इस युग में राजकीय कोष ही रिक्त था, दूसरे इस युग के शासक और भी कट्टर इस्लाम के भक्त थे। गयासुद्दीन तुगलक शाह के मकबरे में सादगी, गम्भीरता तथा दृढ़ता प्रशंसनीय हैं। इसमें हिन्दुत्व का नाम भी नहीं है। यही चीजें मुहम्मद तुगलक के बनवाये आदिलाबाद के दुर्ग, तथा फीरोज द्वारा निर्मित मस्जिदों, और मकबरों में मिलती हैं। इसी युग में दक्षिण में विजय नगर का साम्राज्य रहा, उसके शासकों में भी स्थापत्य कला के प्रति बड़ा अनुराग था जिसका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं। जहाँ उत्तर भारत की कृतियों में इस्लाम की पूजा थी, वहीं विजयनगर की कृतियों में विशुद्ध हिन्दुत्व की। यद्यपि ये शासक बड़े सहिष्णु थे, इन्होंने मुसलमानों के समय मस्जिदें तोड़कर मन्दिरों का निर्माण नहीं किया, पर हिन्तुत्व की पूजा और अपने देवताओं की आराधना उनका प्रमुख उद्देश्य था।

इनमें कृष्णदेव राय के समय का हजारा मन्दिर तथा विजय नगर का विट्ठल स्वामी का मन्दिर इस युग के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। फारस के राजदूत अब्दुल रज्जाक और फर्ग्यूसन ने विजयनगर की स्थापत्य कला की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। विजयनगर के शासकों ने मन्दिरों के अतिरिक्त राजभवन, उद्यान तथा जलाशयों का भी निर्माण कराया। इन राज प्रासादों में कमला प्रासाद सर्वश्रेष्ठ है।

इसी युग में मेवाड़ के राजा कुम्भा ने मालवा जीतने के उपलक्ष्य में एक विजय स्तम्भ बनवाया था। इसी प्रकार बहमनी वंश के शासक यद्यपि सदा लड़ते भिड़ते ही रहे, पर अपनी कला का परिचय दे सके। उन्होंने अनेक महल और मस्जिदें बनवायीं। इसके छिन्न-भिन्न होने के पश्चात् यह राज्य पाँच टुकड़ों में बँट गया—बीजापुर, गोलकुन्डा, अहमदनगर, बीदर, बरार। इनमें बीजापुर की कला सर्वोत्कृष्ट रही। वैसे अहमदनगर तथा बीदर के नगरों का निर्माण भी इसी समय हुआ। गुलबर्गा तथां बीदर की मस्जिदें दक्षिण की शिल्पकला के महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। गुलबर्गा की जामा मस्जिद तथा दौलताबाद के चांद मीनार भी दर्शनीय हैं। बीजापुर की शैली में तुर्की प्रभाव अधिक है।

इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि इस काल में जौनपुर के शासकों ने भी इस ओर सराहनीय कार्य किया। हुसेनशाह ने जामा मस्जिद का निर्माण कराया। इब्राहीम ने अटाला मस्जिद बनवायी थी। अटाला मस्जिद जौनपुर की इमारतों में सर्वश्रेष्ठ है। जौनपुर की शैली में अधिक कार्य हिन्दू कलाकारों द्वारा कराया गया और स्पष्ट है कि उनको शासकों ने पर्याप्त स्वतन्त्रता दे रखी थी।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि बंगाल की आदीना मस्जिद, जिसे सुल्तान सिकन्दर शाह ने बनवाया था, इस युग की अत्यन्त प्रशंसनीय कृति है।

धार्मिक अवस्था—इस काल की धार्मिक व्यवस्था बड़ी संकटमय थी, क्योंकि भारतवर्ष अतीत काल से हिन्दुओं का देश रहा, पर इस युग के शासक कट्टर इस्लामी थे, उनका राज्य धर्मप्रधान था। इस समय के सुल्तानों के सबसे बड़े सलाहकार उलमा रहे, कभी-कभी इन्हीं की सलाह पर काम करने से सुल्तानों को कठिनाइयों और कष्टों का सामना भी करना पड़ा। मिनहाज-उस-सिराज ने उलमा के स्थान को बहुत महत्वपूर्ण बतलाया है, उसका कहना है कि उलमा ही सुल्तान विशेष का भाग्य निर्णय करता था।

इल्तुतमिश ने उलमा को पर्याप्त सुविधाएँ दीं। इल्तुतमिश एवं ऐबक दोनों ही उलमा तथा शेख को दान दिया करते थे। पर जब बलबन गद्दी पर बैठा, तो उसे उलमा का हस्तक्षेप अच्छा न लगा, अतः उसने एक मध्यस्थ मार्ग का अनुसरण किया। बलबन के पश्चात् उलमा को पुन: अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त हो गयी।

इसके अनन्तर अलाउद्दीन के समय पुनः स्थिति में परिवर्तन हुआ। उलमा के साथ अलाउद्दीन का व्यवहार भी बलबन के व्यवहार की भाँति था। वह कठोर शासक था, पर शेख निज़ामुद्दीन औलिया को बहुत मानता था। उसका लड़का निज़ामुद्दीन का अनुयायी था। अलाउद्दीन किसी भी काम करने के पूर्व मुग़ीउद्दीन की सलाह अवश्य लिया करता था। उसके अनन्तर उसकी सलाह मानने को वह बाध्य न था। वस्तुत: राजनीति क्षेत्र में वह (अला-उद्दीन) धर्म को अधिक महत्व न देता था। पर अलाउद्दीन के उत्तराधि-कारियों ने अपनी शक्ति को स्थिर रखने हेतु उलमाओं का बहुत सम्मान किया। इसके उपरान्त गयासुद्दीन तुग़लक के समय सुल्तान तथा उलमा के सम्बन्ध पुनः बिगड़ गये, क्योंकि सुल्तान ने तो राजकोष की पूर्ति के लिए आज्ञा दी कि दिया हुआ धन भी उलमाओं से लौटा लिया जाय। यद्यपि निज़ामुद्दीन ने ऐसा मानने से इन्कार कर दिया था। मुहम्मद तुग़लक के समय तो इनका प्रभाव और भी कम हो गया। पर इसके उपरान्त फीरोज़ तुग़लक पुनः धर्मान्ध निकला। फीरोज़ का कहना था कि मुहम्मद की असफ-लता वस्तुत: उलमाओं के निरादर करने के कारण ही हुई थी। फिर उलमाओं ने फीरोज़ को राज्य गद्दी दिलाने में सहायता भी दी थी, अतः फीरोज जो कुछ करता था, उलमा से पूछकर ही करता था।

इस प्रकार धर्म प्रधान इस्लामी शासन के कारण मुसलमान आरामतलब हो गये। उच्च पदों पर उन्हीं की नियुक्ति होती थी। हिन्दुओं की स्थिति इस प्रकार अत्यन्त शोचनीय हो गयी। राज्य की आय का अधिकांश हिन्दुओं

से ही वसूल किया जाता था। दुआब के हिन्दुओं से उपज का आधा तथा आर्य का $\frac{1}{2}$ भाग ले लिया जाता था। अत: अनेक हिन्दू शरण के लालच में मुसलमान बन गये क्योंकि उस समय हिन्दू न अपना काम स्वतन्त्रता से कर सकते थे, न उत्सव ही मना सकते थे, न मन्दिर ही बनवा सकते थे। धार्मिक कृत्य करना इस समय हिन्दुओं के लिए अपराध था। ऐसी विषम परिस्थिति में जिन हिन्दुओं ने अपने धर्म की रक्षा की वे बड़ी प्रशंसा के पात्र हैं। बहुधा न्याय आदि में मुसलमानों को जो सुविधाएँ प्राप्त हो जाती थीं, वे हिन्दुओं को न मिलती थीं।

इस स्थल पर सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनके (मुसलमान शासकों के) आने के पूर्व जो भी जातियाँ भारत में आयीं वे सभी हिन्दू धर्म ने पचा लीं, पर मुसलमान पहले लोग थे, जो न उस समय पच सके और न आज सम्भव हैं, क्योकि इनका रीति रिवाज सदा विपरीत रहा।

भारतीय संस्कृति का भी इस्लाम पर प्रभाव पड़ा। पर सत्ता उनके (मुसलमानों) हाथ में थी, अत: उसके सुधार की सम्भावना न रही।

इस सब का एक ही फल निकला कि धीरे-धीरे एक दूसरे के साथ आदान प्रदान होने लगे, धीरे-धीरे अधिक सम्पर्क बढ़ने लगा। इसी काल में कुछ ऐसी विभूतियाँ भी हुई जिन्होंने दोनों धर्मों की बुराइयाँ बतायीं और दोनों की अच्छी बातें बतायीं। यथा रामानन्द तथा कबीर। इसकी चर्चा हम भक्ति आन्दोलन के परिच्छेद में कर चुके हैं। साथ ही हिन्दू और मुसलमानों की अलग-अलग धारणाएँ बन गयीं। मुसलमानों ने विचार कर लिया कि हिन्दू समाप्त नहीं हो सकते। उधर हिन्दुओं का विचार बना कि मुसलमान अब भगाये नहीं जा सकते। एक दूसरे के प्रति आदान प्रदान होने लगे, धीरे-धीरे दिल्ली सुल्तानों ने भी कुछ छूट देना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार यह युग हिन्दुत्व के ह्रास का युग था, इसके बीच हिन्दुत्व की स्थिति बनी रही, यही बहुत है। पर मुसलमान उधर भी रहन सहन में पृथक थे। हाँ एक दूसरे की कटुता में कुछ कमी आ गयी, एक दूसरे के रीति रिवाजों को समझने की भी चेष्टा होने लगी।

इस प्रकार इस युग में धार्मिक व्यवस्था के कारण ही अनेक संकट उपस्थित हुए, जनता निराश होकर जिस किसी की ओर ताकने लगी। कुछ भक्ति मार्ग पर आरुढ़ हुए, कुछ भ्रष्ट मार्ग पर, और कुछ अपनी जीवन लीला ही समाप्त कर बैठे।

———